विशुद्ध मनुस्मृति

VISHUDDHA MANUSMRITI

प्रो० सुरेन्द्र कुमार

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

अनुसन्धानात्मक प्रकाशन

विशुद्ध-मनुस्मृति:

[हिन्दीभाष्य, प्रक्षिप्तश्लोकरहित एवं 'अनुशीलन' नामक समीक्षासहित शास्त्रीयप्रमाणों से अलंकृत तथा मनुस्मृतिसम्बन्धी आलोचनात्मक अध्ययन से युक्त]

[परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण]

भाष्यकार, अनुसन्धानकर्त्ता एवं समीक्षक -

प्रो० डॉ० सुरेन्द्रकुमार

आचार्य (संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, दर्शन) एम.ए. (हिन्दी), पी-एच०डी०

सम्पादक

श्री राजवीर शास्त्री (एम. ए.)

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार

४५५, खारी बावली, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
४५५, खारी बावली, दिल्ली-११०००६
मुख्य कार्यालय: ४२७ नया बांस दिल्ली-६
दूरभाष २३९५३११२, २३९५८३६०

जुलाई, २००६
दयानन्दाब्द : १८३
विक्रमाब्द : २०६३
सृष्टिसंवत् : १९६०८५३१०७

पंचम संस्करण
मूल्य रू0 १२० (एक सौ बीस)

प्रथम संस्करण ३०००
द्वितीय संस्करण ३०००
तृतीय संस्करण ३२००
चतुर्थ संस्करण ५५००
पञ्चम संस्करण ३०००
१७७००

मुद्रक: राम कृष्ण प्रैस
ए-२६, फेज-२, नारायणा इण्ड0 एरिया
दिल्ली-110028

A Research Publication

THE VISHUDDHA MANUSMRITI

(Hindi Exposition, without interpolated shlokas, alongwith Anusheelan Commentary embellished with authority from Shastras, and a critical study of The Manusmriti)

[Enlarged and Improved Edition]

Bhashyakar, Researcher and Commentator

Prof. Dr. Surendra Kumar

Acharya (Sanskrit Literature, Grammar and Philosophy), M.A. (Hindi) Ph.D.

Editor

Shri Rajvir Shastri (M.A.)

Published by :

Arsh Sahitya Prachar

455, Khan Baoli, Delhi-110 006

Published by:
Arsh Sahitya Prachar Trust
455-Khari Baoli,Delhi-110006
Main Office 427, Naya Bans Delhi-110006
Phone: 23953112, 23958360

July 2006
Year of Dayanan : 183
Vikrami Samvat 2063
Srishti Samvat: 1,96,08,53,107

Fifth Edition
(Price Rs.120 only)

First Edition	3000
Second Edition	3000
Third Edition	3200
Fourth Edition	5500
Fifth Edition	3000
	17700

Printed At: **Ram Krishna Press**
A-26, **Phase-II N.I.A.Delhi-28**

ओ३म्
आर्यसमाज के प्रवर्तक, भारतीय संस्कृति-सभ्यता के उद्धारक
तथा
मनुस्मृति के प्रक्षेपों के सर्वप्रथम निर्देशक
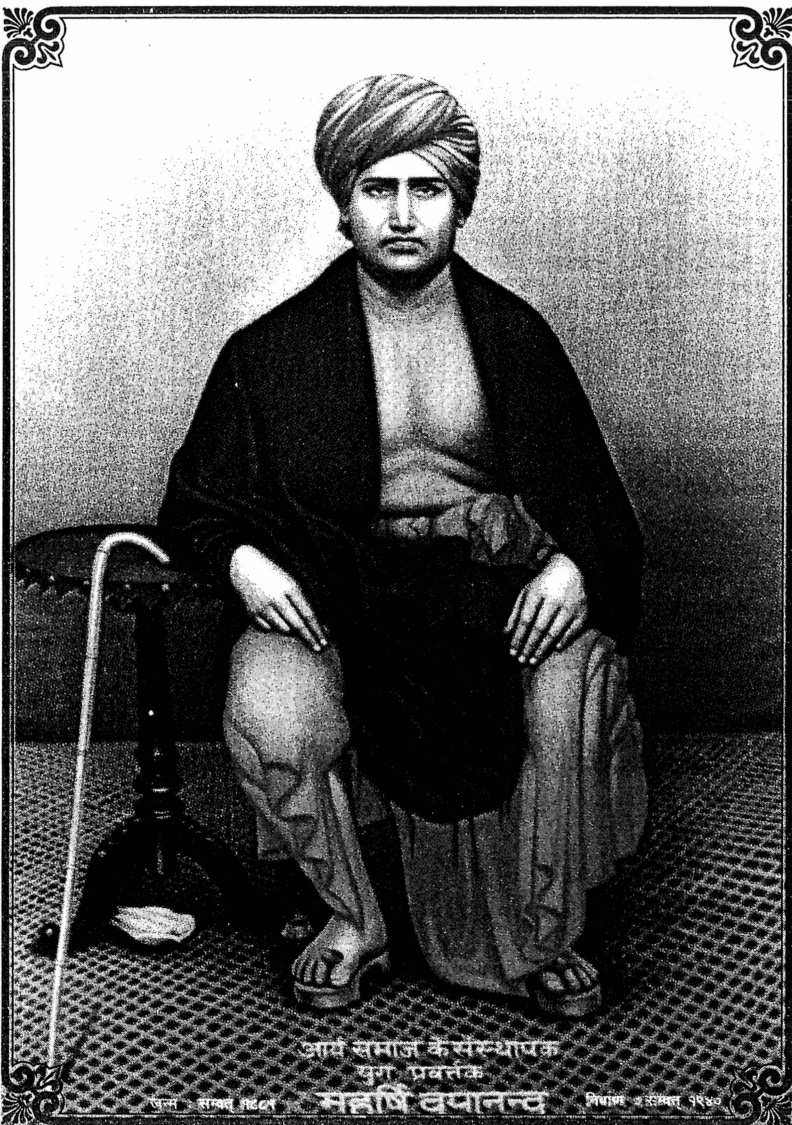
महर्षि दयानन्द सरस्वती

प्रकाशकीय

मनुस्मृति, ट्रस्ट का एक गौरवपूर्ण और अनुपम प्रकाशन है। ट्रस्ट ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसंधान का जो प्रामाणिक कार्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है, ऐसा आज तक किसी ने नहीं किया था।

ट्रस्ट की ओर से मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुसंधान और विवेचन से युक्त सम्पूर्णमनुस्मृति का संस्करण जब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो उस कार्य से संतुष्ट हुए पाठकों ने यह मांग रखी कि जब आपने मनुस्मृति के मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों का निर्धारण कर लिया है तो क्यों न केवल मौलिक श्लोकों से युक्त एक पृथक् संस्करण 'विशुद्ध मनुस्मृति' के रूप में प्रकाशित कर दिया जाये, जिससे मनुस्मृति का स्वाध्याय करने के इच्छुक और धर्मजिज्ञासु व्यक्ति तथा छात्र,भ्रान्ति, पक्षपात, दुराग्रह-पूर्ण श्लोकों के मायाजाल से बच सकें और मनु के मौलिक और निर्भ्रान्त उपदेशों-आदेशों को अविरल रूप में पढ़ने का आनन्द प्राप्त कर सकें।

पाठकों की उसी मांग को पूरा करने के उद्देश्य से ट्रस्ट ने यह 'विशुद्ध मनुस्मृति' नामक पृथक् संस्करण प्रकाशित किया है। यह सम्पूर्ण मनुस्मृति के अनुसन्धानकार्य पर आधारित है। उसमें निर्धारित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षिप्त घोषित हुए श्लोकों को इस संस्करण में छोड़ दिया है और केवल मौलिक श्लोकों को ग्रहण किया गया है। इसका प्रथम संस्करण दिसम्बर १९८१ में प्रकाशित हुआ था।

विशुद्ध मनुस्मृति का यह नवीन संस्करण है, जो अपने अन्दर और अधिक विशेषताएं लिये हुए है। इसमें मनुस्मृति के मूल्यांकन से सम्बन्धित तथा श्लोकसम्बन्धी समीक्षा से सम्बन्धित लगभग २५० पृष्ठों की नयी सामग्री प्रदान की जा रही है। लेखक ने मनु और मनुस्मृति से सम्बन्धित विवादों, प्रश्नों पर प्रक्षेपरहित नवीन दृष्टिकोण से सप्रमाण और युक्तियुक्त विवेचन किया है। वेदों तथा अन्य शास्त्रग्रन्थों के प्रमाणों से मनु के भावों को उद्घाटित एवं पुष्ट किया है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि यह संस्करण पाठकों और अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

ट्रस्ट का प्रमुख उद्देश्य है — 'आर्ष साहित्य का प्रचार-प्रसार एवं उसका तथा उस पर किये गये अनुसन्धानकार्य का प्रकाशन'। किन्तु प्राचीन आर्ष साहित्य के सन्दर्भ में आज हमारे सामने जो सबसे बड़ी समस्या उपस्थित होती है, वह है उसमें प्रक्षेपों की मिलावट। वेदों को छोड़कर प्रायः समस्त प्राचीन ग्रन्थों में स्वार्थी और दुर्भावनाग्रस्त लोगों ने प्रक्षेप कर डाले हैं। प्राचीन काल में यह काम अत्यन्त आसानी से हो सकता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां होती थीं। जिसके पास जो प्रति थी, उसने उसमें मनचाही सामग्री जोड़ दी। आज

प्रकाशन के युग में भी लोग पूर्ववर्ती लेखकों की पुस्तकों में मनचाहा संशोधन कर डालते हैं।

मैं समझता हूं कि आज हमारे सामने जो सबसे पहली और बड़ी चुनौती है, वह है आर्ष साहित्य को प्रक्षेपों से रहित करना। क्योंकि जब तक उनमें प्रक्षेप हैं, तब तक उन पर तरह-तरह की शंकाएं और आक्षेप उठते रहेंगे। उनकी प्रामाणिकता में सन्देह रहेगा और उनके प्रचार में वे बाधा बनेंगे। प्रक्षेपों ने प्राचीन साहित्य के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर दिया है। उससे प्राचीन भारत की संस्कृति-सभ्यता और इतिहास का स्वरूप भी विकृत हो गया है। यह रूप तभी स्वच्छ हो सकता है, जब अनुसन्धान करके उनके प्रक्षेपों का निर्देश किया जाये। इस जटिल कार्य को करने का दायित्व ट्रस्ट ने स्वीकार किया है और इस कार्य की पहली भेंट यह मनुस्मृति है। इसके प्रक्षेपों को निकालने में कृतित्व पर आधारित तटस्थ मानदण्डों को अपनाकर जो परिश्रम किया गया है, उसका अनुमान आपको प्रथम संस्करण से हो गया होगा।

ट्रस्ट की ओर से इसी पद्धति पर वाल्मीकि-रामायण पर भी कार्य चल रहा है। उस कार्य को भी प्रो. सुरेन्द्र कुमार ही सम्पन्न कर रहे हैं। एक-आध वर्ष में ही वह पाठकों के सामने आ जायेगा।

इस जटिल और परिश्रमसाध्य कार्य को सम्पन्न करने के लिए मैं श्री सुरेन्द्र कुमार जी को बहुश: धन्यवाद देता हूं। श्री राजवीर जी शास्त्री ने भी इस कार्य में समय-समय पर अपने सुझाव देकर इसे परिष्कृत करने में सहयोग किया है, एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूं। इनके अतिरिक्त जिन विद्वानों, पाठकों या अन्य व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस कार्य में किसी भी प्रकार का योगदान किया है, उनका भी मैं धन्यवादी हूं। आशा करता हूं कि इस अत्यावश्यक एवं महान् कार्य को पूर्ण करने में ट्रस्ट को सदैव सभी का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

निवेदक —

दिनांक १६-१२-१९८५

२- एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

धर्मपाल आर्य

मंत्री — आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

प्राक्कथन

सम्पूर्ण मनुस्मृति का अनुसन्धानपूर्ण प्रकाशन, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट की ओर से दो बार (मई १९८२ और सितम्बर १९८५ में) किया जा चुका है । उस संस्करण में सभी श्लोकों को यथास्थान और यथाक्रम रखते हुए, निर्धारित सात मानदण्डों — १. परस्परविरोध (अन्तर्विरोध), २. प्रसंगविरोध, ३. विषयविरोध, ४. अवान्तरविरोध, ५. शैलीगत आधार, ६. पुनरुक्ति, ७. वेदविरोध — के आधार पर प्रक्षिप्त श्लोकों का अनुसन्धान किया गया है और प्रक्षिप्त सिद्ध हुए श्लोकों पर सकारण, सयुक्तिक, साधार, विस्तृत समीक्षा दी गयी है । अनुसन्धानकर्त्ताओं तथा प्रक्षिप्त एवं मौलिक श्लोकों में सयुक्तिक जिज्ञासा रखने वाले या उनके चिन्तन में अभिरुचि रखने वाले पाठकों के लिए वह विस्तृत विश्लेषण लाभप्रद रहा, किन्तु उक्त विस्तृत ऊहापोह में रुचि न रखने वाले और प्रक्षिप्त श्लोकों के अध्ययन की इच्छा न रखने वाले स्वाध्यायी व्यक्तियों, धर्मजिज्ञासुओं, अल्पविकसितमति छात्रों तथा मनु के उपदेशों-आदेशों की भ्रान्तिरहित जानकारी चाहने वाले अन्य सामान्य पाठकों को पृथक् से एक 'केवल मौलिक श्लोकों से युक्त' संस्करण की आवश्यकता अनुभव होती रही । पाठकों की इस मांग को पूरा करने के उद्देश्य से सम्पूर्ण मनुस्मृति के अनुसन्धानकार्य पर आधारित यह 'विशुद्ध मनुस्मृति' का संस्करण पृथक् से प्रकाशित किया जा रहा है ।

सम्पूर्ण मनुस्मृति में मौलिक सिद्ध हुए श्लोकों को बड़े टाइप में तथा एक अतिरिक्त क्रमसंख्या, जो कि लघुकोष्ठक में है, देकर प्रकाशित किया है और प्रक्षिप्तों को छोटे टाइप में छापा है,ताकि पढ़ने से पूर्व देखते ही मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों का ज्ञान हो सके । उन्हीं मौलिक श्लोकों से यह 'विशुद्ध मनुस्मृति' नामक संस्करण तैयार किया गया है और निर्धारित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध हुए श्लोकों को इसमें छोड़ दिया गया है ।

विशुद्ध मनुस्मृति का यह परिवर्धित एवं परिष्कृत नवीन संस्करण है । प्रथम संस्करण का प्रकाशन अत्यन्त शीघ्रता में हुआ था । प्रकाशन के साथ-साथ अग्रिम अनुसन्धान कार्य भी चलता रहा था । इस तथा कुछ अन्य कारणों से प्रथम संस्करण में कुछ कमियां और त्रुटियां रह गयी थीं । उनके लिए हमें खेद है । इस संस्करण में उन त्रुटियों को दूर कर दिया गया है । साथ ही पाठकों के लिए बहुत सारी नयी सामग्री भी इसमें दी जा रही है । भूमिका में मनु एवं मनुस्मृति से सम्बन्धित नये विषयों पर भी विचार किया गया है और नये दृष्टिकोण से निर्णय लेने का प्रयास किया गया है । इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि प्रक्षेपानुसन्धान के परिप्रेक्ष्य में मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन किया जाये । उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह एक प्रयास है । मैं आशा करता हूँ कि यह संस्करण पाठकों के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

इससे प्रक्षिप्त श्लोकों के विश्लेषण में अपना समय-यापन करने की इच्छा न रखने वाले स्वाध्यायी व्यक्तियों, धर्मजिज्ञासुओं को जहां मनुस्मृति के मौलिकरूप को पढ़ने का अवसर मिलेगा और मनु के उपदेशों-आदेशों को अविरल रूप में पढ़ने का आनन्द मिलेगा, वहां सामान्य पाठकों को मनु की

वास्तविक मान्यताओं का ज्ञान निर्भ्रान्त रूप में हो सकेगा । छात्रों को भी क्रम और विषयबद्ध रूप में निर्भ्रान्त सामग्री का ग्रन्थ अध्ययन-अध्यापन के लिए सुलभ होगा ।

स्मृतियों या धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति सर्वाधिक प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ है । मनुस्मृति के परवर्तीकाल में अनेकों स्मृतियां प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के तेज के समक्ष वे टिक नहीं सकीं — अपना प्रभाव न जमा सकीं, जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व् आज तक पूर्ववत् विद्यमान है । मनुस्मृति में एक ओर मानव एवं मानव-समाज के लिए सांसारिक श्रेष्ठ कर्तव्यों का विधान है, तो साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण भी है, इस प्रकार मनुस्मृति भौतिक एवं आध्यात्मिक आदेशों — उपदेशों का मिलाजुला अनूठा शास्त्र है ।

इसके साथ-साथ सभी धर्मशास्त्रों से प्राचीन होने और सृष्टि के प्रारम्भिक काल का शास्त्र होने का गौरव भी मनुस्मृति को ही प्राप्त है । शतपथ, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में मनु का उल्लेख होना और **'मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम्''** (तैत्ति. सं. २।१।१०।२; ३।१।९।४।। तां.ब्रा. २३।१६।७।।) अर्थात् — 'मनु ने जो कुछ कहा है, वह भेषज = औषध के समान गुणकारी एवं कल्याणकारी है,' आदि वचनों का प्राप्त होना, मनुस्मृति को प्राचीनतम और विशिष्ट धर्मशास्त्र सिद्ध करता है । महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति का काल आदिसृष्टि में माना है । उसका अभिप्राय यही है कि मनु मानव एवं मानव-समाज की मर्यादाओं, व्यवस्थाओं के सर्वप्रथम उपदेष्टा थे । मनु की व्यवस्थाएं सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक रूप में सत्य एवं व्यावहारिक हैं । इसका कारण यह है कि मनुस्मृति वेदमूलक है । पूर्णत: वेदमूलक होना मनुस्मृति की एक और परमविशेषता है । इस विशेषता के कारण भी मनुस्मृति को सर्वाधिक सम्मान मिला । शास्त्रकारों ने मनुस्मृति के महत्त्व को निर्विवाद रूप में स्वीकार करते हुए ही यह स्पष्ट घोषणा की है कि —

मनुस्मृति-विरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते ।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो:स्मृते: । (बृह. स्मृति)

अर्थात् — 'जो स्मृति मनुस्मृति के विरुद्ध है, वह प्रशंसा के योग्य नहीं है । वेदार्थों के अनुसार वर्णन होने के कारण मनुस्मृति ही सब में प्रधान और प्रशंसनीय है' ।

इस प्रकार अनेकानेक विशेषताओं के कारण मनुस्मृति मानवमात्र के लिए उपयोगी एवं पठनीय है । किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ का पठन-पाठन लुप्तप्राय : होने लग रहा है । इसके प्रति लोगों में अश्रद्धा की भावना घर करती जा रही है । इसका कारण है — 'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार होना' । प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वल रूप गन्दा एवं विकृत हो गया है । परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण बातों से मनुस्मृति का वास्तविक स्वरूप और उसकी गरिमा विलुप्त हो गये हैं । एक महान् तत्त्वद्रष्टा, ऋषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ अपितु महर्षि मनु के साथ भी अन्याय किया है ।

इस अनुसन्धानकार्य एवं भाष्य की विशेषताएं —

१. निर्धारित मानदण्डों के आधार पर मौलिक सिद्ध हुए श्लोकों का संकलन —

महर्षि-दयानन्द के वचनों से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करके मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान का यह कठिन एवं उलझनभरा कार्य प्रारम्भ किया और कई वर्षों तक सतत प्रयास के परिणामस्वरूप

मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने का कार्य सम्पन्न हो पाया है । यद्यपि अभी इस अनुसन्धान कार्य को 'अन्तिम' नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि अधिकांश प्रक्षेपों के निकल जाने से मनुस्मृति का वह दूषित, विकृत और गदला स्वरूप पर्याप्त रूप से दूर हो गया और उसका उज्ज्वल वास्तविक रूप सामने आया है ।

इस प्रकाशन का सबसे प्रमुख प्रयोजन यही है कि मनुस्मृति के दूषित, गदले, विकृत स्वरूप को दूरकर उसके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करना । वैसे तो बाजार में हिन्दी-संस्कृत की टीका युक्त मनुस्मृति के सैकड़ों प्रकाशन उपलब्ध हैं और कई सौ वर्षों से मनुस्मृति पर लेखन कार्य होता चला आ रहा है, किन्तु अभी तक इस दृष्टि से और इस रूप में किसी भी लेखक ने कार्य नहीं किया ।

प्रक्षेपों को निकालने में किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात की भावना का आश्रय न लेकर तटस्थता को अपनाया है और ऐसे 'आधारों' या 'मानदण्डों' को आधार बनाया है, जो सर्वमान्य हैं । वे हैं — (१) अन्तर्विरोध या परस्परविरोध, (२) प्रसंगविरोध, (३) विषयविरोध, (४) अवान्तरविरोध, (५) शैलीविरोध, (६) पुनरुक्ति, (७) वेदविरोध । ये सभी मानदण्ड कृति के अन्त : साक्ष्य पर आधारित हैं । इनके आधार पर जो श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, उन्हें छोड़ दिया गया है और शेष रहे मौलिक श्लोकों को इसमें संकलित किया है ।

सम्पूर्ण मनुस्मृति में, मनुस्मृति के सभी श्लोकों को यथा स्थान, यथाक्रम रखते हुए, जहाँ-जहाँ प्रक्षेप हैं, वहाँ-वहाँ उन पर पूर्वोक्त आधारों के नामोल्लेख पूर्वक 'अनुशीलन' नामक समीक्षा दे दी है, जिससे पाठक स्वयं भी उनकी परीक्षा कर सकें । 'विशुद्ध मनुस्मृति' उसी संस्करण पर आधारित है ।

उपलब्ध मनुस्मृतियों में कुल श्लोक-संख्या २६८५ है । प्रक्षेपानुसन्धान के पश्चात् १४७१ श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं और १२१४ मौलिक । अध्यायानुसार प्रक्षिप्त एवं मौलिक श्लोकों की तालिका निम्न प्रकार है —

अध्याय	उपलब्ध कुल श्लोक	प्रक्षिप्त	मौलिक शेष
प्रथम अध्याय	१४४ (इस संस्करण के अनुसार)	६६	७८
द्वितीय अध्याय	२२४ (इस संस्करण के अनुसार)	६०	१६४
तृतीय अध्याय	२८६	२०२	८४
चतुर्थ अध्याय	२६०	१७०	९०
पञ्चम अध्याय	१६९	१२८	४१

षष्ठ अध्याय	९७	३३	६४
सप्तम अध्याय	२२६	४२	१८४
अष्टम अध्याय	४२०	१८७	२३३
नवम अध्याय	३२५ (इस संस्करण के अनुसार)	१६८	१५७
दशम अध्याय	१४२ (इस संस्करण के अनुसार)	१२७	१५
एकादश अध्याय	२६६	२३४	३२
द्वादश अध्याय	१२६	५४	७२
कुल योग	२६८५	१४७१	१२१४

(२) विभिन्न शास्त्रों के प्रमाणों से पुष्ट अनुशीलन समीक्षा —

मनुस्मृति में लगभग ६०० श्लोकों पर 'अनुशीलन' समीक्षा देकर उसमें श्लोक के भावों, गुत्थियों, विवादों, मान्यताओं तथा अन्याय विचारणीय बातों पर मनन किया गया है और अधिक से अधिक स्पष्ट करने तथा सुलझाने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थलों पर विषय को तालिकाओं के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। समीक्षा में वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, संहिताओं, उपनिषदों, दर्शनों, व्याकरण एवं सूत्रग्रन्थों, निरुक्त, सुश्रुत तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि के अनेक प्रमाण देकर, उनसे मनु की मान्यताओं और भावों का समन्वय स्थापित करते हुए, उन्हें और अधिक प्रमाणित एवं पुष्ट किया गया है। अनेक पदों का व्याकरण देकर उनका अर्थ भी उद्घाटित किया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र को आंशिक रूप में ही प्रामाणिक माना गया है। उसे तुलनात्मक रूप में उद्धृत करने का अभिप्राय यह दर्शाना भी है कि मनूक्त विधि- विधान पर्याप्त अवरकाल तक अविरलरूप में मान्य और प्रचलित रहे हैं।

(३) मनु के वचनों से मनु के भावों की व्याख्या —

उपर्युक्त अनुशीलन के साथ-साथ यह भी प्रयास किया गया है कि जिन श्लोकों या भावों की व्याख्या और स्पष्टीकरण स्वयं मनु के वचनों से प्राप्त हो सकें, उन्हें उनके आधार पर ही समझा और स्पष्ट किया जाये। ऐसी बहुत सी मान्यताएं हैं, जिन्हें स्वयं मनु ने ही अन्य श्लोकों में यत्र-तत्र स्पष्ट

या पुष्ट किया है। ऐसे श्लोकों को अथवा उनकी संख्या को सम्बद्ध श्लोक पर अनुशीलन समीक्षा में तुलना या अन्यत्र व्याख्यात के रूप में दे दिया है। इसके अतिरिक्त श्लोकव्याख्या के बीच में भी बृहत्कोष्ठक के अन्तर्गत ऐसे श्लोकों की संख्या दी हुई है, जिनसे उस विषय पर प्रकाश पड़ता है।

(४) मनु की मान्यता के अनुकूल और प्रसंगसम्मत अर्थ —

परम्परागत संस्कृत एवं हिन्दी के भाष्यों में कुछ श्लोकों के अर्थ ऐसे किये गये हैं, जो मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल सिद्ध नहीं होते और न प्रसंगसम्मत हैं, जैसे —१/२, ३, ६, २२, १३७ (२/१८); ३/५६ आदि। कुछ श्लोकों के अर्थों में क्रमबद्धता नहीं बन पायी है, जैसे — १/१४–१५, १६, १८, १९ आदि। ऐसे सभी श्लोकों का अर्थ मनु की मान्यता के अनुकूल, प्रसंग एवं क्रमसंगत किया गया है, और उनकी समीक्षा में उस अर्थ की पुष्टि में कारण, युक्तियाँ एवं प्रमाण दिये गये हैं। साथ ही टिप्पणी में उन श्लोकों का प्रचलित अर्थ भी दे दिया गया है, ताकि पाठक उन पर विचार कर सकें। इस भाष्य में ऐसे परिवर्तित अर्थ वाले श्लोकों की संख्या ५४ है। साथ ही टिप्पणी में उन श्लोकों के प्रचलित अर्थ भी दे दिये हैं ताकि पाठक उन अर्थों पर तुलनापूर्वक विचार कर सकें।

(५) भूमिका भाग में मनुस्मृति का नया मूल्यांकन —

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मनुस्मृति से सम्बन्धित 'मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन' नामक एक विस्तृत भूमिका दी गयी है। इसमें मनुस्मृति से सम्बन्धित सभी प्रश्नों, यथा — मनु एवं मनुस्मृति का काल, मनुस्मृति का आद्य और वर्तमान रूप, मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनका परिभाषा-उदाहरण-पूर्वक विवेचन, मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, मनु की मौलिक मान्यताएं और उनके कारण, आदि पर युक्ति-प्रमाण-पूर्वक विचार किया गया है। यह विवेचन उक्त विषयों पर एक नया मूल्यांकन है।

(६) महर्षि-दयानन्द के अर्थ और भावार्थ —

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के लिए मनुस्मृति को प्राथमिक आधार माना है और लगभग ५१४ श्लोको या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, अनेक श्लोकों के केवल भाव ग्रहण किये हैं। महर्षि मनु के श्लोकों पर महर्षि-दयानन्द का समग्र भाष्य प्रस्तुत करना इस प्रकाशन की दूसरी प्रमुख विशेषता है। अपने ग्रन्थों में महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का भाष्य किया है, उस श्लोक पर केवल महर्षि का ही भाष्य दिया गया है और शेष श्लोकों पर मेरा भाष्य है। यदि महर्षि ने किसी श्लोक को अपने ग्रन्थों में एक से अधिक बार उद्धृत करके भाष्य किया है तो उन सभी अर्थों को इसमें उद्धृत कर दिया है। जहां मनु के श्लोकों के केवल भाव ही महर्षि के ग्रन्थों में उपलब्ध हुए, वहां तत्तत्श्लोक पर वे भाव भी सकंलित कर दिये हैं। इन सभी बातों से मनु के भावगाम्भीर्य पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ेगा। महर्षि के भाष्य से मनु के श्लोकों की अनेक गुत्थियां सुलझ जाती हैं। एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर एक ऋषि का ही भाष्य होने से 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है और उसका महत्त्व कई गुणा बढ़ जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर महर्षि के भाष्य को उद्धृत किया है।

इस भाष्य में कुल ४२२ श्लोकों या श्लोकखण्डों पर महर्षि के अर्थ और भावार्थ दिये गये हैं, जिनमें ३४२ श्लोकों पर महर्षि का अर्थ है और ८० श्लोकों पर केवल भावार्थ है। जिन श्लोकों पर महर्षि का केवल भावार्थ है, उन पर पदार्थभाष्य मेरा किया हुआ है।

(७) प्रथम बार हिन्दी-पदार्थ टीका प्रस्तुत —

पहली बार सम्पूर्ण मनुस्मृति के संस्कृत पदों को रखकर उनके साथ हिन्दी का अर्थ प्रस्तुत किया गया है। इससे विद्यार्थियों को सुगमता होगी और थोड़ी संस्कृत जानने वाले स्वाध्यायी पाठक भी संस्कृत पदों के ज्ञान-मनन पूर्वक श्लोकों का अर्थ आसानी से ग्रहण कर सकेंगे। इस दृष्टि से यह प्रकाशन सर्वसाधारण के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

(८) सभी अनुक्रमणिकाओं एवं सूचियों से युक्त —

किसी भी ग्रन्थ में अनुक्रमणिकाएं और विषयसूचियां अत्यन्त उपयोगी और सुविधाजनक होती हैं। छात्रों और पाठकों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए इस प्रकाशन में श्लोकों की उभयपंक्ति-अनुक्रमणिका, विषयानुक्रमणिका, अनुशीलन समीक्षा में विचारित विषयों की सूची, संकेत सूची, आदि समस्त आवश्यक सामग्री का समावेश किया गया है।

(९) मनुस्मृति के प्रकरणों का उल्लेख —

मनु की यह शैली है कि वे प्रत्येक मुख्य विषय या प्रकरण को प्रारम्भ करते समय उसका स्वयं संकेत करते हैं या समाप्ति पर विषय का संकेत करते हैं। मनु द्वारा प्रदर्शित संकेतों के अनुसार मनुस्मृति में २१ प्रकरण या मुख्यविषय बनते हैं। इस संस्करण में उनका यथास्थान उल्लेख कर उसकी सीमा का भी उल्लेख कर दिया है।

आभार-प्रदर्शन

सर्वप्रथम आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्थापक एवं संचालक स्वर्गीय सेठ दीपचन्द जी आर्य का मैं सदैव अत्यन्त आभारी रहूँगा, जिनकी सतत प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से मनुस्मृति का यह प्रक्षेप-अनुसन्धान तथा भाष्य का कार्य प्रारम्भ एवं सम्पन्न हुआ, जिन्होंने इस बृहत् ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशन का भार अपने कन्धों पर वहन किया। सेठ जी ने प्रक्षेपानुसन्धान-सम्बन्धी सुझाव और मार्गदर्शन देकर इस कार्य को और अधिक परिष्कृत करने में भी सहयोग किया, इसके लिये भी मैं उनका आभारी रहूँगा।

सेठ जी के सुपुत्र और आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के वर्तमान संचालक श्री धर्मपाल जी आर्य ने इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन अत्यन्त रुचि, उत्साह, और परिश्रम एवं विवेक से किया है। उनके प्रयत्नों से यह संस्करण सभी तरह से उत्तम बन गया है। मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। श्री पं. राजवीर जी शास्त्री, जिन्होंने इस कार्य में अपने मूल्यवान् सुझाव और अनुसन्धान में सक्रिय सहयोग तथा समय प्रदान किया तथा श्री पं. सुदर्शनदव जी आचार्य, जिन्होंने इस कार्य को करने की प्रेरणा एवं समय-समय पर उचित सुझाव प्रदान किये हैं, दोनों ही विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इनके साथ-साथ अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला शास्त्री के प्रति भी इस बात के लिये आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने मुझे सभी पारिवारिक व्यस्तताओं से दूर रखते हुए इस अनुसन्धान कार्य को सम्पन्न करने के लिये यथावश्यक समय प्रदान करने का सदैव ध्यान रखा और लेखन कार्य में भी यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया। प्रूफसंशोधक श्री कर्मवीर जी शर्मा, श्री रामहौसला मिश्र जी ठेकेदार का भी मैं धन्यवादी हूँ, जिन्होंने पूर्ण श्रद्धा तथा पुरुषार्थ से इस कार्य को पूर्ण करने में सहयोग दिया है।

पाठकों से निवेदन

मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान और अनुशीलन का यह कार्य कुछ निश्चित आधारों पर सम्पन्न करने का दायित्व मैंने स्वीकार किया। अपनी अल्पमति के आधार पर यथाशक्ति परिश्रम करके जैसा भी इसे कर पाया हूँ, वह आपके हाथों में है। नि:सन्देह, यह अत्यन्त कठिन, उलझनभरा और विवादस्पद कार्य है, जिसे अभी तक इस रूप में किसी के द्वारा सम्पन्न नहीं किया गया, जबकि अब से बहुत पहले यह कार्य हो जाना चाहिए था। ऐसे उलझनभरे कार्य में कहीं-कहीं कमियों और त्रुटियों का रह जाना संभव है, अत: विद्वान् पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे इस पर मनन करके मेरी त्रुटियों को क्षमा करते हुए, मुझे उनसे अवश्य अवगत करायें और इसविषयक सुझाव प्रदान करें, जिससे अगले संस्करण में अधिक से अधिक परिष्कार किया जा सके।

दिनांक ९-१२-१९८५ इस्वी
स्यान —झज्जर (जिला-रोहतक)
[हरियाणा]

निवेदक —
सुरेन्द्रकुमार

संकेत-सूची

अ./अष्टा.	अष्टाध्यायी
अथर्व.	अथर्ववेद
आप. ध.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप. श्रौ.	आपस्तलम्ब श्रौतसूत्र
आश्व. गृ. सू.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आ./आश्व. श्रौ. सू.	आश्वलायन श्रौतसूत्र
उणा.	उणादिसूत्रपाठः
उपा.	उपासनाविषय
ऋ./ऋक्	ऋग्वेद
ऋ. दया	ऋषि दयानन्द
ऋ. दया. पत्र वि./ ऋ. पत्र वि./ ऋ. प. वि.	ऋषि दयानन्द के पत्र-विज्ञापन
ऋ. भू./ऋ. भा. भू.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐ./ऐत./ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
का.	काण्ड
काठ./काठ. सं.	काठक संहिता
कौ. अ./कौटि. अर्थ.	कौटिल्य अर्थशास्त्र
—प्रक./प्र. अ.	— प्रकरण, अध्याय
कौ.	कौषितकि ब्राह्मण
कौषि. गृ.	कौषितकि गृह्यसूत्र
गो. ब्रा./ गो. पू./गो. उ.	गोपथ ब्राह्मण, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक
गो. गृह्य.	गोभिलगृह्यसूत्र
गो. ध.	गौतम धर्मसूत्र
चा./चाण. सू.	चाणक्यसूत्र
छान्दो.	छान्दोग्योपनिषद्
जै. उ.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै. गृ.	जैमिनि गृह्यसूत्र

तां/ताण्ड्य. ब्रा.	ताण्ड्यब्राह्मण
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै./तै. ब्रा./तैत्ति.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं./तैत्ति सं.	तैत्तिरीय संहिता
द. ल. आ.	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह आर्याभिविनय
द. ल. गो.	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह गोकरुणानिधि
द. ल. ग्र./द. ल. ग्र. सं	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह
द. ल. पं.	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह पञ्चमहायज्ञविधि
द. ल. पृ.	दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह पृष्ठ
द. ल. भ्र.	दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह भ्रमोच्छेदन
द. ल. भ्रा. नि.	दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह भ्रान्तिनिवारण
द. ल. वेदांक	दयानन्द लघुग्रन्थ वेदभाष्य के नमूने का अंक
द. ल. वे. ख.	दयानन्द लघग्रंथ वेदविरुद्धमतखण्डन
द. शा./द. शा. सं.	दयानन्द शास्त्रार्थसंग्रह
द. ल. शि.	दयानन्द लघुग्रन्थ शिक्षापत्री ध्वान्तनिवारण
द्र.	द्रष्टव्य
दिवा.	दिवादिगण (धातुपाठ)
नि./निरु.	निरुक्त
पार. गृह्य	पारस्कर गृह्यसूत्र
पू. प्र.	पूना प्रवचन
पू. मी.	पूर्वमीमांसा
पृ.	पृष्ठ
पं. वि.	पञ्चमहायज्ञविधि
प्रपा.	प्रपाठक
बृह. स्मृति.	बृहस्पतिस्मृति
बौधा. ध.	बौधायन धर्मसूत्र
ब्रह्मा.	ब्रह्मावल्ली
भ्वा.	भ्वादिगण (धातुपाठ)
मनु.	मनुस्मृति
मनु. का पु.	मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन
महा.	महाभारत
— आदि.	— आदिपर्व
— भीष्म	— भीष्मपर्व
— शान्ति.	— शान्तिपर्व
मं.	मण्डल
मैत्रा. सं.	मैत्रायणी संहिता
यजु.	यजुर्वेद

याज्ञ. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
योग.	योगदर्शन
वा. रामा.	वाल्मीकि रामायण
— बाल.	— बालकाण्ड
— अयो.	— अयोध्याकाण्ड
— किष्कि.	— किष्किन्धाकाण्ड
— आर.	— आरण्यककाण्ड
वासि. ध.	वासिष्ठ धर्मसूत्र
वेदा. सू.	वेदान्त सूत्र
वैशे. / वैशेषिक	वैशेषिक दर्शन
श. /शत .	शतपथ ब्राह्मण
स. प्र.	सत्यार्थप्रकाश (द्वितीयसंस्करण)
— प्र. समु.	प्रथम समुल्लास
सं.	सम्पादक
सं. वि.	संस्कारविधि (द्वितीयसंस्करण)
साम.	सामवेद
सांख्य	सांख्यदर्शन
सू.	सूक्त
सूत्र.	सूत्रस्थान

विशेष — इस ग्रन्थ में पृष्ठसंख्या देते हुए सत्यार्थ-प्रकाश व संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम संस्करण का उपयोग किया गया है। अत: जिन सज्जनों के पास ये संस्करण नहीं हैं उनकी सुविधा के लिये इन पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या देकर सामने उनके प्रकरण वा समुल्लास दिये जाते हैं। पृष्ठसंख्या के अनुसार पाठक उन-उन प्रकरणों वा समुल्लासों को देख लें —

सत्यार्थप्रकाश

१ — ८	निवेदन व भूमिका
९ — २७	प्रथम समुल्लास
२८ — ३६	द्वितीय "
३७ — ७७	तृतीय
७८ — १२३	चतुर्थ "
१२४ — १३७	पञ्चम "
१३८ — १७७	षष्ठ "
१७८ — २०६	सप्तम "
२०७ — २३१	अष्टम "
२३२ — २५५	नवम समुल्लास
२५६ — २७०	दशम "
२७१ — ३९४	एकादश "
३९५ — ४६१	द्वादश "
४६२ — ५१८	त्रयोदश "
५१९ — ५९२	चतुर्दश "

संस्कारविधि

१३ — २६	सामान्य प्रकरण
२७ — ३८	गर्भाधान संस्कार
३९ — ४१	पुंसवन "

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्लोकों की संख्याविषयक तथा अन्य ज्ञातव्य बातें —

१. विशुद्ध मनुस्मृति में श्लोकक्रमसंख्या मौलिकश्लोकों के अनुसार ग्रहण की गयी है, जो लघुकोष्ठक में है। सभी अनुक्रमणिकाएं उसी के अनुसार देखें।

२. अनुशीलन तथा श्लोकार्थों के अन्तर्गत आने वाली श्लोकसंख्याएं प्रचलित क्रम के अनुसार ही हैं, मौलिक क्रम के अनुसार नहीं। अत: उनका मिलान करते समय प्रचलित प्रथम संख्या और बृहत् कोष्ठकान्तर्गत संख्याएं ही देखें।

३. जिन अध्यायों के विभाजन में परिवर्तन नहीं किया गया है (प्रथम, द्वितीय और दशम को छोड़कर), उनमें श्लोकों के साथ दो-दो संख्याएं है। उनमें पहले, सभी श्लोकों की क्रमानुसार संख्या है, और उसके बाद लघुकोष्ठक में मौलिक माने गये श्लोकों की क्रमसंख्या है।

— प्रथम अध्याय में जिन श्लोकों के बाद तीन-तीन संख्याएं हैं(१/१२० से १४४ तक), उनमें पहली क्रमानुसार श्लोक संख्या है, दूसरी बृहत्कोष्ठक में द्वितीय अध्याय के उन श्लोकों की प्रचलित संख्या है जो सम्मिलित किये गये हैं, और तीसरी, लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।

— द्वितीय अध्याय की तीन संख्याओं में पहली क्रमानुसार संख्या है, दूसरी बृहत्कोष्ठक में प्रचलित संख्या है, तीसरी लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।

— दशम अध्याय में दो-दो श्लोक संख्याएं हैं। पहली प्रचलित अध्याय व श्लोक की क्रमसंख्या है। दूसरी लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।

४. महर्षि दयानन्द के भाष्य वाले श्लोकों में श्लोकों के पद भाष्यकार की ओर से डाले गये हैं। जहां उनका भाष्य या भाव ज्यों का त्यों बिना श्लोकपद डाले उद्धृत किया है, वहां उसे उद्धरण चिन्ह " " के अन्तर्गत रखा गया है। महर्षि के भाव में जहां कहीं किसी श्लोकपद का अर्थ नहीं है, वहां चिन्ह देकर श्लोकार्थ के नीचे भाष्यकार की ओर से अर्थ दिया गया है। उन पदों को पाठक उन-उन चिन्हों के स्थान पर जोड़कर पढ़ें।

५. टिप्पणी में दर्शाये गये प्रचलित अर्थ कुल्लूक भाष्य पर आधारित पं. हरगोविन्द शास्त्री की हिन्दी टीका से उद्धृत किये गये हैं।

विशुद्ध मनुस्मृति- विषयानुक्रमणिका

निर्देश — विशुद्ध मनुस्मृति में श्लोक- संख्या मौलिकश्लोकों की देखें, जो लघुकोष्ठक में है।

द्वितीय अध्याय

(संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम-विषय)

तृतीय अध्याय

(समावर्तन, विवाह एवं पञ्चयज्ञ-विधान)

चतुर्थ अध्याय

(गृहस्थान्तर्गत आजीविका एवं व्रत विषय)

सप्तम-अध्याय

(राजधर्म विषय)

अष्टम अध्याय

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)

८ – १ से ९ – ९९ तक

नवम अध्याय

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहारनिर्णय)
(९ – १ से ९ – ९९ तक)

(१६) स्त्री-पुरुष धर्म सम्बन्धी विवाद और उसका निर्णय (९ – १ से ३९)

(१७) दायभाग विवाद-वर्णन (९ – ४० से ८४)

दशम अध्याय

(चातुर्वर्ण्य धर्मान्तर्गत वैश्य शूद्र के धर्म एवं चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार)

एकादश-अध्याय

प्रायश्चित्त विषय

(११ – १ से ३१ तक)

द्वादश अध्याय

कर्मफल-विधान एवं नि:श्रेयस कर्मों का वर्णन (१२ – १ से १६६ तक)

अनुशीलन समीक्षा में विचारित विषयों की सूची

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

मनुस्मृति

का

पुनर्मूल्यांकन

(भूमिका भाग)

भूमिका का विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय — मनुस्मृति-महत्ता, रचयिता, काल, एवं आद्यरूप

द्वितीय अध्याय — मनुस्मृति और प्रक्षेप

तृतीय अध्याय — मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनके आधार

चतुर्थ अध्याय —

पंचम अध्याय — महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति

प्रथम अध्याय

[मनुस्मृति – महत्ता, रचयिता, काल एवं आद्यरूप]

१. मनुस्मृति की महत्ता एवं प्रभाव

भारतीय साहित्य में मनुप्रोक्त स्मृति का 'मनुस्मृति' 'मनुसंहिता' 'मानवधर्मशास्त्र' 'मानवशास्त्र' आदि कई नामों से उल्लेख आता है। मनुस्मृति भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित धर्मशास्त्र है क्योंकि अपने रचना-काल से ही यह सर्वाधिक प्रामाणिक, मान्य एवं लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। स्मृतियों में इसका स्थान सबसे ऊंचा है। यही कारण है कि परवर्ती काल में अनेक स्मृतियां प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के प्रभाव के समक्ष टिक न सकीं, अपना प्रभाव न जमा सकीं; जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक बना हुआ है।

मनुस्मृति एक विधि-विधानात्मक शास्त्र है। इसमें जहां एक ओर वर्णाश्रम धर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों, नैतिक कर्त्तव्यों, मर्यादाओं, आचरणों का वर्णन है, वहाँ श्रेष्ठ समाज-व्यवस्था के लिए विधानों = कानूनों का निर्धारण भी है, और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण है। यों कहिये कि यह भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाओं का मिला-जुला अनूठा धर्मशास्त्र है। इस प्रकार यह व्यक्ति एवं समाज के लिए धर्मशास्त्र एवं आचारशास्त्र है, तो साथ ही सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारु रूप में रखने के लिए 'संविधान' भी है।

मनुस्मृति को इतना अधिक महत्त्वशाली, सम्मान्य तथा लोकप्रिय बनाने वाले कारणों में जहां इसके व्यक्ति और समाज के लिए हितकारी, व्यावहारिक एवं युक्तियुक्त विधि-विधान हैं, वहां इसकी प्राचीनता एवं वेदानुकूलता भी उल्लेखनीय कारण हैं। सर्वप्राचीन, सर्वाधिक मान्य और श्रद्धेय होने से वेद ही समस्त भारतीय साहित्य के मूलस्रोत हैं तभी तो मनु ने भी वेदों को ही प्रधानरूप से अपनी स्मृति का आधार बनाया है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि —

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' [मनु २।६]

अर्थात् —वेद ही धर्म के मूलाधार हैं।

मन्त्रार्थों के साक्षात्द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने वेदों के मौलिक सिद्धान्तों को समझकर ही वेदांग, ब्राह्मण, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों की रचना की, जिससे मानव, ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को छोड़कर अपने चरमलक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकें। मनु ने भी मनुस्मृति में वर्णों एवं आश्रमधर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों-कर्त्तव्यों, विधानों का वर्णन वेद के आधार पर ही किया है[1] और धर्म जिज्ञासा में वेद को ही परम प्रमाण माना है —

''धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'' [मनु. २।१३]

अर्थात् – धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है। उसी से धर्म-अधर्म का निश्चय करें।

मनु की वेदों के प्रति गहन श्रद्धा है। वे वेदों को अपौरुषेय मानने हैं।[2] क्योंकि वेदज्ञान

---

१. २।८-९।।

२ ''विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य...

अपौरुषेय होने से निर्भ्रान्त ज्ञान है, धर्म का मूल स्रोत है एवं परमप्रमाण है; अत : वह कुतर्कों द्वारा खण्डनीय नहीं है । जो कुतर्क आदि का आश्रय लेकर वेदज्ञान का खण्डन, अवमानना या निन्दा करता है, उसे वे 'नास्तिक' जैसे तिरस्कारपूर्ण शब्द से सम्बोधित करते हैं —

> ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।।
> योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज : ।
> स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक : ।। [मनु. २।१०-११]

अर्थात — श्रुति और स्मृतिग्रन्थों की किसी भी अवस्था में आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से धर्म की उत्पत्ति हुई है । वही धर्म के मूल स्रोत हैं । जो व्यक्ति तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि से उनकी अवमानना-निन्दा करता है,तो साधु-श्रेष्ठ लोगों को चाहिए कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दें ; क्योंकि वेद की निन्दा करने वाला वह व्यक्ति नास्तिक है ।

मनुस्मृति को गौरव प्रदान कराने वाले कारणों में यह कारण भी विशेष स्थान रखता है कि मनु अपने समय के एक प्रख्यात, तत्त्वद्रष्टा,धर्मवेत्ता ऋषि थे और अपने समय में धर्मनिष्ठ, न्यायकारी प्रजाप्रिय शासक रहे थे । इसका प्रमाण मनुस्मृति की भूमिका में उल्लिखित वचनों से मिलता है । जिज्ञासु ऋषियों ने धर्मज्ञान के लिए महर्षि मनु को चुना, क्योंकि अपने समय के वही एकमात्र अधिकारी एवं विशेषज्ञ विद्वान् थे,जो धर्मों को यथार्थरूप में बतला सकते थे । धर्मों के मूलस्रोत अपौरुषेय अचिन्त्य अपरिमित ज्ञान वाले वेदों के ज्ञाता और उनमें निर्दिष्ट धर्मों के ज्ञाता केवल मनु ही हैं, ऐसा ऋषियों ने अनुभव किया[३] । निश्चय ही मनु 'अमितौजा' = अत्यधिक ज्ञानशक्ति से सम्पन्न व्यक्ति थे ।[४] इस बात से भी उनकी अगाध विद्वत्ता का संकेत मिलता है कि उन्होंने धर्मप्रवचन का अधिकार केवल उन्हीं विद्वानों को दिया है ''जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन करते हुए धर्मपूर्वक सांगोपांग वेद पढ़े हैं और जिन्होंने वेदार्थों का प्रत्यक्ष किया है, वे ही धार्मिक और परोपकारी विद्वान् धर्मनिर्णय करने के अधिकारी हैं''[५] । उन्हीं के वचन और आचरण धर्म में प्रमाण माने जा सकते हैं ।[६] जो व्यक्ति धर्मनिर्णय में केवल उपर्युक्त विद्वानों को ही प्रमाण मान रहा है, वह स्वयं विशिष्ट विद्वान् अवश्य रहा होगा, फिर ऐसे अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रोक्त धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता और महत्ता को कौन नहीं स्वीकार करेगा ?

यही कारण हैं कि समस्त भारतीय साहित्य में मनु के वचनों को आदर की दृष्टि से देखा गया है और प्रामाणिक माना है । यहाँ कुछ भारतीय एवं भारतीयेतर उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनसे मनुस्मृति की महत्ता, प्रामाणिकता, प्रभावशालिता एवं लोकप्रियता का निश्चय आसानी से किया जा सकता है ।

---

३. ''भगवन् . . . धर्मान् न : वक्तुमर्हसि ।। त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव : । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।। मनु १।२-३ ।।

४. ''स तै : पृष्टस्तथा सम्यक्-अमितौजा'' ।। मनु. १।४ ।।

५. ''यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु : स धर्म : स्यादशंकित : ।। धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद : सपरिबृंहण : । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया : श्रुतिप्रत्यक्षहेतव : ।। मनु. १२।१०८-१०९ ।।

६. १२।११३, १०६, ११०-११२ ।।

(क) भारत में मनुस्मृति का प्रभाव एवं महत्त्व

मनुस्मृति का आद्यरूप क्या था, इस विषय में आगे इसी अध्याय में विचार किया जायेगा। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनु के धर्मशास्त्र का अस्तित्व वैदिक काल से ही रहा है। इसकी पुष्टि कई संहिताग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक जैसे रूप में पाये जाने वाले निम्न वाक्य से होती है —

"मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम्"[७]

अर्थात् — मनु ने जो कुछ कहा है, वह मानवों के लिए भेषज = औषध के समान कल्याणकारी एवं गुणकारी है।

ब्राह्मणग्रन्थों का यह वचन यह सिद्ध करता है कि उस समय मनु के धर्मशास्त्र को प्रामाणिक माना जाता था। धर्मनिश्चय में उसका सर्वाधिक महत्त्व था। एक ही रूप में कई ग्रन्थों में पाया जाने वाला यह वाक्य इस बात की ओर भी इंगित करता है कि मनु का धर्मशास्त्र उस समय इतना लोकप्रिय हो चुका था कि वह औषध के तुल्य हितकारी, गुणकारी के रूप में स्वीकृत था। तभी तो उसके विषय में यह उक्ति भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने दायभाग में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार के विषय में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके मनु के मत का उल्लेख किया है[८]। मनु का यह समानाधिकार सम्बन्धी मत प्रचलित मनुस्मृति के ९।१३०, १९२, २१२ श्लोकों में वर्णित है[९]। इससे भी मनु के वचनों की विशेष प्रामाणिकता और महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में, वालि और सुग्रीव के परस्पर युद्ध के अवसर पर राम द्वारा बालि का वध किये जाने पर घायल वालि राम के इस कृत्य को अनुचित एवं अधर्मानुकूल ठहराता है। तब राम अपने इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति के वचनों का सहारा लेते हैं और दो श्लोक उद्धृत करके अपने कार्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं।[१०] वे दोनों श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में किंचित् पाठान्तर से ८।३१६, ३१८ में पाये जाते हैं। इन वचनों से भी ज्ञात होता है कि उस समय मनुस्मृति को धर्मनिश्चय में अत्यधिक प्रामाणिकता, प्रसिद्धि, मान्यता और महत्ता प्राप्त थी।

महाभारत में अनेक स्थलों पर मनु को विशिष्ट प्रामाणिक स्मृतिकार के रूप में वर्णित किया है[११]। महाभारत के निम्न श्लोक से ज्ञात होता है कि उस समय मनु के वचनों को कुतर्क आदि के द्वारा अकाट्य माना जाता था —

पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ (महा.)

---

७. तैत्ति सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४॥ तां. ब्रा. २३।१६।७॥

८. निरु. ३।४॥ अर्थ सहित श्लोक द्रष्टव्य है, — मनु. का. पु. प्रथम अध्याय 'मनु कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत

९. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥९।१३०॥
— जैसी अपनी आत्मा है, वैसा ही पुत्र होता है, और पुत्र के समान ही पुत्री होती है; उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुए कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है, अर्थात् पुत्र के साथ पुत्री भी धन की अधिकारिणी होती है॥ द्रष्टव्य मनु. ९।१९२, और २१२ भी॥

१०. किष्कि. १८।३०, ३२॥ अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य है — मनु. का. पु. प्रथम अध्याय, 'मनुस्मृति कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत।

११. महा. आदि. ७३।८९॥ शान्ति. ३६।३॥ शान्ति. ५६।२३; ११८।२६; १२१।१०, १२; २०१।३२-३३ ३३५।४४, ४६ आदि॥

अर्थात् — पुराण[१२] अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ, मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म, सांगोपांग चिकित्सक धार्मिक विद्वानों की आज्ञा से सिद्ध कार्य, इन चारों का हेतुशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिए।

आचार्य बृहस्पति ने तो अपनी स्मृति में स्पष्ट शब्दों में मनुस्मृति को सर्वोच्च स्मृति घोषित किया है। उसकी प्रामाणिकता, महत्ता की उद्घोषणा और उसकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं-

> वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
> मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।।
> तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
> धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते।। (बृह.स्मृति संस्कारखण्ड १३—१४)

अर्थात् —वेदार्थों के अनुसार रचित होने के कारण सब स्मृतियों में मनुस्मृति ही सबसे प्रधान एवं प्रशंसनीय है। जो स्मृति मनु के अर्थ के विपरीत है, वह प्रशंसा के योग्य अथवा ग्राह्य नहीं है। तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्रों की शोभा तभी तक है, जब तक धर्म, अर्थ, मोक्ष का उपदेश देने वाला मनु नहीं होता अर्थात् मनु के उपदेशों के समक्ष सभी शास्त्र निस्तेज, प्रभावहीन प्रतीत होते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रसिद्ध लेखक-व्याख्याकार हुए हैं, जिन्होंने अपने मत के समर्थन में या अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए मनु के वचनों को उद्धृत किया है और इस प्रकार अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है।

बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने, जो राजा कनिष्क का समकालीन था, जिसका कि समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, अपनी 'वज्रकोपनिषद्' कृति में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है। विश्वरूप ने अपने यजुर्वेदभाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य में मनु के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्रभाष्य में मनुस्मृति के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं।[१३] ५०० ई. में जैमिनि सूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी ने अपने भाष्य में मनु के अनेक वचनों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने याज्ञ०स्मृति के श्लोकों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को पर्याप्त संख्या में उद्धृत किया है[१४]। गौतम, वशिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बौधायन आदि सूत्रग्रन्थों में भी मनु का आदर के साथ उल्लेख है।[१५] आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुत-से स्थलों पर मनुस्मृति को आधार बनाया है, और कई स्थलों पर मनु के मतों का उल्लेख किया है।[१६] इनके अतिरिक्त भी बहुत सारे ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्होंने अपनी प्रमाणिकता और गौरव बढ़ाने के लिए अथवा मनु के मत को मान्य मानकर उद्धृत किया है।[१७]

अठारहवीं शताब्दी में मनुस्मृति के सर्वाधिक महत्त्व आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने

---

१२. निरुक्त ४।१९ में पुराण शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है —''पुरा नवं भवतीति' अर्थात् जो पहले नया था, अब नहीं। इस प्रकार पुराण शब्द ब्राह्मण आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों का वाचक है। इसी के आधार पर बाद में ऐतिहासिक ग्रन्थों का 'पुराण' नाम रखा गया। यहां पुराण शब्द से १८ पुराणों का ग्रहण नहीं करना चाहिये।

१३. विश्वरूप याज्ञ स्मृ.भाष्य १।५५ ।। वेदा. सू. भाष्य १।३।२८, ३६ ; २।१।१, ११ ; ३।१।१४ ; ३।४।३८ ; ४।२।६ ।।

१४. याज्ञ. स्मृ. १।७, ५३, ६२, ६८, ७२, ७९, ८० ; २।१, २, ५, २१, २६ आदि ।।

१५. गौ. ध. २१।७ ।। वसि. ध. १।१७ ।। [illegible] ।। आप. श्रौ. ३।१०।३५ ।। ३।१।७ ।। आश्व. श्रौ. ९।७।२ ; १०।७।१ ।। जै. गृ. १।२४ ।। बौ. ध. ४।१।१५ [illegible]

१६. कौ. अर्थ. प्र. १।अ. १ ।। प्र. १०।अ. १४ ।।

१७. जैसे कि स्मृतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्धु, संस्कारमयूख, श्रीमद्भागवत, ~~[illegible]~~ आदि।

किया । उन्होंने केवल मनुस्मृति को ही आर्ष एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्र घोषित किया और अपने मन्तव्यों का आधार बनाया । उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है ।

इनके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत सारे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें किसी अन्य ग्रन्थ के ऐसे वचन उद्धृत हैं, जिनमें कि मनु के मत का उल्लेख है, या मनु के नाम से कोई मान्यता निर्दिष्ट है । यद्यपि इनमें बहुत से श्लोक ऐसे भी हैं, जो न तो वर्तमान मनुस्मृति में मिलते हैं और न अन्य किसी स्मृति में । यह भी संभव है कि अपने पक्ष की पुष्टि के लिए लोगों ने मनु के नाम से स्वयं ही श्लोक रच लिये हों । यहां इस विवाद में न पड़कर केवल इतना कहना ही प्रासंगिक होगा कि इन सब बातों से मनु के एकछत्र प्रभाव का संकेत अवश्य मिलता है ।

प्राचीन काल से मनुस्मृति के अनुकूल आचरण को भी प्रतिष्ठा-सूचक माना जाता रहा है । वलभी के राजा धारसेन का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो ५७१ ई. का है । उसमें उस राजा को मनु के धर्मनियमों का पालनकर्ता कहकर उसकी विशेषता बतलायी गयी है ।

सभी स्मृति-ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सर्वाधिक टीकाएं एवं भाष्य मनुस्मृति पर ही लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं । यह भी मनुस्मृति की सर्वोच्चता एवं सर्वाधिक प्रभविष्णता का द्योतक है ।[१८]

आजकल भी पठन-पाठन, अध्ययन-मनन में मनुस्मृति का ही सर्वाधिक प्रचलन है । हिन्दू कोड बिल एवं संविधान का प्रमुख आधार मनुस्मृति को माना जाता है । आजकल भी न्यायालयों में न्याय दिलाने में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है । सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अनिवार्यरूप से होता है और इससे मार्गदर्शन भी प्राप्त किया जाता है ।

(ख) विदेशों में मनुस्मृति का प्रभाव

भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनुस्मृति का प्रभाव रहा है और इसे महत्त्व मिला है । चम्पाद्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्न श्लोक उद्धृत मिलता है—

> वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
> एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।। [२ । १३६]

बालि, स्याम और जावा के विधान मनुस्मृति से पर्याप्त साम्य रखते हैं । बर्मा का 'धम्मथट्' मनुस्मृति से ही प्रेरित प्रतीत होता है । नेपाल का विधि-विधान, आचार, मनुस्मृति का ही अनुकरण करता है ।

फिलिपीन द्वीप के नये लोकसभा भवन के सामने उस देश की संस्कृति के निर्माण में आधारभूत योगदान देने वाले चार व्यक्तियों की मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी हैं, जिनमें एक महर्षि मनु की है ।

इस प्रकार मनु और मनु के शास्त्र का महत्त्व एवं प्रभाव देश-विदेश में प्राचीन काल से लेकर आजतक अल्पाधिक रूप में सदैव रहा है । उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि स्मृतिग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रभावशाली, लोकप्रिय एवं मान्यताप्राप्त ग्रन्थ है ।

---

१८. मेधातिथि से लेकर अब तक लगभग दस संस्कृत भाष्य उपलब्ध हैं और संक्षिप्त तथा पूर्ण मनुस्मृति पर कुल मिलाकर लगभग तीस हिन्दी टीकाएं उपलब्ध हैं ।

मनुस्मृति अपनी अनेक विशेषताओं के कारण सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर पायी है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध धर्मशास्त्र का पठन-पाठन क्षीण होता जा रहा है। इसके प्रति लोगों के मन में अश्रद्धा की भावना घर करती जा रही है। इसका कारण है — 'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार होना'। प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वलरूप गन्दा एवं विकृत हो गया है। परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण वर्णनों से मनुस्मृति की गरिमा विलुप्त हो गई है। एक महान् तत्त्वद्रष्टा ऋषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्त्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ, अपितु महर्षि मनु के साथ भी अन्याय किया है।

२. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन ?

अतिप्राचीन काल से अध्यावधि पर्यन्त भारतीय वाङ्मय, संस्कृति-सभ्यता, धर्म, आचार-व्यवहार, कानून, पठन-पाठन आदि प्रत्येक क्षेत्र पर अपना न्यूनाधिक प्रभाव बनाये रखने वाले मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र जैसे विशिष्ट ग्रन्थ का मूल प्रवक्ता या रचयिता सम्बन्धी प्रश्न आज विवादों शंका-संदेहों के भंवर में फंसा हुआ है, यह आश्चर्य की बात है । यद्यपि इस विवाद के बीज पूर्वकालीन साहित्य में भी पाये जाते हैं, किन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने इसे वृक्ष का रूप दे दिया तथा लेखकों ने अपनी-अपनी ऊहाओं, कल्पनाओं, अटकलों से इसे विवादास्पद बना दिया ।

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेप भी इसमें प्रमुख कारण हैं, अत : आज इस बात की अति-आवश्यकता है कि प्रक्षेपों का अनुसन्धान, निर्धारण करके उसके पश्चात् मनुस्मृति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया जाये । तभी निर्भ्रान्त निष्कर्ष निकल सकते हैं ।[१९] मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता के सम्बन्ध में इस समय चार मत प्रचलित हैं —

१. मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता स्वायम्भुव मनु हैं ।
२. मनुस्मृति वैवस्वत मनु द्वारा प्रोक्त या रचित है ।
३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त है ।
४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त है ।

आगे इन सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर सप्रमाण और प्रक्षिप्त श्लोकों की विवेचनापूर्वक विचार किया जाता है ।

१. मनुस्मृति के प्रवक्ता — स्वायम्भुव मनु

अधिकांश विचारक इस मत से सहमत हैं कि मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता मनु है और वह भी स्वायम्भुव मनु ही है । मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं । इस सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री के आधार पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है — क. अन्त :साक्ष्य के आधार पर, और ख. बाह्यसाक्ष्य के आधार पर । प्रथम अन्त :साक्ष्य को ही लेते हैं —

क. अन्त :साक्ष्य के आधार पर

अन्त :साक्ष्यों पर विचार करते समय पहले मनुस्मृति की रचनाशैली को समझना आवश्यक है ।

१. मनुस्मृति की शैली — मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति की रचनाशैली 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत : प्रवचन हैं । बाद में मनु के शिष्यों ने उनका संकलन करके उसे एक शास्त्र या ग्रन्थ का रूप दिया है । मनुस्मृति के भूमिकारूप, प्रथम अध्याय के पहले चार श्लोकों के **''मनुम् ..... अभिगम्य महर्षय : ..... वचनमब्रुवन्'' [१।१], ''भगवन् सर्ववर्णानां ..... धर्मान्नो वक्तुमर्हसि'' [१।२], ''त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य ..... कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो'' [१।३] '' प्रत्युवाच ..... महर्षीन्**

---

१९. लेखक ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके अन्त :साक्ष्यसिद्ध सात मानदण्डों के आधार पर उनका निर्धारण किया है । इस विषय में अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य है —मनु. का. पु. द्वितीय अध्याय एवं सम्पूर्ण मनुस्मृति में उन-उन श्लोकों पर समीक्षा ।

श्रूयताम् इति'' [१।४] आदि वचनों से ज्ञात होता है कि अपने मूलरूप में मनुस्मृति महर्षियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचनरूप में है । ये सभी श्लोक और विशेषरूप से **''स : तै : पृष्ट :''** [१।४] पदप्रयोग यह सिद्ध करता है कि इसे बाद में अन्य व्यक्ति ने संकलित किया है । यह प्रवचनों के रूप में सुना-सुनाया गया है, इसी कारण इसके प्रत्येक प्रसंग के प्रारम्भ या अन्त अथवा दोनों स्थानों पर सुनने-सुनाने वाली क्रियाओं का प्रयोग है, यथा — **'वक्तुमर्हसि'** [१।२], **'श्रूयताम्'** [१।४], **'तत्तथा वोऽभिधास्यामि'** [१।४२], **'एषा समासेन प्रकीर्तिता ... वर्णधर्मान्निबोधत'** [१।१४४ (२।२५], **'एष प्रोक्त ... कर्मयोगं निबोधत'** [२।४३ (६८)], **'स्त्रीविवाहान्निबोधत'** [३।२०], **'एदद्वोऽभिहितं ... श्रूयतामिति'** [३।२८६], **'एषोदिता'** [४।२५९], **'प्रवक्ष्यामि'** [५।५७], **'व : प्रोक्त : ... श्रृणुत निर्णयम्'** [५।११०], **'उक्तो व : ... धर्मान्निबोधत'** [५।१४६], **'एष वोऽभिहित : ... राज्ञां धर्मं निबोधत'** [६।९७], **'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि'** [७।१], **'तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि'** [७।३६], **'एष उक्त :'** [८।४०९], **'दायभागं निबोधत'** [९।१०३], **'एषोऽखिल : उक्त :'** [९।३२५], **'एष : कीर्तित : ... परं प्रवक्ष्यामि'** [१०।१३१], **'तान्वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि'** [११।२१०], **'एष वोऽभिहित : ... इमं निबोधत'** [११।२२६], **'समासेन वक्ष्यामि'** [१२।३९], **'इदं निबोधत'** [१२।८२], **आदि ।**

और मौलिक संकलन वही कहाता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन किया गया हो ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक कहने-सुनाने की क्रियाओं में उत्तम पुरुष का प्रयोग है — **'अभिधास्यामि'** [१।४२], **'प्रवक्ष्यामि'** [५।५७], **'राजधर्मान प्रवक्ष्यामि'** [७।१], **'अहं प्रवक्ष्यामि'** [७।३६], **'परं प्रवक्ष्यामि'** [१०।१३१], **'वक्ष्यामि'** [११।२१०], **'समासेन वक्ष्यामि'** [१२।३९], आदि ।

इस शैली की पुष्टि निरुक्त में वर्णित इस तथ्य से भी होती है कि अत्यन्त प्राचीन काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा प्रवचनों, उपदेशों के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी । और वह शिष्य-परम्परा के रूप में सुरक्षित रहती थी, लिपिबद्ध ग्रन्था को पढ़ाकर नहीं । लिपिबद्ध ग्रन्थों के माध्यम से विद्याओं की शिक्षा की परम्परा पर्याप्त समय पश्चात् आयी, जब लोग उपदेशग्रहण करने में आलस्य उदासीनता और उत्साहहीनता प्रदर्शित करने लगे[20] । महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के समय उपदेशों को लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रचलित होने लगी थी ।[21] इस प्रकार हम कह सकते हैं —

मनुस्मृति की प्रवचन शैली, १।१-४ श्लोकों में वर्णित घटना — जिसमें कि महर्षि लोग केवल मनु के पास धर्मजिज्ञासा लेकर आते हैं और फिर मनु ही उनका उत्तर देते हैं, तथा सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक मनु द्वारा १।४ से प्रारम्भ की गई कहने-सुनाने की क्रियाओं

२०. ''साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु :, तेऽवरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु : । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च ।'' [निरु. १।१९]

२१. उपदेश मञ्जरी, नवम उपदेश, पृ. ६२ ।

का उत्तम पुरुष एकवचन में प्रयोग, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता मनु ही है ।

यहां प्रसंगवश १।१-४ श्लोकों से सम्बन्धित शंका का समाधान करना भी आवश्यक है । कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति की भूमिका रूप ये श्लोक मौलिक श्लोकों के रूप में परिगणित नहीं किये जाने चाहियें क्योंकि ये मनुप्रोक्त नहीं हैं, और न ही इन्हें प्रामाणिक मानना चाहिये ।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि १-४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की भांति मौलिक नहीं हैं,तथापि ये,शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है । (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी अन्य शिष्य ने किया है । संकलयिता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है । (२) घटना मौलिक है । (३) प्रश्न भी मौलिक है, अत : संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे । जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है । मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक मौलिक संकलितरूप में ही हैं ।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है,जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन हैं । ('**महर्षिर्मनुना भृगु :**', १।६० ।। 'उक्तवान् मनु :' १।११८ ।। '**मनुना परिकीर्तित :**' १।१२६ ।। '**मनुरब्रवीत्**'। ८।३३९ ।। आदि) । उनका कहना है कि मनु के भावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है, अत : इस प्रकार के श्लोक असंगत नहीं लगते । यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है । क्योंकि, (१) मनुस्मृति, मनु के भावों को लेकर रचा ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के भावों का यथावत् उसी शैली में संकलन है । (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती;अत : '**मनूक्तवान्**' आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त हैं, मौलिक नहीं । (३) १।४ में '**श्रूयताम्**' कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं । इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है,वही मौलिक संकलन है; अन्य द्वारा नामोल्लेख पूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है । अत : उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए, जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं है ।

२. प्राचीन काल से अद्यावधि पर्यन्त इस ग्रन्थ का 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' नाम प्रचलित होना भी इसे मनुप्रोक्त सिद्ध करता है ।

यह मनु स्वायम्भुव मनु ही है । इस बात को मनुस्मृति में स्पष्ट भी किया है और विभिन्न स्थलों पर मनु के साथ '**स्वायम्भुव**' विशेषण का प्रयोग भी किया है ।

३. प्रचलित मनुस्मृति में बीच-बीच में लगभग तीस स्थलों पर मनु का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन है । उनमें छह स्थलों पर स्पष्टत :'**स्वायम्भुव**'विशेषण का प्रयोग किया है ।[२२] ये उल्लेख भी इसका

---

२२. (क) स्वायंभुव मनु के नामोल्लेख वाले स्थल — १।३२-३६, ५८-६१, १०२ ; ६।५४ ; ८।१२४ ; ९।१५८ ।।
(ख) केवल मनु नामोल्लेख वाले स्थल — १।१-४, ११८, ११९, १२६ ; ३।३६, १५० ; ४।१०३ ; ५।४१ ; ८।१३९, १६८, २०४, २४२, २७९, २९२, ३३९ ; ९।१७, १८२, १८३, २३९ ; १०।६३, ७८; १२।१०७, १२६ ।।
१।१-४ को छोड़कर अन्य सभी श्लोक इस अनुसन्धान कार्य के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, तथापि उन्हें एक पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार माना है ।

प्रवक्ता स्वायंभुव मनु को ही सिद्ध करते हैं।

४. निम्न श्लोकों में मनुस्मृति का रचयिता स्वायंभुव मनु को बतलाया गया है —

(क) इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥
स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे॥ १। ५८, ६१॥

(ख) स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्॥ १। १०२॥

यतोहि भृगु स्वायम्भुव मनु का पुत्र और शिष्य था। [१।३४-३५; ३।१९४; १२।२;], अतः भृगुवचनों में उल्लिखित मनु भी स्वायम्भुव मनु ही है, जिसको शास्त्र का कर्ता कहा है —

(ग) यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया॥ १। ११९॥

(घ) एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥ १२। ११७॥

(ङ) ''मानवस्यास्य शास्त्रस्य'' १२। १०७॥

(च) ''एतन्मानवं शास्त्रम् भृगुप्रोक्तम्'' १२। १२६॥

यद्यपि इस अनुसन्धानकार्य के आधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, अतः मौलिकवत् प्रामाणिक नहीं है; किन्तु फिर भी इन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भ में पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार के रूप में ग्रहण किया है।

५. ऐतिहासिक, ब्रह्मावर्त प्रदेश में स्थित बर्हिष्मती नगरी को स्वायम्भुव मनु की राजधानी मानते हैं। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को धर्मशिक्षा, सदाचार का केन्द्र घोषित करके सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है [१।१३६-१३९ (२।१७-२०]। इसी क्षेत्र में मनुस्मृति का प्रवचन-प्रणयन हुआ था। इससे भी मनुस्मृति का रचयिता स्वायम्भुव मनु होने का संकेत मिलता है।

(ख) बाह्यसाक्ष्य के आधार पर —

मनुस्मृति के अन्तर्गत प्राप्त पूर्वोक्त प्रमाणों, संकेतों के अतिरिक्त भी इस बात के बहुत से आधार मिलते हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता स्वायंभुव मनु है। यथा —

१. तैत्तिरीय आदि संहिताओं,[२३] ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर अर्वाक्कालीन भारतीय वाङ्मय में स्वायंभुव मनु ही एक धर्मशास्त्रकार या स्मृतिकार के रूप में प्रसिद्ध है। अतः कहा जा सकता है कि मनु के नाम से प्राप्त होने वाले धर्मशास्त्र का रचयिता भी यही मनु है।

२. निरुक्त[२४] में, दायभाग के प्रसंग में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके स्वायंभुव मनु के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'दायभाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है'। मनु के नाम से प्राप्त यह मत वर्तमान मनुस्मृति में ९।१३०, १९२ श्लोकों में निर्दिष्ट है। यह प्राचीन उल्लेख भी मनुस्मृति को स्वायंभुव मनुकृत सिद्ध करता है।

३. महाभारत में, कई स्थलों पर स्वायंभुव मनु को एक धर्मशास्त्रकार के रूप में उद्धृत किया है और कुछ स्थलों पर उसके नामोल्लेख के साथ उसके मत और श्लोकों को भी उद्धृत किया है। वे

---

२३. (क) तैत्ति. सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४॥ तां. ब्रा. २३।१६।७॥
(ख) मनु ने ब्राह्मणवाक्यों का भी प्रवचन किया था, इसके भी प्रमाण संहिताओं में मिलते हैं — ''आपो वा इदं निरमृजन्। स मनुरेवोदशिष्यत। स एतामिष्टिमपश्यत्तामाहरत् यायजत...। काठ. सं. ११।२॥ द्र. तैत्ति. सं. ३।१।९।३० भी।

२४. निरु. ३।४॥ अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य 'मनुकाल' शीर्षक में।

सभी मत और श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में पाये जाते हैं। यथा —

(क) दुष्यन्त-शकुन्तला प्रेम-प्रसंग में आठ-विवाहों का विधानकर्ता स्वायंभुव मनु को बताया है।[२५]

(ख) शान्ति. ३६ अध्याय में, मनु. १।१-४ श्लोकों की घटना का यथावत् वर्णन करते हुए बताया है कि ऋषिलोग धर्मजिज्ञासा के लिए स्वायंभुव मनु के पास पहुंचे। वहां मनुद्वारा दिये गये उत्तर में कुछ श्लोक ऐसे प्राप्त होते हैं जो वर्तमान मनुस्मृति में भी हैं, उनमें कोई-कोई तो यथावत् है, कोई किंचित् पाठान्तर से है, तो कोई यथावत् भाव वाला है।[२६]

(ग) शान्ति ६७।१५-३० में, आदिकाल में लूटपाट, अराजकता आदि से तंग हुई प्रजा द्वारा मनु को राजा के रूप में वरण करने की घटना दी हुई है। वह मनु ब्रह्मा का पुत्र है, अत: वह भी स्वायंभुव मनु की घटना है।[२७] मनु को राजा बनाने के बाद प्रजा द्वारा जो करनिर्धारण किया गया है, यथा — 'पशु और सुवर्ण का पचासवां भाग कर देंगे', यह करव्यवस्था वर्तमान मनुस्मृति ७।१३० में मिलती है।[२८]

(घ) शान्ति. ३३५।४४, ४६ में एक धर्मशास्त्रकार के रूप में स्वायम्भुव मनु का ही वर्णन है।[२९]

४. इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक स्थलों पर केवल मनु नाम देकर उसके श्लोक या भाव उद्धृत किए हैं। उनमें से बहुत-से श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में यथावत् मिलते हैं और भाव तथा उनका गठन भी यथावत् है।[३०]

५. इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में राम बालि-सुग्रीव युद्ध के अवसर पर अपने द्वारा किये बालि के वध को धर्मानुकूल ठहराते हुए मनु का नाम लेकर उसके दो श्लोक उद्धृत करते हैं। वे श्लोक भी वर्तमान मनुस्मृति में हैं।[३१] इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति मनुप्रोक्त है।

६. विश्वरूप ने याज्ञ स्मृति २।७३, ७४, ८३, ८५ पर भाष्य करते हुए वर्तमान मनुस्मृति के ८।६८, ७०-७१, १०५, १०६, ३०४ श्लोकों को उद्धृत किया है। वहां मनु का नाम स्वायंभुव दिया गया है।

७. विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति के 'मिताक्षरा' भाष्य में, शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य में, शबरस्वामी ने जैमिनी सूत्रों के भाष्य में, बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने अपनी कृति 'वज्रकोपनिषद्' में,

---

२५. ''अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मत: स्मृता: . . . मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। (आदि. ७३।८-९) ये वर्तमान मनुस्मृति में ३।२०-३४ तक वर्णित है।

२६. (क) ''तैरेवमुक्तो भगवान् मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत्'' । महा. शान्ति. ३६।५ ।।
(ख) यथावत् श्लोक-महा. शान्ति. में ३६।३५, ४६, ४७; मनुस्मृति में क्रमश; ३।११७; २।१३२; २।१३३ ।। यथावत् भाव — महा. शान्ति में ३६।२०; में १२।१०८-१०९ ।। पाठान्तरपूर्वक — महा. शान्ति. में ३६।२७, २८; मनु. में ४।२१८, २१७, २२० ।। भावग्रहण अन्य श्लोकों में भी है।

२७. महा. आदि. १।३२ ।।

२८. ''पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशु-हिरण्ययो;।'' ७।१३० ।।

२९. (क) ''मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत्'' आदि. ७३।८-९ ।। (ख) तैरेवमुक्तो भगवान् मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासत: ।। शान्ति. ३६।६ ।। (ग) शान्ति १२ अ. ।। (घ) स्वायंभुव मनु द्वारा शास्त्ररचना, शान्ति. ३३५।४४, ४६ ।। आदि।

३०. ''मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना'' शान्ति. ५६।२३ ।। अन्यत्र-शान्ति. १२ अ.; ११८।२६; १२१।१०, १२ ।।

३१. वा. रामा. किष्कि. १८।३१-३२; मनु. में ८।३१६, ३१८ ।।

कवि भास ने 'प्रतिमा नाटक' में, गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब आदि ने अपने सूत्रग्रन्थों में,[३२] वलमी के राजा धारसेन के शिलालेख में,[३३] धर्मप्रसंग में जो मनु का निर्देश किया है तथा अपनी पुष्टि के लिए जो श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनु के ही हैं और वर्तमान मनुस्मृति में प्राप्त हैं । इनसे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इसका मूलरचयिता मनु ही है, भृगु आदि कोई अन्य व्यक्ति नहीं । यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि मनु के नाम से उल्लिखित धर्मशास्त्रकार स्वायंभुव मनु ही प्रसिद्ध है ।

पक्षान्तरों का विवेचन

२. मनुस्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त—

कुछ आलोचक मनुस्मृति को मनुप्रोक्त तो मानते हैं, किन्तु उस मनु का स्वायंभुव न मानकर वैवस्वत मानते हैं । ऐसा मानने के उनके पास कुछ निम्न आधार हैं—

१. मनुस्मृति के १।६१-६२ श्लोकों में स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन करते हुए सातवें वैवस्वत मनु तक का उल्लेख है । पहले मनु के काल में सातवें मनु का उल्लेख नहीं हो सकता, अतः यह सातवें वैवस्वत मनु की ही रचना है । ऐसा विद्वानों का विचार है ।

२. कौटिल्य-अर्थशास्त्र प्र. ८।अ. १२ में, आदिकाल में प्रजाओं द्वारा वैवस्वत मनु को राजा बनाने की घटना है । वहां जो कर व्यवस्था दी है[३४], वह प्रचलित मनुस्मृति ७।१३०-१३२ से मिलती-जुलती है, अतः यह स्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त है ।

इन आधारों पर अनुशीलन करने पर इन पर आधारित यह मान्यता स्वयं अमान्य प्रतीत होती है । आइये, इन पर विचार करें ।

१. मनुस्मृति के जिन श्लोकों में वैवस्वत मनु का उल्लेख है, वे निम्न हैं—

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः ।।
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ।। १।६१-६२ ।।

अर्थात्—इस स्वायंभुव मनु के वंश में महात्मा और महान् तेजस्वी अन्य छह मनु और हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने काल में अपनी प्रजाओं की सृष्टि की थी । वे हैं— स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और विवस्वत् का पुत्र वैवस्वत ।

मनुस्मृति में ये दोनों ही श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । इनकी प्रक्षिप्तता के कई कारण हैं— १. यह कहना चाहिये कि स्वायंभुव मनु पहले ही अपने वंश की भावी छह पीढ़ियों का वर्णन नहीं कर सकते । पूर्व १।५८-६० श्लोकों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि स्वायंभुव का शिष्य भृगु यह बात कह रहा है । वह भावी छह पीढ़ियों और उनके कार्यों का भूतकाल में वर्णन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार ये श्लोक परवर्ती प्रक्षेप हैं और कालविरुद्ध वर्णन हैं । २. इनका पूर्वापर प्रसंग से भी विरोध है । पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन चल रहा है । बीच के इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है । ३. मनुओं के द्वारा चराचर सृष्टि का उत्पादन और पालन सृष्टिक्रमविरुद्ध वर्णन है । यह मनु की

३२. उदाहरणस्थल द्रष्टव्य 'मनुस्मृति महत्ता' शीर्षक की टिप्पणियों में ।
३३. ५७१ ई. का शिलालेख ।
३४. उद्धरण द्रष्टव्य 'मनुस्मृति का काल' शीर्षक के अन्तर्गत ।

१।६, १४-२३ श्लोकों में वर्णित मान्यता के विरुद्ध भी है। ४. इस प्रसंग में भृगु द्वारा मनुस्मृति के प्रवचन का कथन भी असंगत है, क्योंकि इसकी शैली से यह मनुप्रोक्त ही सिद्ध होती है।[३५] इस प्रकार इन प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर इसे वैवस्वत मनुप्रोक्त नहीं कहा जा सकता।

२. कौटिल्य-अर्थशास्त्र में जो घटना वैवस्वत मनु के नाम से दी गयी है, वह महाभारत शान्ति. ६७।१५-३० में स्वायंभुव मनु के प्रसंग में दी हुई है। कहा नहीं जा सकता कि कौटिल्य अर्थशास्त्रकार ने यह नामान्तर क्यों ग्रहण किया। यह किसी पाठभेद के कारण भी हो सकता है, अथवा यह भी संभव है कि स्वायंभुव मनु की वंश-परम्परा में उत्पन्न होने के कारण वैवस्वत मनु ने इन व्यवस्थाओं को यथावत् और रुचिपूर्वक लागू किया हो, जिससे वे उसके नाम से प्रसिद्ध हो गयी हों। वैसे कुछ वंशावलियों को देखकर और दोनों मनुओं का प्रथम राजा के रूप में वर्णन देखकर कई बार, अन्वेषकों को दोनों की एकता का आभास होने लगता है। ये एकरूपवर्णन भी भ्रान्ति पैदा कर देते हैं। इतिहासानुसंधाताओं ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि स्वायम्भुव मनु सृष्टि के प्रथम राजा थे और वैवस्वत मनु प्रलयोत्तरकालीन समाज के प्रथम राजा हुए हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी युक्तियां भी हैं, जिनका इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है और उनसे इसी मान्यता को बल मिलता है कि मनुस्मृति के प्रवक्ता मनु वैवस्वत नहीं, अपितु स्वायम्भुव हैं, यथा —

३. मनुस्मृति में ऐसा कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता जिसमें वैवस्वत मनु की शास्त्रप्रवक्ता के रूप में चर्चा हो। उपर्युक्त स्थल को छोड़कर अन्यत्र कहीं वैवस्वत का नाम भी नहीं है। उस स्थल पर भी केवल वंशावली है, मनुस्मृति के प्रवचन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया है।

४. मनुस्मृति में मनु के साथ भृगु का उल्लेख मिलता है। यह भृगु भी स्वायंभुव मनु का शिष्य था, वैवस्वत मनु का नहीं।

५. यद्यपि भारतीय साहित्य में दोनों मनु प्रथम राजा के रूप में वर्णित हैं, किन्तु स्वायंभुव मनु की अधिक ख्याति धर्मशास्त्रकार के रूप में है, जबकि वैवस्वत की एक राजा के रूप में।[३६] वैवस्वत का धर्मशास्त्रकार के रूप में उल्लेख नहीं के बराबर है।

६. वाल्मीकि रामायण में वैवस्वत मनु को सूर्यवंश का प्रथम राजा कहा है। उसी ने अयोध्या की स्थापना की।[३७] मनुस्मृति में अयोध्या का, तत्कालीन प्रदेश या भौगोलिक स्थिति का कहीं कोई वर्णन नहीं है, जबकि इसके विपरीत स्वायंभुव के प्रदेश ब्रह्मावर्त का सर्वोच्च महत्त्व प्रदर्शित है।[३८]

७. मनुस्मृति में स्वायंभुव के परवर्ती मनुओं की अथवा वैवस्वत से पूर्व के मनुओं की किसी प्रकार की कोई चर्चा का न होना भी इसे स्वायंभुवकालीन सिद्ध करता है। एक स्थान पर केवल मनु के राज्य का उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है।[३९] शैली के आधार पर वह वैवस्वत के भी बहुत परवर्ती काल का प्रक्षेप सिद्ध होता है। यतोहि, वहां राजा पृथु का भी उल्लेख है, जो वैवस्वत मनु से सातवीं पीढ़ी में हुआ है।[४०]

---

३५. शैली पर विस्तृत विवेचन 'मनु का रचयिता स्वायंभुव मनु' शीर्षकान्तर्गत द्रष्टव्य है।

३६. ''मनुर्वैवस्वतो राजा-इत्याह। तस्य मनुष्या विशः।'' [शत. १३।४।३।३]

३७. बाल. ७०।२० में वंशपरिचय में प्रथम प्रजापालक कहा है। बाल. ५।६ में कहा है कि मनु ने ही अयोध्या को बसाया — ''अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।''

३८. मनु. २।१७-२०।।

३९. ''पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।'' ७।४२।।

४०. वा. रामा. बाल. ७०।२४।।

८. १।७९-८० में मन्वन्तर कालपरिमाण का वर्णन है। यदि मनुस्मृति वैवस्वत मन्वनतर काल की होती तो वहां पूर्व मन्वन्तरों के व्यतीतकाल और नामों का उल्लेख अवश्य मिलता। केवल मन्वन्तर का वर्णन होना इस बात का द्योतक है कि यह प्रारम्भिक मन्वन्तर काल की कृति है, जबकि मन्वन्तर केवल एक कालपरिमाण रूप में प्रचलित हुआ। मनुओं के व्यक्तिगत नामों पर इनका नामकरण बाद में निर्धारित हुआ।

९. मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित वंशावलियां भी मनुस्मृति का सम्बन्ध स्वायंभुव से सिद्ध करती हैं। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर मनु का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से प्रदर्शित किया है। ब्रह्मा को विशेष महत्त्व भी दिया गया है, जैसे ब्रह्मावर्त आदि। वैवस्वत मनु का ब्रह्मा से सीधा सम्बन्ध न कुलवंश से है और न विद्यावंश से,[४१] जबकि स्वायंभुव मनु का है। उसका नाम स्वायंभुव भी स्वयंभू अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र या शिष्य होने से 'स्वायंभुव' है। मनुस्मृति में ब्रह्मा से सीधे सम्बन्ध की प्रवृति और उसे महत्त्व प्रदान करने की भावना भी इसे स्वायंभुव मनुकृत सिद्ध करती है।

३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त —

मनुस्मृति को भृगुप्रोक्त मानने वालों के लिए आधारभूत सामग्री मनुस्मृति में ही प्राप्त है। परवर्ती ग्रन्थों में भी उसी को आधार बनाकर यह मान्यता प्रदर्शित की गई है। अत: यहां पहले उन्हीं श्लोकों की विवेचना की जानी आवश्यक है, जिनमें इसे भृगुप्रोक्त कहा गया है।

१. पूर्वोक्त विवेचन में मनुस्मृति की शैली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उससे यह निष्कर्ष सामने आया है कि इसकी प्रवचन शैली से मनु ही इसके आदि-प्रवक्ता सिद्ध होते हैं। १।१-४ श्लोकों में वर्णित है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषि मानने के कारण ही ऋषि लोग मनु के पास आते हैं और धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा करते हैं। जिज्ञासा मनु से की है तो मनु ही उसका उत्तर देते हैं, और यह भी कि वही इस विषय के अपने समय के विशिष्ट विद्वान् हैं। वह उत्तर १।४-५ से प्रारम्भ होकर अन्त तक इसी शैली में चलता है। इस प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऋषियों के प्रश्न का उत्तर दिया जाना न तो शैलीसंगत है और न व्यावहारिक। बीच-बीच में बहुत-से श्लोकों में भृगु द्वारा प्रवचन करने का उल्लेख है। यह बड़ी अटपटी, अव्यावहारिक और अप्रासंगिक बात है कि ऋषिगण विशिष्ट विद्वान् होने के नाते आये तो मनु के पास हैं, प्रश्न भी उन्हीं से करते हैं और तदनुसार प्रारम्भ में उत्तर भी मनु ही देते हैं। किन्तु पुन: भृगु उत्तर देना शुरू कर देते हैं; जबकि अन्त तक शैली वही १।४ से आरम्भ मनु द्वारा उत्तर देने वाली चलती रहती है।

वस्तुत: मनुस्मृति में भृगु से सम्बन्धित सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। भृगु के शिष्यों ने भृगु को महत्त्व प्रदान करने और मनु से जोड़ने के लिए उनका प्रक्षेप किया है। मनुस्मृति की शैली से, उनके अटपटे वर्णन से, उनकी अव्यावहारिकता से और अप्रासंगिकता से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे श्लोक मनुस्मृति में परवर्तीकाल में बलात् डाले गये हैं। किसी भी स्थल पर मनुस्मृति के प्रसंगों से पूर्वापर रूप में उनका तालमेल न होना और विरुद्ध वर्णन होना भी उन्हें बलात् किया गया प्रक्षेप सिद्ध करता है। आगे उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार किया जा रहा है।

क. एतद् वोऽयं भृगु: शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत:।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनि:॥

---

४१. द्रष्टव्य वा. रामा. में बाल. ७०।१९-२१ में प्रदर्शित वंशावली। ब्रह्मा से मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से विवस्वान्, विवस्वान से मनु वैवस्वत हुआ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीत् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। १।५८-५९ ।।

अर्थात् — यह भृगु मुनि इस मनुस्मृति शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से आप लोगों को सुनायेगा, क्योंकि इसने इस सम्पूर्ण शास्त्र को भलीभांति मुझ मनु से सीखा है । महर्षि मनु के इस प्रकार कहने पर वह महर्षि भृगु जिज्ञासा की दृष्टि से आये उन सब ऋषियों को प्रसन्नचित्त होकर 'सुनिये' ऐसा बोले ।

प्रक्षिप्तता विवेचन —

उपर्युक्त शैलीगत आधार के अतिरिक्त ये श्लोक इन आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं — १. **प्रसंगविरोध** – पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन है । इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है । मनु सृष्ट्युत्पत्ति विषयक जानकारी दे रहे हैं । यह प्रकरण १।१४४ [२।२५] में पूरा होगा । एक प्रचलित प्रकरण के पूर्ण हुए बिना, बिना ही प्रसंग के इस शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन क्रम बतलाकर भृगु द्वारा शास्त्र सुनाने की बात कहना, विसंगतिपूर्ण, अटपटा एवं बलात् डाला गया प्रक्षेप है । २. **अन्तर्विरोध** — १।५८ और १।६१-६३ श्लोक भी प्रसंग की दृष्टि से इन श्लोकों से सम्बद्ध हैं । उनमें १।६, १४-२३ में वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम के विरुद्ध वर्णन है । मनुओं से चराचर सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती । ३. मनुस्मृति मूलत: प्रवचन होने से उनके लिए मूल संकलन में 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार नहीं बनता । यहां 'शास्त्र' पाठ इन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है । (इससे सम्बधित विवेचन इसी अध्याय में 'स्वायम्भुव मनु' शीर्षकान्तर्गत १।६१-६२, ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ श्लोक पर तथा विस्तृत समीक्षा भाष्य में यथास्थान देखिए) ।

ख. यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्यथा ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ।। १।११९ ।।

अर्थ — महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं — जैसे पहले मेरे पूछने पर महर्षि मनु ने मुझे इस शास्त्र का उपदेश किया था, वैसे ही आज आप लोग भी मुझसे सुनो ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. **प्रसंगविरोध** — पूर्वापर १।११० और १।१२०[२।१] श्लोकों में धर्म के स्वरूप के विवेचन का प्रसंग है । उस प्रसंग के मध्य बिना ही प्रसंग के 'मनु से शास्त्र सुनने और स्वयं सुनाने' की बात कहना असंगत है । इससे पूर्वापर प्रसंग भंग हो गया है । २. **शैली** की दृष्टि से यह भृगु से भी भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा रचित है । फिर मनु का तो किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकता । (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है) ।

ग. ५।१-४ श्लोकों में महर्षि लोग भृगु से प्रश्न करते हैं कि अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी विद्वानों को मृत्यु क्यों प्रभावित कर लेती है । भृगु उन्हें उत्तर देते हैं कि वेदों के अनभ्यास, सदाचारत्याग, आलस्य और अन्नदोष के कारण विद्वानों को मृत्यु मारती है ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. **शैली** की दृष्टि से ये श्लोक भृगु से भी परवर्ती किसी अन्य व्यक्ति की रचना हैं । स्मृति के प्रारम्भ में प्रश्न मनु से किया था । मनु के पास ही ऋषि आये थे । भृगु से पुन: प्रश्न और उसके द्वारा उत्तर मनुस्मृति की शैली के अनुरूप नहीं है । २. **प्रसंगविरोध** — अग्रिम प्रसंग भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का है, जबकि इन श्लोकों में मृत्यु का कारण पूछा और बताया जा रहा है । यहाँ प्रश्न और उत्तर की असंगति इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध करती है । (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है) ।

घ. चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ।।
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम ।। १२।१-२ ।।

प्रक्षिप्तता विवेचन — २. प्रसंगविरोध — इससे पूर्व ११।२६६ श्लोक में मौलिक शैली से पूर्वविषय की समाप्ति और अग्रिम 'कर्मविधि' विषय के प्रारम्भका संकेत है । उसके बाद पुनः प्रश्नोत्तर करना असंगत भी है और मनु की शैली के विपरीत भी । २. ये भी भृगु से परवर्ती व्यक्ति की रचना है ।

ङ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम् ।। १२।१३६ ।।

अर्थ — इस भृगु द्वारा प्रोक्त मानवशास्त्र को पढ़ने वाला द्विज सदा आचारवान् रहता है और इच्छित गति को प्राप्त करता है ।

प्रक्षिप्तता विवेचन —१. इस श्लोक में मनुस्मृति के लिए किया गया 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार इसे परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है (द्रष्टव्य इसी अध्याय में ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ पर विवेचन) । २. यह श्लोक भी इसे भृगु से परवर्ती व्यक्ति द्वारा रचित सिद्ध करता है । ३. यद्यपि इसमें इस स्मृति को मनुरचित कहा है,फिर भी भृगु का नाम महत्त्वप्राप्ति की इच्छा से जोड़ दिया है । ४. इस प्रकार का उपसंहार मनु की शैली के अनुरूप नहीं है । वे केवल प्रस्तुत विषय का फल प्रदर्शित करते हैं (१२।१२५ में) ।

इस प्रकार भृगु के नाम के उल्लेख वाले सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । यह कहना चाहिए कि इस प्रकार तो ये श्लोक भृगुरचित भी नहीं अपितु किसी परवर्ती व्यक्ति ने रचकर मिलाये हैं । इस आधार पर यदि भृगुकृत मानें तो फिर यह भृगु से भी बाद के किसी व्यक्ति की रचना माननी पड़ेगी ।

२. कुछ लोग यह शंका उठा सकते हैं कि जैसे मनु के नामोल्लेख वाले श्लोकों को पारम्परिक जनश्रुति के समान आधार मानकर इसका कर्त्ता स्वायंभुव मनु माना है, ऐसे ही भृगु के श्लोकों को भी आधार क्यों न माना जाये ?

इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि भृगु नामोल्लेख वाले श्लोकों का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही नहीं जुड़ता । वे सभी बलात् डाले हुए लगते हैं । इसके मूल में भृगु के शिष्यों की शायद यह भावना रही है कि उसे मनु के प्रसिद्ध शास्त्र से जोड़कर कम-से-कम प्रवचनकर्त्ता के रूप में तो महत्त्व मिल जाये । यद्यपि यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि भृगु ने मनुस्मृति का प्रवचन किया होगा । लेकिन उसके प्रवचन के आधार पर, उसके पश्चात् मनुस्मृति का संकलन हुआ, यह कथन बिल्कुल निराधार है । हो सकता है, प्रवचनों का आद्य संकलन भी भृगु ने किया हो, क्योंकि वह मनु के समकालीन था । किन्तु मौलिक संकलन में भृगु के नाम की कोई गुंजाइश नहीं बनती ।

३. प्रतीत होता है कि भृगु की अपनी कोई पृथक् संहिता रही है, जो आज उपलब्ध नहीं है । महाभारत शान्ति ५७।५१ में निम्न श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत है —

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।।

यह श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में नहीं है। इसी प्रकार विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृतिभाष्य १।१८७, २५२ में जो श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत किये हैं, वे भी मनुस्मृति में नहीं हैं। अपरार्क ने भृगु के नाम से निम्न श्लोक दिया है जिसमें मनु का नाम है—

येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नतः।
कारयेत् सज्जनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन् मनुः।।
(याज्ञवल्क्यस्मृति २।९६)।।

४. यदि वर्तमान मनुस्मृति भृगु-संहिता होती तो इसका प्रारम्भ मनु के पास आने की घटना से न होकर भृगु के पास आने की घटना से अथवा उनसे की गई जिज्ञासा से होता, जैसा कि नारद, अग्नि, विष्णु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि की स्मृतियों में है।[४२] मनुस्मृति का मनु की घटना से प्रारम्भ भी यह संकेत देता है कि यह भृगुसंहिता या भृगु की रचना नहीं, मनु की है। ऐसा उदाहरण अन्य किसी स्मृति में नहीं पाया जाता, जैसा मनुस्मृति में भृगु को जोड़कर प्रस्तुत किया है।

५. कई ग्रन्थों में भविष्यपुराण का एक श्लोक उद्धृत मिलता है, जो इस बात का विवरण देता है कि स्वायम्भुव शास्त्र अर्थात् मनुस्मृति के आधार पर चार संहिताओं का निर्माण हुआ था— १. भृगुसंहिता, २. नारदसंहिता, ३. बृहस्पति संहिता, ४. आंगिरस संहिता।[४३] इनमें अन्तिम तीन उपलब्ध हैं, भृगुसंहिता उपलब्ध नहीं है। इन तीनों का प्रारम्भ भी उन-उन प्रणेताओं के नामों से है, यही शैली भृगुसंहिता की रही होगी। स्पष्ट है कि मनुस्मृति से भिन्न कोई भृगुसंहिता रही है।

इन प्रमाणों और संकेतों से यह स्पष्ट हुआ कि प्रचलित मनुस्मृति भृगुप्रोक्त नहीं है। भृगु मनु का पुत्र और शिष्य था। मनु की विद्यापरम्परा से भी सम्बधित रहा है। प्रतीत होता है कि भृगुसंहिता का प्रचलन नहीं हो पाया तो भृगुपरम्परा के शिष्यों ने अपनी परम्परा की प्रसिद्ध स्मृति 'मनुस्मृति' में भृगु के नाम का समावेश कर दिया। उसे भृगु के प्रवचन का रूप दे दिया। परिणामतः भृगुसंहिता विलुप्त हो गयी।

४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त—

एक मान्यता यह भी है कि वर्तमान मनुस्मृति मूलतः ब्रह्माप्रोक्त है। यद्यपि इस मान्यता को मानने वाले विचारकों की संख्या कम है। इसका स्रोत भी मनुस्मृति ही है। इसलिए यहां उस स्रोत-रूप श्लोक पर ही विचार करना चाहिए।

मनुस्मृति में केवल एक स्थान पर यह उल्लेख आता है। स्वायंभुव मनु कहते हैं— 'इस ब्रह्मा ने इस मनुस्मृति शास्त्र को रचकर सबसे पहले मुझ मनु को ही विधिपूर्वक पढ़ाया, और फिर मैंने मरीचि आदि दश मुनियों को ग्रहण कराया।' श्लोक है—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्।। १।५८।।

---

४२. अत्रि स्मृति का प्रारम्भ—''हुताग्निहोत्रमासीनमत्रिं वेदविदां वरम्-इदं वचनमब्रुवन''।।
विष्णु स्मृति में—''विष्णुमेकाग्रमासीनं . . . पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे।।''
याज्ञ. स्मृति में—''योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन्।।
बृहस्पति स्मृति में—''राजा . . . भगवन्तं गुरुं श्रेष्ठं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिम्।।''

४३. हेमाद्रि तथा संस्कारमयूख आदि ग्रन्थों में भविष्य पुराण का यह श्लोक मिलता है—
भार्गवीया नारदीया च बार्हस्पत्यांगिरस्यपि।
स्वायंभुवस्य शास्त्रस्य चतस्रः संहिता: मता:।।

मनुस्मृति के प्रसंग में यह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । इसकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना भी प्रासंगिक होगा कि भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा को आदिगुरु माना जाता है । इस कारण प्रत्येक विद्यावंश उसी से प्रारम्भ होता है । यदि ब्रह्मा से मनु ने इस विषय की शिक्षा प्राप्त की हो तो इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं । किन्तु यह कहना आपत्तिजनक है कि इस शास्त्र को ब्रह्मा ने रचा, फिर उसे ही मनु को दिया और मनु ने अन्य ऋषियों को । यह कथन मनुस्मृतिसम्मत नहीं है ।

इस विवेचन को पढ़ते हुए आपने देखा कि मनुस्मृति में मनुस्मृति के प्रणेता के सम्बन्ध में तीन विरोधी मान्यताएं यत्र-तत्र उल्लिखित हैं । कहीं मनु को, कहीं भृगु को, तो कहीं ब्रह्मा को इसका प्रवक्ता कहा है । यह निश्चित है कि इसका रचयिता है एक ही । स्पष्ट है कि प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही यह विवाद उभरा है । अत: अब इस श्लोक की प्रक्षिप्तता पर और उसके सन्दर्भ में इस पक्ष पर विचार किया जाता है । वस्तुत: मनुस्मृति को अधिक मान्यता, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि दिलाने की भावना से मनुस्मृति-परम्परा के व्यक्तियों ने इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ने का प्रयास किया है और इसी प्रवृत्ति के कारण इस श्लोक का प्रक्षेप किया गया है ।

यह श्लोक अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है — १. **प्रसंगविरोध** —(क) इस श्लोक में ब्रह्मा शब्द का उल्लेख नहीं है । टीकाकारों ने पूर्व श्लोकों से इस पद की अनुवृत्ति ग्रहण की है । पूर्व श्लोकों में १।५०-५१ को छोड़कर कहीं भी ब्रह्मा का वर्णन नहीं अपितु सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म का है । १।५०-५१ श्लोक प्रक्षिप्त हैं । वहां से अनुवृत्ति भी ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके बाद ब्रह्म के वर्णन वाले कई श्लाक आ गये हैं । (ख) यहां यह श्लोक असंगत भी है, यतोहि पूर्वापर १।५७, १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल परिमाण का प्रसंग है । उस प्रसंग को भंग करके बिना ही किसी चर्चा के यह कथन नितान्त अनावश्यक एवं अप्रासंगिक है ।

२. **अन्तर्विरोध** — यह श्लोक अगले १।५९-६३ श्लोकों से सम्बद्ध है, अत: इन सभी श्लोकों का यह एक ही प्रसंग है । इन श्लोकों में मनुओं से चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, जो सृष्टिक्रमविरुद्ध एवं मनु की पूर्ववर्णित मान्यता १।६, १४-२३ के विरुद्ध है ।

इस श्लोक में ब्रह्मा को इस शास्त्र का कर्त्ता कहने के कारण मनुस्मृति में पूर्वोक्त मनु, भृगु वाली मान्यताओं से विरोध आ गया है । इस श्लोक से उत्पन्न विरोध को दूर करने के लिये टीकाकारों ने पर्याप्त प्रयास किया है, किन्तु उन का वह प्रयास 'तथाकथित' ही रहा । उनका कहना है कि इसके मूल प्रवक्ता ब्रह्मा हैं, तथापि इसे मनुकृत इसलिए कहा जाता है कि — (अ) मनु को ब्रह्मा ने शास्त्राशय रूप विधिनिषेध का अध्यापन कराया और मनु ने उसका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ इस रूप में बनाया । (आ) दूसरे मत के अनुसार — इस ग्रन्थ के रचयिता ब्रह्मा ही हैं, तथापि मनु ने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा अर्थ के साथ इसे मरीचि आदि के लिए प्रकाशित किया । अत: यह मानवशास्त्र कहलाया । ये दोनों ही समाधान निराधार एवं अयुक्तियुक्त हैं । इसके विश्लेषण के लिए १।१-४ श्लोकों पर गहन दृष्टिपात करना होगा । इन श्लोकों के भाव और भाषा पर ध्यान देने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं —

(क) मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं, अपितु मूलरूप में, जिज्ञासा का प्रवचन के रूप में दिया गया उत्तर है; जिसका बाद में संकलन हुआ है । महर्षि लोग मनु के पास आकर धर्मों को क्रमश: जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं । [१।१-२] और मनु उसका उत्तर देते हैं [१।४] ।

(ख) इसके मूल प्रवक्ता भी मनु ही हैं । यही कारण है कि मनु अपने ज्ञान के अनुसार सीधे वेद से विज्ञात बातों का ही मनुस्मृति में दिग्दर्शन कराते हैं [१।२३-२४, ८७, १२५, १२९] । यदि यह ज्ञान ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त होता या ब्रह्मा द्वारा प्राप्त होना इसकी विशेषता मानी जाती तो ऋषि लोगों को यहां मनु के लिये 'वेदों का ज्ञाता' कहने की आवश्यकता नहीं थी । [illegible] कि 'आप को ही ब्रह्मा से इस ज्ञान को प्राप्त करने का अहोभाग्य प्राप्त हुआ है, अत: आपसे ही पूछने आये हैं । किन्तु ऐसा किसी प्रकार का संकेत न करके यहां उनकी व्यक्तिगत विद्वत्ता का ही संकेत स्पष्ट हो रहा है कि वे स्वयं ज्ञाता हैं इसलिए अपने ज्ञान के आधार पर ही उन्हें उत्तर देना है — वेदों में खोजा हुआ अपना ही आशय बताना है, दूसरे का नहीं ।

(ग) यदि ब्रह्मा से यह ज्ञान प्राप्त किया होता, और ब्रह्मा के नाम के कारण ऋषियों को उस ज्ञान के प्रति आकर्षण होता, अथवा मनु को ब्रह्मा के नाम से उसमें कोई विशिष्टता या ख्याति की बात नज़र आती,तो मनु सभी बातों के साथ 'ब्रह्मा ने मुझे यह कहा, यह बताया या इसे उचित ठहराया, इसे नहीं' आदि कहते,या उनके मत का उल्लेख करते । किन्तु मनुस्मृति में एक स्थल [९।१३८] को छोड़कर ब्रह्मा के मत का कोई उल्लेख नहीं है । कहीं भी ब्रह्मा के मत का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि धर्माधर्म को प्रदर्शित करते समय या तो ऋषि-मुनियों के मत का उल्लेख किया है या अपने मत का ही । जब ऋषि-मुनियों की मान्यता के अनेक स्थानों पर संकेत हैं ['आहु मनीषिण : (१।१७) 'धर्मस्य मुनयो गतिम्' (१।११० ।। २।८८, १२४) आदि]—तो यदि ब्रह्मा का इसके साथ तनिक भी सम्बन्ध होता, तो उसका उल्लेख प्रमुखता से आता, क्योंकि ब्रह्मा को इस विषय का मूल प्रवक्ता और अध्यापयिता का स्थान दिया है । इससे सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता स्वयं मनु हैं, ब्रह्मा का इसकी रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(घ) मनुस्मृति की शैली से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई निबद्धशास्त्र के रूप में नहीं थी । जब शास्त्र के रूप में नहीं थी तो इसके लिए मूल-संकलन से 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार नहीं बनता । जब 'शास्त्र' का व्यवहार नहीं बनता तो 'ब्रह्मा ने इस शास्त्र की रचना की' यह प्रयोग भी नहीं बनता । इस प्रयोग के न बनने से मनुस्मृति का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार इन श्लोकों में वर्णित शास्त्र शब्द ही असंगत है ।

(ङ) मनुस्मृति अपने मूलरूप में ऋषियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचन के रूप में है । संकलन के बाद ही मनुस्मृति ने 'शास्त्र' का रूप ग्रहण किया और मौलिक संकलन वही कहा जा सकता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन हो, जबकि 'शास्त्र' संज्ञा का प्रयोग मौलिक नहीं हो सकता । क्योंकि, जो प्रवचन अभी किसी संकलन के या शास्त्र के रूप में नहीं आये हैं, उन्हें मनु 'शास्त्र' कहकर कैसे पुकारते ? स्पष्ट है कि मनु के प्रवचनों द्वारा 'संकलन' का रूप लेने के बाद जब वे 'शास्त्र' के रूप में विख्यात हो गये, तब जाकर इस प्रकार के श्लोक मिलाये गये जिनमें इसे 'शास्त्र' शब्द से व्यवहृत किया गया है ।

इस प्रकार ५८—५९ श्लोकों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग उन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है ।

(च) कुछ विद्वानों की पूर्व प्रदर्शित उन दो युक्तियों के आधार पर यदि इसे मनुकृत माना जा सकता है,तो युक्ति देने वाले उन विद्वानों को चाहिए कि वे इसे अन्तिम रूप में भृगुकृत मानें, भृगुसंकलित नहीं । क्योंकि यदि आशय समझ कर — पढ़कर उसे बतलाने के कारण मनु इसके रचयिता हैं, तो भृगु ने भी मनु के आशय को महर्षियों के समक्ष अपने शब्दों में कहा है

[५८–६०] । इस प्रकार तो भृगु इसके रचयिता हुए । इस प्रकार ये युक्तियाँ स्वयं युक्तिदाताओं की मान्यता को खंडित कर रही हैं, अत : मान्य नहीं हैं । इन युक्तियों से यह बात पूर्णत : स्पष्ट हो गई है कि मौलिक श्लोकों के अनुसार मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मौलिक रूप से मनुकृत है और ब्रह्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाले सभी प्रसंग परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं ।

इस प्रकार सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर विचार करने के अनन्तर यही निष्कर्ष सामने आता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता या रचयिता स्वायम्भुव मनु हैं ।

३. मनु और मनुस्मृति : काल निर्धारण

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों ने जिन बातों को सर्वाधिक क्षति पंहुचायी है, उनमें एक है — 'मनु और मनुस्मृति का कालनिर्णय' । लेखकों ने मनुस्मृति में प्राप्त वर्णनों पर विचार किया है और उनके अनुसार ही काल का अनुमान लगाया है । कालनिर्णय के लिए आधार बनाये गये उन वर्णनों पर आगे विचार किया जायेगा, जिनके आधार पर मनुस्मृति को अर्वाचीन घोषित किया है । यहां प्रथम: मनु और फिर वर्तमान मनुस्मृति के कालनिर्धारण-सम्बन्धी अन्य आधारों पर विचार किया जाता है ।

पूर्वोक्त विवेचन से यह मत स्थिर हो गया है कि स्मृति, धर्म- नियम आदि के प्रसंग में प्राप्त होने वाला मनु स्वायम्भुव मनु ही है । इस समस्त विवेचन और ग्रन्थ में मनु नाम से यही अभिप्रेत होगा ।

(क) प्राचीन भारतीय साहित्य में स्वायंभुव मनु का काल —

१. मनु के काल का अनुमान लगाने में मनुस्मृति तथा मनुस्मृति से भिन्न भारतीय साहित्य में प्राप्त वंशावलियां ही सहायक हैं । मनुस्मृति में तीन स्थानों पर मनु के वंश की चर्चा है — (क) ब्रह्मा से विराज, विराज से मनु, मनु से मरीचि आदि दश ऋषि उत्पन्न हुए [१।३२–३५] । (ख) ब्रह्मा से मनु ने धर्मशास्त्र पढ़ा, मनु से मरीचि, भृगु आदि ने । यह विद्यावंश के रूप में वर्णन है [१।५८–६०] (ग) हिरण्यगर्भ = ब्रह्मा के पुत्र मनु हैं और मनु के मरीचि आदि । [३।१९४] । यद्यपि मनुस्मृति के प्रसंगों में ये तीनों ही स्थल प्रक्षिप्त होते हैं, किन्तु पारम्परिक जनश्रुति के रूप में यदि इन्हें स्वीकार करें तो स्वायंभुव मनु,पुत्र या शिष्य के रूप में ब्रह्मा से दूसरी पीढ़ी में उल्लिखित हैं। यही तथ्य इसके स्वायंभुव (स्वयंभू = ब्रह्मा, उसका पुत्र या शिष्य) विशेषण से स्पष्ट होता है ।

२. महाभारत तथा पुराणों में भी वंशावलियां प्राप्त हैं, उनमें भी मनु को ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है, अथवा शिष्य के रूप में उसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से वर्णित है ।[१४]

प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार ब्रह्मा को आदि सृष्टि में माना जाता है और भारत का प्रत्येक कुलवंश तथा विद्यावंश ब्रह्मा से ही प्रारम्भ होता है । इस प्रकार मनु का काल भी आदिसृष्टि का स्थिर होता है ।

३. इसी मान्यता को निरुक्त ने मनु का मत उद्धृत करते हुए एक श्लोक से पुष्ट किया है —

> अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मत: ।
> मिथुनानां विसर्गादौ मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। ३।४।५

अर्थात् — 'दायभाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है' —यह विसर्गादौ = सृष्टि के आदि काल में स्वायम्भुव मनु ने कहा है ।

---

१४. महा. आदि १।६२ ; शान्ति. ३३५।४४ ।।

यहां स्पष्टतः मनु का काल आदिसृष्टि बताया गया है। महर्षि दयानन्द इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं—महर्षि मनु आदिसृष्टि में हुए। [उपदेश मंजरी ९ उप०]।

४. भारतीय चतुर्युग और मन्वन्तर कालगणना पद्धति [मनु. १।६४–७३, ७९, ८०] के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति को हुए एक अरब, छियानवे करोड़, आठ लाख, तरेपन हजार पिचासी वर्ष [१,९६,०८,५३,०८५] बीत चुके हैं और छियासीवां सृष्टिसंवत् इस वर्ष अर्थात् ईस्वी सन् १९८५ और विक्रम सं. २०४२ में चल रहा है। इकहत्तर [७१] चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष — ये छह मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवां वैवस्वत मन्वन्तर इस समय चल रहा है। इस मन्वन्तर की चतुर्युगी में अब कलियुग का समय चल रहा है।[४५]

इस सृष्टि-उत्पत्ति के समय को सुनकर पाश्चात्य और आधुनिक लोग अत्यधिक आश्चर्य करते हैं, और विश्वास भी नहीं करते। उन्हें यह जिज्ञासा होती है कि कालगणना का इतना हिसाब कैसे रखा गया? इसके उत्तर में उन्हें एक व्यवहार में प्रचलित प्रमाण सम्पूर्ण देश में उपलब्ध हो जायेगा। भारतीयों ने वर्षों की बात तो छोड़िये, पल और प्रहर तक का हिसाब रखा है। ज्योतिषीय पंचांगों में यह आज भी उपलब्ध है। विवाह आदि धार्मिक कृत्यों में संस्कार के समय एक संकल्प की परम्परा है। उसमें 'आर्यावर्ते वैवस्वत मन्वन्तरे कलियुगे अमुक प्रहरे' आदि बोलकर विवाह का संकल्प किया जाता है। इस प्रकार परम्पराबद्ध रूप से समय का हिसाब सुरक्षित है।[४६]

उपलब्ध भारतीय वंशावलियों के अनुसार ब्रह्मा को आदि वंशप्रवर्तक माना जाता है और मनु उससे दूसरी पीढ़ी में परिगणित हैं। इस प्रकार इस सृष्टि में, जब से मानवसृष्टि का प्रारम्भ हुआ है, स्वायंभुव मनु उस आदिसृष्टि या आदि समाज के व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

(ख) आधुनिक मतों के अनुसार स्वायंभुव मनु का काल—

आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन मतों को अमान्य मानकर नये सिरे से समग्र इतिहास पर विवेचन प्रारम्भ किया हुआ है। ये इतिहासकार अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाओं एवं कार्यपद्धति से प्रभावित हैं। यद्यपि इनके मतों में अनुसन्धान के आधार पर परिवर्तन आता रहता है, तथापि अब तक स्थिर हुए कुछ आधुनिक मतों का यहां उल्लेख किया जाता है।

श्री के. एल. दफ्तरी स्वायंभुव मनु का काल २६७० ई. पू. मानते हैं।[४७] श्री त्र्यं. गु. काले ने पुराणों के आधार पर मनु का काल ३१०२ ई. पूर्व निर्धारित किया है।[४८] लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ज्यातिर्विज्ञानीय तत्त्वों के आधार पर प्राचीन वैदिक साहित्य का कालनिर्णय करने का प्रयास

---

४५. मनु. १।६४-७३, ७९, ८० श्लोकों में चतुर्युगी और मन्वन्तर कालगणना का पूर्ण विवरण है। विस्तार के लिए पाठकगण उनकी समीक्षाएं देखें।

४६. पाश्चात्य और आधुनिक लोग सृष्टि उत्पत्ति के इस समय पर अविश्वास करते हैं। वे प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक बात को ही प्रामाणिक समझते हैं। उनके लिए इस सृष्टि संवत् की पुष्टि हेतु एक वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत है। यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता बदल गयी है, और उन्होंने जो नयी मान्यता प्रस्तुत की है, वह भारतीय प्राचीन मान्यता से मिलती-जुलती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैडम क्यूरी ने रेडियम धातु की खोज की है। मिट्टी में मिलने वाले रेडियम के कणों का परीक्षण और अध्ययन करके, उनमें नियत समय में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर, वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि 'इस पृथ्वी को बने हुए लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं।' (रेडियम — भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, साहित्य रसोक्त, पृ. ५७, प्रकाशक-कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय)।

४७. रामचन्द्रकालनिर्णय, पृ. ५५।

४८. पुराण निरीक्षण, पृ. ३१५।

किया है । उनके अनुसार कृत्तिका नक्षत्र में वसन्तारम्भ के समय ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई और मृगशिरा नक्षत्र के काल में वैदिक मन्त्रसंहिताओं की रचना हुई । खगोल और ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कृत्तिका और मृगशिरा नक्षत्रों में वसन्तारम्भ क्रमश: आज से ४५०० एवं ६५०० वर्षों पूर्व हुआ था । इस प्रकार इन ग्रन्थों का काल क्रमश: २५०० ई. पू. तथा ४५०० ई. पू. लगभग निर्धारित होता है ।[४९] इस आधार पर मनु का काल भी ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व इसी कालावधि में निर्धारित होगा ।

स्वरचित 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में, धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों के प्रसिद्ध विवेचक डा. पी. वी. काणे ने शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता आदि का काल ई. पू. ४००० – १००० वर्ष माना है । मनु की जीवनस्थिति इससे पूर्व की होने के कारण मनु का काल भी इनसे प्राचीन होगा ।

मनु के आदिसृष्टि में होने से अभिप्राय —

आदि सृष्टि से यहां यह अभिप्राय नहीं है कि जब से संसार बना, वही काल यहां अभीष्ट है । यहां आदिसृष्टि से अभिप्राय मानव सृष्टि और मानवसमाज की संरचना से है । भारतीय इतिहास में ब्रह्मा से पूर्व कोई वंश परम्परा नहीं मिलती । इसका काल जो भी माना जाये, किन्तु इस वंशप्रवर्तक की दृष्टि से ब्रह्मा आदिसृष्टि का कहलाता है । इसी आधार पर मनु को आदिसृष्टि का कहा जाता है ।

विश्व के समग्र साहित्य में ऋग्वेद को सभी विद्वान् सबसे प्राचीन मानते हैं । उसके बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का समय माना जाता है । इस कारण वेदों को और वैदिक साहित्य को आदि सृष्टि का कहा जाता है । ब्राह्मणग्रन्थों, तैत्तिरीय आदि संहिताओं[५०] में धर्मप्रवक्ता के रूप में मनु का बहुधा उल्लेख आता है । अत: मनु का काल ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व ही स्थिर होता है । प्राप्त प्राचीन वाङ्मय के आधार पर तो मनु का काल आदि सृष्टि या आदि समाज का निर्धारित होता ही है, आधुनिक मतों से भी यही भाव ध्वनित होता है ।

इसके अतिरिक्त मनु मानव व्यवस्थाओं के आदि कालीन व्याख्याता थे । इस कारण भी उन्हें आदिकाल का माना जाता है ।

वेदों में मनु शब्द —

पाश्चात्य एवं पाश्चात्य विचारधारा के अनुगामी आधुनिक विद्वान् मनु पर विचार करते समय उसका उल्लेख एवं जीवन-परिचय वेदों में खोजते हैं । उनका कथन है कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर व्यक्तिवाचक मनु शब्द आया है । कहीं उसे पिता कहा है, कहीं प्रारम्भिक यज्ञकर्त्ता, तो कहीं अग्निस्थापक के रूप में उसका वर्णन है ।[५१]

इस चर्चा का उत्तर मनु के मन्तव्य के अनुसार दिया जाये तो अधिक प्रामाणिक होगा । मनु वेदों को ईश्वरप्रदत्त अर्थात् अपौरुषेय मानते हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य के माध्यम से वेदों का ज्ञान दिया । अपौरुषेय होने के कारण वेदज्ञान पूर्णत: चिन्त्य नहीं है, और अपरिमित है ।[५२] प्रारम्भ में वेदों से ही शब्द ग्रहण करके व्यक्तियों और वस्तुओं का नामकरण किया

---

४९. गीता रहस्य में ।

५०. तैत्ति. सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४ ।। तां. ब्रा. २३।१६।७ ।। तैत्ति सं. ३।१।९।३० ।। काठ सं. ११।२ ।

५१. ऋग. १।८०।१६; १।१२४।२; २।३३।१३; ८।६३।१; ८।३०।१; १०।६३।७ ।।

५२. मनु. १।२३; १।४ ।।

गया ।[५३] मनु द्वारा वेदों को अपौरुषेय घोषित करने के उपरान्त उसी मनु का वेद में इतिहास ढूंढना मनु के साथ ही अन्याय है, और मनु से पूर्व वेदों का रचनाकाल होने से कालविरुद्ध भी है।

वेदों में मनु शब्द विभिन्न अर्थों में आया है। कहीं वह ईश्वर का पर्यायवाची है,[५४] कहीं मनुष्य के लिए है,[५५] कहीं मननशील विद्वान् के लिये है।[५६] विचारकों को जहां इसके व्यक्तिवाचक होने का आभास होता है, वह वस्तुतः ईश्वरवाचक प्रयोग है। अधिक विस्तार में न जाते हुए, इस विषय में मनुस्मृति का ही एक प्रमाण देकर इस बात को प्रमाणित किया जाता है। ईश्वर का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं कि उस परमेश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जिनमें एक नाम 'प्रजापति मनु' भी है —

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।१२।१२३।।

इस प्रकार मनु के मन्तव्य के अनुसार वेदों में 'प्रजापति' 'पिता' आदि विशेषणों से संबोधित मनु ईश्वर ही है। इस आधार पर वेद में मनु का परिचय खोजना, मनु के दृष्टिकोण के विरुद्ध है।
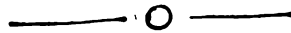
———o———

५३. [illegible]
५४. ऋग. १।८०।१६ ; (स्वामी दयानन्द भाष्य)
५५. ४।२६।४ ; ५।२।१२ ; ६।२१।११ ; ८।४७।४ ।।
५६. ऋग. १।८०।१६ ; १।३३९।१९ ; २।३३।१३ ; (स्वामीदयानन्द भाष्य) ।। निरुक्त एवं ब्राह्मणों ने इन अर्थों की पुष्टि की है — 'मनुः मननात्' निरु. १२।३४. 'ये विद्वांसस्ते मनवः' शत. ८।६।३।१८ ।।

४. वर्तमान मनुस्मृति का रचनाकाल

आधुनिक विचारकों का मत है कि वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति का यह छन्दोबद्ध रूप पर्याप्त अवरकालीन है । इसकी कालावधि ईस्वी पूर्व प्रथम से द्वितीय शती मानी गयी है । उपर्युक्त विवेचन में सप्रमाण यह स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति के मूलप्रवक्ता स्वायंभुव मनु हैं, और अधिकांश विद्वान् इसी मत को ही मानते हैं । इस तथ्य को तो सभी स्वीकार करेंगे ही कि जिसकी जो कृति है वह उसी के काल की होगी, अत: इस बात में तो कोई संदेह ही नहीं होना चाहिये कि मूलत: मनुस्मृति उसके प्रवक्ता स्वायंभुव मनु के काल की ही है । हां, यह बात अवश्य विचारणीय है कि उसका प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा ? मनुस्मृति के आद्यरूप पर विचार इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा । यहाँ पहले, वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति के छन्दोबद्ध रूप के काल पर विचार किया जाता है । यद्यपि अन्य प्राचीन ग्रन्थों की तरह मनुस्मृतिविषयक काल का कहीं कोई उल्लेख न होने के कारण सुनिश्चित रूप से समय का निर्धारण करना कठिन है, फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाने वाले उद्धरणों, नामोल्लेखों को आधार मानकर उसका अनुमान लगाया जा सकता है । अब यहाँ विद्वानों द्वारा इस विषय में आधाररूप में अपनाये गये तथ्यों पर तथा इसके कालनिर्धारण में सहयोगी अन्य आधारों एवं संकेतों पर विचार किया जा रहा है -

(क) अर्वाचीन आधार एवं संकेत — प्रथम ईस्वी सन् से लेकर १३०० ईस्वी तक के भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस कालावधि में, प्रचलित मनुस्मृति पर्याप्त लोकप्रिय एवं प्रभावी रही है । इस पर अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाष्य लिखे, जिनमें कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका आज अधिक प्रचलित [११५०–१३०० ई.] है । मेधातिथि का मनुभाष्य सबसे प्राचीन भाष्य उपलब्ध है, जिसका काल ८२५–९०० ई. के मध्य माना जाता है । इसके अतिरिक्त मनुस्मृति पर सर्वज्ञनारायण की मन्वर्थविवृति [लगभग १४०० ई.], गोविन्दराज की मनुटीका [लगभग १२००–१३०० ई.], नन्दन की नन्दनी और राघवानन्द की टीका उपलब्ध है ।

विश्वरूप [७९० – ८५० ई.] ने अपने याज्ञवल्क्य-स्मृति-भाष्य और यजुर्वेदभाष्य में मनुस्मृति के लगभग दो सौ श्लोक उद्धृत किये हैं।[५७] इससे परवर्ती मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर [१०४० – ११०० ई.] ने भी अपने भाष्य में मनुस्मृति के सैंकडों श्लोक उद्धृत किये हैं।[५८] शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र भाष्य में मनुस्मृति के कई श्लोक अपने विचारों की पुष्टि के लिए ग्रहण किये हैं और कुछ श्लोकों के साथ तो मनु के नाम का स्पष्ट उल्लेख है।[५९] ५०० ई. में [कुछ के मतानुसार २०० – ४०० ई.] जैमिनिसूत्र भाष्य में शबरस्वामी द्वारा मनु के मतों का उल्लेख किया मिलता है।[६०] बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने अपनी 'वज्रकोपनिषद्' रचना में अपने विचारों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है।[६१] यह राजा कनिष्क [७८ ई.] का समकालीन था।

ईस्वी पूर्व के ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो, यद्यपि याज्ञवल्क्य स्मृति में विषयों का वर्गीकरण नये ढंग से किया है और बहुत सारे नये विषय भी अपनाये हैं, किन्तु मनु से मिलते हुए जो भी विषय हैं, उनमें ऐसा लगता है, जैसे मनुस्मृति को सामने रखकर ही उनका अपने शब्दों में संक्षेपीकरण किया हो।[६२] इसका काल १०२ ई. पू. माना जाता है। इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति से पर्याप्त प्राचीन रचना है। इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र को [१०० – ३०० ई. पू.] पढ़ने पर प्रतीत होता है कि अपने बहुत-से नये विषयों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ प्राचीन बातों के वर्णन में मनुस्मृति को आधार बनाकर वर्णन किया है।[६३] बहुत-से स्थलों पर मनु के मत का नामपूर्वक उल्लेख है।[६४] वर्तमान मनुस्मृति में ७। १०५ पर पाया जाने वाला निम्न श्लोक कौटिल्य-अर्थशास्त्र प्र १०। अ. १४ में लगभग उसी रूप में पाया जाता है —

नास्य छिद्रं परो विद्यात् विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः॥

भासकृत 'प्रतिमानाटक' [२०० – ३०० ई. पू. कुछ के मत में ४०० – ५०० ई. पू.] में रावण के मुख से उच्चारित वाक्य से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व 'मानवधर्म शास्त्र' एक प्रसिद्धिप्राप्त शास्त्र था—

"रावण :– काश्यपगोत्रोऽस्मि सांगोपांगं वेदमधीये मानवीयं
धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रम् .... च" [पृ. ७९]

---

५७. विश्वरूप ने याज्ञ. स्मृ. १।४५ तथा २।७३, ७४, ८३, ८५ श्लोकों के भाष्य पर मनु. के ८।६८, ७०, ७१, १०५, १०६, ३४० श्लोक उद्धृत किये हैं।

५८. याज्ञ. स्मृ. १।७, ५३, ६२, ६९, ७२, ७८, ८०; २।१, २, ५, २१, २६ आदि श्लोकों के भाष्य पर मनु. के २।१०, ३।५, ३।४४, ९।६९, ३।४९; ८।१२८, ८।१३, ८।४-७, ८।३५०-३५१, ८।१२९ श्लोक उद्धृत किये हैं।

५९. शंकराचार्य ने १।३।२८; १।३।३६; २।१।१; २।१।११; ३।४।३८; ४।२।६ सूत्रों पर मनु. के १।२१; १०।४ तथा १२।६; १२।९१; १२।१०५-१०६; २।८७; १।२७ श्लोक उद्धृत किये हैं। ३।१।१४ पर मनु का नामोल्लेख है और २।१।१ में 'मनुर्वै यत्किञ्चावदत् ...' यह ब्राह्मणवाक्य उद्धृत करके मनु की प्रशंसा है।

६०. धर्मशास्त्र का इतिहास — पी. वी काणे।

६१. वही।

६२. द्रष्टव्य यथा — याज्ञ. स्मृ. के २।७, १।१५, १।३५; २।३६, आदि श्लोकों में मनु. २।१२, २।६९, ११।४१, १४३, १४४; ८।४० के श्लोकों का संक्षिप्त भाव।

६३. द्रष्टव्य अर्थशास्त्र प्र. ३।अ. ६. २।४, ३।५, १४।२८ दिनचर्या, प्र. ९७ में मनु. ७।३७, ७।३९ तथा ४३, ७।३७-२२५ दिनचर्या, ७।१५५ श्लोकों का यथावत भाव।

६४. द्रष्टव्य प्र. ८।अ १२, १।१, १०।१४ आदि।

इतिहासकार शूद्रकरचित 'मृच्छकटिकम्' नाटक को ई. पू. तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। इसमें किसी ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करते हुए 'ब्राह्मण अवध्य है', मनु के इस मत को मनु के नामोल्लेख पूर्वक दिया है—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ।। मृच्छ. ९।३९ ।।

(ख) प्राचीन आधार एवं संकेत — परम्परागत मान्यताओं के अनुसार और अधिक प्राचीन माने जाने वाले साहित्य में भी मनुस्मृति के श्लोकों के उद्धरण मिलते हैं—

१. महाभारत में अनेक स्थलों पर स्मृतिकार के रूप में स्वायंभुव मनु या मनु का उल्लेख आता है। बहुत से ऐसे श्लोक हैं जो मनु के नाम से उद्धृत हैंऔर वे प्रचलित मनुस्मृति में यथावत् पाये जाते हैं। ऐसे श्लोक, जो मनु के नाम के बिना भिन्न-भिन्न धर्मवर्णन प्रसंगों में उद्धृत हैं, और जो मनुस्मृति में यथावत् रूप में पाये जाते हैं, उनकी संख्या भी पचासों है। इसके अतिरिक्त किंचित् पाठभेद वाले और यथावत् गृहीत भाव वाले श्लोकों की संख्या भी पचासों में है। उदाहरण के रूप में कुछ श्लोकों का टिप्पणी में विवरण दिया जाता है।[६५] अनुसन्धान करने पर और भी मिलेंगे।

---

६५. **(अ) स्वायंभुव मनु के नाम वाले श्लोक—**
महा. आदि. ७३ । ८-९, शान्ति. ३६ । ५-८, ३३५ । ४४-४६, अध्याय १२; १२१ । २६; १२१ । १०, १२ आदि।

(आ) मनु के नाम से उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक—

महाभारत में	मनुस्मृति में
शान्ति. ५६ । २४.	९ । ३२१
आदि. ७३ । ९-१०,	३ । २१

(इ) मनु के नाम के बिना उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक—

महाभारत में	मनुस्मृति में	महाभारत में	मनुस्मृति में
आदि. ७५ । ५०	२ । ९४	१०८ । १७-२०	२ । १४५-१४६
शान्ति. ३४ । २	११ । ४४	१२१ । ६०	८ । ३३५
,, ३५ । ४-५	११ । ७५-७६	१३० । १०	४ । २०
,, ३५ । ६	११ । ७९	१३० । २०	८ । ४४
,, ३५ । १६	११ । ९०	१३९ । २२	४ । १७३
,, ३६ । २७	४ । २१८	१४० । ७, ८, २४	७ । १०२-१०६
,, ३६ । ३५	३ । ११७	१६१ । ४	११ । २३७
,, ३६ । ४६	२ । १५७	१६५ । १-५, ६-२५	११ । १-४, ७, ११-४०
,, ३६ । ४७	२ । १५८	१६५ । ३१, ३२, ३७,	४ । २३८, २३९;
,, ७२ । ६	१ । ९९	४३-५३	११ । १८०, २०७, ९०,
७२ । १०	१ । १००		१०३, १०४, ७२, ७४, ७९;
,, ७२ । ११ (आधा)	१ । १०१	१६५ । ६५	८ । ३७२
,, ७५ । ७	८ । ३०५	१६५ । ७५-७६	११ । १४९, १५४
,, ८३ । ४९	७ । १०५	२४३ । ११-२१	४ । ३२; ३ । २८५;
,, ८७ । ९-१३	७ । १२०-१२३		४ । १७९-१८५;
,, ८७ । १४	७ । १२७	२४४ । १०-११	६ । २२-२३
,, ८७ । १८	७ । १३९	२४४ । २८	६ । ३९

इन सब प्रमाणों से वर्तमान मनुस्मृति की स्थिति महाभारत से पूर्व सिद्ध होती है । महाभारत के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर और भारतीय परम्परा से,महाभारत के युद्ध का काल पांच हजार वर्ष से पूर्व माना जाता है और महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास को उस युद्ध का समकालीन माना जाता है । इस प्रकार मनुस्मृति का काल उससे भी पूर्व स्थिर होता है ।

इतिहास के आधुनिक विद्वान् महाभारत का रचनाकाल और युद्ध काल भिन्न-भिन्न मानते हैं।उनके अनुसार महाभारत का रचनाकाल १००-६०० ई. सन् के मध्य है । एक नयी खोज के अनुसार यह काल १०० ई. पू. तक माना जाने लगा है ।[६६]

२. वाल्मीकि-रामायण किष्कि. १८। ३०, ३२ में मनु के नामोल्लेखपूर्वक दो श्लोक उद्धृत पाये गये हैं — 'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ' [वा. रामा. किष्कि. १८। ३०] यहां स्पष्टत : मनु द्वारा 'गाये'और'श्लोक' पद पठित हैं (क) बालि-सुग्रीव द्वन्द्व युद्ध में राम दूर खड़े होकर छुपकर बालि की हत्या कर देते हैं । मरणासन्न बालि,राम के इस कृत्य को अधर्मानुकूल बताता है । उसका उत्तर देते हुए राम,मनु के निम्न दो श्लोक उद्धृत करते हुए अपने कृत्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं । ये दोनों श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में किंचित् पाठभेदपूर्वक ८। ३१६, ३१८ में पाये जाते हैं —

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवा : ।
निर्मला : स्वर्गमायान्ति सन्त : सुकृतिनो यथा ।।

,, ९० । १६	८। १६	२४४ । १५	६ । ४-५
,, ९१ । ६	९ । ३०१	२६४ । ११-१३	४ । २२४-२२६
,, ९१ । २१	४ । १७२-१७३		
,१०८ । ५-९, १२	२ । २२९-२३४		

(ई) मनुस्मृति के भावों का यथावत् वर्णन करने वाले श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में	महाभारत में	मनुस्मृति में
शान्ति. ३६ । २०	१२ । ११०, ११२	शान्ति. २०१ । ३२-३३,	१२ । ८,
,, ३६ । २८,	४ । २१७, २२०	,, २४३ । २-४,	४ । ७-९,
,, ५३ । २४,	९ । ३१३,३१९	२४३ । ७-८,	४ । २९-३१,
,, ७२ । १२,	९ । ६९	२४४ । ८-९,	६ । १८,
,, ८७ । ३-५,	७ । ११४-११७	२४४ । १२-१५,	६ । १७,२०,२९,
,, ८७ । १८	७ । १२८	२४४ । २३-२४,	६ । ३८
,, ८८ । ४-५,	७ । १२९	२४४ । ४-५,	६ । ४३-४४
,, ९५ । १८	४ । १७२	२४४ । १७,	६ । ४०
,, १६५ । २४,	११ । २४	२४४ । ७,	६ । ४३-४४
१६५ । ५६-५९	११ । १२६-३१		
,, १६५ । ६६	८ । ३७१, ३७२		

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपनी 'महाभारत मीमांसा' में शोधपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'एक डायो क्राय सोस्टोम' नामक यूनानी लेखक ५० ई. में दक्षिण के पाण्ड्य देश में आया था । उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' [= ऐतिहासिक महाकाव्य] है । इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय 'महाभारत' से ही है ।'

शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेन : पापात् प्रमुच्यते ।।
राजान्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम् ।।

(ख) इनके अतिरिक्त वा. रामा. अयो. १०७। १२ में एक और श्लोक मिलता है, जो मनु. ९। १३८ में प्राप्त है। चतुर्थ पाद में पाठभेद के अतिरिक्त यह ज्यों का त्यों है। वहां यह श्लोक मनु के नाम के बिना उद्धृत है —

पुम्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुत : ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त : पितॄन् य : पाति सर्वत : ।।

भारतीय प्राचीन मान्यता के अनुसार,वाल्मीकि-रामायण राम की समकालीन है और राम का काल लाखों वर्ष पूर्व माना जाता है। पाश्चात्य एवं आधुनिक भारतीय विद्वान् रामायण का रचनाकाल ई. पू. तीसरी शताब्दी से छठी ईस्वी तक मानते हैं। हालांकि आजकल कुछ पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय लोगों ने यह एक नया विवाद उत्पन्न कर दिया है कि वाल्मीकि रामायण महाभारत से परवर्ती है। प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनके आधार पर महाभारत रामायण से परवर्ती रचना सिद्ध होती है। 'महाभारत रामायण से पूर्व की रचना है' यह मत कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने दिया है और उनके कुछ भारतीय अनुयायियों ने उनकी हां में हां मिला दी है। भाषा का आधार मानकर वे लोग ऐसा कहते हैं। लेकिन यह कोई अकाट्य आधार नहीं है, और न उनके पास इसकी सिद्धि के लिये ठोस प्रमाण हैं। यहाँ इस विषय को उठाना प्रासंगिक नहीं है, अत: दो चार प्रमाण देकर ही इस चर्चा को समाप्त किया जाता है। इस विवेचना में उसी पुरानी भारतीय मान्यता को स्वीकार किया गया है कि महाभारत वाल्मीकि से परवर्ती रचना है। वाल्मीकि-रामायण को महाभारत से पूर्व सिद्ध करने वाले प्रमाण हैं —(क) रामायण में महाभारत की घटनाओं या कौरवों, पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं, जबकि महाभारत में वाल्मीकि, उसकी रामायण, राम सम्बन्धी घटनाओं तथा उसके पात्रों का उल्लेख है, (ख) महाभारत में अनेक स्थलों पर घटनावर्णन, उपमाएं, श्लोकार्ध रामायण से मिलते हैं (ग) निम्न दो श्लोक महाभारत में वाल्मीकि रामायण के प्राप्त होते हैं —

अ. ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृति : ।।
महा. शान्ति. १७२ / २५ ।।

रामायण में यह किष्कि. ३४ / १२ पर है। वहाँ 'ब्रह्मघ्ने' के स्थान पर 'गोघ्ने' पाठभेद है। 'राजन' के स्थान पर 'सद्भि :' पाठ है।अन्य यथावत है।

आ. न हन्तव्या : स्त्रियश्चेति तद्ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्त्तव्यमेव तत् ।।
महा. ७। १४३। ६६ ।। [वा. रामा. में युद्ध. ८१। २८ में]

३. मनुस्मृति में केवल वेदों [१।२१, २३; ३।२; ११।२६२-२६४; १२।१११-११२ आदि] और वेदांगों [२।१४०, २४१] का ही उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख भी एक विद्या के रूप में है,न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित ग्रन्थ के रूप में। इसकी पुष्टि के लिए दो तर्क दिये जा सकते हैं —(क) इन विद्याओं के साथ न तो कहीं रचयिता का संकेत है और न ग्रन्थरूप का। (ख) १२।१११ में इन विद्याओं के ज्ञाताओं का 'हेतुक :' 'तर्की' 'नैरुक्त : धर्मपाठक.' आदि विद्याविशेषणों से परिगणन किया है, न कि ग्रन्थज्ञाता के रूप में। एक-एक विद्या पर विभिन्न

आचार्यों के ग्रन्थ प्राप्त हो रहे हैं । किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख न होना और अन्य ब्राह्मण, उपनिषद् आदि विधाओं का उल्लेख न मिलना यह सिद्ध करता है कि यह स्मृति इन सबसे पूर्व की रचना है । (मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अन्य विद्या-विषयों, व्यक्तियों के नामों एवं स्थानों के विषय में समाधान इसी अध्याय में आगे 'मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान' शीर्षक में देखिये) ।

४. मनुस्मृति का आधार केवल वेद ही हैं । मनु सीधे वेद से विज्ञात बातों को ही धर्मरूप में वर्णित करते हैं और उसी को आधार मानने का परामर्श देते हैं [१।४, २१, २३;२।१२८, १२९, १३०, १३२; १२।९२-९३, ९४, ९७, ९९, १००, १०६, ११०-११२, ११३ आदि] । वेद और मनुस्मृति के बीच अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख न मिलना यह इंगित करता है कि यह मूलत: उस समय की रचना है जब धर्म में केवल वेदों को ही आधारभूत महत्त्व प्राप्त था, अन्य ग्रन्थों को इस योग्य प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी । यह समय अत्यन्त प्राचीन ही था ।

५. विभिन्न स्मृतियों में तो मनु का उल्लेख भी है और प्रशंसा भी, अनेक सूत्रग्रन्थों में भी मनु के नाम का तथा उसके मत का उल्लेख प्राप्त होता है । इनमें आश्वलायन श्रौतसूत्र [९।७।२; १०।७।१], आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [३।११७; ३।१०।३५], वासिष्ठ धर्मसूत्र [१।१७] आपस्तम्ब धर्मसूत्र [२।१४।११] बौधायन धर्मसूत्र [४।१।१४, ४।२।१६] गौतम धर्मसूत्र [२१।७], आदि उल्लेखनीय हैं ।

६. अतिप्रचीन काल में इस सम्पूर्ण देश का नाम आर्यावर्त था । महाभारत के अनुसार दुश्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष पड़ा [आदि. २।९५-९६; ७४।१३१] महाभारत में इस देश को भारतवर्ष ही कहा गया है ।[६७] मनुस्मृति में आर्यावर्त नाम का उल्लेख इसे महाभारत आदि ग्रन्थों से पुरातन और प्रारंभिक काल का इंगित करता है।

७. रामायण काल में भी आर्यावर्त की वह मनुस्मृतिप्रोक्त स्थिति नहीं रह गयी थी, अत: रामायण मनुस्मृति से बाद की रचना है ।

८. इसी प्रकार ब्रह्मावर्त प्रदेश और उसका मनुप्रोक्त महत्त्व प्रारम्भिक काल में था । रामायण, महाभारत तक इस प्रदेश का नाम बदल चुका था । इस ग्रन्थ में उसका उल्लेख न होना भी उन्हें मनुस्मृति के बाद की रचना सिद्ध करता है ।

निष्कर्ष —

उपर्युक्त आधारों और युक्तियों पर विचार करने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि वर्तमान में प्रचलित यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति भी अत्यन्त प्राचीन है । उपलब्ध लौकिक भाषा के ग्रन्थों से तो यह प्राचीन है ही, कुछ वैदिक ग्रन्थों से भी प्राचीन है ।

आधुनिक मतों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उन पर 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली कहावत चरितार्थ होती दिखायी पड़ती है । एक-एक बात को लेकर लगभग सभी प्रसिद्ध विद्वानों के अलग-अलग मत हैं । कहीं कोई एकरूपता नहीं । फिर इन मतों की स्थिरता का भी कोई भरोसा नहीं है । बहुत जल्दी-जल्दी ये बदलते जा रहे हैं । फिर भी, उनके आधार पर भी यह निष्कर्ष सामने आया है कि यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति रामायण, महाभारत आदि से प्राचीन है ।

स्मृतियों को प्राचीन मानने में आधुनिक विद्वानों को शायद इस कारण संकोच अनुभव होता है कि

---

६७. महा. भीष्म. अ. ९-१० तक ।

वे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पहले से ही निर्धारित की गयी धारणाओं को मानकर चलते हैं । पाश्चात्य विद्वानों और उनके समर्थक भारतीय विद्वानों ने कालनिर्धारण करने के लिए पहले से ही कुछ सीमा-रेखाएं और उनके पूर्वापर क्रम बना लिये हैं कि अमुक संहिता-काल है, अमुक सूत्रकाल, अमुक स्मृतिकाल है, आदि-आदि । लेकिन यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती । सूत्रकाल में छन्दोबद्ध रचनाएं भी हुई हैं और छन्दोबद्ध रचनाओं के साथ-साथ सूत्रग्रन्थों की रचनाएं भी । यह मानना भी ठीक नहीं है कि सूत्रग्रन्थ पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और स्मृतियां उनके बाद की । इस बात को स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए एक प्रमाण देना पर्याप्त रहेगा । आधुनिक इतिहासकार सूत्रग्रन्थों का काल ३०० से ६०० ई. पू. तक मानते हैं और सबसे प्राचीन स्मृतियां गौतम और वासिष्ठ स्मृतियों को मानते हैं। इनका काल ६०२ ई. पू. निर्धारित करते हैं । यही विद्वान् यास्ककृत निरुक्त का काल ८०० ई. पू. तक मानते हैं । निरुक्त ३ । ४ में जो दायभाग से सम्बन्धित मनु का मत दिया गया है, वह किसी प्राचीन स्मृतिग्रन्थ का वचन है और अनुष्टुप् छन्द में है[६८] । इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनके मतानुसार भी ८०० ई. पू. से पहले भी स्मृतिग्रन्थ थे । जब किसी अन्य स्मृतिकार ने मनु का मत अपनी स्मृति में श्लोकबद्ध किया है तो इसका मतलब है कि उस समय स्मृतियां श्लोकबद्ध रूप में थीं । काल की दृष्टि से प्राचीन होने के कारण मनु की स्मृति पहले ही श्लोकबद्ध हो चुकी होगी, इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता । इस प्रकार छन्दोबद्ध मनुस्मृति के प्राचीन होने की पुष्टि हो जाती है ।

यहां कुछ लोगों को यह शंका उत्पन्न होगी कि 'रामायण को आदिकाव्य माना जाता है और वाल्मीकि को आदिकवि । उन्हीं के मुख से प्रथम छन्द का उद्‌भव हुआ था ?' यह कथन पूर्णत: अयुक्तियुक्त है । ऐसा सोचना इस कारण भी गलत है कि उससे पूर्व वेदों, संहिताओं में, रामायण में प्रयुक्त अनुष्टुप् छन्द के अनेक उदाहरण पहले से ही उपलब्ध हैं[६९] । रामायण को आदिकाव्य कहने से अभिप्राय केवल यही है कि काव्यात्मक शैली में, लौकिक साहित्य में वह प्रथम रसमय काव्य है । रामायण की प्रारम्भिक भूमिका में 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् . . .' [बाल. २ । १५] के प्रसंग में यह भाव नहीं है कि वाल्मीकि यह सोचने लगे कि मेरे मुख से निकला यह वाक्य गद्य-रूप है अथवा श्लोकरूप, अपितु वहां भाव यह है कि 'मैंने भावावेश में यह दुर्भावना-युक्त क्या अपवाक्य और क्यों कह डाला ।' टीकाकारों ने इस प्रसंग की गलत व्याख्या करके उस रूप में प्रस्तुत किया है ।

उस प्रसंग में ब्रह्मा के अवतरण की पौराणिक काल्पनिक कथा ने इस व्याख्या को यह दिशा दी है । यह कथा उस प्रसंग में प्रक्षिप्त सिद्ध होती है । और रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों को देखकर स्वत: ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति रामायण से भी प्राचीन है ।

---

६८. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मत: ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। ३ । ४ ।।

६९. लोकप्रचलित अनुष्टुप् छन्द का लक्षण है — 'पंचमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयो: । षष्ठं गुरु त्रिजानीयात् एतदनुष्टुप् लक्षणम् ।' इस लक्षण के आधार पर वेद का श्लोक देखिए —
(क) वेद में — यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।। यजु. ४०।६ ।

५. मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान —

इस विश्लेषण के बाद यह प्रश्न उठता है कि जब मनुस्मृति को प्राचीन सिद्ध करने के इतने आधार उपलब्ध हैं, तो फिर किस कारण से उसे अर्वाचीन माना जा रहा है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इसके जिम्मेदार आलोचक उतने नहीं हैं जितने कि मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अर्वाचीनसाधक संकेत हैं । यहाँ उन्हीं कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनका समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है । मनुस्मृति में निम्न वर्णन इसको प्राचीन मानने में बाधा पहुंचाते हैं —

१. **परवर्ती राजाओं के नाम** —मनुस्मृति में मनु से परवर्ती अनेक राजाओं के नाम उदाहरण के रूप में पाये जाते हैं, यथा — वेन, नहुष, पिजवनपुत्र सुदास, सुमुख, नेमि [७।४१] । मनु, पृथु, कुबेर, विश्वामित्र [७।४२] । सुदास [८।११०] । पृथु [९।४४] वेन [९।६६] । विश्वामित्र और चण्डाल कथा [१०।१०८] ।

२. **परवर्ती स्मृतिकारों या ऋषियों के नाम** — मनुस्मृति में प्रसंगानुसार अनेक स्मृतिकारों और ऋषियों के मतों का उल्लेख है, या धर्मसिद्धि में उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, यथा — अत्रि, उतथ्यपुत्र गौतम, शौनक, भृगु [३।१६] । वसिष्ठ [८।११०;८।१४०] । वत्स [८।११६] । वसिष्ठ —अक्षमाला, शारंगी —मन्दपाल [९।२४] । दक्षप्रजापति द्वारा कश्यप, धर्मराज, सोम राजाओं को कन्यादान [९।१२८-१२९] । अजीगर्त —शुन:शेप [१०।१०५] । वामदेव [१०।१०६] । भरद्वाज-वृधु बढ़ई [१०।१०७] ।

३. **परवर्ती स्थानों के नाम** — कुछ ऐसे स्थानों का नाम मनुस्मृति में पाया जाता है जो, ऐतिहासिक दृष्टि से बाद में स्थापित हुए हैं, यथा —कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक प्रदेशों वाला ब्रहमर्षि देश [१।१३८ (२।१९)] । इन्हीं देशों के वीरों का युद्ध में स्थाननिर्धारण [७।१९३] ।

४. **अर्वाचीन पौराणिक मान्यताओं का वर्णन** — कुछ ऐसी मान्यताएं भी मनुस्मृति में पायी जाती हैं, जो बहुत आधुनिक हैं, यथा —क. गंगा और कुरुक्षेत्र में पापनिवृत्ति के लिए जाना [८।९२] ख आठ और बारह वर्ष की कन्या का विवाह [९।९४] ।

इन वर्णनों या उल्लेखों के समाधान के प्रसंग में कुछ बातें ऐसी हैं, जो सामान्यरूप से सबके साथ लागू होती हैं — (क) इस प्रकार के सभी परवर्ती वर्णन समय-समय पर किये जाने वाले परिवर्तनों, परिवर्धनों और मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप किये गये प्रक्षेप हैं अपने-अपने प्रसंगों में ये स्थल स्पष्टत: बाद में किये गये प्रक्षेप सिद्ध होते हैं । कहीं इनका प्रसंग से तालमेल नहीं है, तो कहीं मनु का अन्यत्र वर्णित मान्यता से विरोध है । इस प्रकार इन्हें काल निर्धारण में आधार नहीं माना जा सकता । पीछे कई स्थानों पर विस्तार से स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति मूलत: मनु के प्रवचन हैं, और बाद में इन्हें संकलित किया गया है । सही संकलन वही माना जायेगा जो वक्ता के ही भावों को प्रदर्शित करे । इस प्रकार शैली से यह बात स्पष्ट होती है कि मनु के प्रवचनों में मनु से परवर्ती व्यक्तियों का (समकालीन पीढ़ियों को छोड़कर) उल्लेख संभव नहीं । फिर भी मिलता है तो इसका अभिप्राय है कि ये स्थल बाद में किसी ने मिलाये हैं । (ग) इन वर्णनों के आधार पर यह नहीं माना चाहिये कि यह परवर्ती काल में किया गया संकलन है या पुन:संस्करण है, अपितु मौलिक रूप को आधाररूप मानते हुए इन्हें परवर्ती प्रक्षेप मानना चाहिये । (घ) उपर्युक्त स्थल अन्य मानदण्डों के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं । इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भाष्य में यथास्थान द्रष्टव्य

है। यहाँ इनकी प्रक्षिप्तता को सिद्ध करने वाले कालक्रम संबन्धी तथ्यों को संक्षेप से प्रस्तुत किया जाता है —

१. प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त वंशावलियों के अनुसार मनु या स्वायंभुव मनु का ब्रह्मा के बाद की पीढ़ी में उसके पुत्र या शिष्य के रूप में वर्णन आता है। इस को सृष्टि में सर्वप्रथम राजा माना गया है। इस प्रकार अन्य सभी राजा और ऋषि स्वतः मनु से परवर्ती सिद्ध होते हैं। कुछ राजाओं और ऋषियों की वंशावली अत्यन्त स्पष्ट उपलब्ध है। उससे यह कथन और अधिक पुष्ट हो जाता है। इन राजाओं में नहुष, नेमि या निमि, मनु और पृथु राजा, स्वायंभुव मनु के वंशज वैवस्वत मनु के सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले अन्य राजा हैं। मनु विवस्वान् का, पृथु अनरण्य का, नहुष अम्बरीष का, निमि इक्ष्वाकु का पुत्र था।[७०] कुबेर रावण का भाई था।[७१] विश्वामित्र गाधि राजा का पुत्र था।[७२] वेन अंगदेश का उद्दण्ड राजा हुआ है, जो कर्दमपुत्र अनग का पुत्र था।[७३] पिजवनपुत्र सुदास उत्तरपांचाल का राजा था, जो राम से भी कई पीढ़ी पश्चात्‌वर्ती है।[७४]सुमुख का निश्चित विवरण अज्ञात है। इस प्रकार ये मनु से बहुत पीढ़ी पीछे हुए हैं।

२. ऋषियों के नाम, विद्यावंश के आधार पर, अनेक कालों में उसी एक-एक नाम से मिलते हैं, अतः यह कहना कठिन है कि इन प्रसंगों में गृहीत वसिष्ठ, भरद्वाज, वामदेव आदि कौन से काल के ऋषि अभिप्रेत हैं, किन्तु फिर भी इस नाम से सर्वप्रथम पाये जाने व्यक्ति भी मनु से परवर्ती हैं। वसिष्ठ, भृगु, अत्रि, मनु के ही पुत्र होने से परवर्ती हैं।[७५] अजीगर्त भृगुकुल में उत्पन्न ब्राह्मण है और उसी का पुत्र शुनःशेप है। यह राजा हरिश्चन्द्र के समय का है।[७६] कश्यप, मरीचि के पुत्र थे।[७७] ये मनु की तीसरी पीढ़ी में हैं।

इनके अतिरिक्त ८। १४० में वर्णित वसिष्ठ शब्द व्यक्ति-वाचक न होकर 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' अर्थ में प्रयुक्त पद है। 'यो वसति धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमं विद्वांसम्' निरुक्ति के अनुसार वहां उपर्युक्त अर्थ समीचीन है। इस अर्थ की पुष्टि ८। १५७, ३९८ श्लोकों के वर्णन से भी हो जाती है। १। २३ में वर्णित अग्नि, वायु, रवि और ३। १५१-१५३ में वर्णित आंगिरस ऋषि मनु से प्राचीन होने के कारण उल्लेख्य हैं।

३. कुरुक्षेत्र आदि स्थानों का नामकरण तो मनु से बहुत अधिक परवर्ती है। यह नामकरण महाभारतकालीन है और कौरवों के पूर्वज राजा कुरु के नाम पर प्रचलित वंश के आधार पर रखा हुआ है। कुरु राजा, वैवस्वत मनु की पुत्री इला के वंश में अनेक पीढ़ियों के बाद हुआ है।[७८] इसी प्रकार अन्य प्रदेशों का नामकरण भी परवर्ती है। इस प्रकार मनु के प्रवचनों में अत्यधिक परवर्ती स्थानों का उल्लेख संभव नहीं हो सकता। उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में प्रसंगविरुद्ध भी हैं।

४. इसी तथ्य के आधार पर 'कुरुक्षेत्र जाने की' मान्यता के वर्णन का समाधान भी हो जाता है। जब मनु के समय कुरुक्षेत्र नहीं था, तो वहाँ जाने का वर्णन करना संभव ही नहीं। अतः यह भी

---

७०. वाल्मीकि रामायण बाल. ७०।२०. २४. ४२ : ७१।३ ।।

७१. वही. बाल. २०।१८ ।

७२. वही. बाल. ३४।६ ।।

७३. महाभारत शा. ५९।९६-९९ ।।

७४. प्राचीन च. को. पृ. १०५६ ।।

७५. मनु. १।३५ ।।

७६. ऐत. ब्रा. ७।१५-५७ ।।

७७ वाल्मीकि रामा. ७१।१९-२० ।।

७८. महाभारत आर. ८३।४३ ।।

परवर्ती प्रक्षेप है । ९ । ९४ में बाल विवाहों का वर्णन मनु की पूर्व वर्णित मान्यताओं के विरुद्ध है । अधिक जानकारी के लिए भाष्य में उक्त श्लोक तथा ३ । ४ श्लोक पर विस्तृत समीक्षा द्रष्टव्य है । यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध भी है । यही स्थिति अन्य अर्वाचीन वर्णनों की समझनी चाहिये ।

५. मनुस्मृति में विभिन्न जातियों के नाम —कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति में यवन, वाल्हीक, कम्बोज, चीन आदि जातियों का उल्लेख है । यवन, कम्बोज, गान्धार लोगों का विवरण प्रियदर्शी अशोक के पाचवें शिलालेख में भी आता है, अत : मनु तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व हो सकते हैं ।

मनुस्मृति में इन जातियों का उल्लेख १० । ४३-४४ में आता है । दशम अध्याय का वर्णसंकरों का सम्पूर्ण प्रसंग परवर्ती प्रक्षेप है । यह मनु की पूर्ववर्णित मान्यता के विरुद्ध है । मनु ने चार वर्णों की व्यवस्था दी है, और स्पष्ट शब्दों कहा है कि पाचवां कोई वर्ण नहीं है [१ । ३१, ८७-९१ ; १० । ४ ।।] । वे इन्हीं वर्णों के धर्मों का विधान कर रहे हैं [१ । २] । इस प्रकार इन जातियों के उल्लेख का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता । जब मनु के समय में और उनके मतानुसार चार वर्णों को छोड़कर कोई जाति-उपजाति नहीं है, तो उस काल में इन जातियों के अस्तित्व का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता । उपर्युक्त दोनों श्लोकों में तो इन जातियों के शूद्र होने के कारण बताये हैं और भूतकाल का वर्णन है । इस वर्णन पद्धति से ही स्पष्ट है कि यह चतुर्वर्णव्यवस्था के लागू होने और फिर उसमें विकार आने के बाद की स्थिति का वर्णन है । इस प्रकार ये श्लोक मनुकालीन ही नहीं हैं ।

६. मनुस्मृति में इतरधर्मस्मृतियों का उल्लेख —

कुछ लोग १२ । ९५ श्लोक के **'या वेदबाह्या: स्मृतय:'** पदों से अन्य स्मृतियों का अनुमान करते हुए यह कल्पना करते हैं कि मनु का यह संकेत उस समय की बौद्ध, जैन स्मृतियों की ओर है ।

ऐसा सोचने वाले की यह कल्पना पूर्णत : निराधार है । यहां मनु का केवल इतना ही अभिप्राय है कि जो वेदानुकूल नहीं है, वह मान्य नहीं, चाहे वह किसी की रचना हो । क्योंकि, उन्होंने अपनी स्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है और वेदों को ही धर्म का मूल स्रोत और परमप्रमाण माना है [२ । ६, ८, ९, १०, ११, १२, १३ आदि] । १२ । ९६ के **'उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च'** आदि वचनों से स्पष्ट है कि मनु वेदविरुद्ध विचार रखने वालों के लिए यह एक शाश्वत कथन कर रहे हैं । यदि बौद्ध, जैन आदि का उस समय अस्तित्व होता तो उन्हें उनका नामोल्लेख करने में क्या संकोच था ? जब इस तरह का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है तो निराधार कल्पना करने से कोई लाभ नहीं, भ्रान्ति ही पैदा होगी ।

७. मनुस्मृति और उसकी भाषा —

यह कहा जाता है कि मनुस्मृति की भाषा बड़ी सहज, सरल लौकिक भाषा है । वह पाणिनि के व्याकरण का अनुगमन करती है । अत : वर्तमान मनुस्मृति पर्याप्त अर्वाचीन है ।

यह ठीक है कि मनुस्मृति की भाषा सहज और सरल लौकिक भाषा है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इस कारण इसको अर्वाचीन भाषा कहा जाये । मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है, जिसका सम्बन्ध सर्वमान्य रूप से सभी जनों से है । इसमें लोगों के आचार-विचार से सम्बन्धित निर्देश हैं । अत : ऐसे ग्रन्थ की भाषा का सहज, सरल होना स्वाभाविक भी है, और आवश्यक भी । प्राचीन काल

में साहित्यिक भाषा के रूप में वैदिक भाषा का प्रयोग था तो व्यवहार में लौकिक संस्कृत का प्रयोग था।

मनुस्मृति में कुछ पूर्वपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं। इसमें पाये जाने वाले वैदिक प्रयोग और वैदिक प्रयोगशैली, इसे मूलत: पाणिनि-पूर्व एवं वैदिककालीन संकलन सिद्ध करते हैं। यथा — (क) **'मेत्युक्त्वा'** [८।५७ [**'मे + इत्युक्त्वा'** सन्धि पाणिनीय नहीं है। इसमें प्रकार का पूर्वरूप छान्दस है। (ख) **'हापयति'** [३।७१] का 'छोड़ता है' अर्थ है। यहां प्रेरणार्थक न होकर प्रकृत्यर्थ (मूल अर्थ) में 'णिच्' छान्दस है। (ग) २।१६९-१७१ श्लोकों में **'मौञ्जीबन्धन'** और **'मौञ्जिबन्धन'** पदों के प्रयोग में विकल्प से ह्रस्व छान्दस प्रयोग है। (घ) **'उपनयनम्'** के अर्थ में **'उपनायनम्'** प्रयोग [२।३६] पूर्व पाणिनीय है। यहां दीर्घ को, पाणिनि ने व्याकरणसम्मत न होते हुए भी शिष्टप्रयोग मानकर **'अन्येषामपि दृश्यते'** [अ. ६।३।१३७] सूत्र में स्वीकार कर लिया है। (ङ) १।२० में **'आद्याद्यस्य'** प्रयोग है। यह **'आद्यस्य-आद्यस्य'** होना चाहिये था किन्तु पहले **'आद्यस्य'** का सुप्लुक् छान्दस प्रयोग के कारण माना गया है ('सुपां सुलुक् ...' अ. ७।१।३९)। **(च) वैदिक भाषा की प्रयोग शैली** — **'आ हैव स नखाग्रेभ्य:** [२।१६८], **'पुत्रका इति होवाच'** [२।१५१] आदि।

इसकी भाषा के विषय में एक संभावना यह भी दिखायी पड़ती है कि पहले इसमें वैदिक प्रयोगों की अधिकता थी, जो धीरे-धीरे बदली जाती रही। क्योंकि यह सर्वसामान्य जनों से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ था, अत: इसकी भाषा में भी समयानुसार परिवर्तन होता रहा। ऐसे उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं, जिनसे यह संभावना पुष्ट होती है। वाल्मीकि-रामायण के दाक्षिणात्य, वंगीय और उत्तरपश्चिमोत्तरीय, ये तीन संस्करण प्रसिद्ध हैं एवं प्रचलित हैं। इनमें दाक्षिणात्य पाठ में अभी भी वैदिक प्रयोगों का बाहुल्य है, जबकि अन्य संस्करणों में अधिकांश को बदलकर लौकिक कर दिया गया है। यही स्थिति मनुस्मृति के साथ भी संभव है। ऐसा इसलिए भी संभव प्रतीत होता है कि कालक्रम की दृष्टि से मनु सब ऋषियों से प्राचीन हैं और उनकी स्मृति सर्वाधिक प्रसिद्ध रही है। फिर उनकी स्मृति का संकलन पर्याप्त अर्वाचीन समय में हुआ हो, यह बात बुद्धिसम्मत नहीं लगती। कुछ आधुनिक विद्वानों की यह मान्यता और भी विचित्र लगती है कि 'मनु से उत्तरवर्ती वसिष्ठ, गौतम आदि ऋषियों की स्मृतियां मनुस्मृति से प्राचीन हैं, 'उनका संकलन पहले हो चुका था, आदि। यदि भाषा की दृष्टि से इन स्मृतियों में कुछ पूर्वापर क्रम अनुभव भी होता है तो उसका कारण उनकी प्राचीनता और मनुस्मृति की नवीनता नहीं, अपितु मनुस्मृति के बहुप्रचलित और सामान्यजनों के व्यवहारोपयोगी होने के कारण समय-समय पर उसकी भाषा में और प्रयोगों में किया गया परिवर्तन है। अन्य स्मृतियों में, उनकी अप्रसिद्धि और अल्पप्रचलन के कारण ऐसा कम हो पाया है।

६. मनुस्मृति का आद्यरूप

मनुस्मृति का आद्य रूप क्या रहा होगा? इस प्रश्न पर विचार करते हुए विचारकों ने कई मत प्रस्तुत किये हैं। कोई इसका आदिरूप गद्यबद्ध मानते हैं, कोई सूत्रबद्ध, तो कोई पद्यबद्ध मानते हैं। मेरा विचार है कि इसकी शैली से इस प्रश्न का जो समाधान मिलता है, वह अधिक संतोषजनक एवं प्रामाणिक है। मनुस्मृति की शैली पर इस अध्याय के मध्य में (मनुस्मृति का रचयिता कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में) पर्याप्त विस्तार से सप्रमाण प्रकाश डाला जा चुका है। उस निष्कर्ष के अनुसार मनुस्मृति, मूलत: मनु के प्रवचन हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है। आदि से अन्त तक मनुस्मृति की प्रवचनशैली और संकलित रूप है। निरुक्त के प्रमाण से इस विचार को पुष्टि मिलती है, जिसमें यह कहा गया है कि प्राचीन काल में उपदेशों-प्रवचनों से ही शिक्षा दी जाती थी, लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़कर नहीं। जब लोग उपदेशों से प्रमाद करने लगे तो ग्रन्थों का निर्माण हुआ और उनके माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी।[७८]

१. प्रवचन गद्यरूप में ही होते हैं। अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का आद्यरूप गद्यरूप था। गद्यरूप से इसे पद्यबद्ध किया गया।

इसकी पुष्टि के लिए शैली के अतिरिक्त मनुस्मृति के अन्य दो अन्तरंग प्रमाण भी मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि यथावत् रखने में कुछ कठिनाई आयी तो उस क्रम को बदल दिया गया अथवा क्रम बदल गया। यदि मूलरूप पद्यबद्ध होता तो जिस क्रम से विषयों का परिगणन किया गया है, उसी क्रम में उनकी व्याख्या होती। यथा — (क) ८।६ में अठारह मुकद्दमों का परिगणन करते हुए **'पारुष्ये दण्डवाचिके'** पदप्रयोग करते हुए 'दण्ड की कठोरता' और 'वाणी की कठोरता' इस क्रम से इन अभियोगों का वर्णन है। किन्तु इनकी विस्तृत व्याख्या में पहले **'वाक्पारुष्य'** का वर्णन है [८।२६६–२७७], फिर **'दण्डपारुष्य'** का [८।२७८–३००]। इस प्रकार क्रम बदल गया। शायद यह क्रम छन्द-आग्रह के कारण बदलना पड़ा।

यद्यपि टीकाकारों ने इसका व्याकरणसम्मत समाधान प्रस्तुत किया है कि **'अल्पाच्तरं पूर्वम्'** [अ. २।२।३४] के नियमानुसार 'अल्पाच्' होने के कारण छन्द में दण्ड का परिगणन पहले किया है। इसे मानने में कोई आपत्ति भी नहीं है। किन्तु जहां इनका व्याख्याक्रम एक निर्धारित शृंखला में है, तो उस क्रम को तोड़कर 'अल्पाच्' को महत्त्व देने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। स्वतन्त्र परिगणन में ही यह नियम समीचीन कहलायेगा। ऐसा लगता है कि यदि इस नियम के बिना उपयुक्त क्रम में **'वाग्दाण्डिके'** प्रयोग द्वारा इन्हें रखा जाता तो छन्दोभंग अवश्य होता। शायद इसी विवशता के कारण उसका क्रम बदलकर 'दण्डवाचिके' प्रयोग करना पड़ा।

(ख) १२।८३ में छह नि:श्रेयसकर कर्मों का परिगणन इस क्रम से है — **वेदाभ्यास, तप ज्ञान, इन्द्रियसंयम, धर्मक्रिया** और **आत्मचिन्ता**। किन्तु इनकी व्याख्या का क्रम इस प्रकार है —**आत्मज्ञान** [१२।८५-९२] **शम** = इन्द्रियसंयम [१२।९२], **वेदाभ्यास** १२।९२-१०२], **तप और ज्ञान** = विद्या [१२।१०४] **धर्म** [१२।१०५-११५]। लगता है, इनकी व्याख्या का क्रम गद्यरूप में इसी क्रम से था, किन्तु छन्दोबद्ध करते समय परिगणन

७८. निरु. १।१९।। 'मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता' शीर्षकान्तर्गत पुन: उद्धृत।

वाले श्लोकों में इसी क्रम से छन्दरचना न बन पाने के कारण यह क्रम बदलना पड़ा।

२. मनुस्मृति का आद्यरूप सूत्रबद्ध नहीं था। सूत्रबद्ध होने की पुष्टि न तो इसकी शैली से होती है, और न मनु के उद्धरण ही कहीं सूत्ररूप में प्राप्त होते हैं। यह भी कि सूत्रग्रन्थों के साथ प्राय: 'सूत्र' पद जुड़ा होता है। प्राचीन ग्रन्थों से लेकर अब तक उनमें मनु के शास्त्र का 'मानवधर्मशास्त्र' या 'मनुस्मृति' के नाम से उल्लेख मिलता है, न कि 'मानवधर्मसूत्र' नाम से।

३. 'मानवधर्मसूत्र' नामक ग्रन्थ को कुछ लोग मनुरचित मानते हैं, लेकिन मनुस्मृति से उसका पूर्ण साम्य नहीं है। उस सूत्रग्रन्थ को किसी बहुत बाद के व्यक्ति ने मनु के नाम से रचा है, और वह भी अपने विचारों का मिश्रण करके। यह सूत्ररूप आद्यरूप नहीं है। यह तो पद्यरूप को देखकर रचा गया है, अथवा आद्य गद्यरूप को देखकर।

४. ग्रन्थों की सूत्रशैली अधिक प्राचीन नहीं है, अपितु गद्य और पद्यरूप ही अधिक प्राचीन हैं। सूत्रों से प्राचीन ग्रन्थ गद्यरूप में उपलब्ध होते हैं, जैसे— ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् आदि। वर्तमान महाभारत कईस्थलों पर गद्यरूप में है। अन्य अर्वाचीन ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र, नारदगद्यस्मृति आदि गद्यरूप में ही हैं। अत: मनुस्मृति का प्रारम्भिक रूप गद्यरूप होना, माना जा सकता है।

५. ऐसी परम्परा प्रत्येक काल में रही है कि महापुरुषों ने प्रवचन या उपदेश दिये हैं और उनके शिष्यों ने उनका संकलन करके गद्य या पद्य का रूप दिया है। प्राय: सभी धर्मों के ग्रन्थ उनके मान्य पुरुषों के उपदेश हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है। महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिये थे, लेकिन उनका संकलन 'धम्मपद' के नाम से पद्यरूप में हैं। कहा जाता है कि यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के नाम से मिलने वाले ग्रन्थ उनके शिष्यों द्वारा संकलित हैं। महर्षि दयानन्द के नाम से मिलने वाली 'उपदेश मञ्जरी' या 'पूना प्रवचन' नामक पुस्तक मूलत: उनके उपदेश हैं, जो अन्य व्यक्ति द्वारा संगृहीत और सम्पादित हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति का संकलन हुआ है।

६. सुनिश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि मनु के गद्यरूप प्रवचन, पद्यरूप में कब आये। मनुस्मृति में भृगु का नाम बार-बार आता है। हो सकता है, मनु के शिष्य भृगु ने ही इन्हें पद्यबद्ध किया हो और यह भी सम्भव है कि संकलन के अनन्तर स्मृति-सुविधा के लिए मनु के आदिशिष्यों ने इन्हें पद्यबद्ध किया हो। यह पद्यरूप भी काफी प्राचीन है। मनु के नाम से बहुत पहले ही यह रूप प्रसिद्ध हो चुका था। क्योंकि रामायण, महाभारत में मनु के द्वारा ही 'श्लोक गाये जाने' का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि इन ग्रन्थों के रचनाकाल के पूर्व इन श्लोकों की मनु के नाम से प्रसिद्धि हो चुकी थी।

७. नारद स्मृति की भूमिका में आता है कि मनु ने एक धर्मशास्त्र बनाया था, जिसमें एक लाख श्लोक थे। १०८० अध्याय और २४ प्रकरण थे। नारद ने इसका १२००० श्लोकों में संक्षेप करके इसे मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय ने इसका संक्षेप ८००० श्लोकों में कर दिया। फिर सुमति भार्गव ने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया। नारदस्मृति का यह अवतरण ग्रन्थ की महत्त्ववर्धन के लिए ही है। इस प्रकार संक्षेप किया जाना मौलिकता के अनुरूप नहीं है। न ऐसी कोई प्रामाणिक शास्त्रीय परम्परा ही है।

---

७. 'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ।'' वा. रामा. १८।३० ॥
८. 'मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना।'' महा. शा. ५६।२४ ॥

द्वितीय अध्याय

[मनुस्मृति और प्रक्षेप –प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता, प्रक्षेप-लक्षण, प्रक्षेप कैसे हैं ?, निहित प्रवृत्तियां, मानदण्ड और प्रक्षेपों से हानि]

१. मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता एवं उपयोगिता

मनुस्मृति के स्वरूप को प्रक्षेपों से विकृत देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि इसके प्रक्षेपों का अनुसंधान किया जाये । प्रक्षेपों के अनुसन्धान और उनके पृथकीकरण से ही मनुस्मृति का वास्तविक श्रेष्ठरूप प्रकाश में आयेगा । यह अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा —इस अनुसन्धान से जहां एक ओर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य यह होगा कि भारतीय साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होगा, वहां आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति चाहने वाले या अपने जीवन को सन्मार्ग पर ले चलने वाले व्यक्तियों के लिए भी यह भ्रान्तिरहित रूप में पथ-प्रदर्शन करने वाला सिद्ध होगा । सांस्कृतिक दृष्टि से —मनुकालीन भारतीय समाज और संस्कृति की सही झांकियों को प्रस्तुत करेगा और वर्तमान समाज को अच्छी मर्यादाओं तथा व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन करायेगा । सबसे अधिक लाभ ऐतिहासिक दृष्टि से यह होगा कि प्रक्षिप्तांशों से दूषित मनुस्मृति को आधार बनाकर इतिहासकारों ने प्राचीन काल का जो इतिहास लिखा है, जिसमें मांसभक्षण, पशुयज्ञ, जाति-पांति, छुआ-छूत, ऊंच-नीच जैसी घिनौनी बाते हैं ; उस इतिहास का शुद्ध, उज्ज्वल और वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आयेगा । इस प्रकार मनुस्मृति पर अनुसन्धान कार्य होने से आध्यात्मिक व्यक्तियों के लिए ; भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के लिए, बहुत बड़ा योगदान होगा । प्राचीन साहित्य, जो कि भारत की एक अमूल्य और गौरवपूर्ण निधि है ; उसके एक विशिष्ट ग्रन्थ का उचित मूल्यांकन हो सकेगा ।

और, मनुस्मृति से सम्बन्धित आन्तरिक समस्याओं, जैसे — रचयिता, रचनाकाल, मौलिक मान्यताएं, आदि को सुलझाने में भी न्यूनाधिक रूप में सहयोग अवश्य प्राप्त हो सकेगा ।

२. प्रक्षेप से अभिप्राय

प्रक्षेप का अर्थ है — 'बीच में की गई मिलावट' । किसी व्यक्ति द्वारा लिखे गये मूल ग्रन्थ में अन्य द्वारा मिलाये गये विचारों को 'प्रक्षेप' या 'क्षेपक' कहा जाता है । मनुस्मृति में वे श्लोक जो मनु से भिन्न व्यक्तियों ने रचकर मिला दिए हैं, उनको 'प्रक्षिप्त' माना गया है । यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप 'विरोधी विचारों' से युक्त अथवा बुरा ही हो, वह ग्रन्थकार के समर्थक विचारों वाला और अच्छे विचारों का भी होता है ।

३. क्या मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं ?

कुछ व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं मानते । उनका विचार है कि मनुस्मृति का यह उपलब्ध स्वरूप वास्तविक है । किन्तु उनका यह विचार पूर्णत: भ्रान्तिपूर्ण है । उपलब्ध मनुस्मृति को देखकर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इसमें प्रक्षेपों की भरमार है और ये प्रक्षेप एक साथ न होकर समय-समय पर हुए हैं । इसकी सिद्धि के लिए निम्न युक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं —

(१) उपलब्ध मनुस्मृति में विषय-विरुद्ध, परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध तथा अनेक पुनरुक्तियां पायी जाती हैं । आश्चर्य की बात तो यह है कि कहीं-कहीं तो त्रिकोणात्मक 'परस्पर विरोध' भी है ; या पहले श्लोक में जो विधान है, उससे अगले ही श्लोक में उसका विरोध है । इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को देखकर भी यह कहना कि मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं, दुस्साहस और मिथ्या-आग्रह ही कहलायेगा । एक मध्यमस्तरीय लेखक की रचना में भी ये त्रुटियां नहीं होतीं । उसके लेखन में वैचारिक ऐकमत्य, विषय और प्रसंग की सुसंगति, अविरोध तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है । फिर मनुसदृश तत्त्वद्रष्टा विद्वान् की रचना में इस प्रकार की त्रुटियों का होना सर्वथा असम्भव है । महर्षि मनु अपने समय के सर्वाधिक प्रख्यात और धर्म-सम्बन्धी विषय के मर्मज्ञ विद्वान् थे । इसी कारण ऋषि लोग जिज्ञासा के समाधान के लिए एकत्रित होकर उनके पास आये थे । वे निवेदन करते हुए कहते हैं —

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वश: ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव: ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।। [१।२, ३ ।।]

अर्थात् — हे भगवन् ! आप सब वर्णों और आश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक बतलाने में समर्थ (योग्य) हैं । और क्योंकि ईश्वररचित, अचिन्त्य और अपरिमित ज्ञान से युक्त वेदरूपी विधान के धर्मतत्त्व (व्यावहारिक तत्त्व) तथा अर्थ के जानने वाले आप ही एक मात्र विद्वान् हैं (अत: आप हमें इन धर्मों का उपदेश कीजिये) ।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि मनु अपने समय के प्रख्यात एवं इस विषय के सबसे अधिक अधिकारी विद्वान् थे । अत: ऐसे विद्वान् की रचना में उक्त प्रकार की त्रुटियां नहीं हो सकतीं । फिर भी उक्त त्रुटियां पाइ जातीं हैं, तो इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । (इनके उदाहरण द्वितीय अध्याय में 'प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और प्रमाण' शीर्षक के अन्तर्गत देखें) ।

(२) मनुस्मृति में एक ओर तो गम्भीर, युक्तियुक्त, साधार, दुराग्रह एवं पक्षपातरहित अरूढ़ तथा संतुलित शैली है ; वहीं बीच-बीच में अतिसामान्य, अयुक्तियुक्त, निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण, दुराग्रह एवं पक्षपातपूर्ण तथा रूढ़ शैली के श्लोक भी आ जाते हैं । नि:सन्देह, उक्त विरोधी भिन्नताएं एक ही रचयिता की शैली में नहीं हो सकतीं । स्पष्ट है कि दूसरी शैली की रचनाएँ, मनुसदृश विद्वान् द्वारा रचित न हो कर अन्यों द्वारा रचित हैं, अत: वे प्रक्षेप हैं ।

(३) मनुस्मृति में मनु से परवर्ती व्यक्तियों, जातियों एवं स्थानों के उल्लेख हैं । इसी प्रकार कहीं-कहीं मनु द्वारा निर्धारित मौलिक व्यवस्थाओं से भिन्न व्यवस्थाओं का वर्णन है । किसी-किसी श्लोक में ''मनुरब्रवीत्'' ''मनोरनुशासनम्'' आदि पदों का प्रयोग है, जो स्पष्टत: अन्य रचयिता की ओर संकेत करता है । इस प्रकार के सभी श्लोक परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं । वे किसी

भी अवस्था में मनु द्वारा स्वयंप्रोक्त नहीं कहला सकते।

(४) मनुस्मृति की उपलब्ध प्रतियां भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रत्यक्ष प्रमाण देती हैं। बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो प्राचीन प्रतियों में नहीं, किन्तु अर्वाचीन प्रतियों में है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि उत्तरकालीन प्रतियों में श्लोकों की संख्या बढ़ती ही गई है। जब प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में ही यह हाल है तो व्यतीत दीर्घकाल में प्रक्षेप न हुए हों, यह कैसे हो सकता है? उदाहरण के रूप में कुछ श्लोक प्रस्तुत हैं —

(क) निम्न श्लोक द्वितीय अध्याय में अठारहवें श्लोक के पश्चात् केवल मेधातिथि के भाष्य में ही पाया जाता है —

विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषाऽसम्भवश्रुति: ।।

अर्थ — निर्दिष्ट कारण में प्रत्यक्ष से विरुद्ध, असंगत एवं असम्भव अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति वेद-विरुद्ध स्मृति कहलाती है।

(ख) निम्न श्लोक मेधातिथि आदि तीन प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य में नहीं हैं, उनसे अर्वाचीन अन्य प्रतियों में ही पाया जाता है; जो इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उनके भाष्यों के पश्चात् ही प्रक्षेप के रूप में डाला गया है—

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधि: ।।

[मनु. २।५२ के पश्चात्]
[इस संस्करण में २।२७ के पश्चात्]

अर्थ — स्मृति ने द्विजों के लिये अग्निहोत्र के समान प्रात: और सायं दो बार ही भोजन करने का विधान किया है। बीच में भोजन कभी न करें।

(ग) मनुस्मृति की लगभग ३० – ३५ प्रतियाँ हस्तलिखित रूप में विभिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। उनमें बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो थोड़ी ही प्रतियों में पाये जाते हैं। ऐसे भी श्लोक पर्याप्त हैं, जो केवल एक-एक प्रति में ही प्राप्त हैं, यथा —

निम्न श्लोक प्रयाग की एक ही प्रति में है —

परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यध: ।।

[२।२०० के पश्चात्, इस संस्करण में २।१७५ के बाद]

अर्थ — शिष्य पीठ पीछे गुरु का नाम सत्कार पूर्वक ले और सामने किसी भी प्रकार न लेवे। गुरु से दुष्टाचरण करने वाला शिष्य दोनों लोकों में अधोगति को प्राप्त करता है।

(घ) ऐसे ही कुछ श्लोक —

येऽप्यतीता: स्वधर्मेभ्य: परपिण्डोपजीविन: ।
द्विजत्वमभिकांक्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ।।

[८।१०२ के पश्चात्]

अर्थ — जो अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरे के टुकड़ों पर जीते हैं और अपने आपको द्विज कहलाना चाहते हैं, उनके साथ शूद्रों के समान व्यवहार करे।

तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः ।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ।।
[११।३३ के पश्चात्]

अर्थ — ब्राह्मण की वाणी का अस्त्र वह अस्त्र है, जिसे कोई भी वर्णस्थ व्यक्ति अपने सामर्थ्य से नहीं हटा सकता । और यह अस्त्र तप की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण न मारने योग्य शत्रुओं को भी मार देता है ।

(५) प्रतीत होता है कि अन्य पुस्तकों से लेकर भी कुछ श्लोक मनुस्मृति में मिला दिये हैं । महाभारत (अश्वमेध पृ. ३८० पूना प्रकाशन) का निम्न श्लोक मनुस्मृति की केवल चार प्रतियों में ही उपलब्ध होता है, जो अप्रासंगिक रूप से मिलाया गया है —

पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।
[१२।११० के पश्चात्]

अर्थ — पुराण = ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुप्रोक्तधर्म, अंग सहित उपांगों का विद्वान् चिकित्सक और साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन चार बातों को तर्क से नहीं काटना चाहिए ।

यह श्लोक इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । अभी तक यह मनुस्मृति के श्लोकों में सर्वसम्मत रूप से घुल-मिल नहीं पाया है । अतएव इसे कोष्ठक में दिया जाता है ।

(६) प्रक्षेपकर्त्ताओं ने न केवल नवीन श्लोक ही क्षेपक के रूप में डाले हैं, अपितु अभीष्ट ढंग से पाठभेद भी किये हैं । कुछ पाठभेद तो प्रतिलिपि में प्रमाद अथवा असावधानी के कारण हो सकते हैं, लेकिन बहुत सारे पाठभेद तो जानबूझकर किये गये हैं । निम्न पाठ भेदों के उदाहरण इस बात के पोषक हैं —

(क) दशम अध्याय में वर्णित वर्णसंकरों के धर्म मनुप्रोक्त अर्थात् मौलिक नहीं हैं । वे श्लोक उस परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं, जब वर्णव्यवस्थाओं में विकृति आकर जाति-पांति की परम्परा चल पड़ी थी । संकर जातियों को हेय माना गया और उनके भी कर्त्तव्य गढ़कर (जो कर्त्तव्य न होकर घृणित निन्दित विकृतियां हैं) मनुस्मृति में मिला दिये गये और उन्हें मौलिक सिद्ध करने के लिए १।२ में **'अन्तरप्रभवाणाम्'** पद के स्थान पर **'संकरप्रभवाणाम्'** पद डाल दिया गया । यह पाठभेद दो-चार हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है । यद्यपि टीकाकारों ने **'अन्तरप्रभवाणाम्'** का अर्थ भी 'वर्णसंकर' किया है, किन्तु वह भी सर्वथा गलत है । इसका सही अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिए (इसके लिए देखिए १।२ पर 'अनुशीलन' नामक समीक्षा) । शायद पहले उक्त पद का सही अर्थ 'आश्रम' ही प्रचलित था, प्रक्षेपकर्त्ता ने उसे जड़-मूल से हटाने का प्रयास किया । वह तो नहीं हट पाया, किन्तु उस पाठभेद से टीकाकारों में यह भ्रान्ति पनप गई कि वे **अन्तरप्रभवाणाम्'** का ही 'वर्णसंकर' अर्थ करने लग गये ।

(ख) इसी प्रकार १२।८२ में **'धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च'** के स्थान पर **'अहिंसा गुरुसेवा च'** पाठ कर दिया गया है । यह,गुरु को महत्त्व मिलता रहे, इस प्रवृत्ति से किया गया । यह पाठ मनुस्मृति के प्रसंगानुकूल नहीं है —(अ) इस ८३वें श्लोक में निःश्रेयसकर कर्मों की परिगणना है । परिगणना के बाद इन छह कर्मों के विषय में १२।८५-११५ श्लोकों में व्याख्यान है । उस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु आत्मज्ञान और धर्मक्रिया का है । (आ) मनु ने सात्विक कर्मों को ही निःश्रेयसकर्म माना है । इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वहीं हैं, केवल

इन्हीं दो में पाठभेद कर दिया गया है । सात्विक कर्मों का वर्णन १२।३१ में है । वही पाठ यहां ग्रहण करना मनुसम्मत एवं मौलिक पाठ है और वही मुक्ति दायक हैं । इस प्रकार '**अहिंसा गुरुसेवा च**' पाठ परिवर्तित पाठ है ।

(ग) इसी प्रकार ५।५७ श्लोक के प्रथम पाद में '**प्रेतशुद्धिम्**' पाठ प्रचलित संस्करणों में प्रचलित है । इसके स्थान पर '**देहशुद्धिम्**' पाठ होना चाहिये, ऐसा मनु की शैली और विषयविवेचन से संकेत मिलता है । प्रतीत होता है कि अन्य प्रक्षेपों के समान कालान्तर में जब प्रेत-जन्म आदि में शुद्धि-क्रिया एक कर्मकाण्ड का रूप ले गयी, तब यह पाठभेद करके प्रेतादि विषयक श्लोक मिला दिये गये । इस पाठ की अमौलिकता और '**देहशुद्धिम्**' पाठ की मौलिकता निम्न प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध होती है —(अ) मनु की यह शैली है कि वे जिस विषय का प्रारम्भ जिस 'विषय-संकेत' से करते हैं उसी संकेत से उसकी समाप्ति करते हैं [द्रष्टव्य ३ । २८६ और ४ । २५९ ।। ८ । १ और ९।२५० ।। १०।१३१ और ११।२६६ आदि], लेकिन यहां उस शैली से विपरीत, विषय का प्रारम्भ प्रेतशुद्धि से दर्शाया गया है [५।५७] और समाप्ति '**शारीरशुद्धि**' से [५।११०]। विषय समाप्ति-सूचक श्लोक के पदों से यह सिद्ध होता है कि यह '**शारीरशुद्धि**' का विषय था, न कि प्रेतशुद्धि का । अत : इस श्लोक में समानार्थक 'देहशुद्धि' शब्द ही मनुसम्मत सिद्ध होता है । (आ) मनु ने इस प्रसंग का वर्णन भी देह [५।१०५], गात्र [५।१०९], शरीर [११०] आदि शब्दों से किया है, जो यह सिद्ध करता है कि यह वर्णन प्रेतविषयक नहीं, अपितु देहशुद्धि-विषयक है । (इ) प्रचलित पाठ के अनुसार, यदि प्रेतशुद्धि पाठ को सही मानकर यहाँ इसी विषय का प्रसंग मान लिया जाये, तो यह आपत्ति आती है कि प्रेतशुद्धि-विषय में दन्तोत्पत्तिकालीन शुद्धि, सूतकशुद्धि, मन, आत्मा आदि की शुद्धि का वर्णन क्यों किया ? प्रेत के मन और आत्मा होते ही नहीं । इस प्रकार विषयसंकेतक श्लोक में और वर्णन में तालमेल का न होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रक्षेपों का समायोजन करने के लिये यह पाठभेद बाद में किया गया है । शैलीशृंखला में जुड़ा हुआ पाठ '**देहशुद्धिम्**' ही है, और मन तथा आत्मा आदि शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं । अत : इसी पाठ को मान्य पाठ के रूप में स्वीकार किया है ।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति में पाठभेदों के रूप में भी प्रक्षेप किये गये हैं । इस प्रकार के पाठभेद अन्य स्थानों पर भी हैं ।

(७) मनुस्मृति का अध्यायविभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है । यह परवर्तीकाल में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया है (इसके विषय में विस्तार से जानने के लिए देखिए — 'मनुस्मृति में अध्यायविभाजन' शीर्षक) । विभाजन करते समय अध्यायों की समाप्ति में एकरूपता लाने के लिए विभाजनकर्त्ता अथवा किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने मनुस्मृति में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये हैं, जैसे, प्रथम अध्याय में १११ से ११८ श्लोकों में विषय-सूची जोड़ दी; अष्टम अध्याय के अन्त में उस विषय के बीच में ही विषयसमाप्तिसूचक श्लोक एकरूपता लाने के लिए भ्रान्तिवश डाल दिया (८।४२०), आदि । यह परिवर्तन व परिवर्धन मनुस्मृति के प्रसंगों एवं शैलियों से ज्ञात हो जाता है । यह परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि मनुस्मृति में परवर्ती लोगों ने मनमाने ढंग से श्लोक मिलाये हैं । इससे यह स्पष्टत : सिद्ध है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं ।

(८) मनुस्मृति में पाये जाने वाले 'अवान्तरविरोध' भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रमाण देते हैं । एक ही प्रक्षिप्त प्रसंग में जो परस्पर अनेक विरोध हैं, उन्हें 'अवान्तरविरोध' कहा गया है । एक ही

प्रक्षिप्त प्रसंग में जो अनेक विरोध या भिन्न-भिन्न मान्यताएं मिलती हैं उनके विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं — (१) अनेक विरोधों या मान्यताओं वाले प्रसंग किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकतीं, (२) ऐसे विरोधात्मक और विभिन्न मान्यतात्मक वर्णन मनु-सदृश तत्त्वद्रष्टा ऋषि की रचनाएं नहीं हो सकतीं, (३) ये भिन्न-भिन्न मान्यताएं भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा डाली गयीं हैं, (४) और भिन्न-भिन्न कालों में (जब जैसी मान्यता का प्रचलन हुआ) मिलायी गयी हैं (५) जहां विभिन्न-विरोधी मान्यताएँ अधिक हैं, इसका मतलब वे उतने ही अधिक विवादास्पद विषय थे, और विवादास्पद विषयों में ही लोगों को मान्यता परिवर्तित करने का तथा अपनी मान्यता लागू करने का अधिक ध्यान रहता है। इन तथ्यों से यह बात सिद्ध हुई कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हुए हैं और वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में किये गये हैं। इस अवस्था को देखकर प्रक्षेपों से नहीं नकारा जा सकता।

(९) सभी भाष्यकारों ने न्यूनाधिक रूप में मनुस्मृति में प्रक्षेप होना स्वीकार किया है, उनमें कुल्लूकभट्ट ने सम्पूर्ण मनुस्मृति में १७० श्लोक प्रक्षिप्त माने हैं, अतएव उन्हें बृहत्कोष्ठकों एवं भिन्न संख्याओं में दिया है। परवर्ती सभी पौराणिक पण्डितों ने उन प्रक्षेपों को यथावत् स्वीकार किया है। कुल्लूकभट्ट और उससे परवर्ती अन्य तदनुसारी टीकाकारों-भाष्यकारों ने जो प्रक्षिप्त श्लोक स्वीकार किये हैं। उनका अध्यायानुसार विवरण निम्नप्रकार हैं —

प्रथम	अध्याय में	—११
द्वितीय	,,	—११
तृतीय	,,	—२१
चतुर्थ	,,	—१९
पंचम	,,	—२२
षष्ठ	,,	— ६
सप्तम	,,	—१६
अष्टम	,,	—३०
नवम	,,	— ६
दशम	,,	— २
एकादश	,,	—१४
द्वादश	,,	—१२
प्रक्षिप्त श्लोकों की कुल संख्या		—१७०

इसी प्रकार मनुस्मृति पर कार्य करने वाले वूलर और जौली सदृश पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेप स्वीकार किये हैं और कुछ प्रक्षेपों को पृथक् दर्शाया भी है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों की ओर विशेष रूप से सबसे पहले ध्यान आकृष्ट किया। उनके पश्चात् इस दिशा में आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं। इस प्रकार सिद्धान्ततः सभी वर्गों के व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेपों को स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न केवल प्रक्षिप्त और मौलिक श्लोकों के पृथक्करण और उनके मानदण्डों का रह जाता। इस विषय में आगे विचार किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन एवं युक्तियों से यह निश्चित हो जाता है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप अवश्य हैं। ये प्रक्षेप समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं। क्योंकि मनुस्मृति की भाषा सरल और लोकप्रचलित भाषा है, अत: उसमें आसानी से श्लोक मिल जाते हैं और भाषा में विशेष अन्तर प्रकट नहीं हो पाता। फिर भी विशेष अध्ययन से भाषा की प्रयोग-शैली के आधार पर कुछ प्रक्षिप्तों का ज्ञान हो जाता है।

४. ग्रन्थों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति और मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियाँ —

प्रक्षेप की समस्या लगभग सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के साथ है । स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, अपने विकृत आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए अथवा स्वाभिमत व्याख्या एवं विचारों की सिद्धि के लिए ग्रन्थों में प्रक्षेप करते रहे हैं । कभी-कभी किसी ग्रन्थ में संशोधन, परिवर्धन या व्यवस्थापन की प्रवृत्ति भी इसमें प्रमुख कारण बनती है । कभी-कभी ग्रन्थ के रूप को विकृत करना भी प्रक्षेपकर्त्ताओं का उद्देश्य होता है । इस प्रकार से ग्रन्थों में प्रक्षेप होते रहते हैं । प्राचीन काल में यह कार्य आसानी से हो जाता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां होती थीं । जिसके पास जो प्रति हुई उसमें उसने मनमाने ढंग से प्रक्षेप कर दिया और अग्रिम प्रतियां उसके अनुसार तैयार करवा दीं । इसी प्रकार अग्रिम प्रतियों में प्रक्षिप्त श्लोक या विचार मिलते रहते थे । यही कारण है कि हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियों में परस्पर अन्तर और पाठभेद मिलते हैं । संस्कृत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों, साहित्यिक काव्यों तथा अपभ्रंश और हिन्दी काव्यों, सभी की यह अवस्था है ।

वैसे तो प्राय: समस्त प्राचीन लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों में प्रक्षेप करने की विशेष प्रवृत्ति रही है, क्योंकि उनके विधानों का व्यक्ति और समाज के साथ सीधा और प्रतिदिन का सम्बन्ध था । विधानों को बदलने और विकृत करने के लिए स्वार्थी लोगों ने अनेक जाली ग्रन्थों को रचने का भी प्रयास किया है । फिर प्रक्षेप करने से ऐसे लोग कैसे बाज आ सकते थे ? पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय ने मनुस्मृति की भूमिका में दो-तीन घटनाओं का विवरण दिया है । उनसे लोगों की प्रक्षेप करने की प्रवृत्तियों का और ग्रन्थों को विकृत करने के स्वार्थपूर्ण षड्यन्त्रों का ज्ञान हो जाता है । वे इस प्रकार हैं —

"हिन्दुओं में दायभाग का नियम बड़ा जटिल है । इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जटिल करना था । वस्तुत: उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जटिलता आ गई । हिन्दू (आर्य) एक प्राचीन जाति है । समय-समय पर दायभाग के विषय में झगड़े हुए । भिन्न-भिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने-अपने पक्ष के लिए पंडितों से सहायता ली । इन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए प्रक्षिप्त डाल दिया । यह केवल कल्पना नहीं है किन्तु इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं । 'दत्तक मीमांसा' को नन्दपण्डित ने इसी उद्देश्य से बनाया था । यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रन्थ ब्रिटिश-राज्य स्थापित होने से सौ-सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है । ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में भूल से इसका अंग्रेजी में अनुवाद हो गया और अंग्रेजी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया । इलाहाबाद हाईकोर्ट की पूरी सभा ने सर जान एज के सभापतित्व में एक फैसला दिया था । उसमें इस बात को विस्तार पूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द पण्डित के क्षेपकों को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये । कहते हैं कि 'दत्तक-मीमांसा' एक धेवते को दायभाग से वंचित करने के लिए लिखी गई थी ।

'दत्तक चन्द्रिका' एक दूसरी पुस्तक है, जिसके विषय में सभी बंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल है । रघुमणि कोलब्रुक साहब के साथी थे । बंगाल के एक राजा थे । उन्होंने एक लड़का गोद रखा था । पीछे से उनके अपना लड़का हो गया । उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राजा का अधिकार किसको मिले । गोद में रखे हुए लड़के का पक्ष सिद्ध करने को

लिए रघुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी । यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक तिहाई मिलता । यह मुकदमा आगे नहीं चला क्योंकि सन्धि हो गई । इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है —

र-म्यैषा चन्द्रिकादत्तपद्धतेर्दर्शिका ल-घु ।
म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णि :

इन पंक्तियों के पहले और पिछले अक्षरों से **'रघुमणि'** शब्द बनता है ।

१८३२ ई. में कलकत्ता संस्कृत कालेज के पण्डितों ने एक और जाल रचा । जैनियों का एक मुकदमा था । इनकी व्यवस्था मानी जाया करती थी । इन्होंने एक पुस्तक लिखकर कालिज के पुस्तकाध्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रजिस्टर में दर्ज करा दी । डाक्टर एच. एच. विल्सन कालेज के मन्त्री थे । उनको सन्देह हो गया । पुस्तक पकड़ी गई । पंडित महोदय ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया । इस दिन से वहां पंडितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया [देखिये —सरकार शास्त्री लिखित 'हिन्दू ला' पृ. १८७] ।''

जिस व्यक्ति की प्रक्षेप करने की बदनीयत हो जाती है फिर वह किसी की अच्छाई-बुराई, लाभ-हानि को नहीं देखता । वह केवल अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को ही दृष्टिगत रखता है और उसकी पूर्ति के लिए सभी संभव दुष्कृत्य करता है । जैसे धन का लोभी व्यापारीजब मिलावट करने की प्रवृत्ति पर आ जाता है,तो वह मनुष्यों के खाद्य-पदार्थों में कंकड़-मिट्टी, लकड़ी का बुरादा, गोबर, रंग, चर्बी, आदि अखाद्य, घृणित वस्तुओं की मिलावट करते समय नहीं हिचकिचाता । मिलावट से लोगों को होने वाली हानियों और कठिनाइयों की चिन्ता उसे छू तक नहीं पाती । वस्तु, समय और लालच के अनुसार वह मिलावट करता रहता है । यही अवस्था ग्रन्थों में प्रक्षेप की रहती है । प्रक्षेप करने से कितना भारी नुकसान हो सकता है, इसकी चिन्ता किये बिना प्रक्षेपक अपने उद्देश्यानुसार प्रक्षेप करते रहते हैं,और ऐसा करने के लिये वे सभी प्रकार के हथकण्डे अपनाते हैं । कहीं नया श्लोक जोड़ दिया, कहीं सम्पूर्ण नया प्रसंग ही रचकर जोड़ दिया,तो कहीं विरोधी मान्यता का प्रक्षेप कर दिया । कहीं मूल मान्यताओं की स्वाभिमत व्याख्या कर दी,तो कहीं से श्लोक को निकाल दिया या पाठभेद कर दिया ।

ठीक यही अवस्था मनुस्मृति के साथ रही है । क्योंकि धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त ग्रन्थ था, अत : यह ग्रन्थ प्रक्षेप-कर्त्ताओं के षड़यन्त्रों और आक्रमणों का प्रमुख लक्ष्य रहा । प्राचीन काल से लेकर प्रकाशन-युग तक मनुस्मृति में प्रक्षेपों की मिलावट होती आई है । जैसे-जैसे परम्पराएं शिथिल या विकृत होती गईं, लोगों ने अपने आचरण या परम्पराओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति में तदनुरूप विचारों के प्रक्षेप कर दिये । स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ को साधने के लिए मिलावटें कीं । जब-जब धार्मिक या मत-मतान्तरों की उथल-पुथल हुई, उनका आक्रमण मनुस्मृति जैसे प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों पर विशेष रूप से हुआ और उन्हें विकृत करने के लिए मिलावटें की गईं । मनुस्मृति के उन प्रक्षेपों के अनुसन्धान के लिए जहां एक ओर आधारों का निर्धारण करना आवश्यक है, वहां साथ ही प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियों का अध्ययन-विश्लेषण करना भी आवश्यक है । क्योंकि व्यक्ति किसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही इस प्रकार का प्रयास करता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप विरोधी या स्वार्थपूर्ण ही होते हैं, समर्थन और प्रशंसा में भी प्रक्षेप होते हैं । स्वाभिमत विचारों को स्थान देने की प्रवृत्ति से या अभावपूर्ति की प्रवृत्ति से अच्छे विचारों के भी प्रक्षेप कर दिये जाते हैं । मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालते समय यह भी विचार किया गया है कि उनके मूल में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति है

थवा नहीं, और जहां कोई प्रेरक-प्रवृत्ति नहीं प्रतीत हुई, उन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया है। नुस्मृति के प्रक्षेपों का अध्ययन-विश्लेषण करने पर मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में जो प्रेरक-वृत्तियां दृष्टिगत हुईं वे निम्न हैं —

(१) मनुस्मृति को गौरव और महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में जहां कहीं भी इसकी प्रशंसा, महत्ता या विशेषताओं का वर्णन करने वाले श्लोक वर्णित हैं, अथवा जहां इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ा गया है, वे सभी श्लोक इस परम्परा के शिष्यों या प्रशंसकों द्वारा इसके गौरव और महत्त्व को बढ़ाने की प्रवृत्ति से किये गये प्रक्षेप हैं। यह एक मान्य तथ्य है कि मनु सदृश सुलझा हुआ उच्चकोटि का ऋषि कभी स्वयं अपने ग्रन्थ की बढ़-चढ़कर प्रशंसा नहीं कर सकता। ये प्रशंसात्मक श्लोक परवर्ती हैं। मध्यकालीन सम्पूर्ण साहित्य में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है कि सभी विद्वानों ने अपने विषय का ब्रह्मा के साथ किसी न किसी प्रकार जुड़े होने का उल्लेख अवश्य किया है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र का उद्भव ब्रह्मा से माना है। महाभारत को पांचवां वेद घोषित किया गया। उस समय के समाज में इनसे जुड़े किसी भी शास्त्र को आसानी से मान्यता मिल जाती थी। मनुस्मृति में भी इस प्रकार के वर्णनों के मूल में यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। क्योंकि जहां भी इसे ब्रह्मा से जोड़ने का कथन है या उसकी प्रशंसा है, वे श्लोक प्रासंगिक और शैली के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। तत्तत् स्थानों पर इस विषयक विस्तृत विवेचन किया हुआ है। यहां केवल कुछ उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त प्रवृत्ति लक्षित होती है —

(क) ब्रह्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाले श्लोक —

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ [१।५८॥]

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिवत् मुझे उपदेश किया। फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया।

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः॥ [११।२४३॥]

अर्थ —इस शास्त्र की रचना प्रजापति ने तप से ही की थी।

(ख) प्रशंसात्मक —

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम॥ [१।१०६॥]

अर्थ — यह शास्त्र कल्याण करन वाला, श्रेष्ठ, बुद्धि बढ़ाने वाला, यश देने वाला, आयुवर्धक और परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाला है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम्॥ [१२।१२६॥]

अर्थ —इस भृगुप्रोक्त धर्मशास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, वह सदाचारी बनता है और इच्छानुसार गति को प्राप्त करता है।

(२) मनु के व्यक्तित्व को अलौकिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में स्वयं मनु की प्रशंसा या उल्लेख करने वाले श्लोक भी आते हैं। मनु के द्वारा समस्त स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति कहने [१।३५-४५] वाले श्लोकों के मूल में मनु के शिष्यों या पक्षधरों द्वारा उन्हें अलौकिक

व्यक्तित्ववाला पुरुष सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । इस प्रकार की अनगल बातें भी मनु स्वयं नहीं कह सकते ।

(३) ख्याति और महत्ता के लिए मनुस्मृति के साथ भृगु का सम्बन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं भी किसी भी रूप में भृगु के नाम का उल्लेख होना न तो शैली के अनुरूप ठीक जंचता है, न मनुस्मृति की मान्यताओं एवं प्रसंगों के अनुकूल । फिर भी कई स्थानों पर मनुस्मृति को भृगु के साथ जोड़कर बड़े अटपटे ढंग से इसे भृगु का प्रवचन जताया गया है । मनुस्मृति एक ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ था, समाज में इसकी सर्वोच्च मान्यता थी । प्रतीत होता है कि भृगु के शिष्यों ने भृगु की ख्याति और महत्ता के लिए या इसे 'भृगु-संहिता' बनाने के लिए उसके प्रवचनों या नाम को इसमें जोड़ दिया है । इस प्रकार के कुछ श्लोक हैं —

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।। [१।५९ ।।]

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि मुझ से भृगुमुनि ने इस धर्मशास्त्र को पढ़ा है । ये भृगुमुनि आपको सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। [१।६० ।।]

अर्थ — तत्पश्चात मनुजी के कहने पर भृगुमुनि प्रसन्न होकर उन सब ऋषियों को उपदेश देने लगे कि अब आप सब सुनें ।

श्रुत्वेतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ।। [५।१ ।।]

अर्थ — महर्षियों ने स्नातक के पूर्वोक्त धर्मों को सुनकर अग्नि के समान प्रभावशाली, महात्मा भृगु से यह कहा ।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।। [१२।१२६ ।।]

अर्थ — इस भृगुप्रोक्त धर्म-शास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, (वह सदाचारी बनता है, इत्यादि) ।

(४) मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं-कहीं इस प्रकार के श्लोक भी हैं जिनमें मनु की मान्यता का खण्डन है । पहले मनु की मान्यता है, फिर उसका निषेधपूर्वक खण्डन है । ऐसे सभी श्लोकों के मूल में मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति है, यथा —

(क) ९।५९ से ६३ श्लोकों में नियोग का विधान है, किन्तु अगले ही ६४-६८ श्लोकों में निन्दा प्रदर्शनपूर्वक नियोग का निषेध है ।

(ख) ५।४५ से ५५ श्लोकों में मांसभक्षण का निषेध करते हुए मांसभक्षक को पापी माना है, किन्तु ५६वें श्लोक में ही मांसभक्षण, मदिरापान में कोई दोष नहीं होना कहा है ।

(५) स्वाभिमत मान्यताओं को उस शास्त्र के अनुकूल सिद्ध करने की प्रवृत्ति — क्योंकि मनुस्मृति एक प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य शास्त्र रहा है, इसलिए उसमें कोई मान्यता न हो तो लोग उसे स्वीकार करने के लिए शायद तैयार नहीं होंगे, या उस मान्यता को पुष्ट करने के लिए मनुस्मृति का प्रमाण चाहेंगे । इस आपत्ति से मुक्त होने के लिए और अपनी मान्यता को मनुस्मृति सिद्ध

बनाने के लिए कुछ ऐसे प्रक्षेप किये गये हैं, जो उन स्थानों पर संगत भी नहीं हो रहे हैं और मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल भी नहीं जंचते । मनुस्मृति ने प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार आदि तत्त्वों की प्रक्रिया से सृष्टि-उत्पत्ति वर्णित की है [१।१४ –२१],किन्तु नवीन वेदान्तियों ने अपनी मान्यता को मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए मनुस्मृति की मौलिक मान्यता से पूर्व अण्डे के द्वारा ब्रह्मा की उत्पत्ति और ब्रह्मा से सारे संसार की उत्पत्ति वाली मान्यता का प्रक्षेप कर दिया [१।९, १२, १३, ३२ से ४५] । इस प्रकार के वर्णन अपनी मान्यता के प्रचार की दृष्टि से किये गये हैं ।

(६) स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने विचारों के प्रक्षेप की प्रवृत्ति — मनुस्मृति एक आध्यात्मिक और सात्त्विक गुणों का दिग्दर्शन कराने वाला शास्त्र भी है । लेकिन उसके उद्देश्य को देखे बिना, उसकी मान्यताओं से विरोध होते हुए भी स्वार्थी व्यक्तियों ने अपनी विकृत परम्पराओं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को शास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति से उनका प्रक्षेप किया है । श्राद्धवर्णन का प्रसंग, मांसभक्षण, मद्यपान, हिंसा, पशुयज्ञ, बहुविवाह आदि के विधान इसी प्रवृत्ति की उपज हैं । ऐसे प्रक्षेप अधिकांशत : वाममार्गियों द्वारा किये गये हैं,या वैसे ही आचरण वाले लोगों द्वारा किये गये हैं ।

(७) पक्षपात की प्रवृत्ति — मध्यकाल में ब्राह्मणों का विद्या पर एकाधिकार हो गया था और शेष वर्ण अशिक्षा के कारण दिन-प्रतिदिन अज्ञानाश्रित होते गये । प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए ब्राह्मणों ने उचित-अनुचित को न देखकर अपनी सुविधा और सुख के अनुसार कर्त्तव्यों का विधान करना शुरू कर दिया और निम्नवर्णों पर अधिकाधिक बन्धन डाल दिये । इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण विचार भी मनुस्मृति में मिलते हैं । छुआछूत, ऊंच-नीच, स्त्री-शूद्रों के प्रति घृणा, निन्दा और दमन के विचारों वाले सभी श्लोकों में पक्षपात की प्रवृत्ति निहित है । ब्राह्मणों को विशेषाधिकार, विशेष महत्त्व और विशेष प्रशंसा इसी प्रवृत्ति से उपजी बातें हैं ।

(८) अभाव-पूर्त्ति की प्रवृत्ति —कोई भी शास्त्र या विधान अपने समय की व्यवस्थाओं या परिस्थितियों के अनुसार ही बनता है । समय बीतने पर कुछ नयी परम्पराएं, नयी समस्याएं या नयी बातें समाज में आ जाती हैं । किन्तु समाज प्रत्येक निर्णय के लिए उसी पुरातन शास्त्र की ओर देखता है । ऐसी अवस्था में उन अर्वाक्कालीन बातों के वर्णनाभाव को देखकर या किसी बात का वैसे अभाव अनुभव करके लोग शास्त्रों में मिलावट कर देते हैं । मनुस्मृति में भी इस प्रवृत्ति से अनेक प्रक्षेप हुए हैं —

(क) मनुस्मृति में युवावस्था में ही विवाह का वर्णन है, किन्तु परवर्ती काल में जब विधर्मी आक्रमणों या कुरीतियों के प्रभाव से लड़कियों का जीवन असुरक्षित जान पड़ने लगा तो बालविवाह की प्रथा प्रचलित हो गई । लोगों ने मनुस्मृति में उस विधान का अभाव देखकर उसे भी स्वयं जोड़ दिया —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ।। [९।९४ ।]

अर्थ — गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे ।

(ख) इसी प्रकार मनु ने एक समय एक ही विवाह का विधान किया है [५।१६७-१६८],किन्तु परवर्तीकाल में बहुविवाह की प्रथा चल पड़ी । दायभाग के विधानों में केवल एक विवाह के अनुसार ही दायभाग का विभाजन था । विभिन्न वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के लिए दायभाग के विधानों

का अभाव देखकर परवर्ती लोगों ने तत्सम्बन्धी विधानों को भी जोड़ दिया —

चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुत :।
वैश्यापुत्रो हरेद्द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ।। [९।१५३।]

अर्थ— ब्राह्मण से उत्पन्न ब्राह्मणी का पुत्र चार भाग, क्षत्रिया का पुत्र तीन भाग, वैश्या का पुत्र दो भाग और शूद्रा का पुत्र एक भाग लेवे।

इसी प्रकार समय-समय पर प्रचलित रूढ़िवादिताओं और अन्धविश्वासों से प्रेरित विधान भी इसी प्रवृत्ति के कारण प्रक्षिप्त हुए हैं।

(९) परिष्कार एवं व्यवस्थापन की प्रवृत्ति — मनुस्मृति जिस व्यवस्थित रूप में आज उपलब्ध है, यह इसका मौलिक स्वरूप नहीं है। मनुस्मृति को अध्यायों में परवर्तीकाल में विभाजित किया गया है। विभाजन कर्त्ता ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसे विभाजित किया और अध्यायों के अन्त में समाप्ति सूचक श्लोकों की शैली की एकरूपता बनाये रखने के लिए, कुछ स्थानों पर अपनी ओर से ही श्लोक मिला दिये। ऐसा एक श्लोक है —

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। [८।४२०।]

अर्थ — इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर करता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार कुछ श्लोक तो एकरूपता के लिए मिलाये गये हैं (इनका विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति का अध्याय विभाजन' शीर्षक में यथास्थान देखिये) और कुछ मनुस्मृति के परिष्कार के लिए। प्रथम अध्याय में १०७, १११-११८ तक विषय-सूची का वर्णन करने वाले श्लोक विभाजन की व्यवस्था को परिष्कृत रूप देने के लिए ही बनाकर मिलाये गये हैं, जिससे मनुस्मृति में वर्णित विषयों का एक स्थान से ही ज्ञान हो सके।

(१०) स्वाभिमत स्पष्टीकरण एवं व्याख्या की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में जहां-कहीं भी ऐसे वर्णन हैं जो अतिशयोक्तिपूर्ण, महिमात्मक अथवा नये ढंग की व्याख्या वाले, कही हुई बातों को पुन : भिन्न प्रकार स्पष्ट करने वाले, वे उक्त प्रवृत्ति के कारण किये गये प्रक्षिप्त हैं। यथा —

(क) ग्यारहवें अध्याय में ५४-१९० श्लोकों में प्रायश्चित्त का विधान, वर्गीकरण और विधियां मनुसम्मत नहीं हैं। किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने अपने ढंग से उनका वर्णन किया है।

(ख) १२।८६-९० श्लोकों में निवृत्त कर्मों का स्पष्टीकरण प्रासंगिक नहीं है। यह किसी परवर्ती व्यक्ति ने परिवर्धन की दृष्टि से जोड़ दिया है।

इस प्रकार सभी प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में कोई-न-कोई प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगोचर होती है, जिसकी प्रेरणा से प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में प्रक्षेप किये हैं। कहीं-कहीं कई-कई प्रवृत्तियाँ भी एक साथ दिखाई पड़ती हैं। इस तरह प्रवृत्तियों के परिज्ञान से श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक स्पष्ट हो जाती है।
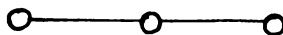
५. प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनके प्रमाण

'मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं,' यह मान्यता स्थिर हो जाने और उन प्रक्षेपों के अनुसंधान की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर विचार कर लेने के पश्चात् अब प्रक्षेपों के अनुसंधान का प्रश्न आता है। विचारणीय बात यह है कि मनुस्मृति में हुये प्रक्षेपों को कैसे पहचाना जाये,और किस प्रकार उन्हें अमौलिक घोषित किया जाये? यह प्रश्न बड़ा जटिल एवं गम्भीर है। ऐसा कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है, जो श्लोकों को स्पष्टत: निर्णीत कर दे कि अमुक प्रक्षिप्त है और अमुक मौलिक। यदि यह कार्य इतना सरल होता, तो अभी तक कभी का निर्णय हो चुका होता। इस प्रकार अत्यन्त कठिन एवं उलझनपूर्ण होते हुए भी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक उपाय यह निकाला है कि कृतित्व के आधार पर कुछ सुनिश्चित 'मानदण्ड' या 'आधारों' का निर्धारण किया जाये जिनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले श्लोकों को ही मौलिक माना जाये और इतर श्लोकों को प्रक्षिप्त। सुनिश्चित आधारों के बिना किया गया कार्य प्रामाणिककोटि में नहीं आ सकता। यद्यपि इससे पूर्व भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अनेक प्रयास हुए हैं। इनमें आर्यसमाज के विद्वानों ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है, जिनमें तुलसीराम स्वामी, स्वामी श्रद्धानन्द, चन्द्रमणि विद्यालंकार, सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री, गंगाप्रसाद उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बूलर और डा. जे. जौली आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का प्रयास किया है। किन्तु फिर भी यह समस्या सुलझ नहीं पायी। अभी तक प्रक्षेपों को निकालने के लिए जो प्रयास हुए हैं,उनमें सबसे बड़ी कमी यह रही है कि अनुसन्धानकर्त्ताओं ने कोई सुनिश्चित सर्वमान्य आधार निर्धारित नहीं किये। कुछ विद्वानों ने जो आधार अपनायें हैं,वे एकपक्षीय होने के कारण सर्वमान्य नहीं बन सके। संक्षेप में मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालनें के लिए अभी तक किये गये प्रयासों में निम्न त्रुटियाँ रह गई हैं —

१. प्रक्षेप निकालने के लिए अनुसन्धानकर्त्ताओं ने ऐसे आधार निश्चित नहीं किये,जो सर्वमान्य हों और जो सभी वर्गों में मान्य हो सकें। बिना 'आधारों' के निकाले गये प्रक्षेपों को देखकर पाठकों की ओर से यह आक्षेप उठा कि प्रक्षेपानुसन्धाताओं ने श्लोकों को मनमाने ढंग से निकाला और रखा है। जिसे अपने विचारों के अनुकूल समझा उसे रखा और प्रतिकूल को 'प्रक्षिप्त' घोषित कर दिया। विशेष रूप से यह उन आर्यसमाजी विद्वानों के लिये कहा जाता है, जिन्होंने आर्यसामाजिक विचारों के आधार पर श्लोकों को रखा और निकाला है।

२. सुनिश्चित आधारों के बिना,प्रक्षेप निकालने वालों से यह भूल हुई है कि उन्होंने कुछ मौलिक श्लोकों को भी निकाल दिया,और इसी प्रकार कुछ प्रक्षिप्त श्लोक भी शेष रह गये।

३. कुछ विद्वानों ने कुछ 'आधार' भी अपनाये हैं,किन्तु वे विद्वान् उन 'आधारों' को सब स्थानों पर लागू ही नहीं कर सके। कई स्थानों पर वे गलत ढंग से लागू किये हैं।

४. निकाले गये प्रक्षिप्त श्लोकों के साथ विद्वानों ने उनकी प्रक्षिप्तता के कारणों का विवरण नहीं दिया। इससे पाठकों को उनकी पद्धति का न तो ज्ञान ही हो पाया और न वे उस कार्य से आश्वस्त एवं सन्तुष्ट ही हो पाये।

५. कुल्लूकभट्ट ने यद्यपि प्रक्षेप निकालने की प्रवृत्ति से मनुस्मृति पर कोई कार्य नहीं किया,तथापि उसने १७० श्लोकों को प्रक्षेप कोटि में रखा है। इन श्लोकों को बृहत्कोष्ठकों और पृथक्संख्या में दिखाया गया है। कुल्लूकभट्ट ने ये श्लोक तत्कालीन हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त अन्तर के आधार पर प्रक्षिप्त माने हैं। यह कहना चाहिये कि ये श्लोक तो वे प्रक्षिप्त श्लोक हैं,जो तब तक मनुस्मृति में

घुल-मिल नहीं पाये थे । इनसे पूर्व घुले-मिले श्लोकों पर कुल्लूक ने कोई संकेत नहीं दिया, अत : उसके द्वारा दर्शाये गये प्रक्षेपों के बावजूद भी प्रक्षेप-अनुसंधान कार्य में कोई वास्तविक योगदान नहीं हो सका । कुल्लूक का काल बहुत अर्वाचीन है । मनुस्मृति में प्रक्षेप चिर-काल से होते रहे हैं । कुल्लूक के प्रक्षेपों को तो पौराणिकों ने भी मान लिया है, किन्तु कुल्लूक का प्रयास संकेतमात्र है ।

इन कमियों के कारण अभी तक मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धानकार्य प्रतिष्ठित नहीं हो सका । अब पुन : इस अनुसन्धान को नये सिरे से करने का यह एक और प्रयास किया गया है और प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुसन्धान के लिए कुछ ऐसे सुनिश्चित 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये गए हैं,जो सर्वसामान्य हैं । इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि आधार विशुद्धरूप से कृतित्व पर आधारित हैं । इसके पीछे किसी प्रकार का कोई आग्रह या मतवाद नहीं है । इसलिए आशा की जाती है कि ये सर्वमान्य हो सकेंगे । जैसे कृति सब के लिये समान है, वैसे कृतित्व को परखने के ये 'आधार' या 'मानदण्ड' भी सबके लिये समान हैं । ये सभी वर्ग के व्यक्तियों पर समानरूप से लागू होते हैं और सभी व्यक्ति उन आधारों को समानरूप से श्लोकों पर परख सकते हैं । जिन श्लोकों या प्रसंगों पर ये लागू हुए हैं,वहां तत्तत् 'आधार' का कारणपूर्वक प्रदर्शन किया गया है । उसे पढ़कर पाठक स्वयं भी इसकी परीक्षा कर सकेंगे । एक-एक प्रक्षिप्त श्लोक या प्रक्षिप्त प्रसंग पर कई-कई आधार भी एक साथ लागू होते हैं । ऐसे स्थलों पर उन सभी आधारों को लागू करके दर्शा दिया गया है । इससे उन श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक दृढ़ता से सिद्ध हो सकेगी तथा प्रक्षिप्त भाग के विवेचन में किसी सन्देह का अवसर नहीं रहेगा । जो युक्तियां या आधार स्वल्प रूप में या आंशिक रूप में लागू होती हैं, उनका भी उल्लेख उदारता से इसलिए कर दिया गया है कि वे अन्य युक्तियों या आधारों के साथ मिलकर उनकी प्रभाववृद्धि या पुष्टि करने में सहायक होंगी, उनका मण्डन करेंगी ।

इस प्रकार प्रक्षेप निकालने के इस जटिल कार्य को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है और पूर्णत : तटस्थता का अनुसरण किया है । फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि कुछ प्रक्षिप्त श्लोक दृष्टिगत न हो पाये हों, अर्थात् कुछ श्लोक इन 'आधारों' की पकड़ में न आ सके हों । यतो हि, प्रक्षेप करने वाले व्यक्तियों ने अपने श्लोकों को मनुस्मृति के श्लोकों के साथ मिलाने की यथा-सम्भव कोशिशें की हैं, अत : हो सकता है कि कुछ श्लोक इतने घुला-मिला दिये हों, जो इन आधारों की पकड़ में न आ सके हों । इन आधारों की सीमा से बाहर के श्लोकों को, चाहे वे कैसी ही मान्यता वाले हैं, हमने प्रक्षेपों की दृष्टि से नहीं देखा है । यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि जितने भी श्लोक प्रक्षिप्त निकाले गये हैं, उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने के साथ-साथ उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की प्रेरक-प्रवृत्ति क्या हो सकती है, इसका भी विचार किया गया है । क्योंकि,व्यक्ति किसी विशेष प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर प्रक्षेप करता है । इस प्रकार यह अनुसन्धान-कार्य कई प्रकार से पुष्ट है —

(१) सुनिश्चित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षेप निकालने से,

(२) प्रक्षिप्त श्लोकों पर एक ही नहीं अपितु कई-कई आधार लागू होने से,

(३) प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में प्रक्षेप की प्रवृत्ति पर ध्यान रखने के कारण ।

इस प्रकार जो श्लोक प्रक्षिप्त निकाले हैं, उनके मौलिक होने की या प्रक्षिप्तों के बचे रहने की गुंजाइश नहीं के बराबर रह जाती है ।

कुछ श्लोक इस प्रकार के भी है जो स्थानभ्रष्ट हो गये है । प्रसंगविरोध के आधार पर पाठक उन्हें

प्रसंगविरुद्ध कह सकते हैं, किन्तु उन्हें प्रक्षेप नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति ही प्रतीत नहीं होती। न उसका किसी प्रक्षिप्त प्रसंग से सम्बन्ध है, और न उसका मनुस्मृति की मान्यता अथवा शैली से विरोध ही आता है। ऐसे श्लोकों पर टिप्पणी देकर उन्हें यथावत् रख दिया गया है। इस प्रकार के स्थानभ्रष्ट कहे जा सकने वाले श्लोक बहुत थोड़े हैं। कुछ उदाहरणों द्वारा इस नीति को स्पष्ट कर देना उपयुक्त रहेगा —

(क) अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु या स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ।। [१।२७ ।।]

अर्थ — पांच महाभूतों की कारणभूत विपरिणामी पांच तन्मात्राएं कही गई हैं। उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत् सूक्ष्म से स्थूल और फिर स्थूलतरादि क्रम से उत्पन्न होता है।

इसमें एक साधारण वर्णन है। इसमें प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति प्रतीत नहीं होती, और न इसमें अन्तर्विरोध है। क्योंकि, इसमें किसी प्रकार का आग्रह ही नहीं है। प्रचलित पुस्तकों में यह जिस स्थान पर है वहां पूर्वापरप्रसंग की दृष्टि से असंगत है। पूर्वापर प्रसंग कर्मों का है। किन्तु फिर भी इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह एक अविरोधी और सहज वर्णन है।

(ख) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ।। [१।२१ ।।]

अर्थ — उस परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद के शब्दों से सब वस्तुओं के नामों, सबके भिन्न-भिन्न कर्मों और उनके विविध विभागों को बनाया।

यह श्लोक भी क्रम की दृष्टि से असंगत है। वेदों की उत्पत्ति तो २३वें में कही है, जबकि वेदशब्दों से नामकरण और विभाजन पहले ही बता दिया; और २३वें तक अभी उत्पत्ति का ही प्रसंग है। वेदों के साथ उत्पत्ति-प्रसंग की पूर्णता होती है और नामकरण आदि उत्पत्ति के बाद की बातें हैं। इस प्रकार यह भी स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुआ और इसे २३वें के पश्चात् (**अग्निवायुरविभ्यस्तु** ..... के बाद) उपयुक्त क्रम में रखने के लिये टिप्पणी देदी है। इससे यह क्रम बन गया कि ब्रह्म ने वेद उत्पन्न किये, फिर वेदों के द्वारा ही नामकरण और कर्मों का विभाजन हुआ। इस प्रकार यह श्लोक अगले कर्मों के प्रसंग "**कर्मणां च विवेकार्थम्**" [१।२६] से संगतिबद्ध रूप में जुड़ जाता है। इसका भी किसी प्रक्षिप्त विचार से सम्बन्ध नहीं है, और न किसी मान्यता से विरोध है। इस प्रकार प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित श्लोकों को यथावत् रूप में रख दिया गया है।

यहां यह स्पष्ट किया जाना है कि प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित, किन्तु प्रक्षिप्त-प्रसंग से सम्बद्ध जो श्लोक हैं, वे श्लोक इस कोटि में ग्रहण नहीं किये गये हैं। उन्हें प्रक्षेपान्तर्गत ही स्वीकार किया है।

पाठ-भेद की समस्या भी ऐसी समस्या है, जिसका प्रक्षिप्तता के साथ भी पर्याप्त सम्बन्ध है। बहुत से स्थानों पर प्रक्षेपकर्त्ताओं ने नया श्लोक मिलाने की अपेक्षा मौलिक श्लोक में ही पाठभेद कर दिया है। कुछ पाठभेद असावधानी से भी हुए हैं। पाठभेदों को पहचानना या उसका मौलिक रूप देना यद्यपि अपने आप में पृथक् और महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो अत्यन्त कठिन है। फिर भी कुछ प्रक्षिप्त पाठभेदों को पहचानने की कोशिश की गई है। कोई प्रामाणिक पाठ उपलब्ध न होने के कारण मनुस्मृति की मान्यता, प्रसंग, विषय और शैली के अनुकूल जो पाठ उचित प्रतीत हुआ तथा जो अर्थ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त और संगत लगा, उसे ही अपनाया है। अर्थ पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख पाठभेदों में जहां भी परिवर्तन है, वहां 'अनुशीलन' नामक समीक्षा में उस पर प्रकाश डाला गया है।

प्रक्षेपानुसन्धान की कार्यप्रणाली का उल्लेख करने के पश्चात् अब 'आधारों' पर दृष्टिपात करना शेष रह जाता है । प्रक्षेपों के अनुसंधान के लिए कुल सात आधार निर्धारित किये गये हैं । इनमें प्रथम छह अन्त :साक्ष्य के आधार पर हैं अर्थात् मनुस्मृति की रचना शैली और मान्यताओं से इन आधारों के अन्तर्गत आने वाले श्लोकों की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है । सातवें आधार का स्वयं मनु ने अनेक स्थानों पर संकेत दिया है । उस संकेत के अनुसार केवल 'वेदों' को बाह्यसाक्ष्य के रूप में प्रमाण माना गया है । वे आधार निम्न हैं —

१. **विषय-विरोध ।**
२. **प्रसंग-विरोध ।**
३. **अन्तर्विरोध (परस्परविरोध) ।**
४. **पुनरुक्तियां ।**
५. **शैलीविरोध या शैलीगत आधार ।**
६. **अवान्तरविरोध (सहयोगी आधार के रूप में) ।**
७. **वेद-विरुद्ध ।**

परिभाषाओं और उदाहरणों सहित इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है —

१. विषय-विरोध

मनुस्मृति कुछ मुख्य विषयों में निबद्ध है । मनु ने किसी भी विषय का प्रारम्भ या समापन करते समय अथवा दोनों ही स्थानों पर उस वर्ण्यविषय का संकेत स्वयं ही किया है । मनुस्मृति के अध्यायों का विभाजन भी लगभग मुख्य विषयों के अनुसार ही किया हुआ है, जैसे-—प्रथम अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति, द्वितीय में संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय अध्याय में गृहस्थ (विवाह और पंचयज्ञ विधान), षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि । निश्चित विषयवाले उन वर्णनों में संकेतित विषय से भिन्न अथवा विपरीत जो श्लोक हैं, वे विषयविरुद्ध हैं ; और इस विषय-विरोध के आधार पर वे प्रक्षिप्त कहलायेंगे । वे मौलिक इसलिए नहीं माने जा सकते, क्योंकि जब मनु ने स्वयं अपने विषय को एक निश्चित सीमा में बाँधा हुआ है और साथ ही उनका संकेत भी दिया हुआ है, तो वे स्वयं विषयबाह्य वर्णन नहीं कर सकते । अत : ऐसे श्लोक मौलिक न होकर बाद में मिलाये गये हैं । यथा —

(क) मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयस: ।।
मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ।।
भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।।' २।१३०-१३२ ।।
[इस संस्करण के अनुसार २।१०५-१०७]

अर्थ — (ब्रह्मचारी) मामा, चाचा, श्वसुर और ऋत्विज् आदि बड़ों को और ये छोटे भी हों तब भी उठकर 'मैं अमुक हूं' इस प्रकार नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार करें । मौसी, मामी, सास और बूआ,ये गुरुपत्नी के समान पूज्य हैं । उसे बड़े भाई की सवर्णा स्त्री का प्रतिदिन चरणस्पर्श करके अभिवादन करना चाहिये ।

पूर्व श्लोकों में उपनयन संस्कार का विधान करने के पश्चात् २।६८[इस संस्करण में २।४३]वें

श्लोक में '**कर्मयोगं निबोधत**' कहकर ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन करने का कथन किया गया है। फिर २।१६४ [इस संस्करण में २।१३९]वें श्लोक में कहा है — ''**अनेन क्रमयोगेन ...... गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तप:**'' अर्थात् — 'इस पूर्वोक्त विधान के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ वेदज्ञान-प्राप्तिकारक तप का संचय करे .' इससे यह स्पष्ट हुआ कि गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को जो कर्त्तव्य निभाने हैं, केवल उन्हीं का यहां वर्णन है । इसके अतिरिक्त २।६९ [इस संस्करण में ४४वां], १०८ [८३वां], १७५ [१५०वां], १९१-२०३ [१६६-१७८], २१९ [१९४वां], २४१-२४४ (इस संस्करण में २१६-२१९) श्लोकों से भी यही स्पष्ट होता है । ब्रह्मचारी को उपनयन संस्कार के अनन्तर समावर्तन तक गुरुकुल में ही रहने का विधान है । इसके लिए यह भी आदेश है कि सूर्यास्त के बाद गांव में न रहे [२।२१९ (इस सं. में १९४वां)] । उक्त श्लोकों में विहित कर्त्तव्य ब्रह्मचारी पर लागू ही नहीं होते । न तो ब्रह्मचारी का मामा, चाचा, मौसी आदि से सम्बन्ध पड़ता है और न भाई की पत्नी से । फिर वह कैसे प्रतिदिन चरणस्पर्श करके नमस्कार करेगा ? इन श्लोकों में तो सास-ससुर को भी नमस्कार का विधान है । बताइये ब्रह्मचारी के सास-ससुर कहां से होंगे ? यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ये वाक्य विधिवाक्य हैं, अर्थवाद नहीं । इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम विषय के अन्तर्गत गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उल्लेख विषय-विरुद्ध है । अत: ये प्रक्षिप्त हैं ।

(ख) इसी प्रकार ब्रह्चर्याश्रम के कर्त्तव्यों के वर्णन में २।२२५-२३७ [इस संस्करण में २।२००-२१२] तक आचार्य, पिता और माता की सेवा का प्रसंग है —

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही ।
दीप्यमान: स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ।।
।। २।२३२। [२।२०७)

अर्थ — इन तीनों (आचार्य, माता, पिता) की सेवा में सावधान रहने वाला गृहस्थी तीनों लोकों को जीत लेता है और शरीर से तेजस्वी होकर देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द से रहता है ।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के बीच गृहस्थियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख विषयविरुद्ध है। इस श्लोक में तो 'गृही' शब्द स्पष्टरूप से उल्लिखित है । इस प्रकार यह सारा ही प्रसंग प्रक्षिप्त है ।

(ग) **निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि: ।**
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ।।
।। २।१६ । [इस संस्करण में १।१३५)

अर्थ — गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिसके लिए संस्कारों का वेद-मन्त्रों में विधान किया गया है, उसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का इस (मनुस्मृति) शास्त्र में अधिकार जानना चाहिए अन्य किसी का नहीं ।

२।१ [इस संस्करण के अनुसार १।१२०] में मनु ने धर्मोत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करने का संकेत दिया है,और २।२५ [१।१४४] में इस विषय की समाप्ति का संकेत है । धर्मोत्पत्ति के वर्णन में बिना ही प्रसंग के 'मनुस्मृति के पढ़ने के 'अधिकार-अनधिकार' का कथन विषय-विरुद्ध है, अत यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जायेगा ।

२. प्रसंगविरोध

इस अनुसन्धान कार्य में मनुस्मृति के मुख्य विषयों को 'विषय' और प्रचलित वर्णन के छोटे-छोटे

प्रभागों या किसी चर्चा के क्रम को 'प्रसंग' की संज्ञा दी गई है । प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा वाले अथवा भिन्न प्रसंग को प्रारम्भ करने वाले श्लोक, एक प्रसंग के उक्त हो जाने के अनन्तर पुन : नये सिरे से तद्विषयक चर्चा या प्रसंग की शुरुआत करने वाले श्लोक, (उपसंहार और विकल्पों को छोड़कर), क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् अथवा पूर्व ही वर्णित कमविरुद्ध श्लोक, उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक 'प्रसंग-विरुद्ध' हैं।

(क) प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा —

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रि : स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामह : ।। [१।६५ ।।]

पित्र्ये रात्र्यहनी मास : प्रविभागस्तु पक्षयो : ।
कर्मचेष्टास्वह : कृष्ण : शुक्ल : स्वप्नाय शर्वरी ।। [१।६६ ।।]

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयो : पुन : ।।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रि : स्याद्दक्षिणायनम् ।। [१।६७ ।।]

अर्थ —सूर्य मानवीय तथा दैवी दिन-रातों का विभाग करता है । रात प्राणियों के सोने के लिए और दिन चलने-फिरने आदि चेष्टा तथा कार्यों के लिए होता है [१।६५] । मनुष्यों का महीना पितरों का एक दिन-रात होता है । और मास का जो दो पक्षों में विभाग है, उसमें कृष्णपक्ष कर्म करने के लिए पितरों का दिन और शुक्लपक्ष सोने के लिए रात होती है [१।६६] । मनुष्यों का एक वर्ष देवों का एक दिन-रात होता है । उसमें छ : मास उत्तरायण देवों का दिन और छ : मास दक्षिणायन देवों की रात्रि होती है [१।६७] ।

इनमें ६६वां श्लोक पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा का वर्णन कर रहा है, अत : प्रसंगविरुद्ध है । इस श्लोक ने पूर्वापर प्रसंग को भंग कर दिया है । ६५वें श्लोक में '**मानुषदैविके**' पदों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि आगे मनुष्य और देवताओं के दिन-रात का वर्णन करना ही रचयिता को अभीष्ट है । संकेत के अनुसार मनुष्यों के दिन-रात का वर्णन तो ६५वें में ही वर्णित हो चुका । अब देवताओं के दिन-रात का वर्णन शेष रहा, वह ६७वें में वर्णित है । किन्तु प्रक्षेपकों ने उस क्रम को भंग करके बीच में पितरों के दिन-रात का वर्णन डाल दिया, जबकि इसको कहने की कहीं चर्चा ही नहीं है । इस प्रकार ६६वं श्लोक प्रसंगविरुद्ध है । मृतकश्राद्ध की मान्यता रखने वाले व्यक्तियों ने अपनी 'मृत-पितर' सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए यह प्रक्षेप किया है ।

(ख) प्रचलित एक प्रसंग को भंग करके पूर्वापर से भिन्न नये प्रसंग का प्रारम्भ —

एक प्रसंग का प्रारम्भ —

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ।। [३।२० ।।]
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष : प्राजापत्यस्तथासुर : ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम : ।। [३।२१ ।।]

अर्थ — चारों वर्णों के लिए लोक तथा परलोक में हित तथा अहित करने वाले आठ विवाह संक्षेप से ये जानने चाहिएं — (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गान्धर्व (७) राक्षस (८) पैशाच ।।

इस पूर्वप्रसंग को भंग करके मध्य में ही एक नये प्रसंग का प्रारम्भ —

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्व : सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ।। [३।२२ ।।]

X X X X

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।। [३।२६ ।।]

अर्थ — जिस वर्ण के लिए जो विवाह धर्मानुकूल है और जिस विवाह के जो गुण तथा दोष हैं और उत्पन्न सन्तान के भी जो गुण-दोष हैं, उन सब को तुम्हारे लिए कहूँगा । अलग-अलग अथवा मिलाकर पहले बताए गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त माने गये हैं ।

३।२०-२१ से प्रारब्ध पहले वाले मौलिक भग्नप्रसंग का पुन : प्रारम्भ —

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म : प्रकीर्तित : ।।[३।२७।।]
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।[३।२८ ।।]

अर्थ — विद्या और शील वाले वर को बुलाकर, वस्त्रादि से युक्त एवं सम्यक् सत्कार करके कन्या देना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है [३।२७] । ऋत्विक् के द्वारा विस्तृत यज्ञ-कर्म करने पर वस्त्राभूषणादि से अलंकृत करके कन्या का दान करना 'दैव' विवाह कहलाता है [३।२८] ।

यहां २०वें श्लोक में मनु ने आठ विवाहों को कहने का संकेत दिया है,और २१वें में उन विवाहों के नामों का उल्लेख है । इसके पश्चात् प्रसंग के अनुसार उपयुक्त यह था कि उनकी परिभाषाएं वर्णित हों — जो कि २७ से ३४ श्लोकों में हैं । किन्तु उस प्रसंग को बीच में ही तोड़कर प्रक्षेपक ने एक नया प्रसंग २२ से २६ श्लोकों में चलाया है, जिसमें यह बताया गया है कि किस वर्ण के लिए कौन-कौन सा विवाह धर्मानुकूल है । मनु को वर्णानुसार विवाह की श्रेष्ठता मान्य नहीं है, अपितु वे विधि के रूप में ही विवाह की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता मानते हैं । यह मान्यता उन्होंने विधिवर्णन वाले श्लोकों में ही स्पष्टत : दर्शायी है । ३९ से ४२ श्लोकों से भी यही सिद्ध होता है । इस प्रकार मध्यवर्ती प्रसंग प्रसंगविरुद्ध है, अत : प्रक्षिप्त है । ये श्लोक ऊंच-नीच और पक्षपात की भावना से प्रेरित प्रक्षेप हैं ।

(ग) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् आने वाले क्रम-विरुद्ध श्लोक —

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभु : ।। [१।३२ ।।]

अर्थ — वह ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से नारी बन गये, फिर उस नारी में 'विराट्' को उत्पन्न किया ।

X X X

अहं प्रजा : सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ।। [१।३४ ।।]

अर्थ — मैंने (मनु ने) प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से कठिन तपस्या की और फिर दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया ।

X X X

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमम् ।। [१।४१ ।।]

अर्थ — इस प्रकार इन महर्षियों ने मेरी आज्ञा से तप करके फिर सारे स्थावर जंगम जगत् को उत्पन्न किया ।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुस्मृतिकार एक निश्चित प्रक्रिया से क्रमशः प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएं, इन्द्रियां और मन, पञ्चमहाभूत, इन तत्त्वों से स्थावर-जंगम सृष्टि की उत्पत्ति मानता है [१ । १४-२१] । पिछले श्लोकों में इसी क्रम से सृष्टि-उत्पत्ति दर्शाते हुए १ । १६-१८ श्लोकों द्वारा सभी प्रजाओं की 'उत्पत्ति हो चुकी' दर्शायी जा चुकी है । फिर १ । १९-२१ श्लोकों द्वारा संक्षेप में अन्य समस्त संसार की उत्पत्ति का कथन कर दिया । इस प्रकार प्रजाओं (प्राणियों) और अन्य जगत् की उत्पत्ति का क्रमबद्ध प्रसंग पूरा हो गया । इसके पश्चात् १।२२-३१ श्लोकों में उत्पन्न हुए प्राणियों के साथ कर्मसंयोग आदि का प्रसंग चला है । फिर एक नया प्रसंग शुरू किया गया है, जिसमें ब्रह्मा द्वारा अभी स्त्री और पुरुष का निर्माण होना कहा जा रहा है । मनु द्वारा अभी प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा ही की जा रही है । महर्षियों द्वारा स्थावर और जंगम जगत् की उत्पत्ति कही जा रही है ! जबकि पिछले श्लोकों में प्राणियों की उत्पत्ति होने पर उनके कर्मों का भी विवेचन किया जा चुका । इस प्रकार यह प्रसंग क्रमविरुद्ध है । यदि यह मौलिक होता तो १ । १६ में प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाने से पूर्व इसका क्रमोचित वर्णन होता । लेकिन क्रम में यह जुड़ नहीं पाया । अतः प्रक्षेपक को बाद में डालना पड़ा । इस प्रकार इन श्लोकों की क्रमविरुद्धता इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध कर रही है । अन्य 'अन्तर्विरोध' आदि आधारों पर भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । ये श्लोक ब्रह्मा द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने वाली नवीन वेदान्त की मान्यता से प्रभावित पौराणिक कल्पना की देन हैं । मिथ्या कल्पनाओं द्वारा ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर मनु और मनुस्मृति आदि को अलौकिक सिद्ध करने की भी प्रवृत्ति इनमें लक्षित होती है ।

(घ) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम से पूर्व ही आने वाले क्रमविरुद्ध श्लोक —

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।। १ । ९ ।।

अर्थ — वह 'अप्' तत्त्व हिम-सा शुभ्र और सूर्य-सा चमकीला अण्डाकार बन गया । उसमें से सब लोकों के पितामह स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुए ।

X X X X

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ।। १ । १२ ।।

अर्थ — उस अण्डे में भगवान् ने परिवत्सर (कल्प का शतांशसमय) तक निवास किया और तत्पश्चात् ध्यान से उस अण्डे के दो विभाग कर दिए ।

X X X X

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।। १ । १३ ।।

अर्थ — अण्डे के उन दो खण्डों से द्युलोक,पृथिवी की रचना की ओर इनके मध्य में आकाश, आठ दिशाओं और जलों के शाश्वत स्थान (अन्तरिक्ष) को बनाया ।

यह १ । ९, १२, १३ श्लोकों का एक प्रसंग है । इसमें एक अण्डे के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । ब्रह्मा ने उस अण्डे में रहकर उसको दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया । उसके उन टुकड़ों से द्युलोक, पृथिवीलोक, आकाश, समुद्र आदि बने ।

मनुस्मृति की सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया और उसके क्रम के बारे में पिछले 'ग' भाग में पर्याप्त विवेचन किया गया है । इस उदाहरण को समझने के लिए भी उसे ध्यान में रखना आवश्यक है । महत् आदि तत्त्वों की प्रक्रिया और क्रम से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए १ । १९-२१ श्लोकों में पूर्णत : सृष्टि के बनने का क्रम आता है । उनका निर्माण १४ से २१ श्लोकों में है,लेकिन इस प्रसंग में उनके बनने से पूर्व ही द्युलोक, पृथ्वीलोक आदि की स्थूल सृष्टि बनी दिखा दी । प्रश्न उठता है कि जब उसके प्राकृततत्त्व ही नहीं बने हैं तो ये पृथ्वी आदि किस वस्तु से बन गये ? यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो इसका वर्णन क्रमोचित ढंग से १।१५ के पश्चात् अथवा १८ के पश्चात् होता । लेकिन वहां यह नहीं जोड़ा जा सका, अत : पूर्व ही डाल दिया । इस प्रकार क्रमविरोधिता के कारण उक्त श्लोकों का यह प्रसंग 'प्रसंगविरुद्ध' है । ये श्लोक अन्तर्विरोध के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । इस प्रकार की सृष्टि-उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना नवीन वेदान्त के आधार पर की जाती है । उसी आग्रह के कारण यहाँ ये प्रक्षेप किये गये प्रतीत होते हैं ।

(ङ.) उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक—

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ।। [१।१११ ।।]
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ।। [१।११८ ।।]

अर्थ—मनुस्मृति में जगदुत्पत्ति, संस्कारों की विधि, व्रतचर्या और स्नान की विधि क्रमशः कही है । इस शास्त्र में मनु ने देश, जाति और कुलों के धर्मों तथा पाखण्डियों के अवैदिक कर्मों का वर्णन किया है ।

यह १११-११८ श्लोकों का एक प्रसंग है । इसमें मनुस्मृति की विषय सूची दी गई है । यहां विचारणीय बात यह है कि विषयसूची का उपयुक्त स्थान या तो किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में होता है, या फिर अन्त में ही । बिना ही पूर्वापर प्रसंग के कहीं भी विषयसूची का कथन कर देना किसी भी विद्वान् का कार्य नहीं हो सकता । इन श्लोकों के लिए यह उपयुक्त स्थल नहीं है, अपितु बलात् ठूंसे हुए प्रतीत होते हैं । इस आधार पर यह प्रसंग प्रक्षिप्त है । दो अन्य प्रमाण भी इनको प्रक्षेप सिद्ध करने में दिए जा सकते हैं – (१) मनुस्मृति की ऐसी शैली ही नहीं है जिसमें विषयसूची का प्रदर्शन करने का अवसर आ सके । इसकी प्रवचन-शैली है और प्रत्येक प्रवचन या विषय,पूर्वापर विषयों से शृंखलावत् जुड़े हैं । मनु की यह शैली है कि वे किसी विषय को प्रारम्भ या समाप्त करते समय अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत करते हैं । शैली की अखण्डता के कारण उसमें साथ-साथ ही विषयों का संकेत होता रहता है, अत : पृथक् से विषयसूची की आवश्यकता ही नहीं रहती । इसीलिए मनु ने

कहीं मनुस्मृति के विषयों की सूची प्रदर्शित करने के लिए कोई प्रसंग भी प्रारम्भ नहीं किया । इस प्रकार यहां जो ये श्लोक वर्णित हैं, ये मनु की इस शैली के नहीं हैं; इस कारण भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । (२) जिस स्थान पर ये वर्णित हैं, वहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-उत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति का है । क्रमशः ये १ । ५ और १ । १०८ तथा २ । १ से प्रारम्भ होकर २ । २५ में समाप्त हुए हैं, इन विषय-संकेतों के अनुसार इनका बीच में वर्णन विषय और प्रसंगविरुद्ध भी हैं ; क्योंकि वे क्रमबद्ध प्रसंगों को भंग कर रहे हैं । इस आधार पर भी ये प्रक्षिप्त हैं ।

इस प्रकार उपयुक्त स्थल और प्रसंग के बिना कहे गये श्लोक 'प्रसंगविरुद्ध' प्रक्षेप माने गये हैं । परवर्तीकाल में मनुस्मृति को अध्याय-अनुसार व्यवस्थित करने वाले व्यक्ति ने ही ये श्लोक जोड़े लगते हैं ।

३. अन्तर्विरोध (परस्परविरोध)

मनुस्मृति में जिन बातों में विरोध आता है अथवा एक मान्यता का दूसरी मान्यता जहां खण्डन करती है उसे 'अन्तर्विरोध' कहा गया है । ऐसे वर्णन वाले श्लोकों में ,निश्चित है कि एक ही मान्यता मौलिक है, दूसरी प्रक्षिप्त । मनुस्मृति एक ही लेखक की रचना है । उसमें वर्णित मान्यताओं में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए, और किसी विशिष्ट विद्वान् की रचना में तो ऐसे विरोधों की आशा ही नहीं की जा सकती । फिर भी यह त्रुटि स्पष्टतः मिलती है । स्पष्ट है कि एक मान्यता अवश्य प्रक्षिप्त है । ऐसे वर्णनों में मौलिक मान्यता को मनुप्रोक्त मानकर दूसरी को 'अन्तर्विरुद्ध' या 'परस्परविरुद्ध' आधार पर प्रक्षिप्त माना गया है । कुछ अन्तर्विरोधी उदाहरण प्रस्तुत हैं–

(क) नवम अध्याय के ५७-६३ श्लोकों में स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्म बतलाये हुए हैं । सन्तान के अभाव में यहाँ नियोग का विधान किया है । यह मान्यता शैली के अनुरूप और मौलिक है । एक श्लोक में विधान है–

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ।। [९ । ५९ ।।]

अर्थ– सन्तान का क्षय (अभाव) होने पर अपने पति की या समाज की आज्ञा से देवर वा अन्य सपिण्ड पुरुष से इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

किन्तु जैसे ही यह प्रसंग पूर्ण होता है, इस विचार के विरोधी व्यक्तियों ने इसके खण्डन में श्लोक मिला दिये हैं । उन श्लोकों में नियोग का निषेध है । इसे गर्हित और साधुपुरुषों द्वारा निन्दित कहा है, और इसके प्रचलन में विकृत कारण का उल्लेख दर्शाया है । ये ६४ से ६८ तक पांच श्लोक खण्डन के प्रसंग के हैं । इस प्रसंग के दो श्लोक प्रस्तुत हैं–

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ।। [।। ९ ।६४ ।।]

अर्थ– द्विजाति लोग विधवा नारी को अन्य देवर अथवा सपिण्ड पुरुष में नियोग की आज्ञा न दें । जो नियोग कराते हैं, वे सनातन धर्म को नष्ट करते हैं ।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ।। [९ । ६६ ।।]

अर्थ– इस नियोग-प्रथा को विद्वानों ने पशुधर्म कहा है । यह राजा वेन के समय मनुष्यों मे

लित हुआ है ।

इनमें ६४-६८ श्लोकों का प्रसंग मौलिक नहीं है । इसे बाद में किसी ने खण्डन के लिए मिलाया अत: 'अन्तर्विरोध' या 'परस्पर विरोध' के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । वेद में जिस का कथन उसको थोड़े समय से प्रचलित कहना ठीक नहीं । मनुस्मृति स्वयं आदि सृष्टि की है । इस लेख यह सिद्ध है कि मनु का पूर्व लेख नियोग-प्रतिपादन का है। राजा वेन मनु से बहुत बाद का है ।[१]

(ख) 'अहिंसापालन' अथवा 'हिंसानिषेध' की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से है जिन पर मनुस्मृतिरूपी प्रासाद टिका हुआ है । जो व्यक्ति हिंसा, मांसभक्षण तथा पशुयज्ञ को स्मृतिसम्मत मानते हैं, वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं; और वे वस्तुत: इनके साथ नदार नहीं है । मनु ने प्रत्येक प्रकार की हिंसा को पाप माना है और स्थान-स्थान पर अहिंसा-न के लिए बल दिया है । अहिंसा की मान्यता मनुस्मृति की कितनी दृढ़ आधारभूत मान्यता है, का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मनु ने गृहस्थी-जनों के लिए जो नैत्यिक महायज्ञों का अनिवार्य विधान किया है, उसके मूल में हिंसा-निवृत्ति की भावना ही है । गृहस्थों प्रतिदिन अज्ञान और विवशतावश होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं के प्रायश्चित्त के लिए ही महायज्ञों का करना आवश्यक बताया है—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर: ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।। [३ । ६८ ।।]

अर्थ— गृहस्थी के यहां चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, जल का घड़ा, ये पांच हिंसा के स्थान हैं । को व्यवहार में लाता हुआ गृहस्थी हिंसा के पापों से बंधता है ।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि: ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।। [३ । ६९ ।।]

अर्थ — उनके प्रायश्चित्त के लिए महर्षियों ने गृहस्थी के लिए क्रमश: पांच महायज्ञों का दैनिक ान किया है ।

इसके अतिरिक्त मनु ने अनेक स्थानों पर हिंसा का स्पष्ट निषेध भी किया है और हिंसक की दा की है ।—

(अ) वर्जयेन् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।। २ ।१७७ ।।
[इस संस्करण में १५२ वां]

अर्थ — मद्य-पान, मांस-भक्षण तथा प्राणियों की हिंसा को छोड़ देवे ।

(आ) — हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।। [४ ।१७० ।।]

अर्थ — जो नित्य हिंसा के कर्मों में रत रहता है, वह इस संसार में सुख प्राप्त नहीं करता है ।

(इ) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्
न च प्राणिवध: स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् [।। ५ ।४८ ।।]

अर्थ — प्राणियों की हिंसा के बिना कहीं मांस की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । और प्राणियों का वध

---

[१] महाभारत में वेन नाम के दो राजाओं का उल्लेख आता है । एक.— वैवस्वत मनु के दश पुत्रों में से एक था (महा. आ. ७०।१३) । दूसरा — अंग देश का एक दुष्टकर्मा राजा था, जो कर्दमपुत्र अनंग का पुत्र था । इससे राजा पृथु का जन्म हुआ (शा. ५९ ।९६-९९) । इस प्रकार दोनों ही राजा स्वायम्भुव मनु से पर्याप्त परवर्ती हैं । यहां अंगराजा वेन का ही वर्णन है ।

सुख देनेवाला नहीं है। इसलिए मांस को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

मनु ही वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंसा के लिए सलाह देने वाले व्यक्ति को भी पाप का भागीदार घोषित किया है। मांसप्राप्ति में किसी भी रूप से सम्बद्ध व्यक्ति मनु के मत से 'घातक' है। मनु ने हिंसा से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को 'घातक' घोषित करके अपनी अहिंसा की दृढ़ मान्यता को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया है। वे 'घातक (पापी) ये हैं —

(ई) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका: ।। [५ । ५१ ।।]

अर्थ — सलाह देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, खरीदने और बेचने वाला, पकाने वाला, लानेवाला और खाने वाला, ये सभी घातक (पापी) हैं।

अहिंसा के समर्थन में और हिंसा की निन्दा में इतना सब कुछ लिखने वाले व्यक्ति के ग्रन्थ में कहीं मांसभक्षण की बात को मौलिक मान लिया जाये तो यह दुस्साहस ही कहा जायेगा। इतनी स्पष्ट मान्यता होते हुए भी मनुस्मृति में मांसभक्षण, पशुयज्ञ और हिंसापरक श्लोकों को मिला दिया गया —

(अ) नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विज: ।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषु: ।। [४ । २७ ।।]

अर्थ — अग्नियाँ नवान्न और मांस की लोलुप होती हैं। अतएव जो द्विज नये अन्न और पशु-मांस से अग्नि में हवन नहीं करते, उनके प्राणों को ही अग्नियां खाना चाहती हैं।

(आ) पांचवें अध्याय में ११ से ४७ तक मांसभक्षण का विधान

(इ) तृतीय अध्याय में १२२ से २८४ तक श्राद्ध में विभिन्न मांसों के खाने का विधान।

ये तथा मनुस्मृति के सभी हिंसा-समर्थक श्लोक उपर्युक्त मौलिक मान्यता के विरुद्ध होने के कारण 'अन्तर्विरोध' आधार पर प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों का प्रक्षेप स्वार्थी पंडितों तथा वाममार्गियों ने किया है। (अन्य प्रमुख अन्तर्विरोधों को जानने के लिए देखिये — 'मनुस्मृति की प्रमुख मौलिक मान्यताएं' शीर्षक विवेचन)।

४. पुनरुक्तियां —

पहले कही हुई बात को विशिष्ट अभिप्राय के बिना पुन: कहना पुनरुक्ति है। ये पुनरुक्तियां बिल्कुल ज्यों की त्यों तो नहीं हैं, किन्तु अनेक स्थानों पर प्रक्षेपकर्त्ताओं ने अपने भाव को सिद्ध करने के लिए पूर्व प्रोक्त अंशों को आवश्यकतानुसार ग्रहण कर लिया है। उन्हें पढ़कर यह प्रतीत होता है कि इस अंश को पुन: ग्रहण करने की नितान्त आवश्यकता नहीं थी। अनावश्यक रूप से पुनरावृत्त वे अंश उसके प्रक्षेप होने का संकेत देते हैं। यथा —

(क) मनु सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए, क्रमानुसार जगत् की प्रकटावस्था के माध्यम से ही परमात्मा की प्रकटता-रूप उत्पत्ति का वर्णन करते हैं —

तत: स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तोजा: प्रादुरासीत्तमोनुद: ।। [१ । ६ ।।]

अर्थ — तब अपने कार्यों को सम्पन्न करने में स्वयं समर्थ, महत्, पञ्चमहाभूत आदि तत्वों को उत्पन्न करने की अमित शक्ति से युक्त, स्थूलरूप में प्रकट न होने वाला परमात्मा इस समस्त संसार को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट हुआ।

इससे अगला ही श्लोक है —

योऽसावतीन्द्रियग्राह्य: सूक्ष्मोऽव्यक्त: सनातन: ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य: स एव स्वयमुद्बभौ ।। [१ । ७ ।।]

अर्थ – जो यह परमात्मा इन्द्रियों से ग्रहण न कर सकने योग्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सब प्राणियों का आश्रयस्थान और अचिन्त्य है ; वही अपने आप उत्पन्न हुआ ।

इस श्लोक में कोई नयी बात न होकर कुछ नए विशेषणों के साथ छठे श्लोक के भावों को ही पुन: कह दिया है । छठे श्लोक में परमात्मा का प्रकट होना कहा था, इसमें भी केवल परमात्मा की उत्पत्ति कही है । '**अव्यक्त :**' की ज्यों की त्यों, और '**स्वयम्भू :**' की '**स एव स्वयमुद्बभौ**' के रूप में पुनरुक्ति है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' के आधार पर यह श्लोक प्रक्षिप्त है ।

यह पुनरुक्ति क्यों की गई ? प्रसंगानुसार यह स्पष्ट कर देना भी इसको प्रक्षेप समझने में पोषक सिद्ध होगा । छठे श्लोक में परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति, जगत् की प्रकटता के रूप में ही मानी है अर्थात् वैसे तो परमात्मा अव्यक्त है, प्रकट जगत् से ही उसका होना अनुमित होता है । किन्तु अग्रिम ७-१३ श्लोक पौराणिक कल्पना के आधार पर किये गये प्रक्षेप हैं जिनमें ब्रह्मा की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । उसे सिद्ध करने के लिए ही सातवें श्लोक में '**योऽसौ**' कहकर एक नया प्रसंग शुरू किया गया । उसकी भूमिका के लिए प्रक्षेपक को विवश होकर यह पुनरावृत्ति करनी पड़ी, अन्यथा एक बार छठे श्लोक में कहने के बाद उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी । यह ब्रह्मा की उत्पत्ति का प्रसंग मनुस्मृति की उत्पत्ति-प्रक्रिया [१४-२१] के विरुद्ध है । इसे मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए यह प्रसंग डाला गया है । किन्तु कपड़े के पैबन्द की तरह यह स्पष्टत: प्रक्षिप्त दिखाई पड़ रहा है ।

(ख) पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भि: साध्वीति चोच्यते ।। [५ । १६५ ।।]

(या) जो स्त्री (मन :-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (पतिम् न + अभिचरति) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृलोकम् + आप्नोति) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (च) और (सद्भि : 'साध्वी' + इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसको 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते हैं ।। १६५ ।।

इस श्लोक की ९ । २९ में अक्षरश : पुनरुक्ति है, जो अनावश्यक है । अत : ९ । २९ स्थल पर यह पुनरुक्ति प्रक्षेप माना गया है ।

(ग) ५ । १३४ श्लोक भी ९ । ३० में अक्षरश : पुनरुक्त है । वह अन्य आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, अत : दोनों स्थानों पर ही प्रक्षिप्त माना गया है ।

(घ) ८ । ३४२ में शस्त्र औषध आदि चुराने वाले चोरों को देशकाल के अनुसार दण्ड देने का कथन हो चुका है —

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् । [८ । ३२४ ।।]

अर्थ — हाथी आदि बड़े पशुओं, शस्त्रों तथा औषध की चोरी पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

इसकी पुनरुक्ति —

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ।। [९ । २९३ ।।]

अर्थ — खेती के उपकरण हल आदि, शस्त्रों तथा औषध की चोरी करने पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

यहां पहले पद को छोड़कर शेष बातों की यथावत् पुनरुक्ति है । पूर्व श्लोक अपने प्रसंग में है और यह अप्रासंगिक रूप से उक्त है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' होने से यह प्रक्षिप्त है ।

५. शैलीगत आधार अथवा शैली-विरोध —

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति का प्रणेता एक ही व्यक्ति है । मनुस्मृति की शैली गम्भीर, संतुलित, साधार, युक्तियुक्त एवं पक्षपात की भावना से रहित है; किन्तु बीच-बीच में अतिसामान्य, निराधार, अयुक्तियुक्त, अतिशयोक्तिपूर्ण और पक्षपातपूर्ण शैली के श्लोक भी आजाते हैं । यह निश्चित है कि यह विरोधी भिन्नता एक ही प्रणेता की शैली में नहीं हो सकती । मनु एक विद्वान् ऋषि थे, अत: कहा जा सकता है कि दूसरी शैली के श्लोक मनुप्रोक्त न होकर प्रक्षिप्त हैं । मनुस्मृति के अनुशीलन से जो शैलियां मनुसम्मत प्रतीत नहीं हो पाईं, उन्हें दो विभागों में रखा गया है ।

१. मनु की शैली से भिन्न शैलियां —

क. रचना-शैली-सिद्ध भिन्नताएं ।

२. वर्णन-शैली से विरुद्ध शैलियां —

ख. निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली ।

ग. अतिशयोक्तिपूर्ण शैली ।

घ. पक्षपातपूर्ण शैली घृणा, निन्दा, अपशब्द, ऊंच-नीच, स्पृश्यास्पृश्यप्रेरित) ।

मनुसम्मत मौलिक शैलियां न होने के कारण इन शैलियों के श्लोकों को प्रक्षिप्त माना गया है । मनु की मौलिक शैलियों की विस्तृत समीक्षा 'मनुस्मति की शैलियां' शीर्षक विवेचन में की गई है । शैलियों के निर्धारण की पद्धति पर भी वहीं विचार किया गया है । यहां केवल संक्षिप्त स्पष्टीकरण के साथ उनके उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं ।

(क) रचना-शैलीसिद्ध भिन्नता —

रचना की दृष्टि से मनुस्मृति की 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत: प्रवचन है । मनुस्मृति में प्रवचन के लिए जितने भी विषय या प्रकरण चुने गये हैं, उनके प्रारम्भ या समापन में, अथवा दोनों स्थानों पर क्रमश: उनके प्रारम्भ करने और समापन करने का प्रयोग किया है । इन सभी स्थानों पर 'सुनने-सुनाने' की क्रियाओं का प्रयोग किया है । ये सभी प्रवचन एक शैली में शृंखलावत् जुड़े हुए हैं । इस शैली के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —

(अ) मनुस्मृति मूलत: कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं था । मनु द्वारा ऋषियों की जिज्ञासा के उत्तर में जो प्रवचन दिये गये, उनका संकलन होने पर वह 'शास्त्र' कहलाया । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रवचनों को कोई प्रवक्ता स्वयं 'शास्त्र' नहीं कह सकता, अथवा क्रमश: दिये जा रहे अपने प्रवचनों को ग्रन्थ के रूप में वर्णित नहीं कर सकता है । यह रूप तो बाद में बनता है । इसलिए मनुस्मृति में जहां भी इसे पूर्वनिबद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थ' के रूप में वर्णित किया है, वे श्लोक परवर्ती काल में किये गये प्रक्षेप हैं, जबकि मनुस्मृति संकलित होकर निबद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थरूप में आ चुकी थी । यथा —

(१) इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मण :शंसितव्रत : ।
मनो वाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ।। [१ । १०४ ।।]

अर्थ —इस शास्त्र को पढ़कर इसके अनुसार कर्त्तव्य व्रतों को करने वाले ब्राह्मण को मन वाणी और देह के कर्मों से उत्पन्न होने वाले दोष (पाप) नहीं लगते ।

(२) नै :श्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषत : ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ।। [१२ । १०७ ।।]

अर्थ —मोक्ष-प्राप्ति के साधक सब कर्मों का वर्णन कर दिया । अब मानवशास्त्र के रहस्य का उपदेश किया जाता है ।

इस प्रकार के श्लोक मनुस्मृति-परम्परा के शिष्यों द्वारा प्रशंसा और महत्त्ववर्धन की दृष्टि से मिलाये गये हैं ।

(आ) इस प्रकार इस शैली में,मूल प्रवचनों के संकलन में स्वयं मनु का नाम भी प्रयुक्त नहीं हो सकता,और न भृगु का नाम आना ही युक्तसंगत जंचता है । इसलिए जो भी श्लोक मनु और भृगु के नाम से वर्णित हैं,वे इस शैली के आधार पर प्रक्षिप्त हैं । उनकी भाषा-प्रयोग. शैली भी यही सिद्ध करती है कि वे मनुप्रोक्त बातों का मूलसंकलन नहीं हैं । वे उनके नाम से किसी अन्य व्यक्ति ने बनाये हैं । कुछ लोगों का विचार है कि उनका आशय मनु का आशय है, अत : उनके नाम से उनका उल्लेख है । यह भी युक्तिसंगत बात नहीं है कि वह मनु का आशय है । संभव है किसी अन्य व्यक्ति ने अपना आशय मनु के नाम से वर्णित कर दिया हो । यह तो एक ऐसा छिद्रद्वार बन जाता है कि चाहे कोई भी अपने अभीष्ट आशय को मनु का आशय बताकर कितने ही श्लोक बनाकर मिला दे ; अत : यह मान्य नहीं है । वास्तविकता भी यही है कि परवर्ती लोगों ने मनु के नाम पर अपने आशयों को मिलाया है । यदि यह मानें कि मनु के शिष्य भृगु ने उनके आशयों का वर्णन उनके नाम से किया है,तो इसमें भी कई संदेह रह जाते हैं – (१) इसका मतलब भृगु ने वास्तविक रूप में मनु के प्रवचनों का संकलन नहीं किया, (२) यदि वास्तविक रूप में है,तो कहीं बिना नाम के,और कहीं नामोल्लेखपूर्वक,दो पद्धतियां क्यों अपनायी हैं ? जब संकलन शैली में अन्य अधिकतर बातों का वर्णन मूलरूप में हुआ है तो कहीं-कहीं मनु का नाम देकर विधान करने की क्या आवश्यकता थी ? (३) और भृगु नाम वाले श्लोक मनु के संकलन में कैसे आये ?मनुस्मृति में उनका क्या औचित्य है ?

इस प्रकार मनुस्मृति को प्रक्षेपकों ने मनचाहा 'भण्डारघर' बना लिया है । इस शैली से यह निश्चित हो जाता है कि इस प्रकार मनु और भृगु नाम वाले सभी श्लोक मूलरूप नहीं हैं,अपितु परवर्तीकाल में उनके शिष्यों ने रचकर डाल दिये हैं । जैसे,मनु के नाम वाले श्लोक –

१. य : कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित :
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि स : ।।
[२ । ७ ।।]
[इस संस्करण में १ । १२६]

अर्थ – मनु ने जिस किसी का जो भी धर्म (कर्त्तव्य) बताया है, वह सब वेदोक्त है । क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त है ।

२. दश स्थानानि दण्डस्य मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ।। [८ । १२४ ।।]

अर्थ – स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के दश स्थान बताए हैं, जिन पर क्षत्रियादि तीन वर्ण वालों को दण्ड देना चाहिये। और ब्राह्मण को दण्ड के बिना ही छोड़ देना चाहिए।

३. ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति।
अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम्॥ [८।१३९]

अर्थ – मनु का ऋणादि के विवाद में यह दण्ड का प्रकार है कि यदि ऋण लेने वाला न्यायसभा में आकर ऋण को स्वीकार कर लेता है, तो उस पर पांच प्रतिशत दण्ड करे और यदि वहां भी झूठ बोले या छिपावे तो दश प्रतिशत देना चाहिए।

भृगु के नाम से वर्णित श्लोक –

१. एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ [१।५९॥]

अर्थ – यह भृगुमुनि आप सब को सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे। इस मुनि ने यह समस्त शास्त्र मुझ से पढ़ा है।

२. स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ [५।३॥]

अर्थ – उस धर्मात्मा भृगु मुनि ने महर्षियों से कहा कि जिस दोष के कारण विप्रों (विद्वानों) को मृत्यु मारना चाहती है, उसे सुनिये।

३. इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम्॥ [१२।१२६॥]

अर्थ – इस भृगु-प्रोक्त मानव-धर्मशास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज सदाचारी बन जाता है और इच्छानुसार गति कोप्राप्त करता है।

(इ) जैसा कि अभी 'क' खण्ड में दर्शाया गया है कि मनु की शैली किसी भी विषय अथवा प्रकरण के प्रारम्भ अथवा समाप्ति पर,या दोनों ही स्थानों पर,उद्दिष्ट विषय का संकेत देने की है। यदि किसी स्वतन्त्र प्रकरण में अथवा एक प्रकरण की समाप्ति होने पर, प्रारम्भ की गई चर्चाओं के आद्यन्त में, उस विषय का संकेत नहीं मिलता,तो उससे यह संकेत मिलता है कि वह प्रकरण मनु की शैली का नहीं है। यथा –

१. प्रथम अध्याय के १११-११८ श्लोकों में मनुस्मृति की विषयसूची का प्रसंग एक स्वतंत्र और पूर्वापर प्रसंग से भिन्न प्रसंग है, किन्तु इस प्रसंग के न तो पूर्व ही उद्दिष्ट विषय का संकेत है और न समाप्ति पर। अतः यह मनु की शैली का प्रसंग नहीं है।

२. ग्यारहवें अध्याय के १-४३ श्लोकों में स्वतन्त्र दान का तथा अन्य फुटकर प्रसंग हैं, किन्तु उसके प्रारम्भ और समाप्ति पर विषय का संकेत नहीं है। ४३ श्लोकों में वर्णित विषय का कोई संकेत न होना, इस प्रसंग को मनु की शैली का सिद्ध नहीं करता। अतः यह भी प्रक्षिप्त है।

(ख) निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली –

जहां कारण-कार्य या साधन-साध्य का पारस्परिक सम्बन्धरहित वर्णन किया गया हो, जिस विधान की कोई बुद्धिसंगत स्थिति न हो अथवा तो तर्क के आधार पर पुष्ट नहीं होता, ऐसा वर्णन निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली का है। मनु ने प्रत्येक विधान और वर्णन को साधार एवं युक्तियुक्त ढंग से

वर्णित किया है और धर्मनिर्णय के लिए तर्क को भी एक प्रमुख आधार माना है (१२।१०६, १११)। मनु के इस दृष्टिकोण के अनुसार उक्त शैली के श्लोक मनुकृत न मानकर प्रक्षिप्त माने गये हैं। यथा —

धान्यं हृत्वा भवत्याखु : कांस्यं हंसो जलं प्लव : ।
मधु दंश : पय : काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ।। (१२ । ६२ ।।)

अर्थ — धान्य चुराने वाला चूहा, कांसा चुराने वाला हंस, जल की चोरी करने वाला जलमुर्ग, मधुचोर डांस, दूधचोर कौआ, रस चुराने वाला कुत्ता और घी चुराने वाला नेवला बनता हैं।

यहां उक्त चोरियों का और उनके फलस्वरूप में वर्णित जन्मों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, अत: यह कथन निराधार एवं अयुक्तियुक्त है।

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहत : ।। (४ । ५२ ।।)

अर्थ — अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण और गाय तथा वायु इनकी ओर मुख करके लघुशंका करने वाले व्यक्ति की बुद्धि नष्ट होती है।

यहां भी उक्त वस्तुओं की ओर मुख करने का और बुद्धि नष्ट होने का कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार निम्न विधान भी अयुक्तियुक्त और निराधार हैं —

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधुं चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।। (४ । ३९ ।।)

अर्थ — मिट्टी, गाय, देवमूर्ति ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध वृक्ष, इनको दायभाग की ओर रखता हुआ बायीं ओर से जाये।

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्त : शारीरं संनिवेश्य च ।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति । (११ ।२०२ ।।)

अर्थ — पीड़ित व्यक्ति जल के विना और जल में शरीर के मल-मूत्र को त्यागकर वस्त्रसहित स्नान करे और जल से बाहर आकर गौ कर स्पर्श करे, इस प्रकार वह शुद्ध होता है।

(ग) अतिशयोक्तिपूर्ण शैली —

अभीष्ट-सिद्धि की प्रवृत्ति से जहां किसी बात को आवश्यकता से अधिक बढ़ा चढ़ाकर वर्णित किया गया है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण शैली है। मनु की शैली में संतुलित वर्णन है। मनुस्मृति एक विधानशास्त्र है, अत: उसमें वर्णित प्रत्येक विधान, प्रत्येक धर्म-अधर्म का कथन यथावत् होना चाहिए।कहीं-कहीं यह यथावत्ता नहीं है, यथा —

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्त्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ।। ११ । २०६ ।।

अर्थ — ब्राहमण को मारने की इच्छा से दंड को उठाने मात्र से सौ वर्ष तक और दंडप्रहार करके मारने वाला हजार वर्ष नरक में रहता है।

शोणितं यावत : पांसून्गृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ।। (११ । २०७ ।।)

अर्थ — ब्राह्मण के शरीर से निकले रक्त से पृथ्वी के जितने रजकण भीगें, दण्डप्रहार करके ब्राह्मण के शरीर से रक्त निकालने वाला व्यक्ति उतने ही सहस्र वर्ष पर्यन्त नरक में पड़ा रहता है।

अतिशयोक्तिपूर्ण शैली होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं, अत एव प्रक्षिप्त हैं।

(च) पक्षपातपूर्ण शैली —

जहां किसी वर्ग, व्यक्ति या बात की,उपयुक्त आधार या कारण के बिना विशेष पक्षधरता अपनायी गई है ; अथवा किसी वर्ग या व्यक्ति की घृणा, निन्दा, ऊंच-नीच,छूआ-छूत आदि से प्रेरित होकर अनुपयुक्त अवमानना की गई हो ; वह पक्षपातपूर्ण शैली है। मनु की शैली में उपयुक्त 'आधार' या कारण के आधार पर ही प्रशंसा या निन्दा है, पूर्वाग्रहबद्धता पूर्वक पक्षपात की प्रवृत्ति से नहीं। बीच-बीच में पक्षपात की भावना से ओतप्रोत श्लोक भी आते हैं, वे मनुप्रोक्त नहीं है —

ब्राह्मणवर्ग के लिए विशेष पक्षपात —

(अ)स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वंवस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः॥ [१।१०१।]

अर्थ —ब्राह्मण जो कुछ खाता है, पहनता है, देता है, वह सब उसका ही है — यह सब ब्राह्मण का ही है। अन्य जो लोग खाते हैं, वे सब ब्राह्मणों की कृपा से खाते हैं।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ [२।१३५।]
[इस संस्करण में २।११०]

अर्थ —दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय,पिता-पुत्र के बराबर हैं। उनमें ब्राह्मण पिता के तुल्य है।

स्त्रियों के लिए पक्षपात-पूर्ण विधान —

(आ) विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ [५।१५४।]

अर्थ — पतिव्रता स्त्री को दुष्टस्वभाव वाले, परस्त्रीगामी और गुणहीन पति की भी सदा देवताओं के समान पूजा-सेवा करनी चाहिए।

अछूत की भावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली —

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता॥ [५।१०४।]

अर्थ – जब तक अपने वर्ग के व्यक्ति विद्यमान हैं,तबतक ब्राह्मण के शव को शूद्रों से नहीं उठवाना चाहिये। क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित शरीर की आहुति स्वर्ग में नहीं पहुँचाती।

घृणा और निन्दायुक्त शैली –

(ई) वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥ [३।१९।]

अर्थ – विवाह करके शूद्र स्त्री के अधरपान करने वाले का,और जिसके मुख पर शूद्रा का श्वास लगा हो, जो शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो ; उसका कभी (निस्तार) नहीं हो सकता।

ऊंच-नीच की भावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली –

(उ) सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।

कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ।। [८ । २८१ ।।]

अर्थ – जो शूद्र, ब्राह्मण के समान आसन पर बैठना चाहे तो उसकी कमर पर दगवाकर उसे देश निकाला दे दे अथवा नितम्बों को कटवा दे ।

उपर्युक्त सभी श्लोक पक्षपातपूर्ण शैली के होने से मनुप्रोक्त सिद्ध नहीं होते, अतः प्रक्षिप्त हैं ।

६. अवान्तरविरोध —

मनुस्मृति में कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें अन्धाधुन्ध मिलावट हुई है । एक प्रक्षिप्त प्रसंग के अन्तर्गत ही अनेक पारस्परिक विरोध पाये जाते हैं । इन विरोधों से कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं — (१) विवादास्पद विषयों में ही अधिक प्रक्षेप हुए हैं (२) इतने विरोध किसी एक लेखक की रचना में नहीं हो सकते, (३) प्रक्षेप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा —(४) भिन्न-भिन्न समयों में किये गये हैं, (५) ऐसे विरोधात्मक वर्णन मनुसदृश विद्वान् की रचना नहीं हो सकते हैं, (६) अतः वह प्रसंग प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक है । एक प्रक्षिप्त प्रसंग में ही परस्पर पाये जाने वाले विरोध को 'अवान्तर विरोध' कहा गया है । यह आधार एक सहयोगी आधार के रूप में लिया गया है । इसके प्रदर्शन से उपर्युक्त निष्कर्ष स्पष्ट हो जाते हैं, और उस प्रसंग की अप्रामाणिकता और प्रक्षिप्तता पुष्ट हो जाती है । जैसे —

३ । १२२ से २४८ तक श्राद्ध-वर्णन का प्रसंग है, जो अन्तर्विरोध, प्रसंगविरोध आदि के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । साथ ही उस प्रसंग में प्राप्त होने वाले अवान्तरविरोध उसकी प्रक्षिप्तता और अप्रामाणिकता को पुष्ट कर देते हैं और यह संकेत देते हैं कि स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के अनुसार पूर्वापर प्रसंग देखे बिना ही मनचाहे प्रक्षेप करके अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के प्रयास किये हैं । इस प्रसंग में कुछ अवान्तरविरोध इस प्रकार हैं —

(अ) १२९ वें श्लोक में कहा गया है कि देवकर्म में वेदहीन ब्राह्मण को नहीं जिमाना चाहिए, और १४९ में कह दिया कि श्राद्धदाता देवकर्म में जिमाते समय वेदादि के पढ़े लिखे की परीक्षा न करें अर्थात् ब्राह्मणमात्र होना ही पर्याप्त है ।

(आ) सम्पूर्ण प्रसंग में मांसभक्षण का विधान है और मांस की भरपूर प्रशंसा है, किन्तु १५२ में मांसविक्रेता ब्राह्मण को जिमाने का निषेध कर दिया । यदि मांसभक्षण पवित्र और प्रशंसनीय कार्य है तो मांसविक्रेताओं को निन्द्य क्यों माना गया ?

(इ) १५५ वें श्लोक में श्राद्ध-कर्म में ब्रह्मचारी को जिमाने का निषेध है, और १८६, १८८, २३४ में श्राद्ध में जिमाने का विधान है । इतना ही नहीं इनमें उसे पंक्तिपावन (श्राद्ध की पंक्ति को पवित्र करने वाला) तक माना है ।

(ई) १९६ –१९७ श्लोकों में शूद्रादि सभी वर्णों के लिए श्राद्ध करना कहा है, और २४१ आदि में शूद्र के स्पर्श का निषेध, शूद्र के देखने मात्र से श्राद्ध के पुण्य का नष्ट हो जाना आदि प्रदर्शित है ।

(उ) १३८ में मित्र ब्राह्मण को श्राद्ध में जिमाने का निषेध है, किन्तु १४४ में जिमाने का विधान है ।

(ऊ) १६७ –१७३ तक के श्लोकों में विभिन्न मांसों से कई-कई मास, वर्ष और अनन्त काल तक पितरों की तृप्ति मानी है । यदि एक बार के श्राद्ध से इतनी तृप्ति हो जाती है तो उनको पुनः पाक्षिक मासिक श्राद्ध की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

७. वेद-विरुद्ध —

मनुस्मृति के १ । ३ ।। २ । ६ [इस संस्करण में १ । १२५] ९ –१५ ।। १२ । ९३ –९९ १०९ –११३ श्लोकों से यह विदित होता है कि मनु वेद को ही धर्म का मूलाधार मानते हैं और उनकी मनुस्मृति भी वेदानुकूल है । अन्य परवर्ती स्मृतियों ने भी मनुस्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुस्मृति में कोई मान्यता वेदविरुद्ध नहीं होनी चाहिए । जो वेदविरुद्ध होगी,वह मनु की मान्यता के आधार पर प्रक्षिप्त ही मानी जायेगी । यहां यह स्पष्टीकरण भी उपयुक्त होगा कि वेद की मान्यताओं को निर्विवाद रूप में स्पष्ट करना अपने आप में एक जटिल कार्य है, अत : वेदों की जो मान्यताएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं, उन्हीं के अनुसार इस आधार का उपयोग किया गया है । विशेषत : उन विधानों में तो इस आधार का उपयोग करना अति-आवश्यक हो गया है, जिनमें वेदों को उद्धृत करके वर्णन है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(१) निम्न श्लोकों में स्त्री-शूद्रों को वेदमन्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध है—

(क) अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषत : ।।
[२।६६ ।।] [२ । ४१ इस संस्करण में]

अर्थ —स्त्रियों के संस्कार के लिए ये समस्त-कर्म बिना मन्त्र के करे ।

(ख) सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।।[३ । १२१ ।।]

अर्थ —सायंकाल पाकशाला में बनाये अन्न से पत्नी मन्त्रोच्चारण किये विना बलि देवे ।

(ग) नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।। [४ । ९९ ।।]

अर्थ — वेदों को अस्पष्ट न पढ़े और शूद्र के सामने न पढ़े ।

इन श्लोकों में वेदविषयक विधान स्वयं वेदविरुद्ध हैं । वेद में वेदाध्ययन सभी के लिए **विहित है —**

(क) ''यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य : ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।।[यजुर्वेद २६ । २]

अर्थात् —''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य :) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेद आदि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ,वैसे तुम भी किया करो । यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए,क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्र आदि वर्णों का नहीं ? (उत्तर) — (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि, देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अतिशूद्र आदि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है ।'' [स. प्र. समु. तृतीय, पृ. ७४]

(ख) सभी व्यक्तियों को वेद पढ़ने का अधिकार होने और यज्ञ आदि वैदिक क्रियाएँ करने का अधिकार होने में वेदमन्त्र के साथ-साथ वेद के अंग 'निरुक्त का प्रमाण —

''यज्ञियास : पञ्चजना : मम होत्रं जुषध्वम् ।।''
[ऋग. १० । ५३ । ४]

इस मन्त्र में पठित 'पञ्चजना :' पद की व्याख्या करते हुए यास्क ऋषि स्पष्ट करते हैं —

''गन्धर्वा : पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा :, निषाद : पञ्चम :, इति औपमन्यव : । निषाद : कस्माद् ?   निषन्नं अस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता :, पञ्चजनीनया विशा ।'' [३ । ८]

अर्थात् — 'गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस, ये पांच प्रकार के व्यक्ति हैं, इन सब को यज्ञ करने का अधिकार है ; ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं । औपमन्यव का मत है कि चार वर्ण — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा निषाद = पापी इन सबको यज्ञ का अधिकार है । निषाद को 'निषाद' क्यों कहते हैं ? क्योंकि इस व्यक्ति के मन में पाप की भावना रहती है । इस प्रकार सभी मनुष्यों के ये पांच वर्ग हैं ।' यज्ञ में मन्त्रपाठ अवश्य होता है ।

(ग) स्त्रियों को वेदाध्ययन, विद्याप्राप्ति एवं ब्रह्मचर्याश्रम के विधान में वेद का प्रमाण —

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।'

[अथर्व. ३ । २४ । ११ । १८]

''जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़ पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवक होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे । इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए ।

(प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

(उत्तर) अवश्य, देखो श्रौतसूत्र आदि में —

'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ।।'

अर्थात् — 'स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़ें । जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और सस्कृतभाषण कैसे कर सके । भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादिशास्त्रों को पढके पूर्ण विदुषी हुई थीं, शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है ।'

(स. प्र. तृतीय समु. पृ. ७५)

(आ) मनुस्मृति के पंचम अध्याय के २६ से ४२ श्लोकों में वेद का साक्ष्य देकर हिंसा का विधान है, वह साक्ष्य मिथ्या और वेदविरुद्ध है । वेद में तो हिंसा का निषेध है —

'यजमानस्य पशून् पाहि' [यजु. १।१]

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' [यजु. ३६ । १८]

अत : वेदविरुद्ध होने से मनुस्मृति के सभी हिंसापरक श्लोक प्रक्षिप्त कहलायेंगे ।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक समझता हूँ कि उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त और भी 'आधार' बन सकते थे, या बन सकते हैं, किन्तु अभी केवल सात ही आधारों पर कार्य किया है । अन्य **आधारों का निर्माण कुछ का तो इसीलिए नहीं किया जा सकता कि वे दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं ।** उदाहरण के रूप में यह बहुत संभव है कि कुछ श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गये हों, लेकिन हम यदि स्वयं उनका क्रम निश्चित करदें तो फिर कोई सीमित आधार नहीं रह जायेगा । कोई किसी श्लोक को कहीं रखेगा, कोई कहीं । ऐसे श्लोक जो स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुए और उनमें प्रक्षेप की कोई प्रवृत्ति लक्षित **नहीं हुई, उन्हें उसी स्थान पर रखकर अपनी टिप्पणी देदी है । इसी प्रकार कुछ आधारों का निर्माण** करना संभव ही नहीं लगा, जैसे – किसी एक पदभाग या पंक्ति के रूप में किये गये प्रक्षेपों को निकालना । इसी प्रकार मौलिक बचे श्लोकों में भी कुछ रचनाएं इस प्रकार की हैं, जो निर्धारित

आधारों की सीमा में नहीं आतीं, किन्तु वे इतनी साधारण बातें हैं कि उन्हें मनु सदृश महर्षि की रचना कहने में सन्देह होता है।

इतना कार्य करने के बाद भी इस विषय में कार्य करना शेष रह जाता है। फिर भी अब जैसा संभव हो सका, मनुस्मृति के गदलेपन और विकृति को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया गया है, और इसमें कोई गर्वोक्ति की बात भी नहीं है कि इन 'आधारों' से मनुस्मृति का शुद्धिकरण करने से इसका गदलापन तो निश्चितरूप से दूर हो ही गया है।

६. प्रक्षेपों से हानियां एवं भ्रान्तियां

प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में स्वाभिमत प्रक्षेप करके अपना स्वार्थ एवं उद्देश्य तो सिद्ध कर लिया, किन्तु इस दुष्कृत्य से मनुस्मृति को गहरा आघात पहुंचा है । मनुस्मृति का अध्ययन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि उसका मौलिक रूप अत्यन्त शुद्ध, परिष्कृत, मानवतापूर्ण, पक्षपातदुराग्रहरहित एव उच्चाशयों से युक्त था । प्रक्षिप्तों ने उस स्वरूप को विकृत करके गदला और भद्दा बना दिया । मनु की मौलिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करके मनु के उद्देश्य को संकीर्ण एवं कुण्ठित रूप दे दिया । प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण आज मनुस्मृति को पाठकों की आक्षेपात्मक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ रहा है । इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अध्ययन के योग्य ग्रन्थ नहीं माना जाता । इस प्रकार प्रक्षिप्तों के कारण एक श्रेष्ठ ग्रन्थ का अपमान हो रहा है । साथ ही अनेक भ्रान्तियाँ भी पनप गयी हैं । प्रक्षिप्तों के कारण हुई हानियों और भ्रान्तियों का अनुमान निम्न बातों से लगाया जा सकता है —

(१) भारतीय संस्कृति के स्वरूप में विकृति —

मनुकालीन समाज की संस्कृति अत्यन्त उच्च आदर्शों से अनुप्राणित, पक्षपात और दुराग्रहरहित व्यवस्थाओं से युक्त, मानवता और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थी । वर्णव्यवस्था का आधार कर्म थे [१।८७-९१]। घृणा की भावना व्यक्तियों के प्रति न होकर दुष्कर्मों के प्रति थी । परवर्ती काल में व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ विकृत एवं शिथिल हो गईं । वर्णव्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना मानी जाने लगी । ज्ञान-विद्या पर ब्राह्मणों का एकमात्र आधिपत्य हो गया । उन्होंने अपने को सर्वोच्च तथा पवित्र घोषित किया और स्त्री, शूद्र को घृणास्पद तथा अस्पृश्य बताया । अवान्तर काल की इन विकृत-व्यवस्थाओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उनका प्रक्षेप कर दिया, और उन वर्णनों को पढ़कर ही आज यह माना जाने लगा कि ये विकृतियाँ मनुकालीन समाज में भी थीं । इन प्रक्षिप्तों के आधार पर ही आलोचक आज यह आक्षेप करते हैं कि मनुकालीन समाज में जाति-पांति, स्पृश्यास्पृश्य की भावना, स्त्री-शूद्रों के प्रति हीनदृष्टि थी । शूद्रों के प्रति पक्षपात और विद्वेषपूर्ण व्यवहार था । माँसभक्षण, पशुयज्ञ, बहुविवाह, आदि का प्रचलन था । इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण प्राचीन संस्कृति का स्वरूप भद्दा एवं विकृत हो गया । इतिहासकार तत्कालीन समाज और संस्कृति का जो इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, वह इन्हीं प्रक्षिप्तों पर आधारित होने से वास्तविक नहीं कहा जा सकता ।

(२) रचनाकाल-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ —

यद्यपि मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं, तथापि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुस्मृति उपलब्ध समस्त लौकिक संस्कृत-साहित्य से प्राचीन है, और कुछ वैदिक साहित्य से भी (विस्तृत विवेचन पूर्व वर्णित है); किन्तु कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने इसे महाभारत से भी परवर्ती और कुछ ने इसे शुंगकालीन माना है । यह रचनाकाल-संबन्धी भ्रान्ति कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही हुई है । महाभारत से परवर्ती मानने वाले इतिहासकार निम्न श्लोकों को आधार मानते हैं —

> **कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।**
> **एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।।** [२।१९।।]

अर्थ — **ब्रह्मावर्त से मिला हुआ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेनक देशों का प्रदेश** ब्रह्मर्षि-देश कहलाता है।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालांशूरसेनजान् ।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत् ।। (७।१९३ ।।)

अर्थ — कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक देशों में उत्पन्न सैनिकों को, जो लम्बे या छोटे कद के होते हैं, उनको सेना के अगले भाग में रखें।

इन श्लोकों में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक नामों का उल्लेख है, अत: विद्वानों का विचार है कि मनुस्मृति इनसे परवर्ती है। किन्तु ये दोनों ही श्लोक परवर्ती हैं।

इसी प्रकार कुछ अत्याधुनिक परम्पराओं के कारण, कुछ वाममार्गीय परंपराओं के कारण **मनुस्मृति को शुंगकालीन घोषित किया गया, जैसे-** बालविवाह का विधान, मद्य-मांस का विधान आदि। वे इस प्रकार के श्लोक हैं —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर: ।। (९।९४ ।।)

अर्थ — गृहस्थ-धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की सुन्दर कन्या और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।। (५।५६ ।।)

अर्थ — माँस-भक्षण, शराब पीना और व्यभिचार में कोई दोष नहीं है। यह तो प्राणियों की **स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु इनसे निवृत्ति होना अतिलाभदायक है।**

ये श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकार प्रक्षिप्त श्लोकों ने मनुस्मृति के काल के सम्बन्ध में विवाद **पैदा कर दिया और अनेक इतिहासकारों को इसका कालनिर्णय करने में भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है।**

(३) साहित्यिक अवमूल्यन

अपने मौलिक रूप में मनुस्मृति उत्कृष्ट एवं शिक्षाप्रद ग्रन्थ है। इसमें मनु के हितकारी, शान्तिप्रद और मार्गदर्शक प्रवचन हैं। इनमें अधिकांश प्रवचन ऐसे हैं, जिन्हें जीवन के शाश्वत और सार्वभौमिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। इसी कारण भारतीय साहित्य में मनुस्मृति का शीर्षस्थान रहा किन्तु आज प्रक्षिप्तों के कारण इसे रूढ़िवादी ग्रन्थ माना जाने लगा है, और विभिन्न विकृतियों के कारण इसे साहित्य में सम्मानित स्थान और महत्व नहीं दिया जाता। प्रक्षेपों से मनुस्मृति की **साहित्यिक गरिमा का हनन हुआ है।**

(४) प्रामाणिकता में सन्देह

विभिन्न विरोधी बातों के प्रक्षेपों के कारण, आज पाठक, मनुस्मृति की प्रामाणिकता में ही संदेह करने लगे हैं। मनुस्मृति का रचयिता कौन है, और क्या यह मनुस्मृति वास्तविक है इत्यादि प्रश्न प्रक्षेपों के कारण और अधिक उलझ गये हैं। जैसे —

निम्न श्लोक से मनुस्मृति मनुप्रोक्त सिद्ध होती है —

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षय: ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ।। (१।१ ।।)

अर्थ — एकाग्रचित्त होकर बैठे मनु जी के सामने महर्षि उपस्थित हुए और उनका योग्य सत्कार करके मनु जी से इस प्रकार कहने लगे।

किन्तु निम्न श्लोक इसे भृगुप्रोक्त सिद्ध करता है —

एतद्वोऽयं भृगु:शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत: ।। [१।५९।।]

अर्थ — इस धर्म-शास्त्र को भृगुमुनि आप सब ऋषियों को सम्पूर्णस्वरूप में सुनायेंगे।

निम्न श्लोकों से मनुस्मृति मूलत: ब्रह्माप्रोक्त सिद्ध होती है —

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभु: ।। [११।२४३।।]

अर्थ — प्रजापति ने इस धर्मशास्त्र को तपस्या करके बनाया।

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादित: ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।[१।५८।।]

अर्थ — मनुजी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिपूर्वक मुझे उपदेश दिया। और फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया।

इसी प्रकार अन्य परस्परविरोधी, प्रसंगविरोधी वर्णन भी मनुस्मृति में मिलते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक का सिर चकराने लगता है, और फिर उसे इसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा होता है।

(५) मनु के व्यक्तित्व पर आंच —

महर्षि मनु को धर्मप्रवक्ता के रूप में सभी ने सर्वोच्च स्थान दिया है। परवर्ती शास्त्रों, ऋषि-महर्षियों ने एकमत से मनु के विधानों को प्रमाण माना है और उन्हें प्रमाणिक, अधिकारी विद्वान्। "**यद्वै किंच मनुरवदत् तद् भेषजम्**" (जो कुछ मनु ने कहा है, वह औषध है —तै. सं २।२।१०२) कहकर उन्हें सर्वाधिक आदर दिया। किन्तु परवर्ती पक्षपात —दुराग्रहबद्ध, रूढ़ अन्धविश्वास और घृणा-विद्वेष से प्रेरित प्रक्षेपों के कारण पाठकों की दृष्टि में मनु की प्रतिष्ठा धूमिल हो गई। पाठकों से प्रक्षेपों की परीक्षा तो सम्भव न हो सकी, किन्तु उन्होंने यह अवश्य मान लिया कि इस प्रकार का वर्णन करने वाला व्यक्ति कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रक्षेपों ने मनु के व्यक्तित्व का हनन किया है।

(६) मनुस्मृति के प्रति घृणा का दृष्टिकोण —

ऊपर-वर्णित घिनौनी और अमानवीय बातों का मनुस्मृति में उल्लेख देखकर आज के व्यक्ति इसके प्रति उपेक्षा और घृणा की भावना रखने लगे हैं। कोई-कोई इसे 'स्वार्थी ब्राह्मणों का पोथा' कहकर मजाक उड़ाते है। विशेषत: निम्नवर्ग तो इस के प्रति इसलिए आक्रोश प्रकट करते हैं, क्योंकि इसमें उनके प्रति पक्षपात और विद्वेष का वर्णन है। स्त्रियों की निन्दा देखकर स्त्रीवर्ग की भी इस ग्रन्थ के प्रति उदासीनता की भावना है। यह सब प्रक्षेपों के कारण हैं।

इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति को विभिन्न हानियां हुई हैं, और उस के सम्बन्ध में भ्रान्तियां जन्मी हैं। अत: यह आवश्यक है कि मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके उन्हें दूर किया जाये, जिससे मनुस्मृति का मौलिक शुद्ध रूप सामने आ सके। प्रक्षेपों के निकल जाने पर ही मनु एवं मनुस्मृति के प्रति जनता की श्रद्धा जाग सकती है। तभी मनुकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का वास्तविक चित्र सामने आ सकता है।

—— o ——

तृतीय अध्याय

मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनकी मौलिकता के आधार

पिछले अध्याय में, मनुस्मृति में पाये जाने वाले प्रक्षिप्त श्लोकों और उनके अनुसंधान में सहायक 'मानदण्डों' पर लक्षण-उदाहरण-सहित पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत करके प्रक्षेपानुसन्धान की पद्धति को स्पष्ट कर दिया गया है, और भाष्य में भी उन-उन श्लोकों या मान्यताओं पर यथास्थान आधारभूत समीक्षा दी है, फिर भी इस विषय में बार-बार ये शंकाएं उठायी जाती हैं कि 'अमुक मान्यता को मौलिक क्यों माना गया ?' 'अमुक मान्यता को प्रक्षिप्त क्यों माना गया है ? 'आप जिसे प्रक्षिप्त घोषित कर रहे हैं, क्यों न उसे मौलिक स्वीकार किया जाये ?' आदि-आदि ।

पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कृतित्व के आधार पर निर्धारित प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध आदि सात मानदण्डों के अनुसार जो मान्यता मनुस्मृति-विरुद्ध सिद्ध होती है, वह प्रक्षिप्त मानी गयी है और मनुस्मृति-संगत मान्यता मौलिक । यहां मनु की कुछ प्रमुख मान्यताओं का, मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले उससे सम्बन्धित समग्र पक्ष-विपक्षात्मक विवरण को एकत्ररूप में प्रस्तुत करके, और अधिक विवेचन किया जाता है, जिससे ये मान्यताएं और इनको मौलिक मानने की पद्धति और अधिक स्पष्ट हो सके ।

मनुस्मृति की किसी भी मान्यता को मौलिक और प्रक्षिप्त मानने में सर्वसामान्य कारण या तर्क निम्न हैं —

१. मनुस्मृति के प्रतिपाद्य, उसकी आधारभूत भावनाओं —जो कि प्रसंग, विषय और शैली की दृष्टि से पूर्वापर क्रम से संगत हैं — के अनुकूल वर्णन या मान्यताएं मौलिक हैं, और इनके विरुद्ध प्रक्षिप्त हैं । ये प्रक्षिप्त 'अन्तर्विरोध' या 'परस्परविरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

२. मनुस्मृति कुछ निधारित विषयों या प्रकरणों में आबद्ध है । किसी भी विषय के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर मनुस्मृति में उसका संकेत स्वयं किया गया है । उन विषय-संकेतों से सम्बद्ध वर्णन मौलिक हैं, और उनसे बाह्य वर्णन प्रक्षिप्त हैं । ये प्रक्षेप 'विषयविरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

३. मनुस्मृति के पूर्वापर प्रसंगक्रम से जुड़े हुए श्लोक मौलिक हैं, और उससे तालमेल न रखने वाले अथवा उस क्रम को भंग करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं । ये 'प्रसंगविरोध' के अन्तर्गत आते हैं ।

४. मनुस्मृति की संरचना और वर्णन पद्धति की कुछ सुनिश्चित शैलियां भी पायी जाती हैं ।[1] उन शैलियों में ढले या अनुकूल वर्णन मौलिक हैं, और उनसे विरुद्ध प्रक्षिप्त । इन सभी को 'शैलीगत आधार' के अन्तर्गत रखा गया है ।

५. मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत या आधार वेद को माना है,[2] अतः स्पष्ट है कि मनुस्मृति में वेदानुकूल पायी जाने वाली मान्यताएं मौलिक हैं, और उसके प्रतिकूल पायी जाने वाली प्रक्षिप्त हैं । यह बात मनु ने स्वयं भी स्वीकार की है ।[3] इस प्रकार के प्रक्षेपों को 'वेदविरोध' की संज्ञा दी गयी है ।

६. प्रक्षेप करने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है । वह प्रक्षेप करने के पीछे 'निहितप्रवृत्ति'

---

१. शैलियों के परिज्ञान के लिए मनु. का पु., तृतीय अध्याय में शैलीगत आधार और चतुर्थ अध्याय में 'मनुस्मृति की शैली' शीर्षक द्रष्टव्य है ।

२. १।१२९ (२।१०); १।३/ १।१२५ (२।६), १।१२७ १२८, १३०-१३४ (२।८, ९, ११-१५); १।२१ ३१; १२।१०८, १०९, ११३, आदि ।

३. १२।९५-९६ ॥

कही जा सकती है । प्रक्षिप्त निर्धारण में इस प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखा गया है । इसको ध्यान में रखना इसलिए भी आवश्यक है कि प्राचीनकाल में स्मृति या हस्तलेखों के द्वारा ही विद्याएं या शास्त्र सुरक्षित रखे जाते थे । इसकी बहुत अधिक संभावना है कि किसी श्लोक में स्मृतिदोष से पूर्वापरक्रम में परिवर्तन आ गया हो, और फिर वैसा ही लेखबद्ध हो गया हो, अथवा हस्तलेख में त्रुटित होकर स्थानभ्रष्ट हो गया हो ।

इन तर्क या आधारों में से किसी श्लोक पर एक आधार ही लागू होता है, तो कहीं एक से अधिक भी । इन आधारों के अनुसार मनुस्मृति में मौलिक सिद्ध होने वाली कुछ प्रमुख मान्यताएं निम्न हैं —

१. मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मणा मान्य है, जन्मना नहीं —

मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर स्पष्ट और सांकेतिक रूप में ऐसे वर्णन हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण मूलत : कर्म से मानते हैं, जन्मना नहीं । किसी भी वर्ण में उत्पन्न बालक को माता-पिता अपने वर्ण या अन्य किसी भी वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं, किन्तु शैक्षणिक काल में अन्तत : वर्ण का निश्चय, उसके गुण, कर्म, स्वभाव-संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है । बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमें परिवर्तन हो सकता है ।

(क) इस मान्यता के विधायक या संकेतक स्थल —

इस मान्यता को प्रदर्शित करने वाले निम्न स्थल मनुस्मृति में प्राप्त हैं । ये सभी मनुस्मृति की आधारभूत भावना के अनुरूप, संकेतित विषय के अन्तर्गत, प्रसंगसम्मत और शैली के अनुकूल हैं —

१।३१, ८७-९१ ; २।११-१४ (३६-३९), ७८(१०३), १०१(१२६), १४३(१६८) ; ४।२४५ ; १०।६५ ।।

इन सभी स्थलों का अनुशीलन और विश्लेषण करने के अनन्तर इस विषयक निम्न निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं —

(१) (क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते,तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं थी;क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है, तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे । यतोहि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है, अपितु बहुत बार तो अज्ञान में विरोधी कर्म भी कर देता है । जब उस अवस्था में उसे जन्मत : ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति माना जा रहा है [१।९८],तो बाद में कर्मों के न करने या विरोधी कर्मों के करने से भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए । लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध-वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और अवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं । यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये, तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी । कोई पालन करे या न करे व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा,क्योंकि उनका श्रेष्ठत्व-अश्रेष्ठत्व तो जन्म से ही निर्धारित हो ही चुका । लेकिन मनु ने कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है । निम्न श्लोकों में उनकी अत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है —

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। [१०।६५ ।।]

अर्थात् —श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् गुणकर्मों

के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो जाता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिए ।

कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान — मनु ने इस श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है । इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २।३१, ८७-९१ ; १०७, ११।११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिये ।

(ख) श्लोक की पुष्टि में प्रमाण — प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी । इसके अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं । आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१०-११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है —

> ''**धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्ण : पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ** ।। १ ।।
> **अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ** ।। २ ।।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे ।। १।।

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ।। २ ।।'' (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(२) अपने धर्म-कर्मों का पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है । यथा —(अ) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है [**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय:** ।। [२।१६८] । (आ) सन्ध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है [**न तिष्ठति तु य : पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवत् बहिष्कार्य : सर्वस्मात् द्विजकर्मण :** ।। [२।१०३] । (इ) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होकर द्विज न बनने वाले व्यक्ति 'व्रात्य' संज्ञक शूद्र कहलाते हैं [२।३७-४०] । (ई) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त करता है (**उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मण : श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्** ।। (४।२४५)] । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही अश्रेष्ठ माना है और न जन्मके आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते ।

(३) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति, यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है, और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है, तो वह पुन : अपने वर्ण का हो सकता है । मनु ने यह मान्यता, 'व्रात्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है [११।१९१-१९६] । इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है ।

(४) मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन, गुणों की योग्यता के आधार पर माने हैं [२।१३६, १३७, १५४, १५६] । मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते, अपितु कर्म या गुणों को ही आधार मानते हैं ।

(५) मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए ''**लोकानां विवृद्ध्यर्थम्**'' (समाज की वृद्धि के लिए १।३१) और ''**सर्वस्यास्य तु गुप्त्यर्थम्**'' (इस समस्त जगत् की सुरक्षा के लिए १।८७) को

कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है । इन कारणों पर विशेष ध्यान देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं । क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हो गये तो, उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी ? केवल उच्च लोगों की वृद्धि होगी । अपितु वृद्धि भी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा । उसे अपने स्तर की उन्नति का अवसर ही कहां मिलेगा ? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निरर्थक होगा । इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है — वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजाएं नहीं बनायीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिए) चार वर्ण बनाये अर्थात् पहले प्रजाएं बनीं जो जन्मना समान थीं, फिर उनमें से गुण-कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे । इस प्रयोगपद्धति से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है ।

(६) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है । निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है . . . **'वर्णो वृणोते :'** (२।१।४) अर्थात कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है । इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है —

''वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा: ।
गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णा: ।''

(ऋ. भा. भू. वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात् —गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण हैं ।

(७) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार रखे गये हैं । नामों की व्युत्पत्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १।८७-९१ श्लोकों पर द्रष्टव्य हैं) ।

(क) 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक — वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण किया है और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है । 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा. ४।२।५९) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है । इसकी व्युत्पत्ति हैं —**'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्त: पुरुष :'** अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है । मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है ।

ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है । निम्न वचनों में ब्राह्मण के कर्त्तव्य उद्दिष्ट हैं —

(अ)**"आग्नेयो ब्राह्मण :"**(तां. १५।४।८) ।**"आग्नेयो हि ब्राह्मण :"**(काठ. २९।१०) = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = यज्ञादि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्ता ब्राह्मण होता है ।

(आ)**"ब्राह्मणो व्रतभृत्"** (तै. सं. १।६।७।२) ।**"व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्"** (श. १२।८।२।४) = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = कर्मों को धारण करने [illegible] होता है । सत्य बोलना व्रत का एक रूप है ।

(इ)**"गायत्रो वै ब्राह्मण :"**(ऐ १।२८) ।**"गायत्रो [illegible] :"**(गो. पू. ४।२४) ।**"गायत्रो वै बृहस्पति :"**(ता. ५।१।१५) = ब्राह्मण गायत्र होता है । गायत्र वेद, यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं ।

(ख) क्षत्रिय' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक—(१) क्षणु— हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'क्त:' प्रत्यय के योग से 'क्षत:' शब्द की सिद्ध होती है और 'क्षत' उपपद में त्रैङ्= पालन करने अर्थ में (भ्वादि) धातु से '**अन्येष्वपि दृश्यते**' [अष्टा. ३।२।१०१] सूत्र से 'ड:' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रिय:' स्वार्थ में 'इय:' होने से 'क्षत्रिय:' अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, '**क्षत्राद् घ:**' [अ. ४।१।१३८] सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घ:' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना। '**क्षदति रक्षति जनान् क्षत्र:**' जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, '**क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स 'क्षत:' = घातादि:, तत स्त्रायते रक्षतीति क्षत्र:**'= आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय' कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में —'**क्षत्रं राजन्य:**'[ऐ. ८।२; ३।४]'**क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्य:**'[श १३।१।५।३]= क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है।

(२) यहां अपत्यार्थ में 'इय्' आदेश क योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं? इस शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है। वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है। अष्टाध्यायी २।१।१९ में '**संख्यावंश्येन**' सूत्र में विद्या से जन्म माना है। मनुस्मृति २।११९ — १२३ श्लोकों में स्पष्टत: विद्या के आधार पर जन्म माना है। इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव और विद्या के आधार पर भी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं। जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी या अपत्य आदि नहीं होते, किन्तु फिर भी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या आदि, और — वरुणानी, मैत्रावरुण: आदि प्रयोग होते हैं।

(३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७।१ से ९।२२५ श्लोकों में है।

(ग) '**वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक** — (१) ''**विश:मनुष्यनाम**'' [निघं. २।३] उससे भावार्थ में 'यत्', उससे स्वार्थ में 'अण्'। अथवा 'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना। ''**यो यत्र-तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति स:, 'वैश्य:' व्यवहारविद्याकुशल: जनो वा**''= जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल जन 'वैश्य' होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में —

''**एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशव:**'' [तां. १८।४।६] ''**तस्माद् बहुपशुर्वैश्वदेवो हि जागतो (वैश्य:)**''(तां. ६।१ १०) = पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य है।

(२) वैश्य के विस्तार से कर्त्तव्यों का वर्णन द्रष्टव्य है ९।२२५–३३३ में।

(घ) '**शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक** — (१) शुचे–शोकार्थक (भ्वादि) धातु से '**शुचेर्दश्च**' (उणा. २।१९) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है। **शूद्र: = शोचनीय: शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साधुर् अविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा'**= शूद्र वह व्यक्ति होता है, जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया, और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है, अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण की चिन्ता की जाती है ऐसा सेवक मनुष्य। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है — ''**असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्र:**'' [तै. ३।२।३।९] असत: = अविद्यात:। अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न

जीवनस्थिति रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, ऐसा मनुष्य शूद्र होता है ।

(२) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकता है ।

[९ । ३५ ।। १० । ६५]

(३) शूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४ –३३५ श्लोकों में है । उन श्लोकों से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते,तथा न घृणास्पद मानते हैं ।

(८) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं इसमें अन्य प्रमाण भी हैं — (क) शूद्र को वे हीन नहीं मानते, अपितु **'शुचि'** : = पवित्र **'उत्कृष्ट शुश्रूषुः'** आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं [९ । ३३५] । सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला भला अपवित्र, अछूत, हीन कैसे हो सकता है ? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते हैं कि वह पढ़ता नहीं । उसका वेदाध्ययन-रूप दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता।२ । १२६ में अज्ञानता के कारण ही यह कथन किया है — **''यथा शूद्रस्तथैव स :''** । ब्राह्मण – क्षत्रिय – वैश्यों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूप दूसरा जन्म होता है — **'द्विर्जायते इति द्विज :** । शूद्र को 'एकजाति :' न पढ़ने के आधार पर कहा जाता है । देखिए प्रमाण — **'ब्राह्मण : क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा : द्विजातय : । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्र : नास्ति तु पंचम : ।।'** १० । ४ ।। (ग) मनु कर्मों के आधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं — जो श्रेष्ठ धर्माकूल आर्य परम्पराओं में दीक्षित हैं,वे चारों वर्ण आर्य हैं । (२) इनमें अदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१० ।४५] । (घ) मनु कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ = आर्य और अश्रेष्ठ = अनार्य = मानते हैं । १० । ५७–५८ में वे कर्मों के आधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं । ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्ध करती हैं ।

(९) १ । ३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है । १ । १६, २३, २६ –३० श्लोकों के द्वारा यह कहा जा चुका है कि एक साथ अनेक प्रजाएं उत्पन्न हुई — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के रूप में प्रजाएं उत्पन्न नहीं हुई, अपितु समान मनुष्यों के रूप में हुई । फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुख, बाहु, जंघा और पैर की समानता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया । १ । ३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है । उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का बनाया । इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये । यह वर्णनक्रम (अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है । इन अनेक प्रमाणों से 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अत : इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कहलायेगी ।

(१०) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं । यथा —

(अ)"स : (क्षत्रिय :) ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति ।।'' [ऐ. ७ । २३]

क्षत्रिय दीक्षित होकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है ।

(आ) ''तस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते ।।'' [शत. ३ । २ । १ । ४०]

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो अथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयनसंस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ब्राह्मण कर्म वाले होते हैं। बाद में कर्मानुसार क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं।

(११) वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण — ऐतरेय ब्राह्मण २।१९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्चवर्णस्थ कहलाया —

(क) **''ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्तमासत,ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्या: पुत्र: कितवोऽ ब्राह्मण : कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति । . . . स बहिर्धन्वो दूह्ळ पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् — 'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ।।''**

अर्थात् — 'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वञ्चित कर दिया। यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया! (यज्ञ से बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहां उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुन: अपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित कर लिया।

यह सूक्त ऋक्. १०।३० वाँ है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है। इस ऋषि द्वारा दृष्ट अन्य १०।३१ –३४ सूक्त भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि उन-उन सूक्तों के अर्थद्रष्टा हैं।

(ख) छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम जाबाल की कथा आती है,जो अज्ञात कुल होते हुए गुण–कर्मों से ब्राह्मण बन गये [४।४।९]। इसी प्रकार चांडाल कुल के मातङ्ग ऋषि ब्राह्मण हो गये। वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र क्षत्रियराजा के ब्राह्मण होने का वर्णन आता है [१।६५सर्ग]। इस प्रकार गुण–कर्म से वर्णव्यवस्था और वर्णपरिवर्तन परम्परा से भी सिद्ध है।

(१२) **वर्ण चार हैं**—(क) मनु ने चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१०।४५]। अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण नहीं। इस मान्यता की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है— १।३१, ८७-९१।३।२०।।५।५७। ७।६८।। १०।४५, ६५, १३१।। १२।९७ आदि।

(ख) **चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण**—अन्यत्र शास्त्रग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं,जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—

(अ) ''ऊर्जाद: उत यज्ञियास: पंचजना: मम होत्रं जुषध्वम्।''

[ऋक् १०।५३।४]

''पंचजना :—चत्वारो वर्णा:, निषाद: पंचम इति औपमन्यव:।''

[निरु. ३।२।७]

चार वर्ण = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं।

(आ) ''चत्वारो वर्णाः । ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः''
[श. ब्रा. ५ । ५ । ४ । ९]
''चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः ।।''
[मैत्रा. सं. ४ । ४ । ६]

कर्मणा-चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का आधार वेद —

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है । इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है । जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है,वैसा ही मनुस्मृति में है । मन्त्र निम्न हैं—

(क) ''यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ।।
[यजु. ३१ । १०]

(यत्पुरुषं.) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है। **(कतिधा व्य.)** जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं, **(मुखं किमस्यासीत्)** इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पादन हुआ है? **(किं बाहू)** बल वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है? **(किमूरू)** व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
[यजु. ३१ । ११]

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्य-भाषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकर्मों से **ब्राह्मणवर्ण** उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है **(बाहू राजन्यः कृतः)** और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है **(ऊरू तदस्य.)** खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है **(पद्भ्यां शूद्रो.)** जैसे पग सबसे नीच अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है ।'' [ऋ. भू. १२५-१२६]

(ग) इस आलंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं । निम्न वचनों में ब्राह्मण को समाज या मनुष्यों का मुखरूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं —

(अ)"ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखम् ।" [तां. १ । ६ । १]
=ब्राह्मण मनुष्यों का मुख है ।
(आ)"अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम् " [श. ३ । ९ । १ । १४]

(ख) जन्मना वर्णव्यवस्था के विधायक स्थल और इस विषयक शंकाओं का निराकरण —

मनुस्मृति में जन्मना वर्णव्यवस्था खोजने वाले व्यक्ति प्रमुखत : निम्नस्थलों से इस विषयक आधार ग्रहण करते हैं —

(१) १ । २ में **'अन्तरप्रभवाणाम्'**और १ । १३७ [२ । १८] में **'सान्तरालानाम्'** पदों से वर्णसंकरों का वर्णन है । इस प्रकार मनु वर्णसंकरों के धर्मों का वर्णन भी करते हैं,और जन्मना वर्ण तथा जातियां मानते हैं ।

(२) १ । ९८-१०० श्लोकों में जन्म के आधार पर ब्राह्मण की प्रशंसा है ।

(३) २ । ११-१४ [२ । ३६-३९] उपनयनविषयक श्लोकों में शूद्र का उल्लेख नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मनु जन्म से ही शूद्र मानते हैं । जन्म से अन्य वर्णों के नामों का उल्लेख भी मनु की जन्मना-मान्यता की प्रवृत्ति को प्रकट करता है ।

(४) दशम अध्याय में जन्म से ही माने गये वर्णसंकरों का तथा अन्य विविध जातियों का वर्णन है ।

इनका उत्तर क्रमश : दिया जाता है—

(क) इन श्लोकों में टीकाकारों ने **'अन्तरप्रभवाणाम्'** पद का — "संकीर्ण जातियों या वर्णसंकरों के" यह अर्थ अशुद्ध किया है । इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये । इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ हैं —

२ । १८ [इस संस्करण के अनुसार १ । १३७] में **'अन्तरप्रभवाणाम्'** के पर्यायवाची रूप में **'सान्तरालानाम्'** शब्द का प्रयोग किया है । जैसे यहाँ वर्णों के साथ **'अन्तरप्रभवाणाम्'** शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ **'सान्तरालानाम्'** शब्द का प्रयोग है । उस श्लोक में **'सान्तरालानाम्'** शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अत : यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द **'अन्तरप्रभवाणाम्'** शब्द का अर्थ **'आश्रमों के'** होना चाहिये । यद्यपि २।१८ [१।१३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने **'सान्तरालानाम्'** शब्द का अर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसंकर'किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है । यतो हि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक आधार 'सदाचार' [२ । ६, १२ या १ । १२५, १३१] का लक्षण किया है और बताया गया है कि "ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार कहलाता है" । इस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' या 'संकीर्ण जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता,क्योंकि वर्णसंकरों का आचरण 'सदाचार' ही नहीं हो सकता और न ही उनके आचरण को उन श्लोकों में 'सदाचार' के रूप में माना है ।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णसंकरों के धर्मवर्णन-प्रसंग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण को निन्दनीय और गर्हित कहा है । उस प्रसंग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं — "**मातृदोषविगर्हितान्**" = माता के दोष से निन्दित जन्म वाले [१० । ६], "**क्रूराचारविहारवान्**" = क्रूर आचार-व्यवहार वाले [१० । ९], "**अधमो नृणाम्**" = मनुष्यों में नीच [१० । १२], "**अव्रतांस्तु यान्**" = व्रतहीन [१० । २०], "**पापात्मा भूर्जकण्टक :**" = पापी आत्मा वाले भूर्जकण्टक [१० । २१], "**ततो ऽप्यधिकदूषितान्**" = उनसे भी अधिक दूषित आचरण वाले [१०।२९], "**जनयन्ति विगर्हितान्**" = निन्दित

सन्तानों को जन्म देते हैं [१० । २९] । इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अवध्वंसज' (पतितोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है । इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशुहिंसा आदि धर्म बतलाये हैं, वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म हैं; जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है । फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है ? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है । इससे यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना संगत नहीं है, और मनु के विरुद्ध भी है । अत: वहां उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए । उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में 'अन्तरप्रभव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है ।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णनसंकरों के धर्मों का नहीं । यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है । आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे — द्वितीय अध्याय में — ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का वर्णन है । साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं । फिर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७ । १ । से ९ । ३२५ तक है । वैश्य के अतिरिक्त कर्त्तव्यों का कथन ९ । ३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १० । १-६] तक तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ७-८] में है । यदि 'अन्तरप्रभवाणाम्' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है, तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है ? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं ।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं । १२ । ९७ में भी वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख है — ''चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोका : चत्वारश्चाश्रमा : पृथक्'' । इसी प्रकार ७ । ३५ में भी राजा को वर्णों और आश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं —

> स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वश : ।
> वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।।

इस प्रवृत्ति के अनुसार भी यहाँ वर्णों के साथ प्रयुक्त 'अन्तरप्रभव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है ।

(घ) मनुस्मृति में दशम अध्याय को छोड़कर वर्णों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है । नामकरण संस्कार [२ । २६-३५ या २ । १-१०] विवाहविधि [३ । २०] आदि प्रसंगों में जहाँ शूद्रों के लिए भी विधान किए हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है । दशम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है, वह वस्तुत : मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए) । यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से वर्णित है । मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए ये कहते

है — "**वर्णधर्मान्निबोधत**" १ । १४४ [अन्य संस्करणों में २ । २५] । इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा — "**एष धर्मविधि : कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तित :**" १० । १४२ [अन्य संस्करणों में १० । १३१] । दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन है, आपद्धर्म का नहीं । यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अभीष्टता, किन्तु फिर भी किसी ने इस वर्णन को बलात् मिलाया है ।

इसी प्रकार १० । १५ [अन्यत्र १० । ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि आर्यों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई नहीं है । इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य भाषाएं बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषाएं [१० । ५६(१० । ४५)] । यहां वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं । इससे वर्णसंकरों का वर्णन [१० । ५-७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता । जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता,तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं विरुद्ध है । अत : यहां भी 'वर्णसंकर' अर्थ न होकर 'आश्रम' अर्थ ही मनुस्मृतिसम्मत है ।

(ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १ । ८७-९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेख तथा उनका कर्मवर्णन किया है । उससे स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते । इन श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन अभीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं । अत : यहाँ भी 'अन्तरप्रभव' का अर्थ वर्णसंकर करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत है ।

(च) प्रतीत होता है कि जब वर्णसंकरों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ,तो उन लोगों ने तदनुसार ही 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया । यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठभेद करने का भी प्रयास किया । तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में '**अन्तर-प्रभवाणाम्**' पद के स्थान पर '**संकरप्रभवाणाम्**' पाठभेद भी मिलता है । यह पाठभेद वर्णसंकर-सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था । यह पाठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई ।

२. १ । ९८-१०० श्लोक, १ । ९२-१०७ तक चलने वाले श्लोकों के बीच आते हैं और पूर्वापर दृष्टि से उनसे सम्बद्ध भी है । ये सभी श्लोक पूर्वापर प्रसंग से असम्बद्ध हैं, और सांकेतिक 'सृष्ट्युत्पत्ति-विषय' से बाह्य हैं । इन श्लोकों में मनुस्मृति को शास्त्र कहा गया है । शैली के आधार पर यह प्रयोग इन श्लोकों को परवर्ती सिद्ध करता है ।

३. (क) **उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं?**— ११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया । यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं,तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका समाधान इस प्रकार है —

(अ) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है । उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते । यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है,और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं । जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे वह इन तीनों में उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है । पुन : शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णों का निश्चय करता है [२ । १२१ (१४६), १२३ (१४८)]

(आ) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को धारण नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा उपनयन रूप ब्रह्मजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है । उपनयन से पूर्व अर्थात् द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं — **'जन्मना जायते शूद्र :, संस्करात् द्विज उच्यते'** । इस प्रकार कोई भी बालक किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता है । मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है —

चतुर्थ : एकजातिस्तु शूद्र : ।। १० ।४ ।।

इस प्रकार उपनयन आदि से पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती । द्विज की 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति अध्ययन के बाद आती है । द्विजों के अध्ययन और कार्यों में असमर्थ व्यक्ति ही शूद्र है [२ । १४-१५ (३९-४०)]

(इ) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने उपनयन के प्रसंग में शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया । अगर वे जन्म से ही शूद्र का अस्तित्व और वर्णनिर्धारण मानते तो इस प्रसंग में पृथक् से उसके उपनयन का निषेध करते।

(ख) 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ —

(अ) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण के बालक का, 'राज्ञ :' या 'क्षत्रियस्य'= क्षत्रिय के बालक का, 'वैश्यस्य', विश :'= वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है । यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी । श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है, जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें । इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १० । ६५ ।। १ । ८७-९१ । १ । १०७ श्लोक और उन पर समीक्षा] । इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है, जैसे जन्म के आधार पर वर्ण-प्रवेश है, और वह भी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य का वैश्य में । यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता ।

(आ) यहां ये पद वस्तुत : जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं । जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण — वर्ण का दीक्षाकाल' आदि । मनुसम्मत मान्यता के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं । इस अर्थ का संकेत मनु के **'ब्रह्मवर्चसकामस्य'** [२ । १२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है । इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है; जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे, वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है, और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे, तो वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है ।

(इ) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं । प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं, उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं । पुन : उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२ । १२१ (१४६), १२३ (१४८)] । देखिये मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए **'ब्रह्मवर्चसकामस्य' 'बलार्थिन :', 'वैश्यस्य इह अर्थिन :'** [२ । १२] पदों का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्पवय बालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता । इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ ही मनु के वर्णनानुरूप ही है ।

४. उपर्युक्त विवेचन (संख्या १) से यह स्पष्ट हो गया कि मनुस्मृति में वर्णसंकरों का वर्णन

करना इसका प्रतिपाद्य नहीं है; न यह मान्यता मनु की आधारभूत मान्यताओं से मेल खाती है । अन्य शैली आदि विभिन्न कारणों से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग परवर्ती एवं प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उनके वर्णन की शैली विधि-विधानात्मक न होकर ऐतिहासिक है । इस प्रकार वह वर्णन् मनुविहित नहीं कहला सकता ।

२. मांसभक्षण एवं पशुयज्ञ पाप है —

मनु मांस भक्षण एवं पशुयज्ञ को निन्द्य एवं पाप मानते हैं।उक्त दोनों बातें उनके मुख्य उद्देश्य, प्रतिपाद्य एवं मनुस्मृति की आधारभूत भावना के ही विरुद्ध हैं ।

(क) उक्त मान्यता के विधायक एवं संकेतक स्थल —

मांसभक्षण एवं पशुयज्ञ पाप है — २ । १५२ [१७७]; ३ । ६८-६९; ४ । २, ६८, १७०, २४६; ५।५, ४५-४९, ५१ ।।

इन पर विचार करने के बाद निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं —

१. 'अहिंसापालन' अथवा 'हिंसानिषेध' की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से एक है जिन पर मनुस्मृतिरूप प्रासाद टिका हुआ है । यदि इन्हें मनुविहित मान लिया जाये तो मनुस्मृति की आधारभूत व्यवस्था ही खंडित हो जायेगी । मनु द्वारा विभिन्न स्थलों पर किये गये हिंसानिषेध और अहिंसापालन के आदेशों के परिप्रेक्ष्य में यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि

(अ) सर्वप्रकार की हिंसा या मांसभक्षण मनुविरुद्ध है, (आ) पशुयज्ञ मनुविरुद्ध है, और (इ) यज्ञ के उद्देश्य से पशुहिंसा करना भी मनुविरुद्ध है । यथा — (क) मनु ने गृहस्थियों और वानप्रस्थियों के लिए अनिवार्य रूप से पांच महायज्ञों का विधान किया है । इन यज्ञों के विधान का मुख्य उद्देश्य हिंसा की निवृत्ति ही है —

> **पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर: ।**
> **कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।**
> **तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि: ।**
> **पञ्च क्लृप्ता: महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।। [३ । ६८, ६९ ।]**

जो व्यक्ति दैनिक जीवनचर्या में अज्ञानवश होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं की निवृत्ति के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान करता है, जिसमें परप्राणीपीड़ा की भावना भी नहीं है;और जो आजीविका भी ऐसी अपनाने का विधान करता है,जिसमें किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचे [४ । ४][4]; जो पशुओं की सवारी करते हुए उनको चाबुक भी इस प्रकार मारने के लिए कहता है, जिससे वे संतप्त न हों [४ । ६८][5]; वह व्यक्ति पशुओं की हिंसा और मांसभक्षण का विधान कदापि नहीं कर सकता । यह सर्वथा असंभव है । आश्चर्य की बात तो यह है कि छोटी-छोटी हिंसाओं के प्रायश्चित के लिए अर्थात् उनके पाप की शुद्धि के लिए ही मनु पांच यज्ञों का विधान कर रहे हैं और फिर लोग यज्ञों में ही हिंसा करने को मनुसम्मत सिद्ध करना चाहते हैं ! यदि ऐसा है तो यज्ञों से पाप-शुद्धि ही क्या हुई ?

२. मनु ने ५ । ४९ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है — "**निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्**" = सब प्रकार के मांस-भोजन से दूर रहे । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर भी मांसभक्षण का स्पष्ट निषेध है और हिंसक की निन्दा तथा अहिंसक की प्रशंसा एवं अहिंसा की प्रेरणा है —

---

४ "**अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुन:— विप्रो जीवेत् ।**"

५. **विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यम् . . . प्रतोदेनाप्रतुदन्भृशम् ।**"

(क) "वर्जयेत् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।" [२ । १५२ (१७७)]
(ख) "वर्जयेत् मधुमांसम्" [६ । १४]
(ग) "हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।" [४ । १७०]
(घ) "यो अहिंसकानि भूतानि हिनस्ति आत्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते" । [५ । ४५ ।।]
(ङ.) "अहिंस्त्रः दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रत : । [४ । २४६]
(च) "विचरेत् नियत : नित्यं सर्वभूतानि-अपीडयन् ।।" [६ । ५२]
(छ) "अहिंसया च भूतानां अमृतत्वाय कल्पते ।" [६ । ६०]
(ज) "यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सु : सुखमत्यन्तमश्नुते ।। [५ । ४६]

३. इतना ही नहीं, मांसप्राप्ति में किसी भी प्रकार का सहयोग देने वाले व्यक्ति को मनु 'घातक'= पापी कहकर संबोधित करते हैं । निम्न श्लोक में आठ प्रकार के व्यक्तियों को पापियों में परिगणित किया गया है —

(क) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका : ।।[५ । ५१]

(अनुमन्ता) मारने की आज्ञा देने वाला (विशसिता) मांस काटने वाला (निहन्ता) पशु को मारने वाला (क्रय-विक्रयी) पशुओं को मारने के लिए मोल लेने-बेचने वाला (संस्कर्त्ता) पकाने वाला (उपहर्त्ता) परोसने वाला (च) और (खादक :) खाने वाला,(इति घातका :) ये सब हत्यारे और पापी हैं ।। ५१ ।।

४. भक्ष्याभक्ष्य-प्रसंग [५।५, ८, ९, १०, २४, २५] श्लोकों से ज्ञात होता है कि मनु तामसिक,राजसिक और 'अमेध्यप्रभव'= अशुद्धस्थानोत्पन्न सभी पदार्थों को अभक्ष्य मानते हैं । बासी भोजन,लहसुन, प्याज आदि तामसिक- राजसिक भोजन के अन्तर्गत आते हैं तथा गन्दे स्थान में उत्पन्न पदार्थ और रक्त-चर्बी आदि से युक्त मांस आदि अमेध्यप्रभव है । कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं —

(क) लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ।। [५।५ ।।]
(ख) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवध : स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।। [५ । ४८ ।।]
(ग) समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ।। [५ । ४९ ।।]

५. मनु सात्विक गुणों, पदार्थों को ही ग्राह्य और प्रशंसनीय मानते हैं, और राजस-तामस को निन्द्य ।[६] । सात्विक गुणों से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है ।[७] यही मनु का धर्मशास्त्र के प्रवचन का उद्देश्य है — "ब्राह्मीयं क्रियते तनु :" [२ । ३ (२८)] तथा तामसिक-राजसिक पदार्थों का भक्षण करना मनु के मुख्य प्रतिपाद्य और उद्देश्य के ही विरुद्ध है ।

६. तृतीय अध्याय के यज्ञ-प्रसंगों में मनु ने कहीं भी मांसयज्ञ का विधान नहीं किया है । और वानप्रस्थ के प्रसंग में तो स्पष्टत : कह दिया है कि अन्नों से ही यज्ञ करे और वह भी 'मेध्य' = शुद्ध अन्नों से —

६. ५ । ५ ।। ५ । २४ ।। १२ । ७ २८, २९, ३२, ३३, ३५, ३६ ।।
७. १२ । ७, ३१, ३७ ८३ ।।

मुन्यन्नै : विविधै : मेध्यै : शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेत् विधिपूर्वकम् ।। (६ । ५ ।।)

मनु की मान्यता को समझने के लिए इन प्रमाणों से अधिक और क्या प्रमाण मिल सकते हैं?. इसके बाद भी जो लोग मांसभक्षण और पशुयज्ञ को मनुसम्मत मानते हैं, वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं ।

७. **मांसभक्षण और पशुयज्ञ के विरोध में वेद के प्रमाण** — इस प्रसंग में मांस-भक्षण की सिद्धि के लिए प्रक्षेपकर्त्ताओं ने यज्ञ की आड़ ली है । यज्ञों का विधान वेदों में है । अत :यहाँ वेदों के ही यज्ञसम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे पता चलेगा कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए स्वार्थी लोगों ने मिथ्या ही यज्ञ और वेद को बदनाम किया है —

(क) **'अध्वर'** शब्द ऋग्वेद में-१ । २३ । १७ ।। १ । १३५ । ७ ।। १ । ४४ । १३ ।। ३ । २४ । २ ।। ७ । ७२ ।४ ।। ७ । ६ । ८ ।।, यजुर्वेद में- ३७ । १९ ।। ३ । ११ ।। २१ । ४७ आदि अनेक स्थानों पर यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द की निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं —''**अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेध :**'' [नि. ३ । १७ ।। १ । ७] अर्थात् 'अध्वर = यज्ञ का नाम है । 'ध्वर' हिंसार्थक धातु से बना है । जिसमें हिंसा न हो उसे'अध्वर'='यज्ञ'कहते हैं । इस संज्ञा से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती । यज्ञ के नाम पर पशुहिंसा करना स्वार्थी लोगों की उदरपूर्ति-हेतु कल्पना है ।

(ख) यजुर्वेद को कर्मकाण्ड का वेद माना जाता है । उसके प्रथम मन्त्र में ही पशुओं की अहिंसा की कामना है — ''**यजमानस्य पशून् पाहि**'' [यजु. १ ।१] अर्थात् 'यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा कीजिए ।'

(ग) **मांसाहारियों को यज्ञ-सम्पादन का अधिकार नहीं** — यज्ञों में मांसविधान की चर्चा तो बहुत दूर की बात है । वेदों में यज्ञ-विधान प्रसंगों में केवल यज्ञीय प्रवृत्ति के अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं) व्यक्तियों को ही यज्ञ करने का विधान है । निम्न वेदमंत्र प्रमाणरूप में उल्लेखनीय है ।

''**ऊर्जाद : उत यज्ञियास : पञ्चजना : मम होत्रं जुषध्वम् ।**''
(ऋ. १० ।५३ ।४)

अर्थात्–केवल अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं), और यज्ञीय प्रवृत्ति वाले पांचों प्रकार के (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) व्यक्ति यज्ञ-सम्पादन करें ।

निरुक्तकार ने 'ऊर्ज' की व्युत्पत्ति और अर्थ दिये हैं — '**ऊर्गिति अन्ननाम, ऊर्जयति इति सत : ।**'' (निरु. ३ ।२ ।७) अर्थात् 'ऊर्ज्' अन्न को कहते हैं, क्योंकि यह शरीर को प्राणशक्ति प्रदान करता है ।

८. इन सभी स्थलों की मनुस्मृति के विषय, प्रसंग के साथ अनुकूलता है, और शैली के अनुरूप भी हैं ।

(ख) मांससमर्थक स्थल और उनका विवेचन —

(अ) ३ ।१२३, २६७-२७२ में विविध मांसों से मृतकश्राद्ध में तृप्ति ।
(आ) ४ ।२६-२८ में नये अन्न या मांसभक्षण के समय उनसे यज्ञ करना ।
(इ) ५ ।६, ७, ११-२३, २६-४५, ५०, ५२-५६ में विभिन्न मांसों का विधान और उनको

यज्ञपूर्वक खाने की विधि तथा खण्डन-मण्डन ।

१. इन श्लोकों में वर्णित मान्यताओं का उक्त मान्यताओं से विरोध है, अत: ये मान्य नहीं ।

२. 'अ' भाग के श्लोक विषयविरुद्ध हैं । क्योंकि वहां पञ्चयज्ञों का विषय है, मृतकश्राद्ध वर्णन का नहीं । (विस्तृत विवेचन संख्या ३ पर देखिये, इसी मान्यता की समीक्षा में)

३. 'अ' भाग के श्लोक मृतकश्राद्ध सम्बन्धी प्रसंग के अंश हैं, और यह प्रसंगविरुद्ध है । 'अ' भाग के ५।११-२३ श्लोकों ने ५।१०, १४ के प्रसंग को भंग किया है, और ५।२६-४४ श्लोकों में नये सिरे से मांसभक्षण की विधि-अविधि का प्रसंग प्रारम्भ किया है । यह भी अप्रासंगिक हैं ।

४. तीनों स्थलों की शैली निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अयुक्तियुक्त है ।

५. इन मांस-समर्थक प्रसंगों में परस्पर विरुद्ध विधान भी हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि ये प्रसंग अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में रचकर मिलाये गये हैं ।

३. मृतक व्यक्तियों का श्राद्ध मनुसम्मत नहीं —

(क) जीवितश्राद्ध का वर्णन करने वाले स्थल —

३।८०-८२ ; ४।३०-३१ ।।

मनु ने पञ्चयज्ञों के प्रसंग में श्राद्ध का क्रमबद्ध रूप से वर्णन किया है । वह श्राद्ध जीवितों पर ही घटता है, मृतकों पर नहीं । मनु कहते हैं — 'श्राद्धों से पितरों का पूजन करें । यह श्राद्ध प्रतिदिन करें । माता-पिता आदि वयोवृद्धों को प्रसन्न रखते हुए उन्हें अन्न, जल, फल-मूल आदि देकर यह श्राद्धकार्य करें । यही पितृयज्ञ कहाता है ।' इन श्लोकों में श्राद्ध के लिए ऋषि, पितर, देव, मनुष्य आदि सभी जीवितों की ही गणना है । ४।३०-३१ में ऐसे ही लोगों को हव्य = भोज्य पदार्थों का दान, कव्य = उपयोगी धन, वस्त्र आदि का दान देने का विधान है । प्रमुख श्लोक द्रष्टव्य हैं । —

(क) ऋषय: पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्य: कार्यं विजानता ।। [३।८० ।।]

(ख) स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितृन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ।। [३।८१ ।।]

(ग) कुर्यादहरह: श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्य: प्रीतिमावहन् ।। [३।८२ ।।]

इस विषय में विस्तृत विवेचन किया जाता है — पितृयज्ञ के दो भेद हैं — एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध । **'येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति = सुखयन्ति तत्तर्पणम्'** । अर्थात् जिस कर्म से विद्वान्रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, उसे तर्पण कहते हैं । **'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् 'श्राद्धम्'** । अर्थात् जो इन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, वह श्राद्ध कहाता है ।

श्राद्ध का अर्थ है —'श्रद्धा से किया गया कार्य,' जैसे-श्रद्धापूर्वक माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करना, भोजन देना आदि । यही पितरों का तर्पण या पितृयज्ञ है । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं । क्योंकि, उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है । इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती । और जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिए मृतकों को सुख पहुंचाना सर्वथा असम्भव है। . . . .

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं — देव, ऋषि और पितर। 'पितर' से अभिप्राय मृतकों से नहीं अपितु जीवितों से है। **''पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानै; ते पितरः''** = जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते हैं। इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) ''देवा वा एते पितरः'' [गो. उ. १।२४]

(आ) ''स्विष्टकृतो वै पितरः'' [गो. उ. १।२५]

अर्थात् सुख सुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं।

ये श्लोक अपने-अपने प्रसंग में सहज ढंग से उक्त हैं, और विषय तथा शैली के अनुकूल हैं।

(ख) मृतकश्राद्ध के विधायक स्थल —

(अ) ३।१२२-२८४ तक मृतकश्राद्ध का एक स्वतन्त्र प्रसंग है।

इस प्रसंग का अपने पूर्वापरप्रसंग से न तो तालमेल है, न यह विषय संकेत के अनुसार है, और न मनु की मूल भावना के अनुकूल है। ऐसा निम्न कारणों से ज्ञात होता है—

१. **अन्तर्विरोध** — इस प्रसंग में वर्णित विधानों के मनुस्मृति के अन्य विधानों से अनेक अन्तर्विरोध हैं —(१) १२२ से २८४ श्लोकों में मृतकश्राद्ध का विधान है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है। मनु ने पितृयज्ञ के रूप में जीवितों का श्राद्ध और वह भी दैनिक रूप में विहित किया है [३।८०-८२] [विस्तृत रूप में द्रष्टव्य है ३।८५ पर अनुशीलन समीक्षा]। मनु के अनुसार 'पितृ' या 'पितर' शब्द का अर्थ भी 'बुजुर्ग' 'पालक' है। देखिए ९।२८; २।१२६; [२।१५१] में 'पितृ' शब्द का प्रयोग 'बुजुर्गों' के लिये किया है। (२) दैनिक पितृयज्ञ या श्राद्ध घर पर विहित है, जबकि इन श्लोकों में वर्णित श्राद्ध को वनों, नदीतीरों, एकान्त स्थानों [२०७] पर करने का कथन है। यह भिन्नता मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। (३) मनु ने पितृयज्ञ को ही श्राद्ध माना है और उससे भिन्न कोई क्रिया पितृयज्ञ में नहीं मानी [८०-८२], जब कि इन श्लोकों में ''पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य'' कहकर ''पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात् मासानुमासिकम्'' [१२२] के विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन करने वाला इस विधान को पितृयज्ञ से भिन्न क्रिया मानता है। यह अतिरिक्त पृथक् श्राद्ध का विधान मनु की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। (४) पितृयज्ञ के प्रसंग में केवल अन्न, जल, फल-मूल से ही श्राद्ध करना कहा है [८२], जब कि इस प्रसंग में मांस से श्राद्ध करना अधिक फलदायक माना है [२६६-२७२]। (५) इस प्रसंग में अनेक श्लोकों में मांसभक्षण का विधान है [१२३, २२७, २५७, २६६-२७२]। यह मान्यता मनुस्मृति की मौलिक मान्यता के ही विरुद्ध है। मनु ने मांसभक्षण को पाप और मांसभक्षक को पापी कहा है [५।४३-५१] और हिंसा करने वाले के लिए प्रायश्चितों का विधान किया है [३।६८-६९]। [विस्तृत समीक्षा ४।२६-२८ श्लोकों पर देखिये]। (६) मनु कर्त्ता को ही स्वयं फल का भोक्ता मानते हैं [४।२४०]।

इस प्रसंग में श्राद्धकर्त्ता द्वारा पितरों का निस्तार [२२०-२२२], एक के श्राद्ध से सात पीढ़ी के वंशजों को पुण्यफल-प्राप्ति [१४६], आदि कथन उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। (७) १३६, १३७; १५२-१५६, १६४-१६६, १८२ आदि श्लोकों में वर्णव्यवस्था को जन्मना मानने के

संकेत हैं, जबकि मनुकर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। [१।८८; २।१४३ (१६८), १२२-१२३ (१४७-१४८)] । उक्त श्लोकों में वर्णित कर्म ब्राह्मणों के नहीं हो सकते । यदि उनमें ये कर्म हैं तो वे मनु की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण नहीं कहला सकते । (८) २।८१ [१०६] में वेदाध्ययन को सर्वदा पुण्यदायक माना है, जबकि इस प्रसंग में श्राद्ध में वेदपाठ निषिद्ध है [१८८] । [९] प्रथम अध्याय में सृष्टि का उत्पत्ति परमात्मा द्वारा पञ्चभूतों के माध्यम से मानी है [१।६, १४-२०], जबकि इस प्रसग में मरीचि आदि ऋषियों से चराचर जगत् की उत्पत्ति कही है, जो प्रकृतिविरुद्ध बात है [२०१] । (१०) १।९१ में शूद्रों का कर्म द्विजों की सेवा करना कहा है, जबकि इस प्रसंग में शूद्रों का श्राद्ध के पदार्थों से स्पर्श करना भी निषिद्ध हैं [२४१] । १९७ में शूद्रों के पितर सुकाली माने जाते हैं । जब शूद्रों के लिए श्राद्ध में स्पर्श तक का निषेध है,तो शूद्रों के यहां कौन से ब्राह्मण श्राद्ध खायेंगे ? यदि नहीं खाते हैं,तो फिर शूद्रों के लिए श्राद्ध का विधान क्यों ? (११) इस सम्पूर्ण प्रसंग में पितरों के लिए हव्य-कव्य आदि देने का विधान है,किन्तु मनु के मत में जीवित व्यक्तियों को दिये जाने वाले भोज्य एवं हितार्थ देय वस्त्र, धन आदि दान 'हव्य-कव्य' कहलाते हैं । ४।३०-३१ में देखिए मनु ने स्पष्टत: जीवित, धार्मिक विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन किया है। यह सम्पूर्ण प्रसंग उक्त मान्यता के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है ।

२. **प्रसंगविरोध**—(१) ११७ वें श्लोक में गृहस्थी को '**शेषभुक्**' होने के लिए कहा है और ११८ वें श्लोक में '**यज्ञशेषभुक्**' होने के लिए कहा है । २८५ वें श्लोक में इन्हीं बातों का विकल्प रूप में कथन है । यह कहना चाहिए कि २८५ वां श्लोक इनका 'अर्थवाद' रूप है । बीच के इन श्लोकों ने उस पूर्वापर प्रसंग को भंग करके एकवाक्यात्मक वर्णन को तोड़ दिया है ।

(२) ११७-११८ और २८५ श्लोक में अतिथि यज्ञ से सम्बन्धित प्रसंग है, जिसमें गृहस्थी को कैसा भोजन करना चाहिए,यह स्पष्टीकरण है । इसके बीच में संबन्धियों की पूजा, राजा-स्नातक की पूजा [११९, १२०], बलिवैश्वदेव का विधान [१२१], पितृश्राद्ध का विधान [१२२-२८४], पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध है ।

(३) ३।१२२ वें श्लोक में "**पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य**" कहकर नये सिरे से पितृश्राद्ध का प्रसंग शुरू किया गया है । यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो प्रसंगक्रम की दृष्टि से पितृयज्ञ के प्रसंग [३।८१, ८२] के साथ होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न होकर खण्डित क्रम में इसका वर्णन है । यह क्रम की असंगति इसे मौलिक सिद्ध नहीं करती । इस प्रकार इन प्रसंगविरोधों के आधार पर ये सभी ११९ से २८४ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

३. **विषयविरोध** — ६७ वें श्लोक में "**वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत . . . पञ्चयज्ञविधानं च**" कहकर दैनिक पञ्चयज्ञों के वर्णन का संकेत किया है और समाप्तिसूचक "**एतत् व: अभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्**" श्लोक से भी यही सिद्ध है कि ६७ से २८६ श्लोकों का विषय केवल दैनिक पञ्चयज्ञों का विधान करना है । १२२ से २८४ श्लोकों में दैनिक पञ्चयज्ञों से भिन्न मासिक, त्रैमासिक आदि श्राद्धों का वर्णन है । यह वर्णन मनु के विषय-संकेत से बाह्य होने से विषयविरुद्ध है, अत: प्रक्षिप्त है ।

इस प्रकार मृतकश्राद्ध की मान्यता मनुविहित न होकर अन्य द्वारा प्रक्षिप्त है । मनु द्वारा वर्णित श्राद्ध से अभिप्राय केवल जीवित वयोवृद्धों की सेवा-सुश्रूषा से है ।

४. नियोग-प्रथा मनुविहित एवं वैदिक है —

(क) इस प्रथा के विधायक स्थल —

मनु ने ९।५६-५९, ६२, ६३ श्लोकों में बहुत स्पष्ट शब्दों में नियोग का विधान किया है। वे कहते हैं कि सन्तान का अभाव होने पर (पति के मरने पर अथवा जीते हुए भी सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर) स्त्री को अथवा विधवा को देवर अर्थात् पति के भाई से अथवा उसके वंशस्थ पुरुष से सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए। प्रमुख श्लोक है —

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ।। [९।५९।।]

(१) नियोग का अर्थ है — 'सन्तान प्राप्ति के लिए किसी स्त्री अथवा विधवा को किसी अन्य पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्वीकृति देना।' नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह शारीरिक सम्बन्ध केवल सन्तान प्राप्ति के लिए ही है, विलासिता के लिए नहीं। सन्तान प्राप्ति के पश्चात् यदि वे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो दण्डनीय होते हैं [९।६२-६३]।

यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसमें वेदों, इतिहास और परम्पराओं के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं —

(२) वेदों में नियोग का विधान और इतिहास के प्रमाण —

(क) उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।
[ऋ. मं. १०। सू. १८। मं. ८।।]

अर्थ — "(नारि) विधवे! तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो, और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषो:) तुम विधवा के पुन: पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्यु:) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम्बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।"
(स. प्र. चतुर्थ समु.)

(ख) (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?
(उत्तर) जीते भी होता है —
अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ।। ऋ. मं. १०। सू. १०।।

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर

न्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की च्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए। जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया, और जैसा व्यास जी ने चित्रांगद और चित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र र अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की; इत्यादि इतिहास भी इस बात में माण है।" (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(३) देवर शब्द का अर्थ और प्राचीन परम्परा का संकेत —

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित — 'पति का छोटा भाई' अर्थ न होकर स्तुत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है —

"देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते।।" [३।१५]

अर्थात् — "देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई या बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। उससे नियोग करे, उसी का नाम देवर है।"

(म. दयानन्द, स. प्र. ११६)

आजकल यह केवल पति के छोटे भाई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(४) यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि इन दोनों मान्यताओं में 'नियोग-व्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता है। इसमें निम्न पोषक प्रमाण हैं — (क) नियोग-विधान की मान्यता पूर्वविहित और आधारभूत है। (ख) विषयसंकेतक श्लोकों में इस प्रसंग को प्रारम्भ और समाप्त करने का संकेत है [९।५६ और ९।१०३]। ये श्लोक अपने पूर्वापर प्रसंगों से श्रृंखलावत् जुड़े हैं, जो सिद्ध करते हैं कि यह मान्यता मौलिक है। (ग) ९।१४५-१४६ में नियोग से उत्पन्न पुत्र को दायभाग का पूर्ण अधिकार विहित है। यह भी इस मान्यता को मनुसम्मत सिद्ध करता है, और (घ) नियोग-विधि का त्याग करके उत्पादित पुत्र को धनाधिकार से ९।१४७ में वंचित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु नियोग को ही स्वीकार्य मानते हैं, नियोगत्याग को नहीं।

(ख) इस परम्परा के खण्डनात्मक स्थल —

ज्यों ही नियोग प्रथा का विधान पूर्ण होता है, उसके पश्चात् इसका खण्डन करने वाले श्लोक हैं। ९।६४-६८ श्लोकों में इस प्रथा का खण्डन करते हुए कहा गया है कि 'नियोग नहीं कराना चाहिये, यह धर्महनन करना है। राजा वेन के समय यह पशुधर्म प्रचलित हुआ है', आदि-आदि।

१. स्पष्ट है कि विधान के पश्चात् किया गया यह खण्डन परवर्ती है। विधान मौलिक और खण्डन उसकी प्रतिक्रिया में होता है, अतः यह नियोगविरोधी वर्णन मनुकृत नहीं है।

२. पिछले प्रमाणों से यह भी सिद्ध हो गया है कि यह प्रथा वेदोक्त है, अतः अतिप्राचीन भी है। इन श्लोकों में इसे वेन राजा के समय की कहना गलत है। आचार्य कौटिल्य ने भी इसका विधान अपने अर्थशास्त्र में किया है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य कौटिल्य तक नियोग-व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है। उन्होंने प्र. ६०।अ. ४ में कारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है।

इनके अतिरिक्त ये खण्डनात्मक श्लोक निम्न कारणों से मौलिक सिद्ध नहीं होते —

१. **विषयविरोध** — विषय-संकेतक श्लोकों [९।५६, १०३] के निर्देशानुसार यह विषय स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्मों और आपत्काल में सन्तानप्राप्ति का है। नियोग की मान्यता उस विषय से सम्बद्ध है, अत : मौलिक है। खण्डन की मान्यता का संकेतित विषय से कोई सम्बन्ध नहीं अत : प्रक्षिप्त है।

२. **शैलीगत आधार** — ६६-६७ श्लोकों में राजा वेन के समय नियोग के विस्तार का कथन है। राजा वेन मनु से परवर्ती है, अत : ये श्लोक भी किसी व्यक्ति द्वारा रचकर मिलाये गये हैं। राजा वेन अंग देश का राजा था। इसके पिता का नाम अनंग था। यह मनु से बहुत पीढ़ियों पश्चात् हुआ [महा. शान्ति. ५९।९६-९९]।

विस्तार से समझाने के लिए उपर्युक्त मान्यताओं का पक्ष-विपक्ष की विवेचना पूर्वक विश्लेषण किया गया। इसी प्रकार अन्य मान्यताओं के विषय में समझना चाहिये। यहां कुछ अन्य मान्यताएं संक्षेप से प्रस्तुत की जा रही हैं, किन्तु विस्तारभय से उनका समग्र विश्लेषण नहीं किया जा रहा है। वह मनुस्मृति-भाष्य में यथास्थान देखा जा सकता है।

५. स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की धारणा —

(क) बहुत से आलोचक मनु पर यह आक्षेप लगाते हैं कि मनु का स्त्रियों के प्रति बड़ा ही संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण और निम्न दृष्टिकोण है। मनुस्मृति में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त स्थल हैं, जिनके कारण लोगों की यह धारणा बनी है, यथा — २।४१-४२ [६६-६७]; ५।१४७, १४८, १५३-१६२, १६४, १६६; ९।२, ३, १४-२४, आदि।

(१) किन्तु प्रक्षिप्तों के अतिरिक्त मनुस्मृति के प्रसंग, विषय, शैली के अनुकूल ऐसे बहुत सारे श्लोक हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनु ने स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान, श्रद्धा और उच्चता प्रदान की है। वे स्त्रियों को घर की स्वामिनी, गृहलक्ष्मी, देवी, गृहशोभा के विशेषणों से संबोधित करते हैं; और उन्हें घर के सुख का आधार मानते हैं। उनका सम्मान करने और उन्हें प्रसन्न रखने की प्रेरणा देते हैं। यहां मनुस्मृति में प्राप्त श्लोकों के आधार पर मनु की उन धारणाओं को स्पष्ट किया जाता है। निम्न श्लोकों में मनु द्वारा वर्णित स्त्रियों का उज्ज्वल, सम्माननीय और उच्चस्तरीय रूप द्रष्टव्य है —

(क) पिता, भाई, पति आदि द्वारा स्त्रियों का सत्कार करना चाहिए —

(क) पितृभि : भ्रातृभिश्चैता ..... पूज्या भूषयितव्याश्च । [३।५५]

(ख) नारियों के सत्कार से दिव्यलाभों व दिव्यगुणों की प्राप्ति —

(ग) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता : ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला : क्रिया : ।

(ग) वस्त्रों, आभूषणों से नारियों को सदा सत्कृत रखें —

तस्मादेता : सदा पूज्या : भूषणाच्छादनाशनै : ।। [३।५९]

(घ) नारी की प्रसन्नता में कुल का कल्याण निहित है —

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।। [३।६०]

(ङ) स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश —

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।।
[३।५७]

(च) स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी और शोभा हैं—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।। [९।२५]

(छ) स्त्रियाँ घर के सुख का आधार हैं—

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ।। [९।२८]

(ज) स्त्रियाँ घर की स्वामिनी हैं—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे ।। [९।११]

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।। [५।१५०]

(२) मनु स्त्री और पुरुष में न तो कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं,न स्त्री को पुरुष की दासी या अधानता में बंधी रहने वाला मानते हैं । वे दोनों को ही,एक-दूसरे का भावनाओं का समान रूप से आदर करने वाली बातें कहते हैं; अपितु स्त्रियों को अधिक आदरपूर्वक रखने की बातें कहते हैं । नीचे कुछ श्लोक प्रमाणरूप में दिये जा रहे हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि (अ) मनु की स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण, दमनात्मक, अस्वतन्त्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, अपितु समानता की भावना है। मनु द्वारा अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्त्रियों पर बन्धन डाल कर रखने की प्रवृत्ति की व्यर्थता का कथन और स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से ही अपने आचरण को बनाने का समर्थन निम्न श्लोकों में किया है–

(क) स्त्री को कोई भी दमनपूर्वक नहीं रख सकता—

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । [९।१०]

(ख) स्त्री स्वयं अपनी रक्षा करने से सुरक्षित हो सकती है—

अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ।। [९।१२]

(३) बिना किसी पक्षपात के, स्त्री-पुरुष दोनों को समानस्तर का मानते हुए मनु ने स्त्री-पुरुषों को ऐसे सुझाव दिये हैं, जिनसे स्त्री की पुरुष के पूर्ण अधीन रहने की मान्यता स्वतः खण्डित हो जाती है —

(क) स्त्री-पुरुष मिलकर समानभाव से रहें–

अन्योन्यस्य अव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एषः धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ।। [९।१०१]

(ख) स्त्री-पुरुष कभी न बिछुड़ें—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम् ।। [९।१०२]

(ग) स्त्री-पुरुष समान हैं, अत: सभी कार्य मिलकर करें

प्रजनार्थं स्त्रिय : सृष्टा : सन्तानार्थं च मानवा : ।
तस्मात्साधारणो धर्म : श्रुतौ पत्न्या सहोदित : ।।
[९।९६]

इन मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि १४७-१४८ श्लोकों में जो दमनात्मक आग्रह से प्रेरित होकर आज्ञा दी है । यह मनु की मान्यता नहीं हो सकती । यह मनु की व्यवस्थाओं के विरुद्ध है ।

(४) मनु ने स्त्रियों को कहीं भी हीनभावना से नहीं देखा है, अपितु कहीं-कहीं तो पुरुषों से बढ़कर उन्हें सम्मान दिया है । कुछ उदाहरण देखिए —

(क) स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए —
''स्त्रिया : पंथा देय : ।'' [(२।११३ (२।१३८)] ।
(ख) पत्नी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए —
''भार्यया ... विवादं न समाचरेत्'' [४।१८०] ।

(ग) पत्नी आदि पर झूठा दोषारोपण नहीं करना चाहिए और न अपशब्द कहने चाहिएँ । यदि कोई ऐसा करे तो वह दण्डनीय है —**''मातरं पितरं जायाम् ... आक्षारयन् शतं दण्डय:''** [८।१८०] ।

(ख) स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं यज्ञोपवीत का अधिकार मनुसम्मत —

कुछ श्लोकों में स्त्रियों के लिए गुरुकुलवास, वेदोध्ययन, मन्त्रपूर्वक क्रियाओं का निषेध मिलता है ; यथा २।४१-४२ (६६-६७) ९।१८ आदि । ये सभी प्रक्षिप्त हैं । अन्य अनेक स्थलों पर, यहां तक कि स्वयं वेद में भी स्त्रियों के लिए सभी धार्मिक कार्यों और वेदाध्ययन का विधान है ।

(१) मनु प्रत्येक धर्मकार्य में स्त्री-पुरुष का समान अधिकार समझते हैं । २।४ (२।२९) श्लोक में जातकर्म के अवसर पर बालक के लिए चाहे वह कन्या हो अथवा पुत्र, दोनों के ही लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक शहद चटाने का विधान है **''मन्त्रवत् प्राशनं चास्य''** । इससे स्पष्टत : सिद्ध है कि मनु मन्त्रोच्चारण या श्रवण आदि कार्यों में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं करते । इसी प्रकार नामकरण आदि भी यज्ञ और मन्त्रपूर्वक करने का विधान है [२।८] । इस प्रकार ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्रों के निषेध का विधान इस मान्यता के विरुद्ध है ।

(२) इसी प्रकार ३।२८ में अग्निहोत्रपूर्वक स्त्रियों का दैवविवाह करने का विधान किया है । अग्निहोत्र में मन्त्रोचारण हुआ ही करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु,स्त्रियो की क्रियाएं मन्त्ररहित नहीं मानते । स्त्रियों की अन्त्येष्टि भी अग्निहोत्र से विहित है [५।१६७],विवाह भी स्वस्तिमन्त्रपूर्वक यज्ञ से विहित है [५।१५२] । ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान, इस विधान के विरुद्ध होने से, प्रक्षिप्त है ।

(३) मनु ने घर में अग्निहोत्र आदि धर्मकार्यों के आयोजन की मुख्य जिम्मेदारी स्त्री को ही सौंपी है और यह आदेश दिया कि पुरुष को प्रत्येक धर्मकार्य स्त्री को साथ लेकर करना चाहिए — (क) **''शौचे धर्मे अन्नपक्त्यां च''** (घर की शुद्धि, धर्मकार्यों का आयोजन और भोजन बनाना आदि की

जिम्मेदारी स्त्री को सौंपे) [९।११] (ख) ''**अपत्यं धर्मकार्याणि**'' [९।२८] (सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन, अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य स्त्री के अधीन होते हैं) । (ग) ''**तस्मात् साधारणो धर्म : श्रुतौ पत्न्या सहोदित :**'' [९।९६] (साधारण से साधारण धर्मकार्य में भी पत्नी को सम्मिलित करना चाहिए) । इसी प्रकार २।१-३ [२।२६-२८] श्लोकों में मनु ने संस्कारों को सभी के लिए समान रूप से आवश्यक मानते हुए शारीरिक एवं संस्कार-सम्बन्धी दोषों को हटाने वाला कहा है । वहां स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं माना । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं — एक तो यह कि सभी संस्कार मन्त्रपूर्वक होते हैं । अत : चाहे वह संस्कार स्त्री का हो अथवा पुरुष का, मन्त्रपूर्वक ही करना चाहिए । दूसरी यह कि संस्कार, द्विजाति वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष । इन दोनों श्लोकों में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान, विवाह को ही उपनयन संस्कार मानना, पतिसेवा को ही ब्रह्मचर्याश्रम मानना, घर के कामों को ही अग्निहोत्र मानना, उक्त विधानों के विरुद्ध हैं, अत : प्रक्षिप्त हैं ।

(४) स्त्रियों के वेदाध्ययन में स्वयं वेदों के प्रमाण — इन श्लोकों में स्त्रियों के लिए वेदमन्त्रों का उच्चारण न करने आदि का कथन है । अत : यहां यह विचार कर लेना भी उपयोगी रहेगा कि इस विषय में स्वयं वेद क्या कहते हैं ।

(क) वेदों में सभी के लिए वेदवाणी का विधान है — ''**यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्य : । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय . . . .**'' [यजु. २६।२] अर्थात् —''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य :) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं वैसे तुम भी किया करो . . . . (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियां आदि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है ।'' [स. प्र. ७४] ।

(ख) इसी प्रकार अथर्ववेद में ''**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'' [३।५।१८] अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदों को पढ़ने और ब्रह्मचर्य का पालन करने के उपरान्त गृहस्थ की कामना करने वाली कन्या युवक पति का वरण करती है ।

(ग) स्त्रियों के उपनयन में ऋग्. १०।१०९।४ मन्त्र भी प्रमाण हैं — ''**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता**'' — इन प्रमाणों में स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, गुरुकुलवास आदि विधान सिद्ध होते हैं ।

(घ) वैदिक काल के इतिहास पर यदि दृष्टि डालकर देखें तो उससे भी स्त्रियों के लिए मन्त्रनिषेध आदि की बातें सिद्ध नहीं होतीं । ऐसी बहुत-सी ऋषिकाएं हुई हैं जो मंत्रद्रष्ट्री थीं । जिन-जिन सूक्तों के मन्त्रों का उन्होंने अर्थ-रहस्य जाना, उन सूक्तों पर उनके नाम ऋषि के रूप में आज भी उपलब्ध हैं । अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार की लगभग ३० ऋषिकाओं के नाम आते हैं । उनमें अदिति, जुहू, इन्द्राणी, घोषा, गोधा, अपाला, रोमशा, लोपामुद्रा आदि उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय हैं[८]। इसी प्रकार उपनिषदों में गार्गी, मैत्रेयी ब्रह्मतत्त्वज्ञा देवियों का वर्णन आता है[९]। मनु ने अपनी स्मृति को वेदानुकूल और वेदाधारित माना है [१।१२५-१३२ (२।६-१३) ; १२।९४, ९५, ९७, ९९, १०९, ११२, ११३ आदि] । अत : स्वयं वेद में विहित इन मान्यताओं के विरुद्ध होने से उपर्युक्त आक्षेप मान्य नहीं है ।

८. बृहद्देवता २।८२-८४; ऋग्वेद के सूक्तों की ऋषिकाएं।
९. बृहदारण्यक ३।६; २।४।१-१५।।

६. शूद्र के विषय में मनु की धारणा—

(१) शूद्र अस्पृश्य नहीं— मनु ने शूद्र का कर्त्तव्य द्विजातियों की सेवा करना बताया है [१।९१]। इसी कर्त्तव्यनिर्धारण से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि मनु शूद्र को अस्पृश्य या घृणास्पद नहीं मानते।

(२) वस्तुत: जो व्यक्ति पढ़-लिख नहीं पाता और ऊपर के किसी वर्ण के योग्य नहीं होता वही शूद्र कहलाता है। इसी कारण २।१२६ में अज्ञानता के प्रतीकरूप में शूद्र की उपमा दी है—"**यथा शूद्रस्तथैव स:**"।

(३) शूद्र को धर्मपालन का अधिकार— शूद्र को धर्मपालन का अधिकार है। २।२१३ [२३९] में "**अन्त्यादपि परं धर्मम्**" कहकर शूद्र आदि से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को कहा है।

(४) शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार— शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार भी है। यह स्वयं यजु. २६।२ "**यथेमां वाचं कल्याणीम् . . . शूद्राय चार्याय च**" से संकेत मिलता है। इसकी व्याख्या पिछले 'स्त्री-वेदाध्ययन'-सम्बन्धी प्रसंग में की जा चुकी है। वहां द्रष्टव्य है।

(५) वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान— ऋक्. १०।५३।४-५ में "**पञ्चजना: ममहोत्रं जुषध्वम्**" कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त ३।२।७ में '**पञ्चजना:**' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिषभोजी निषाद की गणना की है। इस पर विस्तृत विवेचन 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' विषय में किया जा चुका है।

(६) मनुस्मृति में कहीं-कहीं शूद्र के प्रति घृणा, आक्रोश, असम्मान प्रकट करने वाले वर्णन हैं। ये सभी वर्णन परवर्ती प्रक्षेप हैं। मनु की यह शैली है कि वे अधर्मी, पापी या दोषी व्यक्ति को छोड़कर किसी के प्रति आक्रोश का भाव प्रकट नहीं करते। प्रत्येक विधान सहज और निर्लिप्त भाव से करते हैं। यथा, १।९१ का विधान सहज वर्णन है। मनु ने निम्न श्लोक में द्विजों को भी यह आदेश दिया है कि वह वृद्ध शूद्र का सम्मान पहले करें—

"**सोऽत्र मानार्ह: शूद्रोऽपि दशमीं गत:**" [२।११२ (१३७)]

(७) शूद्र पवित्र है और उत्कृष्ट वर्ण प्राप्त कर सकता है—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृत:।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।। (९।३३५।)

(शुचि:) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], **(उत्कृष्टशुश्रूषु:)** अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, **(मृदुवाक्)** मधुरभाषी **(अनहंकृत:)** अहंकार से रहित **(नित्यं ब्राह्मण + आदि-आश्रय:)** सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी **(उत्कृष्टां जातिम् + अश्नुते)** उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है।।

इस श्लोक के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते, अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। यह मान्यता १०।६५ में भी वर्णित है।

(८) उपनयन प्रसंग २।११-१४ [३६-३९] में कहीं भी शूद्र के लिए उपनयन का निषेध नहीं है। इससे यह संकेत मिलता है कि जन्म से कोई शूद्र नहीं होता। शूद्र कुल में उत्पन्न बालक भी द्विज वर्णों में उपनयन करा सकता है।

इस संक्षिप्त विवेचन से शूद्र के प्रति मनु की धारणा स्पष्ट हो जाती है । इस विषयक कुछ विवेचन 'मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था' मान्यता शीर्षक में भी द्रष्टव्य है ।

(७) स्वर्ग और नरक —

(क) स्वर्ग या स्वर्गलोक से मनु का अभिप्राय — मनु इस संसार से भिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते । सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है, और दु:ख की प्राप्ति का नाम नरक है; जो इसी संसार में, जीवन में प्राप्त होते रहते हैं । इसमें प्रमाण हैं —

(१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख और मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है । ३।७९ श्लोक में अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है, और उसके पर्यायवाची रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है ।

(२) सुख के अर्थ या पर्यायवाची रूप में अन्यत्र भी स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है —

(क) ''अस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।'' २।३२ [२।५७]
(ख) ''दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ।'' (९।२८।।)
(ग) ''स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ।''(४।१३।।)

(३) अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग —

(क) ३।७९ श्लोक में ''स्वर्गमक्षयमिच्छता''
(ख) इदमन्विच्छतां स्वर्गम्, इदमानन्त्यमिच्छताम् ।'' (६।८४।।)

(४) मनु ने १२।९, ३९-५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों का वर्णन किया है । उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है ।

(५) व्याकरण-शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ-गतौ' धातु से 'ड प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते अ. ३।२४८ वार्तिकसूत्र से 'ड:' प्रत्यय के योग से बनता है । गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं । 'स्व:' सुख का अनुभव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात् सुख है ।

(६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का अर्थ है । 'लोकृ दर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'स्थान' है । जहां स्वर्ग प्राप्त होता है—सुख प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक है ।

(ख) नरक की कल्पना मनुविरुद्ध – ४।८१, ८७-९१ श्लोकों में इक्कीस नरक योनियों की गणना है, और अक्षत्रिय राजा से दान लेने वाले को इन योनियों की प्राप्ति बतलायी है । मनु के मत में 'नरक' नाम की कोई योनि या स्थान विशेष नहीं है । यह मान्यता निम्न प्रमाणों के आधार पर मनुविरुद्ध और प्रक्षिप्त सिद्ध होती है —

(१) नरक शब्द स्वर्ग का विपरीतार्थक है । मनु ने २।३२ [२।५७] में सुख और ३।७९ स्वर्ग शब्द का प्रयोग सुख और 'अक्षय सुख' के लिए किया है, और ९।२८ में ''दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह'' कहकर 'वर्तमान जीवन के सुख' के अर्थ में किया है । इससे स्पष्ट है कि स्वर्ग के विपरीतार्थक शब्द 'नरक' का अर्थ कोई योनि या स्थानविशेष नहीं, अपितु दु:ख ही है । निरुक्त में महर्षि यास्क ने भी 'नरक' शब्द की इसी रूप में निरुक्ति की है — ''नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम् इति वा'' अर्थात् दु:ख, अध:पतन या अवनति का नाम

नरक है [निरुक्त १।३।११]।

(२) मनु ने मृत्यु के उपरान्त जीव की केवल दो अवस्थाएं मानी हैं — एक तो संसार में स्थावर-जंगम योनियों में जन्म [६।६३, ७४, १२।९, ३९-५२], या ब्रह्मप्राप्ति [४।१४९; ६।८१; १२।११६, १२५]। इससे भी यही स्पष्ट है कि मनु के मत में नरक नाम की कोई पृथक् योनि या स्थान नहीं है।

(३) मनु ने १२।९, ३९ से ५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों की गणना की है। इस गणना में नरकयोनि का उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि मनु 'नरक' को नहीं मानते। १२।५२, ७४, ८१, श्लोकों में तो मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति कर्मों के अनुसार पूर्वोक्त योनियों में ही शरीर-धारण करके इसी संसार में सुख-दु:ख भोगता है। अत: नरकों की कल्पना मनुविरुद्ध है।

८. प्रेतशुद्धि आदि का आडम्बर मनुविहित नहीं —

प्रेतशुद्धि, सूतकशुद्धि के नाम पर कुछ लोगों ने एक आडम्बर खड़ा कर दिया है। अशुद्धि को दूर करने का सीधा-सा मतलब इतना ही है कि प्रेत, सूतक या किसी भी अन्य अशुद्धि से सम्पर्क होने पर जल आदि से शरीर की शुद्धि होती है और मन की अशान्ति रूपी अशुद्धि, जप आदि से दूर होती है [५।१०५, १०७, १०९]। बिना सम्पर्क के, दूर बैठे अशुद्धि मानना, कोरा आडम्बर और अयुक्तियुक्त है। प्रेत शुद्धि और सूतकशुद्धि आदि के आडंबर का विधान करने वाला प्रसंग ५।५८-१०४ तक है। यह प्रसंग विभिन्न आधारों के अनुसार, विषय, प्रसंग और शैली के विपरीत तथा मनुविहित सिद्ध न होकर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। उसके विश्लेषण से ये निष्कर्ष सामने आते हैं —

(१) प्रस्तुत विषय के प्रारम्भ का संकेत देने वाला श्लोक ५।५७ वां है, और समाप्ति का संकेत देने वाला श्लोक ५।११० वां है। इन श्लोकों में दिये गये "**देहशुद्धिम् .... प्रवक्ष्यामि**" "**एष शौचस्य व: प्रोक्त: शारीरस्य विनिर्णय:**" संकेतों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि यह "शरीर और शरीर से सम्बन्धित मन, बुद्धि, आत्मा आदि की शुद्धि" को कहने का विषय है [इसकी पुष्टि के लिए ५।५७ की समीक्षा भी पढ़िये]।

इस आधार पर इस विषय में वही श्लोक मौलिक माने जा सकते हैं, जो इस विषयसंकेत से सम्बद्ध हों। अपने संकेत के अनुसार ही मनु ने १०५-१०६ श्लोकों में पहले भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों की गणना की है, फिर १०९ में अशुद्ध शरीर की '**अद्भि: गात्राणि शुद्ध्यन्ति**' कहकर शुद्धि होनी कही है। क्रोध, लालच, अधर्माचरण आदि से मनुष्य के मन, बुद्धि आत्मा आदि भी अशुद्ध हो जाते हैं; संकेतानुरूप, शरीरसम्बन्धी इन अवयवों की शुद्धि भी कह दी है। इस प्रकार १०५ से ११० श्लोक विषयानुरूप हैं। इस बीच में ५८ से १०४ तक जितने श्लोक हैं, इनमें शरीर की शुद्धि का वर्णन न होकर आशौच मनाने की अवधि, सपिण्ड एवं असपिण्डों के आशौच की विधि, सूतक-अशुद्धि, परदेश में रहने वालों की अशुद्धि आदि का वर्णन है, जो विषयविरुद्ध है।

(२) उपर्युक्त विषय का संकेत देने वाले श्लोकों के आधार पर मनु की एक मान्यता भी बन जाती है कि वे 'अशुद्धि के सम्पर्क से शरीरादि की अशुद्धि होना' ही मानते है और उसकी शुद्धि का उपाय है — "**अद्भि: गात्राणि शुद्ध्यन्ति**" [१०९] अर्थात् 'शरीर की शुद्धि जलों से होती है' आदि। ५८ से १०४ श्लोकों में जो भी कुछ वर्णित है, वह मनु की इस मान्यता के विरुद्ध है, और न इससे तालमेल खाता है — (क) ५८ से ६० श्लोक, जिनमें सपिण्ड-असपिण्ड के भेद से प्रेतशुद्धि

और अशुद्धि मानने की १-१० दिन तक ही चार अवधि दर्शाकर उसको एक 'धार्मिककृत्य' के रूप में वर्णित किया है, वे मनु की उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं । क्योंकि,मनु केवल शरीर की अशुद्धि मानते हैं, और यह सपिण्ड और असपिण्ड सबकी समान रूप से होती है तथा उसकी अनेक दिनों की अवधि नहीं होती । शरीर अशुद्ध हुआ तो जल से धोने से वह शुद्ध हो गया । इस प्रकार इन श्लोकों की व्यवस्था मनु सम्मत ही सिद्ध नहीं होती, अत : ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । शेष श्लोक इन पर आधारित हैं, अत : आधारभूत श्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर वे स्वत : प्रक्षिप्त कहलायेंगे । (ख) ७४, से ८४ श्लोकों में परदेश में रहने वालों की शुद्धि कहना भी मनुविरुद्ध है । जब किसी अशुद्धि का सम्पर्क ही नहीं हुआ,तो फिर उनके शरीर की अशुद्धि ही कहां हुई ? (ग) ८५-८७, १०३ श्लोकों में शूद्र को अस्पृश्य अर्थात अपवित्र माना है । मनु ऐसा नहीं मानते । वे शूद्र को 'शुचि :' अर्थात् 'पवित्र' मानते हैं [९।३३५] । अत: इन श्लोकों की मान्यता मनुविरुद्ध है ।

(३) ५८ से १०४ श्लोकों की मान्यता है — 'सपिण्ड, असपिण्ड के भेद से चार अवधियों के [५८-६०] अनुसार शुद्धि मनाना' । यह अयुक्तियुक्त वर्णन है, क्योंकि मृतक के सम्पर्क से यदि शरीर की अशुद्धि मानी गयी है तो वह सपिण्ड-असपिण्डों की समान होगी और उसकी शुद्धि जल से हो जायेगी । इसके लिए न तो अवधि की कोई सार्थकता है,और न सपिण्ड-असपिण्ड का भेद ही बनता है । यदि मानसिक अशुद्धि अर्थात् मन का शोक मानने की बात है,तो मन के शोक के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं हो सकती और न ही इस अवधि में सबकी वह दूर हो सकती है । अत : यह व्यवस्था ही अयुक्तियुक्त है । मनु की व्यवस्थाएं युक्ति-युक्त होती हैं । इस विरोध के आधार पर भी ये श्लोक मनुसम्मत नहीं माने जा सकते ।

(४) प्रसंगविरोध के आधार पर यदि इन श्लोकों को परखें तो ये सभी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होते हैं । ५७ वें और ११० वें श्लोक में 'शरीर और शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि' कथन करने का संकेत है । उनके अनुसार इस प्रसंग का क्रम इस प्रकार बनता है —

(क) शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि कहने के विषय का संकेत [५७] —

(ख) फिर १०५ में भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का परिगणन —

(ग) फिर शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी शुद्धियों का वर्णन [१०६-१०९], जो कि सर्व-सामान्य विधि के रूप में भावगाम्भीर्य से युक्त संक्षिप्त वर्णन है । इसमें शरीर-सम्बन्धी आत्मा, मन, बुद्धि, चरित्र की शुद्धि का उल्लेख है ।

इस प्रकार मनु की मान्यता एवं विषय-संकेत [५७ तथा ११०] के अनुसार यह एक संगत क्रम बनता है । ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को ही भंग कर दिया है,और शरीरादि की शुद्धि से भिन्न अशुद्धि को 'धार्मिककृत्य' के रूप में मनाने की पूर्वापर प्रसंग से भिन्न एक पृथक् ही व्यवस्था विहित की है । शुद्धि की बात कहने के लिए पहले शुद्धिकारक पदार्थों का उल्लेख ही प्रासंगिक बनता है । इस आधार पर ५७ के बाद १०५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध सिद्ध होता है । शेष बीच के सभी श्लोक प्रसंग-विरुद्ध, प्रसंगभञ्जक होने के कारण प्रक्षिप्त हैं ।

९. वेदविषयक अनध्याय या निर्धारित अवधि में वेदाध्ययन और उसका उत्सर्जन मनुसम्मत नहीं —

उक्त विधान करने वाले श्लोकों का प्रसंग ४।९५-१२७ में आता है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में वेदों का अनध्याय रखना, श्रावणी पर सीमाबद्ध वेदाध्ययन और उसका उत्सर्जन, शुक्लपक्ष और कृष्ण पक्ष में वेद और वेदांगों के अध्ययन का विभाजन आदि बातें, मनु की मूलभावना, और शैली के अनुरूप नहीं है। इस प्रसंग के विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं —

(१) प्रतीत होता है कि वर्ष में साढ़े चार मास तक वेदाध्ययन करना, फिर उनका उत्सर्जन करना, बीच में विराम करना, शुक्ल पक्ष में वेदाध्ययन और कृष्ण पक्ष में वेदांगों का अध्ययन करना, ये व्यवस्थाएँ मनु से परवर्ती काल की हैं, जबकि मनुद्वारा विहित व्यवस्थाओं में शिथिलता आ गई थी। इन व्यवस्थाओं का मनुप्रोक्त व्यवस्थाओं से तालमेल नहीं बैठता, अपितु विरोध आता है। यथा — (क) मनु ने 'वेदों का अध्ययन' सभी द्विजों का आवश्यक और नैत्यिक कर्म माना है [१-८७-९०]। यदि पूर्वोक्त कर्मों का पालन कोई द्विज नहीं करता, तो वह अपने वर्ण से पतित हो जाता है। विशेषरूप से वेदाभ्यास को छोड़ने वाला द्विज शूद्रकोटि में गिना जाता है — "**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वं आशु गच्छति सान्वयः**" [२।१४३ (१६८)] (ख) मनु ने वेदाध्ययन को नैत्यिक दिनचर्या कहा है और इस पवित्र कार्य में कभी अनध्याय नहीं माना है — "**वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि**"॥ [२।८० (१०५)] "**नैत्यके नास्त्यनाध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्**"॥ [२।८१ (१०६)] (ग) नैत्यिक वेदाध्ययन के विधायक अन्य प्रमाण भी दृष्टव्य हैं —

(अ) **यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।**
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥

२।८२॥ [२।१०७]

(आ) **आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।**
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥

[२।१४२ (१६७)]

इसी प्रकार ग्रहस्थों के व्रतों में भी स्पष्ट निर्देश है —

(इ) **सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।**
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ [४।१७॥]

(ई) **बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।**
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ [४।१९॥]

(उ) "**स्वाध्याये चैव युक्तः स्यात् नित्यम्**" [४।६४]

(ऊ) "**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**" [३।७५]

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु प्रत्येक व्यक्ति के लिए वेदों का अध्ययन नित्यप्रति आवश्यक मानते हैं। मनु ने पांच महायज्ञों का जो प्रतिदिन विधान किया है, उनमें 'ब्रह्मयज्ञ' ब्रह्मोपासना और वेदाध्ययन का ही क्रम है। इस प्रकार के प्रमाण मनुस्मृति में पर्याप्त मिलते हैं।

९५-१२७ श्लोकों में साढ़े चार मास वेद पढ़ना, फिर उनका उत्सर्जन गांव से बाहर करना, शुक्लपक्ष में वेद पढ़ना और कृष्णपक्ष में वेदांगों को पढ़ना आदि जो व्यवस्थाएँ दी गई हैं वे पूर्वमान्यताओं से तालमेल नहीं रखतीं और विरुद्ध भी हैं । जब प्रतिदिन ही वेद पढ़ने का विधान है तो फिर उनको साढ़े चार मास तक पढ़ने के लिए प्रारम्भिक अनुष्ठान करना, फिर उत्सर्जन का अनुष्ठान करना आदि बातों का अवसर ही नहीं आता । अत: ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इस प्रसंग में कुछ और भी अन्तर्विरोध हैं —

(२) ९९, १०८ श्लोकों में शूद्र के पास वेद न पढ़ने का विधान 'शूद्र को वेद पढ़ने का विधान नहीं है' इस मान्यता पर आधारित है । यह मान्यता मनुविरुद्ध है,और वेदविरुद्ध भी (इसके विस्तृत ज्ञान के लिए २।१४४-१४९ [१६९-१७४] श्लोकों पर 'अन्तर्विरोध' शीर्षक समीक्षा देखिये, और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ भी] ।

(३) १०९-१११, ११७, १२४, श्लोकों में मृतकश्राद्ध की मान्यता है । यह भी मनुविरुद्ध है [इसके लिए ३।११९-२८४ श्लोकों पर समीक्षा द्रष्टव्य है, और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ३ भी] ।

(४) ११२ में सूतक की मान्यता है । सूतक का वर्णन मनुप्रोक्त नहीं सिद्ध होता [इसके लिए द्रष्टव्य है ५।५८-१०४ श्लोकों पर 'विषयविरोध' शीर्षक समीक्षा,क्योंकि सूतकविधान इसी प्रसंग के ६१-६२ श्लोकों में आता है] ।

(५) ११३ वें श्लोक में संध्याकालों में वेद न पढ़ने का कथन है, जबकि पांचयज्ञों का विधान और संध्योपासना का विधान संध्याकालों में ही किया है [२ । ७६ –७८ (१०१-१०३), १५१ (१७६), ४ । ९२ –९४] ।

(६) ११३ –११४ वें श्लोकों में पर्वदिनों में वेदाध्ययन निषिद्ध है, जबकि ४ । २५ ; ६ । ९ में इन पर्वों के दिन विशेषयज्ञों को रचाने का विधान है,और यज्ञ वेदमन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ।

(७) ११६ वें श्लोक में श्मशान में वेद न पढ़ने का कथन है, जबकि ५ । १६७ में अन्त्येष्टि कर्म यज्ञसम्पादन द्वारा विहित है, और यज्ञ में वेदमन्त्रों का उच्चारण होता है ।

(८) ११२ वें में मांसभक्षण का वर्णन मनुविरुद्ध है [द्रष्टव्य –४।२६-२८ श्लोकों पर 'अन्तर्विरोध' शीर्षक समीक्षा और इसी अध्याय में मान्यता संख्या २ भी] ।

(९) १२३ –१२५ श्लोकों में वेदों की ध्वनियों का परस्पर विरोध दर्शाना, मनु के २।७६ –७८ [५१ –५३] श्लोकों के विरुद्ध है । जब तीनों से एक-एक पाद निकालकर बनाया गया गायत्रीमन्त्र एक साथ उच्चारित किया जा सकता है,तो वेदों की ध्वनि में क्या आपत्ति है ? मनु-अनुसार सभी वेद ईश्वरप्रोक्त हैं ।

(१०) १०१ से १२६ श्लोकों में वेदों के अनध्यायों का विधान ही मनु के २।७९ –८१ [१०४ –१०६] के विरुद्ध है । इन श्लोकों में मनु ने वेदाध्ययन में अनध्याय का निषेध किया है । इस प्रकार इन अन्तर्विरोधों के आधार पर ९५ से १२७ तक सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

२. विषयविरोध – (१) १०१ से १२७ श्लोक विषयबाह्य हैं । इनका 'सतोगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है और न ये व्रत हैं, अत : प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत विवेचन ४ । ३३ –३४ पर द्रष्टव्य] । (२) ये श्लोक इसलिए भी विषयविरुद्ध हैं, क्योंकि, शिष्यों को वेदाध्यापन का विषय द्वितीय अध्याय का है [२ । ४४ –४८ (६९ –७३), १३९ (१६४), १४० –१४१ (१६५ –१६६), ३ । १ –२] । यहाँ गृहस्थियों के व्रतों का विषय है [४ । १३] । अत : इस स्थान पर शिष्यों के अध्यापन-

अनध्यापन, अध्याय-अनध्याय का वर्णन विषयविरुद्ध है । यह द्वितीय अध्याय में ही संगत कहा जा सकता था ।

३. **वेदविरोध** – ९९, १०८ श्लोकों की शूद्र के पास वेद न पढ़ने की मान्यता स्वयं वेदविरुद्ध है । वेद में शूद्र को यज्ञ करने और मन्त्रश्रवण का विधान है । प्रमाणार्थ द्रष्टव्य २ । ४२ और ९ । ३३५ की 'वेदविरोध' शीर्षक समीक्षाएँ और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ भी ।

४. **शैलीगत आधार** — (१) इस प्रसंग के १०३ वे श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' पद से स्पष्टत: यह मनुभिन्न व्यक्ति द्वारा प्रोक्त सिद्ध होता है । (२) इस प्रसंग के १०१ से १२७ श्लोकों की शैली रूढ़ि पर आधारित है । ११४ व १२४ की शैली अयुक्तियुक्त है ।

१०. प्रायश्चित्त का अर्थ, उद्देश्य एवं फल —

'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय:-चित्त पदों के समास में **'पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (अष्टा. ६ । १ । १५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुआ है । **तपादि साधनपूर्वकं किल्विषनिवारणार्थं चित्तम्=निश्चयम्, प्रायश्चित्तम्'** । 'जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्य को करके मन में उसके प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब उसके दण्ड-रूप में स्वयं तप = कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुन: मैं यह पाप नहीं करूंगा ।' यह प्रायश्चित्त कहलाता है । ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता । जैसे कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दु:ख अनुभव हो, तो वह खेद प्रकट करता है । इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती, और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है । इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पाप-भावना क्षीण होती है।प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है, उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है । वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है [११ । २२९ –२३०] । इस प्रकार प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता जाता है ।

यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११ । २३० और ११ । २३२ श्लोकों से सिद्ध होती है । और, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते —

''न त्वेव कृतोऽधर्म: कर्तुर्भवति निष्फल: ।'' [४ । १७३ ।।]

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जहां जिस श्लोक पर 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं ।

११. दायभाग का वितरण —

मनु ने दायभाग में पुत्र, पुत्री, पिता, माता सभी का अधिकार माना है । माता-पिता के जीवित रहते सारी सम्पत्ति उन्हीं की रहती है । पुत्र उसे बांट नहीं सकते [९ । १०४] । हाँ, यदि पिता चाहे तो अपने जीते जी अपनी सम्पत्ति को सन्तानों में बांट सकता है । मातापिता की मृत्यु के उपरान्त दायभाग के बंटवारे के कई विकल्प विहित हैं । सभी पुत्र मिलकर जिस प्रकार सहमत हों, उसी

विधि को अपना सकते हैं । यथा —

१. सभी भाई मिलकर पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें [९ । १०४] ।

२. अथवा, इकट्ठे रहना चाहें तो ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति को ग्रहण कर ले । वह छोटे भाइयों के साथ माता-पिता के समान कर्त्तव्यों को निभाकर उनका पालन-पोषण करें । छोटे भी उसको माता-पिता के समान आदर दें [९ । १०५] । कर्त्तव्य न निभाने पर बड़ा भाई दण्डनीय होता है [९ । २१३], और बड़े के स्थान पर आदरणीय नहीं होता [९ । ११०] ।

३. बड़े भाई की छत्रछाया में रहकर यदि बाद में भाई अलग होना चाहें, तो पैतृक धन का विभाजन इस प्रकार होगा — कुल धन में से बड़े को धन का बीसवां भाग अतिरिक्त मिलेगा, मध्यम को उससे आधा, छोटे को चौथाई । यह उद्धारभाग कहलाता है [९ । ११२] ।

समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है — मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये है । उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (९६० ÷ २० = ४८) ४८ रु. 'उद्धार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (९६० ÷ ४० = २४) २४ रु. होगा, छोटे भाई का अस्सीवां भाग (९६० ÷ ८० = १२) १२ रु. 'उद्धार' होगा । 'उद्धार' का 'धन' बंटने के बाद शेष को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा —४८ + २४ + १२ = ८४, ९६० — ८४ = ८७६, ८७६ ÷ ३ = २९२, इस प्रकार २९२–२९२ रु. प्रत्येक के हिस्से में आये । इस विधि से बड़े भाई को २९२ + ४८ = ३४० रु., उसमें मझले भाई को २९२ + २४ = ३१६ रु., छोटे भाई को २९२ + १२ = ३०४ रु. प्राप्त हुए । यह उद्धारभाग बड़ों को तभी मिलेगा जब वे अपने छोटे भाइयों का पितृवत् पालन करेंगें ।

उद्धार-भाग का विधान क्यों ? —९ । १०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है । इस श्लोक में उद्धार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है । यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं । यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है । यह तभी प्राप्त होता है, जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें । सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें । इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है, क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं ।

इस उद्धारभाग को निकालने के बाद शेष बचे धन को बराबर-बराबर बांट लिया जाता है । [९ । ११६]

४. अथवा, उद्धार भाग न निकालें तो बड़ा भाई दो भाग सम्पत्ति ले, मध्यम डेढ़ और छोटा एक भाग ग्रहण करे । [९ । ११७] ।

५. सभी भाई, बहनों को अपने-अपने भाग में से चतुर्थांश दायभाग प्रदान करें [९ । ११८] । माता का जो निजी धन होता है, उस पर कुमारी लड़कियों का ही अधिकार होता है । [९ । १३१] । माता की मृत्यु पर माता के अधिकार में स्थित धन को सभी पुत्र और विवाहित पुत्रियां बराबर बांट लें [९ । १९२] यह धन छह प्रकार का होता है।स्त्रीधन का विवरण मनु ने ९ । १९४—१९७ में दिया है— (१) **अध्यग्नि** = विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन, (२) **अधि-आवाहनिकम्** = पति के घर आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन, (३) प्रीतिकर्म में प्राप्त धन = प्रसन्नता आदि के अवसर पर पति द्वारा प्रदत्त धन, (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन, (५) पिता से प्राप्त धन, (६) माता से प्राप्त धन ।

६. अपुत्रवान् पिता-माता की दायभागीय सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी उसकी कन्या ही होगी ।

वह सम्पत्ति, अन्य किसी को नहीं दी जा सकती [९ । १३०]

७. अपुत्रवान् रहने पर पुत्री के पुत्र अर्थात् धेवते को गोद लेकर उसे भी सम्पूर्ण दायभाग दिया जा सकता है । यदि इसके बाद किसी दम्पती को पुत्र प्राप्त हो जाता है, तो धेवते और पुत्र को समान भाग मिल जायेगा [९ । १३१, १३४] ।

८. नपुंसक, जन्म से अंधे, बहरे, पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे, किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग होने के कारण असमर्थ पुत्र, ये धन के भागी नहीं होते । अन्य भाई इनके धन का संरक्षण करते हुए इनका पूर्ण पालन-पोषण करें । हां, यदि ये विवाह करलें, तो इनके पुत्र अपने पिता के उस धन के अधिकारी हैं [९ । २०१ –२०३] ।

९. जूआ, चोरी, डाका, आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति दायभाग से वंचित हो जाते हैं [९ । २१४] ।

१२. मनुस्मृति में विवाह की आयु—

कुछ लोग मनुस्मृति के निम्न श्लोक के आधार पर मनुस्मृति में बालविवाह या अल्पायुविवाह की मान्यता को स्वीकार करते हैं । वस्तुत: यह उस समय का परवर्ती श्लोक है, जब युद्धों, अराजकता आदि कारणों से कन्याओं की सुरक्षा चिन्ताजनक बन गयी थी । उस भय या चिन्ता को दूर करने के लिए शास्त्रों में इस प्रकार के विधान ही कर दिये गये —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर: ।। [९ । ९४]

अर्थ — गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष, शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे ।

इसका निराकरण मनु द्वारा विहित समावर्तन ३ । १ –३, विवाह ३ । ४ –६२ तथा स्त्रीधर्म ५ । १४७ –१६६, ९ ।१ –१०२ वर्णनों स हो जाता है । उन प्रसंगों के अध्ययन से इस विषयक निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं –

(१) मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की आयु — अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने यहाँ विवाह की आयु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है । प्रसंगवश उस पर यहां विस्तृत विवेचन किया जाता है ।

वेदों में तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गई है । इसी आधार पर वेदों में सौ वर्षों से अधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है — **'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद : शतं शृणुयाम शरद : शतं प्रब्रवाम शरद : शतम् अदीना : स्याम शरद : शतं भूयश्च शरद : शतात् ।।'** [यजु. ३६ । २४]

(क) इस औसत आयु के आधार पर मनु ने मनुष्य-जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित करके उसकी अवधि निर्धारित की है —

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विज: ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।।
[४ । १ ।। ५ । १६९ ।]

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत ।। [६ । ३३ ।]

सौ वर्ष की आयु के इस प्रकार २५-२५ वर्ष के चार भाग होते हैं । आयु के प्रथमभाग में अर्थात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालन करना चाहिए । द्वितीय भाग में अर्थात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रहे । पुत्र का पुत्र होने पर अथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६ । २] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर तृतीयभाग में अर्थात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे।उसके पश्चात् चतुर्थ भाग में संन्यासी बन जाये।

इन विधानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि पुरुष की विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष है । उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए ।

(ख) स्त्री के विवाह की आयु — इसका संकेत मनु ने ९ । ९० श्लोक में दिया है — **"त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमतीसती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ।"**

अर्थात्-मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर कर सकती है ।

कन्याओं को मासिक धर्म सामान्यत: १३-१५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है । तीन वर्ष के अनन्तर यह काल १६-१८ की आयु का होता है । अत: कन्या के विवाह की कम से कम आयु १६ वर्ष है । २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह करे । इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात से विवाह होना चाहिए । क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुष के तुल्य होती है ।

(ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्त्तव्यों का जो वर्णन किया है, जैसे — गृहकार्यों में दक्ष होना, घर की साज-सज्जा, शुद्धि आदि में चतुर होना, आय-व्यय की संभाल रखना [५ । १५०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुओं की संभाल, धार्मिक अनुष्ठानों का संयोजन [९ । ११, २६-२८, ९६, १०१], इनसे भी यह ज्ञात होता है कि ये किसी अल्पायु के लिए नहीं, अपितु समझदार युवती के लिए विहित कर्त्तव्य हैं । इससे भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य आयु १६-१७ वर्ष या इससे ऊपर ही है ।

(२) आयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु — इस विषय में वैद्यक ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण हैं, क्योंकि उनमें शरीर के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है । आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में शरीर की वृद्धि और क्षीणता के आधार पर चार अवस्थाएं प्रदर्शित की हैं और तदनुसार विवाह की आयु निर्धारित की है —

"चतस्त्रो अवस्था: शरीरस्य, वृद्धि:, यौवनम्, संपूर्णता, किंचित् परिहाणि: चेति । आषोडशात् वृद्धि:, आपञ्चविंशते: यौवनम्, आचत्वारिंशत: संपूर्णता, तत: किञ्चित् परिहाणि: चेति ।" [सुश्रुत सूत्रस्थान ३५ । २५ ।।] = शरीर की चार अवस्थाए हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि = बढ़ोतरी की अवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है,और चालीसवें में यौवन की परिपक्वता होती है । उसके पश्चात् शरीर की धातुओं में कुछ-कुछ क्षीणता आने लगती है ।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है । इससे पूर्व शरीर की धातुओं में अपरिपक्वता होती है । बालविवाह से, जहां शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहां गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएं हो जाती है ; जैसे —गर्भ का न रहना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का अस्वस्थ रहना आदि । इसी कारण सुश्रुतकार ने २५ वर्ष से पूर्व

पुरुष का, १६ वर्ष से पूर्व कन्या के विवाह का निषेध किया है । कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाले बताते हैं । निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएं द्रष्टव्य हैं—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।।
[सुश्रुत सूत्र. ३५ । १० ।।]

ऊनषोडश वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ।।
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ।।
[सुश्रुत श. १० । ४७-४८ ।।]

(३) वेद में विवाह की आयु — वेद में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है । उपर्युक्त प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर बतलायी गयी है । इस प्रकार वेदों में २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है । मन्त्र निम्न है—

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।।"
[अथर्ववेद ११ । ५ । ५ ।।]

अर्थात् —"जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे ।" (सं. वि. वेदारम्भप्रकरण)

१३. मनुस्मृति में मनुष्यों के ऋषि, पितर, देव आदि विभिन्न वर्ग—

मनु द्वारा २ । ११५-१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान् ही स्तर के अनुसार ऋषि, देव और पितर हैं । इनमें किसी विद्या के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ, 'ऋषि' कहलाते हैं । दिव्य-गुण-आचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव', और पालक गुण कीप्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं । कुछ वर्ग, स्वभाव एवं प्रवृत्ति के आधार भी बनते है । देवों का नाम दिव्य स्वभाव की प्रधानता के कारण भी है । इसी प्रकार असुर, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच भी स्वभाव, संस्कार और प्रवृत्ति के कारण प्रसिद्ध होते हैं । मनुस्मृति में इनकी यत्र-तत्र चर्चा आती है । सभी वर्णनों के साररूप में, इनके विषय में मनु की मान्यता प्रदर्शित की जाती है—

(क) ऋषि कौन ?

'ऋषी गतौ' धातु से 'इन्' प्रत्यय और '**इगुपधात् कित्**' के योग से 'ऋषि' शब्द की सिद्धि होती है । गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं । ऋषि सबसे उच्चस्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है । वेदमन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष, ऋषि कहलाता है । वेद, वेदार्थों और विद्याओं के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है । वही धर्मोपदेष्टा होता है ।

(क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है—"ऋषि: दर्शनात् । स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यव: ।" [निरु. २ । ११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है । औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है । इसी प्रकार "साक्षात्कृतधर्माण : ऋषयो : बभूवु : ।" अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्त्ता होते हैं । [निरु. १ । २०] ।

(ख) ब्राह्मणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं—

(अ) "यो वै ज्ञातोऽनूचान: स ऋषिरार्षेय: ।"
[श. ४ । ३ । ४ । १९]

(आ) "एते वै विप्रा यदृषय: ।।
[श. १ । ४ । २ । ७]

(ग) महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(इ) न हायनैर्नपलितै: न वित्तेन न च बन्धुभि: ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचान : स नो महान् ।।
[२ । १२९ ।।]

(ई) ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयु :।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ।। [४।९४]

(उ) आर्षं धर्मोपदेशम् च ।। [१२ । १०६ ।।]

(ऊ) "अथ यदेवानुब्रवीत् । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहु : ।।"
[शत. १ । ७ । ५ । ३]

"अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ।।" [शत. १ ।४ ।५ ।३]

"**अर्थ**— सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है,वह उनको सुख देने वाला होता है । यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है । जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको ऋषि कहते हैं ।

जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है,सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है । उसे उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है ।"
[द. ल. ग्र. सं. २४५-२५५]

(ख) देव कौन ?

'दिवु = क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' (दिवादि) धातु से 'पचाद्यच्' से 'अच्' प्रत्यय अथवा 'दिवु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिवुपरिकूजने' (चुरादि) धातु से 'अच्' प्रत्यय के भाग से 'देव' शब्द निष्पन्न होता है । देव जड़ और चेतन दो प्रकार के होते हैं (विस्तृत विवरण १ । ६७ की समीक्षा में देखिए) । इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव अभीष्ट है । शतपथ में आता है—

(अ) "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति।

[शतपथ १।१।१।४-५]

"दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं। जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं, वे 'देव' और वैसे ही झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं।।" [द. ल. ग्र. सं. २४५-२५५]

(आ) विद्वांसो हि देवाः।। [शत. ३।७।६।१०]

(इ) ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते, मनुष्यदेवाः।। [शत. २।४।३।१४।।]

(ई) सन्यसंहिता वै देवाः।। [ऐ. ब्रा. १।१६]

अर्थात्, विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं। निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है — **'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता"** [निरु. ७।१५] अर्थात्, दान देने से, प्रकाश करने से, प्रकाशित होने से, द्युस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्यगुण एवं उत्तम आचरण वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है। यथा — **"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।"** [प्रपा. ७।११]।

मनुस्मृति में ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं —

(उ) ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ।।२।१३१।।

(ऊ) न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।२।१२७।।

२. देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय —

निरुक्त में कहा गया है कि **"यो देवः, सा देवता"** [७।४।१५] देव को ही देवता कहा जाता है। देव शब्द से तल् और टाप् प्रत्यय के प्रयोग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है। चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है। क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है। जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान्, माता, पिता आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य। लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं। अतः यहां **'देवताऽभ्यर्चनम्'** से अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से है। यदि कहीं अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवताओं की स्तुति का वर्णन मिलता है, तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति अभिप्रेत है। क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्यशक्तियाँ या गुण हैं, उसी के प्रत्यंग हैं। भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना। इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है —

(अ) 'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

कर्मजन्मान : आत्मजन्मान : आत्मैवेषां रथो भवति ।।
आत्माश्व : आत्मायुधम्, आत्मेषव : सर्वं देवस्य देवस्य ।''
[निरुक्त ७।१।४]

अर्थात् — एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है । सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेक-विध ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यंगरूप हैं । उनका इसी में समाहार हो जाता है । उस एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं,इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है । इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु , आयुध = शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा , इषु = वाण के समान सब दुष्टगुणों और दु :खों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है । परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है,अधिक नहीं । इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं ।

इसमें वेदों के प्रमाण हैं —

(आ) **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: सुपर्णो गुरुत्मान् ।**
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ; ।।
[ऋ. १०।१६४।४६]

(इ) **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा : ।**
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आप: स प्रजापति : ।।
[यजु. ३२।१ ।।]

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए —

(ई) **आत्मैव देवता: सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।**
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।।
[१२।११९ ।।]

(उ) **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।**
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।
[१२।१२३ ।।]

(ऊ) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है । प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं — २।७६-७८ [२।१०१-१०३], ४।९२-९३, १२।११८, ११९, १२२, १२५ ।।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में २ । १५१ [१७६] आदि श्लोकों में '**देवता-अभ्यर्चनम्**' का अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् संध्या करने से है । अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं । इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है ।

इस प्रकार—देव, सात्त्विक, प्रवृत्ति के [१२ । ४०] विद्वानों को कहते हैं, और अग्निहोत्र को भी देवयज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है । यज्ञ का विशेष अनुष्ठान और उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान् व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के अनुरूप ही हैं । यह विधि देवों = विद्वानों के कर्मानुरूप और सम्मत है अत : ३ । २८ में इस प्रकार के विवाह को देवविवाह

कहा है ।

जड़ देवता—

चेतन देवों के अतिरिक्त, सूर्य, अग्नि, वायु, पृथिवी,अन्तरिक्ष, द्युलोक, चन्द्रमा, नक्षत्र, दशप्राण = प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, बारह मास—ये जड़ देवता कहलाते हैं । निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—"**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा** ।" [७ । ४ । १५] अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्युस्थानीय को देवता कहते हैं ।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अत: देव या देवता है ।

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन-रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं—

"**स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयत्रिंशत् इति ? अष्टौ वसव:, एकादश रुद्रा:, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत्' इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।**

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च, एते वसव: ।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा: (प्राण:, अपान:, व्यान:, समान:, उदान:, नाग:, कूर्म: कृकल:, देवदत्त:, धनञ्जयश्च) आत्मा-एकादशस्ते ।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासा: संवत्सरस्य एते आदित्या: ।

(३) कतम इन्द्र, कतम: प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञ: प्रजापतिरिति । तदाहु: । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते । [शत. कां. १४ । प्रपा. १६]

(ग) पितर कौन ?

पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानै: ते पितर: "—जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं,वे 'पितर' कहलाते हैं । इसमें ब्राहमणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) "देवा वा एते पितर:" [गो. उ. १ । २४]

(आ) "स्विष्टकृतो वै पितर:" [गो. उ. १ । २५]

अर्थात् सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं ।

(इ) "मर्त्या: पितर:" [श. २ । १ । । ३ । ४]

जीवित मनुष्य ही 'पितर हैं अर्थात् मृत नहीं ।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है । माता पिता-पितामह-आचार्य आदि ही 'पितर' कहलाते हैं ।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है । ४ । २५७ में उनके ऋण से उऋण होने के लिए कहा है—"**महर्षि-पितृ-देवानां गत्वानृण्यं यथाविधि**" । यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है । मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(ई) अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।। २ । १२६ ।।
(उ) पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ।। १२ । ४९ ।।
(ऊ) पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम् ।। १२ । ९४ ।।
(ए) दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ।। ९ । २८ ।।
(ऐ) ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ।। ३ । ८० ।।

मनु ने ४ । ३०—३१ में जीवित, धार्मिक, वेदवित् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है । वे श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं । यही श्राद्ध है । हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं ।

(ओ) पितरों में वेद का प्रमाण—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ।।
[यजु. २ । ३४]

"अर्थ—पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत से पितृन्) जो मेरे पिता पितामह आदि, माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो । सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती) जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेक विध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (स्वधास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो ! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भागों से सदा सुखी रहो ।" [द. ल. ग्र. सं. २४५—२५५]

(अं) पितरों की गणना और उनका अभिप्राय—

"जिनकी पितृसंज्ञा है और जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—

१—सोमसदः । २—अग्निष्वात्ताः । ३ —बर्हिषदः । ४—सोमपाः । ५—हविर्भुजः
६—आज्यपाः ७—सुकालिनः । ८—यमराजाः । ९—पितृपितामहप्रपितामहाः ।
१०—मातृपितामहीप्रपितामह्यः । ११—सगोत्राः । २—आचार्यादिसम्बन्धिनः ।

१ — **सोमसदः—'सोमे ईश्वरे सोमयोगे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च' ते 'सोमसदः'** = जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं

२ — **अग्निष्वात्ताः—'अग्निरीश्वरः, सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी = जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैः ते 'अग्निष्वात्ताः'** = अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुणज्ञात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं ।

३ — **बर्हिषद :— 'बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शम-दमादयूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति' ते 'बर्हिषद :'** = जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं।

४ — **सोमपा :— 'यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा' ते 'सोमपा :'** = जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।

५ — **हविर्भुज :— 'हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां' ते 'हविर्भुज :'** = जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज्' कहते हैं।

६ — **आज्यपा — 'आज्यं घृतम्, यद्वा 'अजं गतिक्षेपणयो :' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम् तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांस :' ते 'आज्यपा :'** = घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको 'आज्यप' कहते हैं।

७ — **सुकालिन :— 'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभन : कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूप : सदैव कालो येषां' ते 'सुकालिन :'** = मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको सुकालिन्' कहते हैं।

८ — **यमराजा :— 'ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तार : सन्ति' ते 'यमराजा :'** = जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।

९ — **पितृ-पितामह-प्रपितामहा :—(पितृ) 'ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषोगुणान् वासयन्त : तत्र वसन्तश्च, अनन्तधना : स्वान् जनान् धारयन्त : पोषयन्तश्च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिण : स्वे जनकाश्च सान्ति, ते पितर : 'वसव :' विज्ञेया ईश्वरोऽपि'** = जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है। (पितामह) **'ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्त : चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासा : ते 'रुद्रा :' स्वे पितामहाश्च ग्राह्या : तथा रुद्र ईश्वरोऽपि'** = जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। **(प्रपितामह) 'आदित्यवत् उत्तमगुण प्रकाशका: विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशत् वर्षेणब्रह्मचर्येण सर्व-विद्यासम्पन्ना : सूर्यवत् विद्याप्रकाशका : त आदित्या : स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्या : तथा आदित्यो विनाशीश्वरो वात्र गृह्यते'** = जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

१० — **मातृ-पितामही-प्रपितामह्य :— पित्रादिसदृश्यो मात्रादय : सेव्या :** =

मित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये । माता, दादी परदादी आदि ।

११ — सगोत्रा :— 'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीया :' = जो सपीपवर्ती ज्ञाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं ।

१२ — आचार्यादिसम्बन्धिन :— 'ये गुर्वादिसम्बन्धिनस्ता : सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीया :' = जो पूर्णविद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए'' । [द. ल. ग्रं. २४५-२५५]

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करना ही पितृयज्ञ है । मृतपितरों की कल्पना, भ्रान्ति एवं अज्ञानता है ।

प्रजापति, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में तत्पर माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों को ही कहते हैं । उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है । इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं — ''प्रजा अपत्यनाम'' निघ. २।२ ।। प्रजापति : पाता वा पालयिता वा'' निरु. १०।४१ ।। ''पितर : प्रजापति :'' गो. उ. ६।१५ ।। ''पुरुष : प्रजापति :'' शत. ६।२।१।२३ ।। प्रजाओं को उत्पन्न करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापति होता है । पितर अर्थात् माता-पिता आदि प्रजापति होते हैं । सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत और उनके आचरणानुरूप होने से ३।३० में वर्णित इस प्रकार के विवाह का नाम 'प्राजापत्य विवाह' है ।

(घ) असुर कौन ?

'न सुरा-असुरा :' अर्थात् जो देवताओं के समान नहीं हैं । जो देवताओं के समान नि :स्वार्थ, निर्वैर, परहित, परोपकार, त्याग, तप, सहिष्णुता आदि भावनाओं वाले नहीं हैं । जो अपने देह और प्राणों के ही पोषण में, अपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन और हितसाधनमें तत्पर रहते हैं; उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल आदि रचते हैं, ऐसे व्यक्ति 'असुर' कहलाते हैं । इनमें निरुक्त और ब्राह्मणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं — ''असुरता : स्थानेष्वस्ता, स्थानेभ्य इति वा, असुरिति प्राणानामास्त : शरीरे भवति, तेन तद्वन्त : ।'' निरु. ३।७ ।। ''(असुरा :) स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरु :'' शत. ११।१।८।१ ।। मायात्येसुरा : (उपासते)'' शत. १०।५।२।१० ।। असु क्षेपणे (अदादि) धातु से 'असेरुरन्' (उणादि १।४२) से 'उरन्' प्रत्यय से 'असुर' शब्द बना । 'असुर से 'सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ में अण् प्रत्यय लगाकर 'आसुर' बनता है । इस प्रकार दूसरे की भावनाओं की उपेक्षा करके धन और स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित, सम्मत अथवा उनके आचरणानुरूप होने से ३।३१ में उस विवाह का नाम 'आसुर विवाह' है ।

(ङ) गन्धर्व कौन ?

गन्धर्व की व्युत्पत्ति है ''गाम् = वाचम् धरतीति गन्धर्व :'' अर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला । संगीत अर्थात् गाने, बजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी आमोद-प्रमोद में व्यस्त, शृंगारप्रिय और कामुकप्रवृत्ति-प्रधान हैं, 'गन्धर्व' कहते हैं । ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश डाला गया है — ''रूपमिति गन्धर्वा : (उपासते) शत. १०।५।२।२० ।। ''योषित् कामा वै गन्धर्वाः'' शत., ३।२।४।३ ।। ''स्त्रीकामा वै गन्धर्वा :'' ऐत. १।२७७ ।। कौ. १२।३ ।। गन्धो मे, मोदो मे प्रमोदो मे । तन्मे युष्मासु

(गन्धर्वेषु) जै. उ. ३।२५।४ ।। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से ३।३२ में वर्णित उस विवाह का नाम 'गान्धर्व विवाह' है।

(च) राक्षस कौन ?

रक्ष्-पालने धातु से **'सर्वधातुभ्योऽसुन्'** [उणादि ४।१८९] सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है। निरुक्त ४।१८ में राक्षस की निरुक्ति देते हुए कहा है—''**रक्ष: रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा।**'' अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुंचाते और जो रात्रि में लूट-पाट, चोरी-व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों में सक्रिय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने और पीड़ित करने वाले, अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी स्वभावी और मांस-मदिराभोजी तमोगुणी [१२।४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप, उनसे अनुमोदित या सम्मत होने से ३।३३ में विहित उस विवाह का नाम 'राक्षस विवाह' है।

(छ) पिशाच कौन ?

पिश्-अवयवे (तुदादि) धातु से 'क' प्रत्यय होने से 'पिशम्' पद बना। 'पिश्' उपपद से आङ्-पूर्वक 'चमु-अदने' धातु से 'ड:' प्रत्ययपूर्वक 'पैशाच' शब्द बनता है। अथवा 'पिशित्' पूर्वपद से 'अश' धातु से अण्, 'इत्' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है। **'ये पिशितम् = अवयवीभूतं, पेशितं वा मांसं रुधिरादिकम् आचमन्ति भक्षयन्ति ते 'पैशाचा:'**। प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने वाले, हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, मलिन संस्कारों वाले, अत्यन्त तमोगुणी [१२।४४], अत्यन्त निम्न और घृणित स्वभाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से ३।३४ में वर्णित उस विवाह का नाम 'पिशाच-विवाह' है।

(ज) दस्यु कौन ?

वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है। यहाँ मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है। वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं—'आर्य' = श्रेष्ठ और 'दस्यु' = अश्रेष्ठ। मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से बाह्य अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों में अदीक्षित [१०।५७], धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अवशिष्ट सभी लोग दस्यु हैं। दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं—'दसु-उपक्षये' धातु से **'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्'** [उणादि ३।२०] से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति है—''**दस्यु दस्यते: क्षयार्थात् . . . उपदासयति कर्माणि**'' = दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है। मनु का श्लोक निम्न है—

> **मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहि:।**
> **म्लेच्छवाचश्चार्यवाच: सर्वे ते दस्यव: स्मृता:** ।।(१०।४५।।)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु + उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहि:) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित (या जातय:) जो जातियां हैं (म्लेच्छवाच: च आर्यवाच:) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब

(दस्यव : स्मृता :) 'दस्यु' कहलाती हैं ।

(भ्क) आर्य और अनार्य —

चारों वर्णों में किसी एक वर्ण में दीक्षित, श्रेष्ठ संस्कारों, स्वभाव एवं आचरण वाला व्यक्ति आर्य कहलाता है । इसके विपरीत अनार्य होता है । मनु ने निम्न श्लोक में अनार्य के लक्षण दिखाये हैं —

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभि: स्वैर्विभावयेत् ।। १०।५७ ।।

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (आर्यरूपम् + इव + अनार्यम्) श्रेष्ठ रहन-सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (कलुषयोनिजम्) [कलुषयोनौ = दुष्टयोनौ जायते इति कलुषयोनिज :, तम्] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वै : कर्मभि : विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है ।

(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आचरण का पालन करने का कथन किया है । कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्माचरण में रुचि नहीं बनती । वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते ['**वर्णापेतम्**'], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है । ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं । दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों = कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उनकी पहचान करा देते हैं । ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है । वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं —

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिन: ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विष: सुता: ।।
... भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम् ।।''

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है । यहां स्पष्टत : सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं । चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे ।

१४. मनु और वेद —

मनु ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए उनको अपनी स्मृति का और धर्म का मूलस्रोत माना है । उन्हें पढ़ने का मानवमात्र को अधिकार है और प्रत्येक स्थिति में वे पठनीय है (इस विषयक विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में 'वेद विरोध' शीर्षकान्तर्गत देखिए) ।

चतुर्थ अध्याय

[मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, प्रकरण एवं वर्णाश्रमधर्मवर्णन पद्धति]

१. मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं —

मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है अपितु परवर्तीकाल में किसी ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुस्मृति-परम्परा के ही किसी व्यक्ति ने सुविधा की दृष्टि से मनुस्मृति को अपने ढंग से व्यवस्थापित किया और उसमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये। आजकल प्राप्त होने वाली सभी प्रतियां अध्यायों में विभक्त मिलती हैं। यह मनुस्मृति का वास्तविक रूप नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति का यह विभाजन भी काफी पहले हो चुका था। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ही मनुस्मृति की प्रति अध्याय रहित रूप अर्थात् मौलिक स्वरूप में नहीं मिलती। अध्याय-विभाजन करने वाले व्यक्ति से मनुस्मृति के अध्याय-विभाजन में दो स्थानों पर भूल हुई है। अध्याय-विभाजन पूर्णतः निर्भ्रान्त या उचित नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि आज तक किसी भी विद्वान् का ध्यान इस त्रुटि की ओर नहीं गया, वही गलत अध्याय-विभाजन प्रचलित रहता रहा है। इन त्रुटियों का विवेचन करने से पूर्व अध्याय-विभाजन की अमौलिकता पर चर्चा कर लेना उपयोगी होगा।

मनुस्मृति की रचना-शैली ही यह सिद्ध करती है कि उसमें अध्याय-विभाजन की गुंजाइश नहीं है। मनुस्मृति की प्रवचन-शैली है, और ये सभी प्रवचन श्रृंखला की कड़ियों के समान जुड़े हुए हैं। मूलतः इस शैली में न तो अध्याय-विभाजन हो सकता है और न उसकी आवश्यकता सिद्ध होती है। अध्याय विभाजन इसलिए भी नहीं हो पाता कि मनु जिस किसी भी विषय या प्रसंग को प्रारम्भ करते हैं, उसके प्रारंभ, अन्त अथवा दोनों स्थलों पर उस विषय का संकेत देते हैं। अधिकांश संकेत-स्थलों पर ऐसा है कि उसी श्लोक की एक पंक्ति में पूर्व विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी में ही अगले विषय के प्रारंभ होने का संकेत। कुछ स्थानों पर तो श्लोक के एक पाद में एक विषय के आरम्भ या समापन का संकेत है और शेष तीन पादों में दूसरे विषय के आरम्भ या समापन का संकेत, यथा —

(अ) तृतीय अध्याय का अन्तिम २८६वां श्लोक है —

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ।। [३।२८६।]

अर्थ — यह पांच महायज्ञों का समस्त विधान आपको बताया और अब द्विजातियों की मुख्य आजीविकाओं का विधान सुनिए।

यहां पहली पंक्ति में 'पञ्चयज्ञविधान' विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी ही पंक्ति में द्विजातियों की वृत्तियों के विषय को प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

(आ) इसी प्रकार निम्न श्लोक की प्रथम पंक्ति में राजधर्म विषय की समाप्ति का संकेत है और द्वितीय में वैश्य-शूद्रों के कर्तव्यों को प्रारम्भ करने का —

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्य शूद्रयोः ।। [९।३२५।]

अर्थ — यह राजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही । अब वैश्यों और शूद्रों की कर्मविधि को आगे वर्णित रूप में जानें ।

(इ) निम्न श्लोक मे पूर्व के तीन पादों में पूर्व कहे चतुर्विध-कर्म के विषय की समाप्ति का संकेत है और अन्तिम एक पाद में अगले विषय को प्रारम्भ करने का --

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ।। [६।९७।]

अर्थ — यह चार प्रकार का आश्रम-धर्म आप से कहा । इस धर्म के पालन करने से पुण्य तथा मरकर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है । अब इसके आगे राजाओं के कर्त्तव्य-कर्मों को सुनिए ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस शैली में अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं है,और जब पूर्वापर विषय का साथ-साथ संकेत होता रहता है तो अध्यायानुसार बांटने की आवश्यकता भी नहीं रहती । मनुस्मृति की रचना-शैली अखण्ड है । यदि हम अध्याय-विभाजन करते हैं तो या तो श्लोक को तोड़ना पड़ेगा या दूसरे विषय की संकेतिक पंक्ति पहले अध्याय में ही रखनी पड़ेगी जैसे कि प्रचलित संस्करणों में रखी हुई है । एक विषय,पूर्व विषय के साथ,जो श्रृंखला की कड़ी के समान जुड़ा हुआ है यही यह सिद्ध करता है कि रचयिता को मूलत : अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं था । अत : यह माना जाना चाहिये कि मनुस्मृति की आरंभिक प्रतियां उस अखण्ड शैली में ही रही होंगी । अध्याय-विभाजन हो जाने पर वह परम्परा बंद हो गई और अध्यायों में विभाजित रूप चल पड़ा ।

अध्यायों का विभाजन सुविधा के लिए किया गया और इसमें सुविधा है भी, अत : उसे हम भी परिवर्तित नहीं करना चाहते । किन्तु, उसमें प्रथम और नवम अध्याय के विभाजन में त्रुटि हुई है और अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति, इनका निवारण करना आवश्यक है । नवम अध्याय में भी कुछ परिवर्तन किया गया है ।

(क) प्रथम और द्वितीय अध्यायों के विभाजन में परिवर्तन —

अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने मुख्य विषयों के अनुसार अध्यायों का विभाजन किया प्रतीत होता है । प्रत्येक अध्याय में एक-दो मुख्य विषय हैं, जैसे प्रथम अध्याय में — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति द्वितीय अध्याय में — संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय में — विवाह एवं पञ्चयज्ञविधान, आदि । किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन गलत हुआ है, वह द्वितीय अध्याय के पच्चीसवें श्लोक के पश्चात् होना चाहिये । यतोहि —

(अ) मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के मुख्य दो विषय हैं — सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति । दोनों की पारस्परिक सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक ही मानकर वर्णित किया है । १ । २ में महर्षियों ने मनु से वर्ण एवं आश्रमों के धर्मों का कथन करने की प्रार्थना की थी । धर्मों का कथन करने से पूर्व धर्म-सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी का भी भूमिका के रूप में कथन करना आवश्यक था । १ । ४-५ से मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया और फिर १ । १०८ से तथा २ । १ धर्म का प्रसंग प्रारंभ किया । यह क्रम इसलिए अपनाया क्योंकि धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है । इस दृष्टि से मनु ने पहले सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किया । २ । २५ में यह संयुक्त विषय समाप्त होता है । वहां मनु स्वयं संकेत देते हैं —

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ।।

अर्थ — यह धर्म जानने के समस्त कारणों को संक्षेप में वर्णन कर दिया और इस जगत् की उत्पत्ति का भी वर्णन किया। अब वर्णों के धर्मों को सुनिए।

जब मनु ने इस विषय का समापन एक साथ किया है, तो स्पष्ट है कि इस विषय को खण्डित करना गलत है। इस विषय की समाप्ति के बाद ही प्रथम अध्याय की समाप्ति होनी चाहिए। वर्तमान संस्करणों में १।११९ वें श्लोक पर ही अध्याय समाप्त करना, उक्त संकेतक श्लोक के विरुद्ध है।

(आ) परम्परागत अध्याय-विभाजन में एक और त्रुटि यह है कि इसमें धर्म के प्रसंग को भी भंग कर रखा है। १।८७-९१ श्लोकों में वर्णों के कर्मविभाजन के साथ ही सृष्ट्युत्पत्ति का प्रसंग पूर्ण हो जाता है, और फिर १।१०८-११० श्लोकों में धर्म की चर्चा भूमिका के रूप में की गई है, फिर २।१ में **'यो धर्मस्तं निबोधत'** कहकर धर्मोत्पत्ति का प्रसंग प्रारम्भ किया गया है। अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने धर्म की भूमिका के १।१०८-११० श्लोकों को तो प्रथम अध्याय में रख दिया और धर्मोत्पत्ति विषय द्वितीय अध्याय में आ गया। इस प्रकार प्रसंगभंग हो गया और विभाजित भी हो गया।

(इ) धर्म का विषय द्वितीय अध्याय में परिगणित होने से, मुख्यविषयों के अनुसार, अध्याय-विभाजन का वैज्ञानिक आधार भी नहीं बनता। इस प्रकार द्वितीय अध्याय में खण्डित विषय धर्मोत्पत्ति संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम ये कई विषय हो जाते हैं।

इन त्रुटियों को देखते हुए प्रथम अध्याय का विभाजन २।२५ के पश्चात् ही होना चाहिए। इसमें प्रथम अध्याय का एक मुख्य और पूर्ण विषय होगा — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति; तथा द्वितीय अध्याय का विषय रहेगा — संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम। इस प्रकार करने से धर्म का प्रसंग तथा मुख्य विषय खण्डित नहीं होंगे और मनुस्मृति की संकेत शैली के अनुरूप अध्याय का विभाजन होगा।

इसीलिए हमने मनुसम्मत विधि के अनुसार २।२५ वें के पश्चात् ही प्रथम अध्याय का विभाजन किया है। इन २५ श्लोकों को प्रथम अध्याय में ही परिगणित कर लिया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के श्लोक बढ़कर १४४ हो गये हैं और द्वितीय अध्याय से २५ घट गये हैं। इस संस्करण में श्लोकों की संख्या इसी ढंग से दी गई है।

(ख) अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति —

अष्टम अध्याय के विभाजन में जो त्रुटियां एवं भ्रान्तियां हुई हैं, वे ये हैं —

(अ) अष्टम अध्याय का विषय है — राजधर्म के अन्तर्गत 'अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकद्दमों) का निर्णय'। ८।४-७ श्लोकों में इनको एक-एक करके गिनाया भी है। ८।१-३ श्लोकों में इस विषय को प्रारम्भ करने का संकेत है और ९।२५० में इस विषय को संकेतपूर्वक समाप्त किया है —

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः॥

अर्थ — यह परस्पर विवाद करने वालों के १८ प्रकार के मुकद्दमों के निर्णय का विस्तृत वर्णन किया गया।

लेकिन अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने अष्टम अध्याय को विभाजित करते समय इस एक विषय को खण्डित कर दिया है। अठारह व्यवहारों में से पन्द्रह व्यवहार (स्त्री-संग्रहण तक) तो आठवें अध्याय

में चले गये। इस प्रकार इन अध्यायों का विभाजन मनु की विषय-संकेत-शैली के विरुद्ध है।

(आ) अध्याय-विभाजन करने वाले अथवा किसी परवर्ती व्यक्ति को, ८। ४१९ पर अध्याय-विभाजन करते समय यह भ्रान्ति हो गई है कि यहाँ व्यवहार-निर्णय का विषय समाप्त हो गया है। और उसने देखा कि यहां विषय-समाप्ति-सूचक कोई श्लोक भी नहीं है,इसलिए उसने अपनी ओर से यह श्लोक रचकर मिला दिया —

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन्।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ [८। ४२०॥]

अर्थ — इस प्रकार राजा इन पूर्वोक्त समस्त विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है।

प्रक्षेपक को यहां भ्रान्ति हुई है, यहां व्यवहार समाप्त नहीं हुए हैं,अपितु अभी तीन व्यवहार नवम अध्याय में शेष हैं। जब वे पूर्ण हो गये, तब मनु ने अपना समाप्ति–सूचक ९।२५० श्लोक भी दिया है। उक्त श्लोक मनु की शैली के अनुसार भी उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। सभी संस्करणों में इसी प्रकार विषय–समाप्ति की जा रही है। आश्चर्य है कि इस भ्रान्ति की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

इस भ्रान्ति की पुष्टि एक और भ्रान्ति से भी होती है —

(इ) वह है विषय-सूची बनाने वाले की। विषय-सूची चाहे अध्यायविभाजनकर्त्ता ने बनायी है अथवा किसी अन्य परवर्ती ने; उसे मुख्य और गौण विषयों का सम्यक् ज्ञान नहीं था। 'व्यवहार-निर्णय' राजधर्म के अन्तर्गत एक मुख्य और विस्तृत विषय है, फिर उसके अठारह गौण विषय हैं। किन्तु विषयसूची के श्लोकों को देखकर लगता है कि विषयसूची के निर्माता को 'व्यवहार-निर्णय' एक भिन्न विषय लगा है, जो आठवें में पूर्ण हुआ मान लिया,और नवम अध्याय में शेष तीन व्यवहारों को स्वतन्त्र विषय मानकर पृथक्-पृथक् विषय के रूप में वर्णित कर दिया —

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्॥ [१। ११४॥]
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्॥ [११५॥]

अर्थ — (आठवें अध्याय में) साक्षियों के प्रश्नों का विधान, (नवम अध्याय में) पति-पत्नी के धर्म, विभागधर्म, जुए सम्बधी, और कण्टकभूत दोषों के दूरीकरण सम्बन्धी बातों का वर्णन है। (सातवें अध्याय में) राजा के सब धर्म तथा (८ वें अध्याय में) सब कार्यों (मुकद्दमों) का निर्णय कहा है।

'साक्षिप्रश्नविधान' 'स्त्रीपुरुषधर्म' 'विभागधर्म' और 'द्यूत' विषय व्यवहार-निर्णय के अन्तर्गत ही आने वाले विषय हैं, पृथक् नहीं। शायद बीच में खण्डित हो जाने के कारण यह भ्रान्ति हुई है। वस्तुतः सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायों में राजधर्म ही वर्णित हैं, और ये ७।१ से प्रारम्भ होकर ९। ३२५ में समाप्त हैं। उसके पश्चात् वैश्य और शूद्र के कुछ कर्मों का वर्णन है।

(ग) नवम अध्याय के विभाजन पर विचार —

वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ श्लोक उपलब्ध होते हैं। सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय के ३२५ श्लोक तक राजनीति का विषय है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन

में विभाजनकर्त्ता द्वारा भूलें हुई हैं। प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है। इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है। विषय के साथ ९। ३२६ से ९। ३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, जोड़ दिये हैं। इनके साथ ही चातुर्वर्ण्यधर्म [२ १४४ (२। २५) से ९। ३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं और फिर दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्यधर्म का उपसंहार है। क्योंकि वैश्य-शूद्र-धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता, अत: हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है। ९। ३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इसके अध्यायों का विभाजन नये सिरे से किया जाये अथवा प्रक्षिप्त श्लोकों के संशोधन के साथ इसे प्रचलित रूप में स्वीकार कर लिया जाये ? इस के उत्तर में यही विचार किया गया है कि प्रधानत: प्रचलित को ही रखलिया जाये। क्योंकि, इसके परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा और आठवाँ अध्याय अत्यन्त विस्तृत हो जायेगा, उसमें लगभग सात-सौ श्लोक हो जायेंगे,जबकि नवम में १०-११ ही रह जायेंगे। अत: इन भ्रान्तियों की ओर ध्यान दिलाकर इस विभाजन को यथावत् रख लिया गया है। सही बात तो यह है कि मनुस्मृति की शैली के अनुसार अथवा विषयों के अनुसार सन्तुलित अध्यायों में विभाजन नहीं हो सकता,क्योंकि विषयानुसार अध्याय बांटने में किसी अध्याय में तो ६०० –७०० श्लोक होंगे और किसी में ५० –६०, और अध्यायों की संख्या भी बढ़ जायगी। इसलिए प्रथम और नवम अध्याय को छोड़कर शेष प्रचलित विभाजन को ही स्वीकार कर लिया; जिससे प्रचलित संस्करणों से बहुत अधिक अन्तर न पड़े और श्लोकों को मिलाने में असुविधा का सामना न करना पड़े। यतोहि, वर्तमान में सभी ग्रन्थ और उद्धरण प्रचलित संस्करणों की संख्या के अनुसार ही हैं।

२. मनुस्मृति के प्रकरण और उनकी सीमा का निर्धारण —

मनुस्मृति को उसकी संकेत-शैली के अनुसार कुछ मुख्य विषयों में अवश्य बांटा जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार करने से भी संकेतक श्लोक मुख्यविषय के अनुसार विभाजित होंगे, लेकिन उससे विषय या प्रसंग का ज्ञान होता जायेगा। वैसे छोटे-छोटे प्रसंग भी मनुस्मृति में अनेक हैं, उनकी गणना की जाये तो पूरी विषयसूची तैयार हो जायेगी, इसलिए यहां उनका उल्लेख करना विस्तारभय से संभव नहीं है। मुख्य या स्वतन्त्र विषयों का विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है —

मुख्यविषय का नामकरण	श्लोक सीमा
१. भूमिका	१। १ से १। ४ तक
२. सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति	१ ।५ से २। २५ तक (इस प्रकाशन में १। ५ से १४४ तक)
३. संस्कार	२। २६ से २। ६८ तक (इसमें २। १ से २। ४२)
४. ब्रह्मचर्याश्रम	२। ६९ से २। २४९ तक (इसमें २। ४५ से २। २२४ तक)
५. गृहस्थान्तर्गत विवाह	३। १ से ३। ६६ तक
६. गृहस्थान्तर्गत पञ्चयज्ञविधान	३। ६७ से ३। २८६ तक
७. गृहस्थान्तर्गत वृत्तियां	४। १ से ४। १३ तक

८.	गृहस्थान्तर्गत स्नातकों के व्रत	४ । १४ से ४ । २६० तक
९.	गृहस्थान्तर्गत भक्ष्याभक्ष्य	५ । १ से ५ । ५६ तक
१०.	गृहस्थान्तर्गत शुद्धिविषय	५ । ५७ से ५ । १४६ तक
११.	गृहस्थान्तर्गत स्त्रीधर्म	५ । १४७ से ५ । १६९ तक
१२.	वानप्रस्थाश्रम	६ । १ से ६ । ३२ तक
१३.	संन्यासाश्रम	६ । ३३ से ६ । ९७ तक
१४.	राजधर्मान्तर्गत राजा की सिद्धि और कर्त्तव्य	७ । १ से ७ । २२६ तक
१५.	राजधर्मान्तर्गत १८ प्रकार के व्यवहारों=मुकद्दमों का निर्णय	८ । १-३ से ९ । २५० तक
१६.	राजधर्मान्तर्गत लोककण्टकों का निवारण	९ । २५१-२५२ से ९ । ३२५ तक
१७.	वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्य	९ । ३२६ से ९३६ तक (१०।१ से १०।८)
१८.	उपसंहार	१० । १ से १० । १३१ तक
१९.	प्रायश्चित्त-विधान	११ । ४४ से ११ । २६५ तक
२०.	कर्मफलविधान	१२ । १ से १२ । ८२ तक
२१.	कर्मफलविधानान्तर्गत निःश्रेयस्कर कर्मों का वर्णन	१२ । ८३ से १२ । ११६ तक

हमने प्रचलित अध्यायों के विभाजन को रखते हुए, इन मुख्य विषयों के शीर्षक तथा विषय की अवधि भी साथ-साथ दिखा दी है । इसके अतिरिक्त मनु के संकेतानुसार अवान्तर विषयों के भी शीर्षक दे दिये हैं । इससे विषय या प्रसंग के परिज्ञान में सरलता होगी ।

३. मनुस्मृति में वर्णों और आश्रम धर्मों के वर्णन की पद्धति —

मनुस्मृति में वर्णों और आश्रमों के धर्मों का छठे अध्याय की समाप्ति तक साथ-साथ वर्णन चलता है। विषयसंकेतक श्लोक के **'वर्णधर्मान्निबोधत** [१ । १४४ (२ । २५)] और उपसंहारात्मक **''एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः''** [६ । ९७] पदों को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न वर्णों और आश्रमों [१ । २] दोनों का किया था, फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णधर्म की ही बात क्यों कही ? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है । उसे इस प्रकार समझना चाहिए —

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आश्रमों के धर्म, वर्णों के साथ-साथ चलते हैं । वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं । और छठे अध्याय में आश्रमधर्मों की पूर्णता के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य भी पूर्ण हो जाते हैं । छठे अध्याय तक के चारों आश्रमों के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य सभी द्विजों के लिए एक सदृश पालनीय हैं । जो विधान इन अध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वही धर्म-कर्म हैं [१ । ८८] ।

उसके पश्चात् शेष वर्णों के व्यावहारिक कर्त्तव्यों का कथन — 'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, अष्टम अध्याय और नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है । वैश्यों का ९ । ३२६ से ३३३ [इस

संस्करण में १० । १ से १० । ८ तक] तथा शूद्र के कर्त्तव्यों का कथन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ९-१० तक] पूर्ण हो जाता है ।

(२) इस मध्य, द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पञ्चम अध्यायों में गृहस्थाश्रम, षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का वर्णन है । आश्रमधर्मों को वर्णधर्मविषय के अन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंग संकेतक श्लोकों तथा उपसंहारात्मक श्लोकों से उसका कथन भी किया है [२ । ४३ (२ । ६८), २ । २२४ (२ । २४९), ३ । २, ६७, २८६, ४ । १, २५९, ५ । १६९, ६ ।१ ३३, ८७-९०] आदि ।

(३) इसी प्रकार इन अध्यायों में 'द्विज', 'विप्र', 'ब्राह्मण' शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है

(४) मनु ने संभवत: इसी शैली के अनुरूप १ । २ और १ । १३७ [२ । १८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों का प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है — '**वर्णानाम् अन्तरे प्रभव :=उत्पत्ति :=स्थिति : येषां ते अन्तरप्रभवा : = आश्रमा : ।**' इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है । यही मनु की शैली है ।

पंचम अध्याय

[महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति तथा उनके द्वारा प्रक्षेपनिर्देशन]

१. महर्षि दयानन्द द्वारा मनुस्मृति का गौरव बढ़ाना —

यद्यपि मनुस्मृति को अपने रचना-काल से ही सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है ; किन्तु आधुनिक काल में मनुस्मृति की न तो पूर्वसदृश प्रतिष्ठा ही रह गयी है और न पूर्ववत् अकाट्य प्रामाणिकता । प्रक्षेपों से विकृत और गदली हो जाने के कारण मनुस्मृति का गौरव विनष्ट हो रहा था । महर्षि-दयानन्द ने उस गौरव की रक्षा की और उसे बढ़ाया । सर्वप्रथम, मनुस्मृति के प्रक्षेपों से विकृत स्वरूप की ओर संकेत करके लोगों का यह दृष्टिकोण बदला कि 'उपलब्ध गदला रूप मनुस्मृति का वास्तविक रूप है' और यह भी बताया कि इसमें अनेक प्रक्षेप हुए हैं ; प्रक्षेपों से रहित मनुस्मृति ही मान्य और अनुकरणीय है । फिर उसे आर्ष और प्रामाणिक घोषित किया तथा उसकी वेदानुकूलता की पुष्टि की । काशी-शास्त्रार्थ में महर्षि-दयानन्द ने कहा था —

''मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति ।''

अर्थात् — मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं, इससे इनका भी प्रमाण है । क्योंकि जो-जो वेदविरुद्ध और वेदों से असिद्ध हैं, उनका प्रमाण नहीं होता ।

(द. शा. सं. पृ. २१)

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के ५१४ श्लोकों या श्लोक-खण्डों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है; एवं बहुत सारे श्लोकों के भावों को ग्रहण किया है । इससे ही यह सिद्ध होता है कि महर्षि-दयानन्द की मनुस्मृति के प्रति गहरी निष्ठा थी और वे उसे प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ मानते थे । इतने अधिक प्रमाण उद्धृत करके उन्होंने यह संकेत कर दिया कि धर्मप्रमाण में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसे छोड़ा नहीं जा सकता । महर्षि ने वेदों के बाद यदि किसी शास्त्र के सर्वाधिक प्रमाण दिए हैं, तो वह मनुस्मृति ही है । महर्षि ने अपनी समस्त वैदिक मान्यताओं की व्याख्या मनुस्मृति के श्लोकों से की है । मनुस्मृति के सम्बन्ध में जो मिथ्या भ्रान्तियाँ फैल चुकी थीं, महर्षि ने उन सबका उत्तर वेद के प्रमाणों से दिया और मनुस्मृति का परिमार्जित तथा उज्ज्वल स्वरूप हमारे समक्ष रखा । इस शास्त्र से महर्षि की तथा महर्षि से इस शास्त्र की प्रतिष्ठा चहुँ ओर फैल गई । असंख्य मत-मतान्तरों के प्रबल झंझावात के घोर अन्धकार तथा वेग के सामने अविचल तथा निर्भय रहने का महर्षि को जहां अदम्य साहस परमेश्वर की उपासना से, ज्ञान की ज्योति वेद-ज्ञान से, तथा तर्कशक्ति दर्शनों के गहन अध्ययन से मिली थी, वहां महर्षि के मनोबल को बढ़ाने वाला यह धर्मशास्त्र ही था । महर्षि जो वैदिक-वाङ्मय का मन्थन कर सके, तदर्थ कुशाग्रबुद्धि तथा तर्कणा शक्ति को देने वाला यही परमोपयोगी धर्मोपदेश था । अन्य मतों की धज्जियाँ उड़ाने तथा अन्धविश्वास का समूल उन्मूलन करने का धैर्य **'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः'** (मनु. १२ । १०६) इत्यादि मनु के सत्य-वचनों ही से प्राप्त हुआ था । महर्षि ने जो ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में 'वेदानुकूल को प्रामाणिक तथा वेद-प्रतिकूल को अप्रामाणिक' मानने की मान्यता प्रस्तुत की है, इसका भी मूलाधार मनुस्मृति ही है । महर्षि ने काशी शास्त्रार्थ में सत्य ही कहा था — ''जो-जो मनु ने कहा है, सो-सो औषधों का औषध है ।''

महर्षि-दयानन्द द्वारा अत्यधिक प्रमाणों को उद्धृत-गृहीत किये जाने पर, धर्म-निर्णय के सन्दर्भ में मनुस्मृति की चर्चा पुन: बढ़ी और सभी वर्गों के लोगों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार महर्षि-दयानन्द ने आधुनिक युग में मनुस्मृति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया है।

महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति की वैदिक मान्यताओं को ही नहीं स्वीकार किया, प्रत्युत मनु की वर्णन-शैली को भी उपादेय समझकर ग्रहण किया है। मनु की यह शैली है कि वे किसी भी विषय का वर्णन करने से पूर्व तथा अन्त में भी निर्देश अवश्य करते हैं। महर्षि ने भी सत्यार्थप्रकाशादि में इस शैली को अपनाकर आदि तथा अन्त में विषयों का निर्देश किया है। इसी प्रकार, जैसे मनु ने प्रथम ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि के धर्मों का वर्णन क्रमश: किया है, वैसे ही महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रथम ब्रह्मचर्यआश्रम के नियमों, शिक्षणविधि तथा पठन-पाठन, गृहस्थ आदि का वर्णन किया है।

२. महर्षि के अर्थ एवं भावों का ग्रहण —

महर्षि ने वेदानुकूल मान्यताओं को परखा और उन्हें प्रस्तुत किया। उनकी पुष्टि के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया है। अनेक श्लोकों के केवल भाव ग्रहण किये हैं। अपने ग्रन्थों में महर्षि ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का भाष्य किया है, उस श्लोक पर महर्षि का भाष्य देदिया गया है, शेष श्लोकों पर मेरा भाष्य है। जहां महर्षि का भाव मिला, वहां मैंने अपने भाष्य के नीचे उनका भाव भी दे दिया है, ताकि एक ऋषि की मान्यता को ऋषि के भाव से, अधिक गाम्भीर्य पूर्वक समझा जा सके। एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर ऋषि का भाष्य हो जाने से 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है, और उसका महत्त्व भी कई गुणा बढ़ जाता है।

महर्षि के श्लोकों के अर्थ में वैशिष्ट्य है, और गाम्भीर्य है। उन्होंने मनु की मूल भावना को समझा है। इस प्रसंग में एक प्रमाण देना पर्याप्त होगा। मनु का निम्न श्लोक जितना प्रसिद्ध है उसका अर्थ उतना ही अव्यावहारिक रूप में प्रसिद्ध है —

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:॥ [३।५६]

यहां सभी टीकाकारों ने यह अर्थ किया है — 'जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता रमण करते हैं।' इस प्रकार अदृश्य देवताओं की कल्पना की गयी है। इस कल्पना से इसका अर्थ अविश्वसनीय, अव्यावहारिक, असंगत एवं हास्यास्पद बन गया। किन्तु महर्षि ने 'देवता:' का निरुक्त शास्त्र के आधार पर अर्थ ग्रहण करते हुए कहा है कि **'जिस घर में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, वहां देवता अर्थात् दिव्यगुण, दिव्यलाभ, दिव्यसन्तानें, दिव्यभोग आदि प्राप्त होते हैं।'** यह प्रत्यक्ष देखा भी जाता है कि जिस घर में नारियाँ सत्कृत और प्रसन्न रहती हैं, उस घर का वातावरण अनेक सुखों से भरा-पूरा होता है। कितना व्यावहारिक और प्रासंगिक अर्थ है! (विस्तृत विवेचन भाष्य में यथास्थान देखिए)।

इस भाष्य में, श्लोकों पर महर्षि दयानन्द के ३४२ अर्थ उद्धृत किये हैं और ८० श्लोकों पर केवल भाव उद्धृत किया है। इस प्रकार ४२२ श्लोकों पर ऋषि के अर्थ और भाव हैं। महर्षि के जो अर्थ या भाव अक्षरश: उद्धृत किये हैं, उन पर उद्धरणचिह्न अंकित हैं। अर्थों में श्लोकों के मूल पद महर्षि के नहीं हैं, अपितु पदार्थ सुविधा और भाष्य की एकरूपता के लिए लेखक की ओर से संयुक्त किये

है। महर्षि के अर्थ या भाव में यदि कोई बृहत्कोष्ठक में शब्द है तो वह भी लेखक की ओर से ही रखा गया है, महर्षि का नहीं है।

महर्षि के अर्थों की अक्षुण्णता बनी रहे, इसका भी ध्यान रखा गया है। अपने ग्रन्थों में श्लोकों का अर्थ या भाव देते समय यदि महर्षि ने किसी पद को छोड़ा हुआ है, तो इस भाष्य में उस स्थान पर टिप्पणी के चिह्न देकर उनके अर्थ के ठीक बाद वह पद देकर मैंने उसका अर्थ कर दिया है। पाठक भाष्य पढ़ते समय उसे उस स्थान पर संयुक्त करके अर्थ को समझ लें।

३. सर्वप्रथम प्रक्षेप-निर्देशक —

यह श्रेय भी सर्वप्रथम महर्षि-दयानन्द को ही जाता है कि उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में हुए प्रक्षेपों को पहचाना और उनका संकेत दिया। यों तो मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि ने भी पाठभेद के रूप में प्राप्त श्लोकों को प्रक्षिप्तरूप में दर्शाया है, किन्तु निहित स्वार्थी प्रवृत्तियों से हुए प्रक्षेपों की ओर सबसे पहले महर्षि-दयानन्द ने ही ध्यान आकृष्ट किया और इस दृष्टि से कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् उद्धृत भी किया तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को निकालने की प्रेरणा भी दी। मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों के बारे में उन्होंने अपने उपदेशों व ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लेख किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —

(क) "अब मनु जी का धर्मशास्त्र कौन-सी स्थिति में है, इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वालों को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत-से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं हैं।"

(पू. प्र. पृ. ९१)

(ख) "एक दिन स्वामी जी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुण पर निर्भर है, न कि जन्म पर; और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे, इस पर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इसके विरुद्ध भी हैं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वे प्रक्षिप्त हैं।"

(द. जी. दे. पृ. ३५७)

कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों का स्वग्रन्थों में निर्देश —

(ग) सत्यार्थप्रकाश में निम्न श्लोकों की प्रक्षिप्त रूप में समीक्षा की है —

१. **प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्** . . . . ।।[५ । २७ ।।]

अर्थ — यज्ञ में प्रोक्षण से शुद्ध किए मांस को खावे ।।

२. **न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।**
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।[५ । ५६ ।।]

(पृ. २८३, एकादश समु.)

अर्थ — माँस के खाने, शराब-पीने और शास्त्रविरुद्ध मैथुन (व्यभिचार) में कोई दोष नहीं है। ये सब प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। इनसे निवृत्त होना अत्यन्त लाभप्रद है।

३. **पुराणानि खिलानि च** ।। ३ । २३२ ।।[स. प्र. पृ. ३

(घ) "ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढता गया। . . . . जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं; तब उन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजन आदि वेदविरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण, ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-एसे श्लोक गढ़े गए —

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ।। [९ । ३१७ ।।]

अर्थ — ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो अथवा मूर्ख, बड़ा देवता है । जैसे अग्नि हवन के लिए हो अथवा न हो, फिर भी बड़ा देवता है ।

श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ।। [९ । ३१८ ।।]

अर्थ —तेजस्वी अग्नि का तेज श्मशानों में भी नष्ट नहीं होता है और यज्ञों में हवि को प्राप्त करके तो वह अग्नि अधिक बढ़ जाता है ।

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, वह साक्षात् देवता है । प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनाएं करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए । यथा —

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ।। [९ । ३१९ ।।]

[पू. प्र. पृ. १३४]

अर्थ —इस प्रकार चाहे ब्राह्मण कैसे भी अनिष्ट कर्मों में रत रहें, फिर भी वे सब प्रकार से पूज्य हैं । क्योंकि वह बड़ा देवता है ।

(ङ) "मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक स्मृति ग्रन्थ (अपठनीय हैं)" ।

(ऋ. भू. ग्रन्थप्रामाण्य.)

उपर्युक्त घोषणा, विद्वान्, आर्षभक्त तथा मत-मतान्तरों के जाल से विमुक्त, स्वार्थहीन, निष्पक्ष, महर्षि-दयानन्द ही कर सके हैं, जिन्होंने वेद-ज्ञान के सूर्यसम प्रकाश में सत्यासत्य का निर्णय कर लिया था । और सत्यासत्य के निर्णय का माप -दण्ड भी हमारे लिए स्पष्ट किया । महर्षि दयानन्द ने प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि —

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ।। [न्यायदर्शन २ । ५७ ।।]

अर्थात् —वह प्रमाण के योग्य नहीं होता, जिसमें मिथ्या बातों का वर्णन, परस्पर विरोधी तथा पुनरुक्त बातों का वर्णन हो ।

ये उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के बिगड़े हुए रूप को पहचाना था और उसके सुधार के लिए सर्वप्रथम प्रयास किये थे । इस प्रकार साहित्य के अन्दर होने वाले प्रक्षेपों का निर्देश देने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति महर्षि-दयानन्द थे । उनकी इस अभूतपूर्व महत्त्वपूर्ण देन के लिए साहित्य-क्षेत्र के सभी व्यक्तियों को कृतज्ञता अनुभव करनी चाहिए ।

४. महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोकों का प्रक्षेपान्तर्गमन —

महर्षि-दयानन्द द्वारा स्वग्रन्थों में की गई प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का यह प्रयास किया जा रहा है । यह कहना चाहिए कि महर्षि-दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति करना ही इस कार्य का लक्ष्य है । इससे पूर्व भी आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं, किन्तु उनमें कुछ सुनिश्चित आधार न अपनाने के कारण भ्रान्तियाँ एवं दोष रह गये हैं । कुछ एक ने तो महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत सम्पूर्ण प्रसंगों को ही प्रक्षिप्त घोषित कर दिया है । बिना किसी आधार के इस प्रकार करना दुस्साहस मात्र कहा जायेगा । कुछ विद्वानों ने

प्रक्षिप्त कोटि में आने वाले विभिन्न श्लोकों को भी मौलिक मानलिया है, जिन्हें हमने सप्रमाण प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। हमने जो आधार अपनाये हैं, प्रसंगानुसार उनकी एक बार पुन: चर्चा कर देना उपयुक्त रहेगा। वे ये हैं —

१. **विषय-विरोध**
. **प्रसंग-विरोध**
३ **अन्तर्विरोध**
४. **पुनरुक्तियाँ**
५. **ली-विरोध**
६. **अवान्तर-विरोध**
७. **वेद-विरोध**

इस कार्य को करते हुए हमारे सामने भी एक विवशता उत्पन्न हो आई है। उसे स्पष्ट कर देना हम स्वयं आवश्यक समझते हैं। वह यह कि प्रक्षेपों को निकालने को लिए जो 'आधार' हमने निर्धारित किये हैं, उनमें महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत कुछ श्लोक भी आ गये हैं। महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोक कैसे प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, अथवा उन्हें प्रक्षिप्त क्यों स्वीकार किया जा रहा है तथा उन्हें मान लेने पर क्या उलझन पैदा हो जायेगी, इन बातों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है —

१ — मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के इस उलझनपूर्ण और महाकठिन कार्य को पूर्ण करने के लिए हमने जो उपर्युक्त 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये हैं, वे विशुद्ध रूप से कृतित्व पर आधारित हैं, और वे सर्वमान्य हैं। इस अनुसन्धान कार्य को करते हुए किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहींअपनाया है। यह प्रयत्न किया गया कि कृति की शैली के अनुसार ही उसका वास्तविक रूप प्रकाश में आये,और यह कार्य सभी वर्ग के व्यक्तियों में समानरूप से मान्य हो सके। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो इस कार्य की न तो कोई विशेष उपयोगिता ही सिद्ध होगी और न ही यह न्यायोचित ही होगा। इसलिए पक्षपातरहित होकर हमें यह कार्य करना पड़ा। महर्षि दयानन्द ने भी पक्षपातरहित को ही धर्म माना है। हमने उनकी इस बात को मानते हुए पक्षपातरहितता दिखाई है। उपर्युक्त आधारों की सीमा में आने वाले महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत कुछ श्लोकों को हमने इस कारण प्रक्षिप्त कोटि में रखा है कि यदि कुछ श्लोकों को इन नियमों से मुक्त कर दिया जाये तो फिर ये 'आधार' ही व्यर्थ सिद्ध होंगें और आधाररहित रूप में किया गया कार्य कभी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

२ —महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जितने श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं,उनका मनुस्मृति की किसी मान्यता से विरोध नहीं है,अपितु वे प्रकरणविरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कोटि में आते हैं। इसे महर्षि की त्रुटि नहीं कहा जा सकता और न ही इस बात पर कोई आपत्ति की जा सकती है ; क्योंकि, एक तो महर्षि ने स्वतन्त्ररूप से मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने का कार्य नहीं किया और दूसरी बात यह है कि मनुस्मृति के उद्धरण लेते समय,प्रकरण,इस दृष्टि से उनके विचार का विषय नहीं रहा। महर्षि स्वयं मनुस्मृति में अनेक प्रक्षेपों का होना मानते हैं। इसी अध्याय में इस विषय में उनकी सम्मतियां उद्धृत की जा चुकी हैं। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति केश्लोकों के साथ यह शैली अपनायी है कि —उद्धृत श्लोकों के साथ अध्याय और संख्या का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार हमारा यह कार्य उनके विरुद्ध नहीं जाता।

३ — प्रक्षेपों के अन्तर्गत आने वाले महर्षि के कुछ श्लोक ऐसे हैं,जो प्रंसग की दृष्टि से अपने पूर्व श्लोकों से सम्बद्ध हैं और,वे पूर्व के आधारभूत श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, अत: उनके साथ सम्बद्ध

होने के कारण महर्षि द्वारा उद्धृत श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जो श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, वे श्लोक तथा उनके प्रक्षेपान्तर्गमन के कारण या आधार निम्न हैं —

१. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ [१।१०॥]

(उद्धृत — स. प्र. पृ. १९)

अर्थ — 'अप्' तत्त्व का नाम नारा है, और अप् तत्त्व परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। वे अप् तत्त्व परमात्मा के अयन = निवासस्थान हैं अर्थात् परमात्मा उनमें व्यापक है, अतः परमात्मा का नाम 'नारायण' है॥

आधार — महर्षि द्वारा उद्धृत इस श्लोक का स्वतन्त्र रूप से किसी मान्यता से विरोध नहीं है, किन्तु जिस पूर्वापर प्रसंग से यह सम्बद्ध है, वह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, अतः, उससे जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है। वह प्रसंग निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है — (१) मनुस्मृति में जगत् की उत्पत्ति 'महत्' आदि तत्त्वों के द्वारा सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम के क्रम से मानी है [१।१४-२४]। ७-१३ श्लोकों के इस प्रसंग में अपने शरीर से प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से 'अपः' की सृष्टि, उनसे अण्डे का निर्माण [८-९], अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति [९, ११], फिर अण्डे के दो टुकड़े करके द्युलोक, भूमिलोक आदि का निर्माण [१२-१३] आदि जगदुत्पत्ति की प्रक्रिया उक्त मान्यता के विरुद्ध है। (२) ७–१३ श्लोकों का यह प्रसंग प्रसंगविरुद्ध भी है, यतो हि १४-१८ श्लोकों में अभी सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कही जा रही है। उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति संभव है। किन्तु इस प्रसंग में सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कहने से पूर्व ही स्थूलसृष्टि — समुद्र, द्युलोक, पृथिवीलोक [१३] और अण्डाकाररूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रदर्शित कर दी। यह क्रमविरुद्ध वर्णन इसे प्रसंगविरोधी प्रक्षेप सिद्ध करता है। (३) यह प्रसंग इस प्रकार भी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होता है कि इस प्रसंग के १३ वें श्लोक की १४ वें से संगति नहीं जुड़ती। १३ वें में लोकों की रचना का वर्णन है, जबकि १४ से प्रकृति से 'महत्' आदि की उत्पत्ति का वर्णन प्रारम्भ किया है। १४ वें के भाषा-प्रयोग को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्लोक छटे से सम्बद्ध है। क्योंकि छठे श्लोक में जगदुत्पत्ति के रूप में ही परमात्मा की प्रकटता दिखलाते हुए **'तमोनुदः' 'महाभूतादि वृत्तौजाः'** विशेषण पठित है। इससे यह संकेत मिलता है कि इसके बाद प्रकृति से 'महत्' 'पञ्चभूत' आदि महाभूतों की उत्पत्ति प्रदर्शित करना ही रचयिता को अभीष्ट है। अण्डे आदि की उत्पत्ति दर्शाना अभीष्ट नहीं है (जैसा कि ९–१३ श्लोकों में वर्णित है), और वह उत्पत्ति १४ वें श्लोक से प्रदर्शित है, अतः छठे से १४वां श्लोक सम्बद्ध है। इस प्रकार बीच का यह ७–१३ श्लोकों का प्रसंग प्रसंगविरोधी सिद्ध होता है।

प्रकरण-विरोध — इस श्लोक का प्रकरणविरोध सिद्ध होता है, यतो हि इसमें **'नारायण'** शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी गई है। यहां पूर्वापर प्रसंग में 'नारायण' शब्द की कोई चर्चा नहीं है। यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-तत्त्वों की उत्पत्ति का है। उसके बीच में किसी नाम की व्युत्पत्ति दर्शाना प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता। यदि यह कहा जाये कि ८ वें श्लोक में **'अपः'** शब्द आया था, उसके प्रसंग में नारायण शब्द की उत्पत्ति दर्शा दी, तो इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि मनु की इस प्रकार की शैली नहीं है। यदि ऐसी शैली होती तो वे श्लोक में पठित **'स्वयंभूः' 'भगवान्'** आदि नामों और विशेषणों की व्युत्पत्ति भी दर्शाते।

२. मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ।।[१ । ३५ ।।]

३. एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजस: ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजस: ।।[१ । ३६ ।।]

(उद्घृत —पूनाप्रवचन पृ. ९४)

अर्थ — मनु ने जिन दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया. उनके नाम इस प्रकार है—मरीचि. अत्रि. अङ्गिरा. पुलस्त्य. पुलह. क्रतु. प्रचेतस. वसिष्ठ. भृगु और नारद । (१ । ३५) ।। इन महर्षियों ने सात दूसरे बहुत तेजस्वी मनुओं को उत्पन्न किया और देव. देवसमूह तथा अपरिमित शक्तिसम्पन्न महर्षियों को उत्पन्न किया । [१ । ३६]

प्रकरण-विरोध — (१) सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन १४ –२२ श्लोकों में वर्णित हो चुका । उसके पश्चात् २५ —३० श्लोकों में उत्पन्न प्रजाओं के कर्मों की व्यवस्था का भी वर्णन किया जा चुका है । इससे यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग १४ –२२ श्लोकों में ही पूर्ण हो चुका । प्रसंग के पूर्ण होने के बाद पुन : भिन्न पद्धति से उसी सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है । ३२-४१ श्लोकों में पुन : सृष्टिरचना का वर्णन है. ये श्लोक भी उसके अन्तर्गत हैं और उन्हीं से सम्बद्ध हैं. अत : प्रक्षेपान्तर्गत कहे जायेंगे ।

ये श्लोक इस प्रकार भी प्रक्षेपान्तर्गत आते हैं कि ये ३३ –३४ श्लोकों से सम्बद्ध हैं । (१) ३३ –३४ श्लोकों में ब्रह्मा के आधे शरीर से पुरुष की उत्पत्ति. आधे से स्त्री की. और उसमें विराट् की उत्पत्ति. विराट् से मनु और मनु से अन्य मनुओं की उत्पत्ति प्रदर्शित है । ये श्लोक १ । १६. १९. २३. २६ –३१ के विरुद्ध हैं. इन श्लोकों में एक साथ अनेक प्राणियों की उत्पत्ति का होना प्रदर्शित है. ब्रह्मा के वंश से नहीं । (२) और फिर जब उक्त श्लोकों में सभी प्राणियों की उत्पत्ति दिखा ही दी है.तो यहां फिर प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाना स्वत : प्रसंगविरुद्ध है । (३) ३२-४१ श्लोकों के इस प्रसंग में महर्षियों से चर-अचर. स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति कहना प्रकृतिविरुद्ध भी है । इस प्रकार इन श्लोकों का यह प्रसंग प्रक्षिप्त है और ये श्लोक पूर्वापर रूप से इस प्रसंग से सम्बद्ध हैं ये भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं ।

४. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि: ।।[२ । १६]

(सं. वि. पृ. २७)

महर्षि ने इस श्लोक की यह एक ही पंक्ति उद्धृत की है । अग्रिमपंक्ति में सिद्धान्त-विरोध आने से उन्हें वह ग्राह्य नहीं थी । यहां महर्षि को केवल यह दिखलाना ही अभीष्ट है कि संस्कार निषेक से अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह होते हैं । मनुस्मृति में यह श्लोक पूर्वापर धर्ममूलवर्णन के प्रसंग के विरुद्ध है । यहां शास्त्राधिकार का प्रसंग नहीं है और न सोलह संस्कारों का । इसमें मनुस्मृति को 'शास्त्र' संज्ञा से अभिहित करना भी इसे शैली की दृष्टि से परवर्ती सिद्ध करता है (द्र. शैलीगत आधार मनु. का पुन. द्वितीय अध्याय में) ।

५. वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यांश्रुतिरेषा सनातनी ।।[३ । २८४ ।।]

(उद्धृत —पञ्चमहायज्ञविधि)

—वसुओं को पितर. रुद्रों को पितामह और आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं । यह प्राचीनकाल से सुनते आए हैं ।

प्रकरण-विरुद्ध —(१) ११६–११८ श्लोकों में गृहस्थी के लिए अतिथि को खिलाकर खाने का विधान है, या फिर यज्ञशेष अन्न खाने का विधान है। २८५ वें श्लोक में 'यज्ञशेष' अन्न का लक्षण वर्णित है। यह कहना चाहिए कि ११६-११७ श्लोकों के ११८ और २८५ श्लोक अर्थवादरूप हैं या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ११८ वें श्लोक की वाक्यपूर्ति २८५ वें में होती है। बीच के श्लोकों ने उस वाक्यक्रम को भंग कर दिया है, अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं।

(२) इस श्लोक में मनु से विरुद्ध कोई मान्यता नहीं है, किन्तु यह श्लोक जिस पूर्व वर्णन से प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध है, वह १२२ से २८३ श्लोकों का वर्णन मृतकश्राद्ध का विधायक है। यह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। उस प्रकरण से जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है।

६. दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः॥ [४।८५॥]

(उद्‌धृत — सं. वि. १५१)

अर्थ —दस कसाइयों के समान एक तेली, दस तेलियों के समान एक कलार, दस कलारों के समान एक वेश्याजीवी और दस वेश्याजीवियों के समान एक राजा होता है।

आधार — यह श्लोक प्रसंग की दृष्टि से ८४ वें श्लोक से सम्बद्ध है। ८४ वें श्लोक में यह अक्षत्रिय से उत्पन्न राजा, कसाई, तेली, कलार एवं भेष बदलकर जीविका करने वाला, इनसे दान न लेने का विधान है। ८५ वें में उनकी तुलनात्मक शैली में निन्दा है। ८४ वें श्लोक में जन्मना वर्ण-व्यवस्था की मान्यता प्रदर्शित की है, जो मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था [१।८७–९१; २।६८ (४३), १२६ (१०१), १४६–१४८ (१२१–१२३); ४।२४५] की मान्यता के विरुद्ध है। ८४ वां श्लोक इस आधार पर प्रक्षिप्त है। उसके साथ जुड़ा होने के कारण ८५ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त कहा जायेगा।

७. गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्‌ध्यति॥ [५।६५।]

(उद्धृत —स. प्र. ३० पत्रविज्ञा. १०१)

अर्थ — मृत गुरु के पितृमेध (अन्त्येष्टि) को करने वाला शिष्य मृतशरीर को उठाने वालों के साथ दश रात-दिन में शुद्ध होता है॥

प्रकरणविरुद्ध —५।५७ वें श्लोक में मनु ने देहशुद्धि और द्रव्यों की शुद्धि के विषय को कहने का कथन किया है। भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का वर्णन १०५–१०७ श्लोकों में वर्णित है उसके बाद १०९ वें में शरीर-शुद्धि का उपाय विहित है। इस प्रकार प्रसंगक्रम की दृष्टि से ५७ के बाद उसकी भूमिकारूप १०५–१०७ श्लोक होने चाहियें। बीच के ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को भंग करके सपिण्ड-असपिण्ड भेदों से मृतकशुद्धि तथा सूतकशुद्धि का वर्णन किया है। शुद्धिकारक पदार्थों के कथन से पूर्व ही शुद्धि के उपायों का वर्णन करना प्रसंगक्रम की दृष्टि से असंगत है, अतः बीच के ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनके अन्तर्गत आने से यह श्लोक भी प्रक्षिप्त कहलायेगा।

८. उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ [८।१२५।]

(स. प्र. १८१ पृ. स उद्धृत)

अर्थ — मनु ने दण्ड के दस स्थान बताये हैं — जननेन्द्रिय, पेट, जीभ, दोनों हाथ, दोनों पैर, आँख, नाक, दोनों कान, धन और शरीर।

प्रकरणविरुद्ध —(१) यहां पूर्वापर प्रसंग ८। १२२ और १२६–१३१ श्लोकों में अर्थदण्ड का चल रहा है। बीच में शरीरदण्डों का कथन करना पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध है। (२) १२४ वां श्लोक वर्णन-शैली के आधार पर प्राक्षप्त सिद्ध होता है। उसमें प्रयोग — "**दश स्थानानि दण्डस्य मनु: स्वायम्भुवोऽब्रवीत्**"। स्पष्ट है कि इस श्लोक का प्रवक्ता स्वयं मनु नहीं है, कोई अन्य व्यक्ति है। अत: इस आधार पर यह श्लोक भी प्रक्षिप्त है। १२५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से १२४ वें से सम्बद्ध है। उसका अर्थवाद है। अत: उसके प्रक्षिप्त होने पर १२५ वां स्वत: प्रक्षिप्त कहलायेगा।

९. **अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।**
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च॥ [८। ४१९॥]

१०. **एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।**
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम्॥ [८। ४२०॥]

(उद्धृत —स. प्र. पृ. १७५)

अर्थ — राजा प्रतिदिन राज-कार्यों, हाथी आदि सवारियों, आय-व्यय के लेखों, खानों और खजानों का निरीक्षण करे। [८। ४१९]

इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराता हुआ सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है। [८। ४२०]

प्रकरणविरुद्ध — ८। ३ श्लोक से अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकद्दमों) का वर्णन शुरू हुआ था, जो ९। २५० में समाप्त होता है। आठवें अध्याय के अन्त में केवल पन्द्रह व्यवहार ही समाप्त हो पाये हैं, और व्यवहारों के समाप्ति-सूचक ये श्लोक सभी व्यवहारों की समाप्ति का संकेत देकर उसका फलकथन कर रहे हैं। प्रसंग या विषय समाप्त होने से पूर्व ही उसकी समाप्ति का संकेत करना कभी मौलिक रूप से नहीं हो सकता, अत: ये प्रसंगविरुद्ध और असंगत हैं। अठारह व्यवहारों का समाप्तिसूचक मौलिक श्लोक ९। २५० वां यथास्थान उपलब्ध है। ये अध्यायों की समाप्ति पर, समाप्ति या उपसंहार-सूचक श्लोकों की एकरूपता बनाये रखने के लिए प्रक्षेप किये प्रतीत होते हैं। यहां विषय समाप्त न होने के कारण अध्यायकार को कोई समाप्तिसूचक श्लोक नहीं दिखाई पड़ा, अत: उसने स्वयं इस प्रकार का श्लोक रचकर मिला दिया।

इस प्रकार तटस्थ आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध हुए प्रकरणों के बीच में आने के कारण महर्षि के ये श्लोक मनुस्मृति के सन्दर्भ में प्रक्षिप्तकोटि में आ जाते हैं।

(होमैः) यज्ञ से सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों से (द्विजातीनाम्) द्विज बालकों के (बैजिकम्) बीज-सम्बन्धी=परम्परागत पैतृक-मातृक अंशों से उत्पन्न होने वाले (च) और (गार्भिकम्) गर्भकाल में माता-पिता से प्राप्त होने वाले (एनः) बुरे आचरण के संस्कारजन्य दोष एवं शारीरिक अशुद्धियां (अपमृज्यते) दूर हो जाते हैं अर्थात् इन संस्कारों के करने से बालकों के बुरे संस्कार मिटकर शुद्ध-श्रेष्ठ संस्कार बनते हैं ॥२॥❀

अनुशीलन : इस श्लोक के अर्थ की व्यापकता पर और संस्कारों की संख्या सम्बन्धी मान्यता पर विस्तृत विवेचन करना पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। क्योंकि, प्रचलित टीकाओं में इस श्लोक का अर्थ संकुचित एवं अपूर्ण मिलता है तथा मनु ने संस्कार कितने माने हैं, इस विषय में अनेक लेखकों को भ्रान्ति हुई है।

(क) **'गार्भैः' आदि पदों में अर्थव्यापकता**—(१) सर्वप्रथम संस्कारों के परिगणन प्रसङ्ग में मनु की शैली को समझ लेना उपयोगी होगा। क्योंकि उस समय संस्कार बहुप्रचलित सर्वप्रसिद्ध कृत्य थे, अतः मनु ने कहीं किसी संस्कार का केवल नामोल्लेख ही कर दिया, जैसे—निषेक संस्कार [२।१—२ में] किन्तु विधि नहीं दी। कहीं सांकेतिक रूप में एक सम्बन्ध के संस्कारों का परिगणन कर दिया है, जैसे 'गार्भैः' कहने से सभी गर्भकालीन संस्कारों=गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव हो गया, तो कहीं इस श्लोक में सबका नामोल्लेख न करके विधिवर्णन में उनका कथन कर दिया है, जैसे नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन का [२।४—९]। जिस संस्कार के विषय में मनु को जितना स्पष्टीकरण अभीष्ट था, उतना ही किया है।

(२) इस शैली के समझने के पश्चात् अब इस श्लोक के शब्दों के अर्थ की व्यापकता पर विचार किया जाता है। (क) इस श्लोक में 'गार्भैः' शब्द बहुवचनान्त है जिसका अर्थ है—'गर्भ-सम्बन्धी' या 'गर्भकालीन सभी संस्कार'। अगर मनु को केवल गर्भाधान संस्कार का परिगणन करना ही अभीष्ट होता तो वे बहुवचन का प्रयोग नहीं करते। यह बहुवचनान्त प्रयोग ही यह सिद्ध करता है कि मनु इस शब्द से सभी गर्भकालीन संस्कारों के परिगणन की अभीष्टता का संकेत करना चाहते हैं। वे गर्भकालीन संस्कार तीन हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन।

(ख) इसी प्रकार इस श्लोक में 'जातकर्म' भी केवल एक संस्कार का वाचक न होकर जन्म के उपरान्त शैशव काल में होने वाले सभी संस्कारों का उपलक्षण है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि मनु ने विधिवर्णन प्रसंग में जातकर्म के पश्चात् उन सभी का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। वे हैं—१. जातकर्म [२।४], २. नामकरण [२।५-८]; निष्क्रमण [२।९], अन्नप्राशन [२।९]।

❀[**प्रचलित अर्थ**—गर्भ शुद्धिकारक हवन, चूडाकरण और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारों से द्विजों के वीर्य एवं गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं ॥२७॥

(ग) इसी प्रकार 'मौञ्जीबन्धन' भी अपने अन्तर्गत दो संस्कारों का अन्तर्भाव किये हुए है—एक उपनयन और दूसरा—वेदारम्भ। क्योंकि ब्रह्मचारी उपनयनदीक्षा के अवसरपर मेखला धारण करता है और वेदाध्ययन समाप्ति पर्यन्त उसे धारण कर रखता है। इस प्रकार इस नाम में व्यापक भाव है।

(३) मनुस्मृति में सोलह संस्कार—

इस विवेचन के उपरान्त अब इस जिज्ञासा का समाधान भी निकल आता है कि मनु ने अपनी स्मृति में कितने संस्कारों का उल्लेख किया है। कोई मनुसम्मत १२ संस्कार मानते हैं तो कोई कम-अधिक। वास्तविकता यह है कि मनु ने सांकेतिक, नामोल्लेख या विधिवर्णन के रूप में १६ संस्कारों का वर्णन किया है। पाठकों के परिज्ञान के लिए उनके वर्णन स्थल एवं अर्थ का यहां तालिका के रूप में दिग्दर्शन कराया जाता है—

सोलह संस्कारों की विवरण-तालिका

(प्रत्येक संस्कार यज्ञपूर्वक सम्पन्न होता है)

संस्कार संख्या	नाम	संस्कार का उद्देश्य एवं विधि	मनुस्मृति में वर्णनस्थल
१.	**गर्भाधान संस्कार**	सन्तानप्राप्ति के लिए वीर्यनिषेचन द्वारा गर्भस्थापन करना (गृहाश्रमी होने पर)	[२।२ में 'गार्भैः' पद से और २।१, २।११७ में]।
२.	**पुंसवन**	स्त्री के गर्भाधान के चिह्न प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे मास में पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यज्ञपूर्वक की जानेवाली विधि।	[२।२ में 'गार्भैः' पद के अन्तर्गत]
३.	**सीमन्तोन्नयन**	गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भस्थिरता, पुष्टि एवं स्त्री के आरोग्य के लिए की जाने वाली विधि।	[,, ,,]
४.	**जातकर्म**	शिशुजन्म के समय किया जाने वाला संस्कार जिसमें सोने की शलाका से बालक को असमान मात्रा में थोड़ा-सा मधु और घृत चटाया जाता है।	[२।४ में]

५.	नामकरण	जन्म के १० वें, बारहवें या किसी भी सुखमय दिन में बालक का नाम रखना।	[२।५-८ में]
६.	निष्क्रमण	अधिक से अधिक चतुर्थ मास में बालक को घर से बाहर भ्रमण कराने के लिए निकालना प्रारम्भ करना।	[२।६ में]
७.	अन्नप्राशन	लगभग छठे मास में बालक को अन्न आदि सुपाच्य पौष्टिक भोजन का प्रारम्भ कराना।	[२।६ में]
८.	मुण्डन (चूडाकर्म)	प्रथम या तृतीय वर्ष में बालक का मुण्डन संस्कार कराना अर्थात् प्रथम बार सिर के केश उतारना।	[२।३५ में]
९.	उपनयन	बालक को शिक्षा के लिए गुरु के समीप गुरुकुल में ले जाकर छोड़ना और गुरु द्वारा उसे यज्ञोपवीत की दीक्षा देना।	[२।११-४३ में]
१०.	वेदारम्भ	गुरु के पास रहकर श्रेष्ठ शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करते हुए वेदों को पढ़ना।	[२।४४-२२४ में]
११.	केशान्त	युवावस्था के प्रारम्भ में केशकर्त्तन कराना।	[२।४०]
१२.	समावर्तन	वेदों का अध्ययन और शिक्षा प्राप्त करके गृहाश्रम को धारण करने के लिए स्नातक बनकर गुरुकुल को छोड़ घर में आना।	[३।१-३ में, २।२२०-२२२ भी द्रष्टव्य]
१३.	विवाह	गृहस्थाश्रम में जाने के लिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होना (२५ वर्ष की आयु के पश्चात्)।	[३।४-६२ में]
	एवं गृहाश्रम संस्कार	विवाहोपरान्त गृहस्थ के धर्म और कृत्यों का पालन करते हुए सन्तानोत्पत्ति करना।	[३।६७-२८६, सम्पूर्ण चतुर्थ और पंचमअध्यायों में]
१४.	वानप्रस्थ	सन्तानों के स्वावलम्बी होने पर या ५० वर्ष की आयु के पश्चात् घर को त्याग कर वन में रहते हुए तपस्या एवं ईश्वरभक्ति करना। वनस्थ की दीक्षा लेने का संस्कार।	[६।१-३२ में]

१५.	संन्यास	सांसारिक भोग आदि की भावनाओं का और सर्वस्व का त्याग करके, पूर्ण वैरागी बन, परोपकारार्थ विचरण करने की दीक्षा लेना तथा ब्रह्म में लीन रहकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना।	[६।३३–९७ में, १२।८२–१२५ भी द्रष्टव्य]
१६.	अन्त्येष्टि	प्राणों के निकल जाने पर शरीर का दाहकर्म होना।	[५।१६७ में]

(४) **'एनः' का अर्थ**—एनः का अर्थ यहां पापक्षीणता नहीं है अपितु 'बुरे आचरण से उत्पन्न दुष्ट संस्कार' यह अर्थ है। **'ईयते प्राप्यते दुःखम् अनेन इति एनः अधर्माचरणम् तज्जन्यः संस्कारदोषः शरीराशुद्धिश्च।'** 'इण्गतौ' धातु से 'इणः आगसि' (उणादि ४।१९८) सूत्र से असुन् प्रत्यय और नुडागम से 'एनस्' शब्द सिद्ध होता है। इसकी पुष्टि २।७७ [२।१०२] श्लोक से भी हो जाती है। वहाँ 'एनस्' के प्रयोग के साथ 'मलम्' का भी पर्यायवाची रूप में प्रयोग है जिसका अर्थ संस्कारदोष की मलिनता का नष्ट हो जाना है।

वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ ३॥ [२।२८] (३)

"(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सब विद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्म-उपासना-ज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्टयादि करने (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवन रूप पंचमहायज्ञ और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्याविज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (इयं तनुः) इस शरीर को (ब्राह्मी क्रियते) ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर बनता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता" ॥ ३ ॥ (स० प्र० ४८)

"(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने (जपैः) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का

मंग-संस्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुराचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है।" (स० प्र० ८६)

"मनुष्यों को चाहिए कि धर्म से वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्रीप्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्म-उपासना ज्ञानविद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पंचमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मी) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें। (सं० वि० १=१)

जातकर्म संस्कार का विधान—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ ४ ॥ [२।२९] (४)

(पुंसः) बालक का (जातकर्म) जातकर्म संस्कार (नाभिवर्धनात्-प्राक्) नाभि काटने से पहले (विधीयते) किया जाता है (च) और इस संस्कार में (अस्य) इस बालक को (मन्त्रवत्) मन्त्रोच्चारणपूर्वक (हिरण्य-मधु-सर्पिषाम्) सुवर्ण, शहद और घी अर्थात सोने की शलाका से [असमान मात्रा में] शहद और घी (प्राशनम्) चटाया जाता है ॥ ४ ॥

अनुशीलन : 'वर्धन' शब्द का विवेचन—(१) 'वर्धनम्' शब्द 'वर्ध छेदनपूरणयोः' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से बना है, अतः उसका अर्थ 'काटना' है। बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् नाभि काटने से पूर्व इस संस्कार की श्लोकोक्त प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। बालक के उत्पन्न होने पर, प्रथम गर्भाशय की झिल्ली से उसके नाभिस्थ नाल को पृथक् किया जाता है, नाल के सिरे को बांध दिया जाता है। पुनः नाभि से कुछ इंच छोड़कर उस नाल को दो स्थानों से अच्छी प्रकार बांधा जाता है, जिससे कि बालक का रक्त न बहे। शेष भाग को काटकर पृथक् कर दिया जाता है। इसी को 'नाभिवर्धन' क्रिया कहते है। इस क्रिया से पूर्व शहद और घी चटाना विहित है। दूसरा इसका अभिप्राय यह है कि नाभिवर्धन से पूर्व जातकर्म संस्कार प्रारम्भ किया जाता है। प्रसव-समय निकट आने पर बालक का पिता प्रसूता पर जल प्रोक्षण करता है [द्रष्टव्य पार० गृ० सू० १।१६।१; गो० गृ० सू० २।७।१३-१७] उस समय पुरोहित यज्ञ-स्थल पर बैठकर पुण्याहवाचन करता है।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में इस प्रक्रिया को इस प्रकार विहित किया है—

"तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिलाके जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उस से बालक की जीभ पर—'ओ३म्' यह अक्षर लिखके उस के दक्षिण

कान में "वेदोसीति"—तेरा गुप्त नाम वेद है, ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे।"
(सं० वि० ४७)

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्।
आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन्॥
[आश्व गृ० सू० १।५१।१] (सं० वि० ४०)

(३) जातकर्म में गृह्यसूत्रों के प्रमाण—

गृह्यसूत्रों ने मनुविहित विधि को ही ग्रहण किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१ में जातकर्म में निम्न विधान वर्णित है—

"कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिमधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्॥"

अर्थात्—बालक के जन्म के पश्चात् दूसरों के हाथों में देने से पूर्व उसे स्वर्णपात्र में मिलाकर सोने की शलाका से शहद और घी चटायें।

नामकरण संस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥५॥ [२।३०] (५)

(अस्य) इस बालक का (नामधेयं तु) नामकरण संस्कार (दशम्यां वा द्वादश्याम्) दशवें वा बारहवें दिन (वा) अथवा (पुण्ये तिथौ वा मुहूर्त्ते, किसी भी पुण्य=अनुकूल अर्थात् सुविधाजनक तिथि या मुहूर्त्त में (वा) अथवा (गुणान्विते नक्षत्रे) शुभगुण वाले नक्षत्र में (कारयेत्) करावे॥५॥

अनुशीलन : नामकरण में गृह्यसूत्रों के प्रमाण— गृह्यसूत्रों में नामकरण की विधि कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है—

(क) "नाम चास्मै दद्युः। घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम्। चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेव पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्॥"
(आश्व० गृह्य० १।१५।४–१०।)

(ख) "दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यात् न तद्धितम् अयुजाक्षरम्—आकारान्तं स्त्रियै।" (पार० गृह्य० १।१७।१–४)

भावार्थ—दशवें दिन पिता नामकरण संस्कार कराता है। बालक का नाम दो अक्षर का या चार अक्षर का हो और वह घोषसंज्ञक अर्थात् पांचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़ के तीसरे, चौथे, पाँचवें [ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध,-न, ब, भ, म, ये स्पर्श] और अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व से युक्त, दीर्घस्वरान्त नाम रखे। और नाम कृदन्त रखें तद्धितान्त नहीं। विषमाक्षर और आकारान्त नाम स्त्रियों के होने चाहिएं।

(ग) महर्षि दयानन्द ने नामकरण का निम्न काल दिया है—

नामकरण का काल—"जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में या १०१ एक सौ एक में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे"। (सं० वि० नामकरण संस्कार)

वर्णानुसार नामकरण—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्यबलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥६॥ [२।३१] (६)

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥७॥ [२।३२] (७)

(ब्राह्मणस्य मङ्गल्यं स्यात्) ब्राह्मण का नाम शुभत्व-श्रेष्ठत्व भाव-बोधक शब्दों से [जैसे—ब्रह्मा, विष्णु, मनु, शिव, अग्नि, वायु, रवि, आदि] रखना चाहिए (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (बल+अन्वितम्) बल-पराक्रम-भावबोधक शब्दों से [जैसे—इन्द्र, भीष्म, भीम, सुयोधन, नरेश, जयेन्द्र, युधिष्ठिर आदि] (वैश्यस्य धनसंयुक्तम्) वैश्य का धन-ऐश्वर्य भाव-बोधक शब्दों से [जैसे—वसुमान्, वित्तेश, विश्वम्भर, धनेश आदि] और (शूद्रस्य तु) शूद्र का (जुगुप्सितम्) रक्षणीय, पालनीय भावबोधक शब्दों से [जैसे—सुदास, अकिंचन] नाम रखना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति के वर्णसापेक्ष गुणों के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥६॥

[अथवा] (ब्राह्मणस्य शर्मवद् स्यात्) ब्राह्मण का नाम शर्मवत्=कल्याण, शुभ, सौभाग्य, सुख, आनन्द, प्रसन्नता भाव वाले शब्दों को जोड़-कर रखना चाहिए। जैसे—देवशर्मा, विश्वामित्र, वेदव्रत, धर्मदत्त, आदि] (राज्ञः रक्षासमन्वितम्) क्षत्रिय का नाम रक्षक भाव वाले शब्दों को जोड़-कर रखना चाहिए [जैसे—महीपाल, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, देववर्मा, कृतवर्मा] (वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्) वैश्य का नाम पुष्टि-समृद्धि द्योतक शब्दों को जोड़कर [जैसे—धनगुप्त, धनपाल, वसुदेव, रत्नदेव, वसुगुप्त] और (शूद्रस्य) शूद्र का नाम (प्रेष्यसंयुतम्) सेवकत्व भाववाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—देवदास, धर्मदास, महीदास।] अर्थात् व्यक्तियों के वर्णगत कार्यों के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥७॥*

---

*[प्रचलित अर्थ—ब्राह्मण का मङ्गल-सूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बल-सूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धन-वाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नामकरण करना चहिए ॥२।३१॥ ब्राह्मण का 'शर्मा' शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा-शब्द से युक्त, वैश्य का पुष्टि शब्द से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास) शब्द से युक्त उपनाम (उपाधि) करना चाहिए ॥२।३२॥]

"जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णुशर्मा, क्षत्रिय का विष्णुवर्मा, वैश्य का विष्णुगुप्त और शूद्र का विष्णुदास, इस प्रकार नाम रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले।"

(ऋ० प० वि० ३४६)

अनुशीलनम् : ६, ७ श्लोकों के संगत अर्थ—प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों के अर्थों में निम्न त्रुटियां पायी जाती हैं—

(१) प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों का जिस पद्धति से अर्थ किया गया है उससे दोनों श्लोकों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। इन टीकाओं के अर्थ के अनुसार पहले श्लोक में चारों वर्णों का क्रमशः मङ्गलयुक्त, बलयुक्त, धनयुक्त और निन्दायुक्त नाम रखने का विधान है और द्वितीय में शर्मायुक्त, रक्षायुक्त, पुष्टियुक्त और दासयुक्त नाम रखने का कथन है। यहां सन्देह होता है कि पहले और दूसरे श्लोकों में ये भिन्न-भिन्न विधान क्यों हैं? तथा यह शङ्का होती है कि इस प्रकार के शब्दों को संयुक्त करके नाम रखने की परम्परा प्राचीन काल में अधिक नहीं मिलती। स्वयं मनु का नाम भी इस परम्परा के अनुसार नहीं है और दूसरा कोई विधान मनु ने दिया नहीं है, यह विरोध क्यों? इन अर्थों के अनुसार दूसरे श्लोक में एकरूपता नहीं बनती। शर्मा और दास तो उपाधियां मान लीं तथा रक्षा और पुष्टि को भाव मानकर अर्थ किया है। या तो सभी वर्णों के साथ उपाधियों का ही कथन होना चाहिए था या भावों का ही।

(२) कुछ टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक में 'शर्मवत्' का अर्थ—'शर्मा' उपाधि-धारी, 'रक्षासमन्वितम्' का 'वर्मा' उपाधिधारी और 'पुष्टिसंयुक्तम्' का 'गुप्त' उपाधि-धारी तथा 'प्रैष्यसंयुतम्' का दास उपाधिधारी नामकरण, यह भ्रान्तिपूर्ण अर्थ किया है।

(३) प्राय: सभी टीकाकारों ने 'जुगुप्सितम्' शब्द का 'निन्दायुक्त' यह अशुद्ध और मनुविरुद्ध अर्थ किया है।

इन त्रुटियों का निराकरण निम्नप्रकार से किया जा सकता है—

(१) वस्तुत: इन श्लोकों में विकल्प पूर्वक दो विधान हैं और दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इन विधानों में दो प्रकार से भिन्नता है—

(क) प्रथम श्लोकमें इच्छित वर्णानुसार व्यक्तिपरक गुणों या प्रवृत्तियों के आधार पर नामकरण करने का विधान है। जैसे ब्राह्मण वर्ण के लोगों में शुभत्व और श्रेष्ठत्व के गुण होते हैं अत: उसी प्रकार के भावबोधक शब्दों से उनका नामकरण करना चाहिए, क्षत्रिय वर्ण के लोगों में बल-पराक्रम प्रधान गुण होना चाहिए, अत: उनका नामकरण भी ऐसे शब्दों से करना चाहिए जिनमें इन भावों का आभास हो। इसी प्रकार वैश्यों में धनयुक्त होना उनका मुख्य गुण होता है, अत: उनका नाम भी धनवान्-ऐश्वर्यवान् होने के भावों को प्रकट करने वाले शब्दों द्वारा होना चाहिये। इसी प्रकार शूद्र द्विजों के आश्रय में रहता है, उन्हीं के आश्रय से उसका पालन एवं रक्षा होती है। अत: उसका

नामकरण ऐसे शब्दों से किया जाना चाहिए जिनमें उसके रक्षणीय और पालनीय होने के भाव झलकें।

दूसरे श्लोक में व्यक्तियों के वर्णगत कर्मों के आधार पर नामकरण करने का विधान है, जैसे ब्राह्मण का कार्य उपकार द्वारा लोगों का कल्याण करना, विद्यादान द्वारा सुख देना आदि तो उसके नाम में भी इस प्रकार के भावों का बोधक शब्द जोड़ने का कथन है। इसी प्रकार क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का पालन-पोषण करना, शूद्र का सेवा करना है तो उनके नामों के साथ भी तत्तत् भावबोधक शब्दों को जोड़ने का विधान है। शुभ-श्रेष्ठ, बलवान्, धनवान् होना, और आश्रित या रक्ष्य होना, ये वर्णों के व्यक्तिसापेक्ष गुण या प्रवृत्तियां हैं और सुखी बनाना, कल्याण करना, रक्षा करना, पालन-पोषण करना, सेवा करना, ये व्यक्तियों के वर्णगत कार्य हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक में गुण और प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण करने का विधान है और द्वितीय में कार्यानुसार।

(ख) दूसरा अन्तर यह है कि प्रथम श्लोक में गुण या प्रवृत्ति का बोध करने वाले शब्दों से ही नाम रखने का विधान है जबकि दूसरे श्लोक में कार्यानुसारी भाव को प्रकट करने वाले शब्दों को नाम के साथ जोड़ने का कथन है। दोनों ही प्रकार की परम्परा प्राचीनकाल में चलती रही है। इनके उदाहरण श्लोकों के अर्थों के साथ दर्शाये जा चुके हैं। इस प्रकार अर्थ की स्पष्टता से सभी सन्देहों, शंकाओं व त्रुटियों का निराकरण हो जाता है।

(२) जिन टीकाकारों ने 'शर्मवत्, शब्द को शाब्दिक रूप में ग्रहण करके शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास उपाधि-संयुक्त करने सम्बन्धी अर्थ किया है, उन्होंने इस श्लोक के अर्थ को संकुचित बना दिया है और ठीक प्रकार से नहीं समझा है। शायद उन्हें यह भ्रान्ति इस लिये हो गयी है कि अर्वाचीन युग में केवल इन्हीं शब्दों का प्रयोग परम्परा में अधिक प्रचलित रहता रहा है। इस श्लोक में 'शर्मवत्, से अभिप्राय 'शर्मा' शब्द लगाने से नहीं है अपितु इस भाव का कोई भी शब्द नाम के साथ जोड़ने से है। यहां इन शब्दों को शाब्दिक रूप में नहीं लेना चाहिये अपितु इनके भाव को ग्रहण करना चाहिए। इस बात में श्लोकोक्त 'रक्षा' और 'पुष्टि' भाववाचक शब्दों का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि मनु को यहां 'शर्मा' शब्द अभीष्ट होता तो वे क्षत्रिय के साथ 'रक्षा' शब्द का उल्लेख न करके 'वर्मा' शब्द का ही उल्लेख करते। इसी प्रकार वैश्य के साथ 'गुप्त' का; किन्तु उन्होंने इन शब्दों को भाववाचक रूप में ग्रहण किया है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उक्त भावों वाले किन्हीं भी शब्दों को नाम के साथ जोड़े। उनमें शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास भी अन्तर्गत हो जाते हैं। केवल इन्हीं शब्दों को जोड़ें ऐसा अभिप्राय नहीं है जैसे—ब्राह्मण के नाम में शर्मा जोड़कर देवशर्मा भी रखा जा सकता है और मित्र, प्रिय आदि जोड़कर देवमित्र, देवप्रिय आदि भी। इसी प्रकार क्षत्रिय के नाम में वर्मा जोड़कर प्रतापवर्मा भी रखा जा सकता है और इन्द्र, पाल, निधि आदि जोड़कर प्रतापेन्द्र, विजयेन्द्र, महीपाल, बलनिधि आदि भी। इस प्रकार इस श्लोक का व्यापक भाव है।

उसे संकुचित करना भ्रान्तिपूर्ण है।

(६) **जुगुप्सित का संगत अर्थ**—प्रथम श्लोक में 'जुगुप्सितम्' शब्द का 'निन्दा या 'घृणायुक्त' अर्थ करना भी उचित नहीं है। यह शब्द 'गुपु-रक्षणे' धातु से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय के योग से बना है। स्वार्थ में होनेवाले प्रत्यय का अपना कोई विशेष अर्थ नहीं होता अपितु धातु के मूलार्थ का ही बोध कराता है। अतः 'गुप्' धातु के 'रक्षा करने' अर्थ के अनुसार यहां 'जुगुप्सितम्' का रक्षणीय, पालनीय, आश्रय देने योग्य भाव वाला यह अर्थ बनता है। इस शब्द का यही मूलार्थ है। निन्दावाचक अर्थ भी प्रचलित है किन्तु वह प्रचलन की दृष्टि से परवर्ती है। 'जुगुप्सा' शब्द का आज निन्दा, घृणा आदि अर्थ अधिक प्रचलित है। इसलिए हमारे मन में यही अर्थ पहले बैठ जाता है, किन्तु मनुस्मृति के श्लोक में यह अर्थ अभिप्रेत न होकर 'रक्षणीय' अर्थ अभीष्ट है। यही अर्थ मनुस्मृति की व्यवस्थाओं के अनुरूप है, यतो हि मनु ने शूद्र को जो सब वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा है (१।६१) और वह उन्हीं के आश्रय से या उन्हीं की सुरक्षा में अपना निर्वाह करता है (१।६१, ६।३३४, १०।६६)। इस शब्द का निन्दा अर्थ न होने में एक और प्रमाण यह है कि मनुस्मृति में शूद्र के प्रति घृणा या निन्दा की भावना कहीं नहीं है अपितु उसकी स्वल्पयोग्यता के अनुसार निर्लिप्त भाव से उसके कर्मों का कथन है और उसे शुद्ध-श्रेष्ठ और उत्तम गति के योग्य माना है (६।३३५) अगले श्लोक में 'प्रेष्य-संयुतम्' शब्द से भी किसी प्रकार का निन्दा-घृणारूप भाव प्रकट न होकर शूद्र के 'सेवकत्व' रूप कर्म का संकेत है। अतः यहां 'जुगुप्सितम्' का 'निन्दायुक्त' अर्थ करना मनुसम्मत और उचित नहीं है।

स्त्रियों के नामकरण की विधि—

> स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
> मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ८ ॥ [२।३३](८)

(स्त्रीणाम्) स्त्रियों का नाम (सुखोद्यम्) उच्चारण किया जा सकने वाला (अक्रूरम्) कोमल वर्णों वाला (विस्पष्टार्थम्) स्पष्ट अर्थ वाला (मनोहरम्) मन को आकर्षक लगने वाला (मंगल्यम्) मंगल अर्थात् शुभ-भावयुक्त (दीर्घवर्णान्तम्) अन्त में दीर्घ अक्षर वाला, तथा (आशीर्वाद+अभिधान-वत्) आशीर्वाद का वाचक होना चाहिये [जैसे—कल्याणी, वन्दना, विद्यावती, कमला, विमला, सुशीला, सुषमा, भाग्यवती, सावित्री, यशोदा, प्रियंवदा आदि] ॥ ८ ॥

"जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पांच अक्षर का नाम रखे श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि।" (सं० वि० नामकरण सं०)

निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार—

> चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
> षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥६॥ [२।३४](६)

(शिशोः) बालक का (गृहात् निष्क्रमणम्) घर से बाहर निकालने का 'निष्क्रमण संस्कार' (चतुर्थे मासि) चौथे मास में (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए और (अन्नप्राशनम्) अन्न खिलाने का संस्कार—'अन्नप्राशन' (षष्ठे मासि) छठे मास में (वा) अथवा (यत् कुले इष्टं मंगलम्) जब भी परिवार में अभीष्ट अथवा शुभ समय प्रतीत हो, तब करे ॥ ९ ॥

"निष्क्रमण संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें।" (सं० वि० ५५)

अनुशीलन : **निष्क्रमण और अन्नप्राशन म गृह्यसूत्रों के प्रमाण**— इन संस्कारों के विषय में गृह्यसूत्रों में निम्न उल्लेख मिलता है—

(क) "**चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।**"
(पार० गृह्य० १।७५।५-६)

=चतुर्थ मास में निष्क्रमण संस्कार करे। बालक को बाहर ले जाकर सूर्यदर्शन कराये।

(ख) "**जननाद्यस्तृतीयो ज्योत्स्नस्तस्य तृतीयायाम्।**" (गो० गृह्य० ५।८।१)

=या फिर जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया को निष्क्रमण करे।

(ग) "**षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्।**"
(आश्व० गृह्य० १।१६।१-५)

=छठे मास में बालक को अन्नप्राशन कराये और दही, शहद, घी मिश्रित भोजन चटाये।

"छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे।" (सं० वि० ५८)

मुण्डन संस्कार—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥१०॥ [२।३५] (१०)

(सर्वेषाम्+एव द्विजातीनां चूडाकर्म) सभी द्विजातियों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के इच्छुकों का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर यह प्रयोग है] चूडाकर्म=मुण्डन संस्कार (धर्मतः) धर्मानुसार (श्रुतिचोदनात्) वेद की आज्ञानुसार (प्रथमे+अब्दे) प्रथम वर्ष में (वा तृतीये) अथवा तीसरे वर्ष में [अपनी सुविधानुसार] (कर्त्तव्यम्) कराना चाहिए ॥ १० ॥

"यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक

वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्दमंगल हो उस दिन यह संस्कार करें।" (सं० वि० ६०)

अनुशीलन : **चूडाकर्म में प्रमाण—गृह्यसूत्रों में चूडाकर्म अर्थात्** मुण्डन का यही काल विहित है—

(क) "**तृतीये वर्षे चौलम् ।**" (आश्व० गृह्य० १।१७।१)

=तृतीय वर्ष में मुण्डन संस्कार किया जाता है।

(ख) "**सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ।**" (पार० गृह्य० २।१।१)

=एक वर्ष के बालक का मुण्डन किया जाता है।

उपनयन संस्कार का सामान्य समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥११॥ [२।३६](११)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण वर्ण के इच्छुक का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है] (उपनायनम्) उपनयन=गुरु के पास पंहुचाना अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार (गर्भाष्टमे+अब्दे) गर्भ से आठवें वर्ष में (कुर्वीत) करे, (राज्ञः) क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (गर्भात्+एकादशे) गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में, और (विशः) वैश्य वर्ण के इच्छुक का (गर्भात् द्वादशे) गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए ॥११॥ ❀

अनुशीलन : (१) **'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ—**

(क) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण के बालक का, राज्ञः या क्षत्रियस्य=क्षत्रिय के बालक का, वैश्यस्य या विशः= वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है। यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी। श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें। इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १०।६५॥ १।८७-९१।१।१०७ श्लोक और उन पर समीक्षा]। इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे जन्म के आधार पर वर्णप्रवेश है और वह भी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य का वैश्य वर्ण में। यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता।

(ख) यहां ये पद वस्तुतः जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं। जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण—वर्ण का दीक्षाकाल' 'क्षत्रियवर्ण का दीक्षाकाल' आदि। मनुसम्मत मान्यता

❀ [**प्रचलित अर्थ**—ब्राह्मण-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय-बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में 'उपवीत' (यज्ञोपवीत) संस्कार करना चाहिये ॥३६॥

के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं। इस अर्थ का संकेत मनु के **'ब्रह्मवर्चसकामस्य'** [२।१२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है। इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है। जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे तो, वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है।

(ग) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं। प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं। पुनः उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२।१२१ (१४६), १२३ (१४८)]। देखिए मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए **'ब्रह्मवर्चसकामस्य' 'बलार्थिनः', 'वैश्यस्य इह अर्थिनः'** [२।१२] पदों का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्पवय बालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता। इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ भी मनु के वर्णानुरूप ही है।

(२) **उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं**—११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया। यहां प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका समाधान इस प्रकार है—

(क) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है। उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते। यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे वह इन तीनों में से उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है। पुनः शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णों का निश्चय करता है [२।१२१ (१४६), १२३(१४८)]।

(ख) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को धारण नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा उपनयन रूपी ब्रह्मजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है। उपनयन से पूर्व अर्थात् द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं—'जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते'। इस प्रकार कोई भी बालक किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः ॥१०।४॥

इस प्रकार उपनयन आदिसे पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख

की आवश्यकता नहीं रहती। द्विजों के 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति बाद में आती है। [२।१४–१५ (३९-४०)]।

(ग) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने यहां शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया। अगर वे जन्मना शूद्र की स्थिति और वर्णव्यवस्था मानते तो यहां पृथक् से निषेध करते। [द्रष्टव्य १।३१, ८७-९१, १०७॥१०।६५ की कर्मणाव्यवस्था-सम्बन्धी समीक्षा]

(३) गृह्यसूत्रों में भी उपनयन का विधान मनु के अनुसार है, यथा—

"**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। १। गर्भाष्टमे वा। २। एकादशे क्षत्रियम्। ३। द्वादशे वैश्यम्। ४।** (आश्वलायन गृह्यसूत्र)—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें॥"

(सं० वि० ६५)

उपनयन का विशेष समय—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥१२॥ [२।३७](१२)

(इह ब्रह्मवर्चस-कामस्य) इस संसार में जिसको ब्रह्मतेज=ईश्वर, विद्या आदि की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना हो, ऐसे (विप्रस्य) ब्राह्मण वर्ण की इच्छा रखने वाले का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है] उपनयन संस्कार (पञ्चमे कार्यम्) पांचवें वर्ष में ही करा देना चाहिये (इह बलार्थिनः राज्ञः) इस संसारमें बल-पराक्रम आदि क्षत्रिय-विद्याओं की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना वाले क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (षष्ठे) छठे वर्ष में और (इह+अर्थिनः वैश्यस्य) इस संसार में धन-ऐश्वर्य की शीघ्र एवं अधिक कामना वाले वैश्य वर्णके इच्छुक का (अष्टमे) आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करा देना चाहिये॥ १२॥ ❊

"जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।" (सं० वि० पृ० ६५)

❊[**प्रचलित अर्थ**—वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य आदि तेज के लिये ब्राह्मण-बालक का गर्भ से पांचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिये क्षत्रिय-बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिये वैश्य-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में 'यज्ञोपवीत' संस्कार करना चाहिये॥ ३७॥]

अनुशीलन : श्लोकार्थ एवं मान्यता-सम्बन्धी समीक्षा ११ वें श्लोक पर देखिए।

उपनयन की अन्तिम अवधि—

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥१३॥ [२।३८] (१३)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण वर्ण को धारण करने की इच्छा रखने वाले का (आ-षोडशात्) सोलह वर्ष तक (क्षत्रबन्धोः) क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (आ-द्वाविंशात्) बाईस वर्ष तक (विशः) वैश्य वर्ण के इच्छुक का (आ-चतुर्विंशतेः) चौबीस वर्ष तक (सावित्री न+अतिवर्तते) यज्ञोपवीत का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इन अवस्थाओं तक उपनयन संस्कार कराया जा सकता है ॥ १३ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) श्लोकार्थ एवं मान्यता-सम्बन्धी समीक्षा ११ वें श्लोक पर देखिये।

(२) आश्वलायन गृह्यसूत्र में उपनयन काल के अतिक्रमण का विधान निम्न है—

"**आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीतकालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य ॥ ६ ॥** (आश्व० गृह्यसूत्र १।१९।६)—ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रिय के बाईस और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये।"

(सं० वि० ६५)

उपनयन से पतित व्रात्यों का लक्षण—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥१४॥ [२।३९] (१४)

(यथाकालम्+असंस्कृताः) निर्धारित समय पर संस्कार न होने पर (अतः+ऊर्ध्वम्) इस [२।१३] अवस्था के बीतने के बाद (एते त्रयः+अपि) ये तीनों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] ही (सावित्रीपतिताः) सावित्री-यज्ञोपवीत से पतित हुए (आर्यविगर्हिताः) आर्य=श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा निन्दित (व्रात्याः भवन्ति) 'व्रात्य'=व्रत से पतित व्रात्यसंज्ञक कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अनुशीलन : "**अतः ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥**

(आश्व० गृ० सू० १।१९।६)

❀ [**प्रचलित अर्थ**—सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय की और चौबीस वर्ष तक वैश्य की सावित्री का उल्लंघन नहीं होता। (अतः उक्त अवस्था होने के पहले ही तीनों वर्णों का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिये) ॥ ।३८]

यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें।"
(सं० वि० ६५)

व्रात्यों के साथ सम्बन्धविच्छेद का कथन—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥१५॥

[२।४०] (१५)

(ब्राह्मणः) द्विजों में कोई भी व्यक्ति (एतैः+अपूतैः सह) इन पतितों के साथ (कर्हिचित् आपदि+अपि हि) कभी आपत्काल में भी (विधिवत्) नियम पूर्वक (ब्राह्मान्) विद्याध्ययन-अध्यापन-सम्बन्धी (च) और (यौनान्) विवाह-सम्बन्धी (सम्बन्धान्) व्यवहारों को (न आचरेत्) न करे ॥ १५ ॥

वर्णानुसार मृगचर्मों का विधान—

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥१६॥ [२।४१] (१६)

(ब्रह्मचारिणः) तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी (आनुपूर्व्येण) क्रमशः (कार्ष्णरौरव-वास्तानि चर्माणि) [आसन के रूप में बिछाने के लिए] काला मृग, रुरुमृग और बकरे के चर्म को (च) तथा [ओढ़ने-पहरने के लिये] (शाणक्षौम-आविकानि) सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों को (वसीरन्) धारण करें ॥ १६ ॥

"एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए··· देना चाहिए।" (सं०वि०७५)

मेखला-विधान—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥१७॥ [२।४२] (१७)

(विप्रस्य) ब्राह्मण की (मेखला) मेखला=तगड़ी (मौञ्जी) 'मूंज' नामक घास की बनी होनी चाहिए (क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या) क्षत्रिय की धनुष की डोरी जिससे बनती है उस 'मुरा' नामक घास की, और (वैश्यस्य) वैश्य की (शणतान्तवी) सन के सूत की बनी हो जो (त्रिवृत्-समा) तीन लड़ों को एकत्र बांटकरके (श्लक्ष्णा कार्या) चिकनी बनानी चाहिए ॥१७॥

"आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बनाके रखी हुई मेखला को बालक के कटि में बांधे।"

"ब्राह्मण की मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष संज्ञक तृण या वल्कल की और वैश्य की ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए।" (सं० वि० ७५)

मेखलाओं का विकल्प—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥१८॥ [२।४३] (१८)

(मुञ्जालाभे तु) यदि उपर्युक्त मूंज आदि न मिलें तो [क्रमशः] (कुश+अश्मन्तक-बल्वजैः) कुश, अश्मन्तक और बल्वज नामक घासों से (त्रिवृता) उसी प्रकार तिगुनी=तीन बटों वाली करके (एकेन ग्रन्थिना) फिर एक गांठ लगाकर (वा) अथवा (त्रिभिः पञ्चभिः+एव) तीन या पांच गांठ लगाकर (कर्त्तव्याः) मेखलाएं बनानी चाहिएँ ॥१८॥

वर्णानुसार यज्ञोपवीत—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥१९॥ [२।४४] (१९)

(विप्रस्य) ब्राह्मण का (उपवीतम्) यज्ञोपवीत (कार्पासम्) कपास का बना (राज्ञः) क्षत्रिय का (शणसूत्रमयम्) सन के सूत का बना और (वैश्यस्य) वैश्य का (आविक-सौत्रिकम्) भेड़ की ऊन के सूत का बना (स्यात्) होना चाहिए, वह उपवीत (ऊर्ध्ववृतम्) दाहिनी ओर से बायीं ओर का बटा हुआ, और (त्रिवृत्) तीन लड़ों से तिगुना करके बना हुआ होना चाहिए ॥१९॥

वर्णानुसार दण्डविधान—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥२०॥ [२।४५] (२०)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बैल्व-पालाशौ) बेल या ढाक के (क्षत्रियः) क्षत्रिय (वाट-खादिरौ) बड़ या खैर के (वैश्यः) वैश्य (पैलव+औदुम्बरौ) पीपल या गूलर के (दण्डान्) दण्डों को (धर्मतः) नियमानुसार (अर्हन्ति) धारण कर सकते हैं ॥२०॥

दण्डों का वर्णानुसार मान—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥२१॥ [२।४६] (२१)

(प्रमाणतः) माप के अनुसार (ब्राह्मणस्य दण्डः) ब्राह्मण का दण्ड (केशान्तिकः) केशों तक (राज्ञः ललाटसंमितः) क्षत्रिय का माथे तक (कार्यः) बनाना चाहिए (तु) और (विशः) वैश्य का (नासान्तिकः स्यात्) नाक तक ऊंचा होना चाहिये ॥२१॥

दण्डों का स्वरूप—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥२२॥ [२।४७] (२२)

(ते तु सर्वे) वे सब दण्ड (ऋजवः) सीधे (अव्रणाः) बिना गाँठ वाले (सौम्यदर्शनाः) देखने में प्रिय लगने वाले (नृणाम् अनुद्वेगकराः) मनुष्यों को बुरे या डरावने न लगने वाले (सत्वचः) छालसहित और (अनग्निदूषिताः) बिना जले-झुलसे (स्युः) होने चाहियें ॥२२॥

अनुशीलन : २० से २२ तक के श्लोकों का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार दिया है—

"ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्ववृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू वा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दंड प्रमाण और वे दंड चिकने, सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुये नहीं हों।" (सं० वि० ७५)

भिक्षा-विधान—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥२३॥]२।४८] (२३)

(ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य) ऊपर वर्णित [२०-२२] दण्डों में अपने योग्य दण्ड धारण करके (च) और (भास्करम् उपस्थाय) सूर्य के सामने खड़ा होके (अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य) यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा—परिक्रमा करके (यथाविधि) विधि-अनुसार [२।२४-२५] (भैक्षं चरेत्) भिक्षा मांगे ॥२३॥

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥२४॥ [२।४९] (२४)

(उपनीतः द्विजोत्तमः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित ब्राह्मण (भवत्पूर्वं भैक्षं चरेत्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के पहले जोड़कर, जैसे—'भवान् भिक्षां ददातु' या 'भवती भिक्षां ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (तु) और (राजन्यः) क्षत्रिय (भवत्-मध्यम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बीच में लगाकर, जैसे—'भिक्षां भवान् ददातु' या 'भिक्षां भवती ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (तु) और (वैश्यः) वैश्य (भवत्+उत्तरम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बाद में जोड़कर जैसे—'भिक्षां ददातु भवान्' या 'भिक्षां ददातु भवती' कहकर भिक्षा मांगे ॥२४॥

"ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो 'भवान् भिक्षां ददातु' और जो स्त्री से मांगे तो 'भवती भिक्षां ददातु' और क्षत्रिय का बालक 'भिक्षां भवान् ददातु' और स्त्री से 'भिक्षां भवती ददातु', वैश्य का बालक 'भिक्षां ददातु भवान्' और 'भिक्षां ददातु भवती' ऐसा वाक्य बोले।"
(सं० वि० ७७)

भिक्षा किन से मांगे—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥२५॥[२।५०](२५)

[इन ब्रह्मचारियों को] (मातरं वा स्वसारम्) माता या बहन से (वा मातुः निजां भगिनीम्) अथवा माता की सगी बहन अर्थात् सगी मौसी से (च) और (या एनं न+अवमानयेत्) जो इस भिक्षार्थी का अपमान न करे उससे (प्रथमं भिक्षां भिक्षेत) पहले भिक्षा मांगे ॥२५॥

अनुशीलन : श्लोक २३ और २५ का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार ग्रहण किया है—

"तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके माता-पिता, बहन-भाई, मामा-मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा मांगे।" (सं० वि० ७७)

गुरु को भिक्षा-समर्पण—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥२६॥[२।५१](२६)

(तत् भैक्षं तु समाहृत्य) उस भिक्षा को आवश्यकतानुसार लाकर (यावत्+अन्नम्) जितनी भी वह भोज्य सामग्री हो उसे (अमायया) निष्कपट भाव से (गुरवे निवेद्य) गुरु को निवेदित करके (शुचिः) स्वच्छ होकर (प्राङ्मुखः) पूर्व की ओर मुख करके (आचम्य) आचमन करके (अश्नीयात्) खाये ॥२६॥

"जितनी भिक्षा मिले वह आचार्य के आगे धर देनी, तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा-सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिए रख छोड़े।"
(सं० वि० ७८)

भोजन से पूर्व आचमन विधान—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥२८॥[२।५३](२७)

(द्विजः) द्विज (नित्यम्) प्रतिदिन (उपस्पृश्य) आचमन करके (समाहितः) एकाग्र मन से (अन्नम्+अद्यात्) भोजन खाये (च) और (भुक्त्वा) खाकर (सम्यक्) अच्छी प्रकार (उपस्पृशेत्) कुल्ला करे (च) तथा (अद्भिः खानि संस्पृशेत्) जल से नाक, मुख, नेत्र आदि इन्द्रियों का स्पर्श करे अर्थात् धोये ॥ २८ ॥

"नित्य......भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया करे।"
(सं० वि० ७६)

भोजन-सम्बन्धी आवश्यक विधान—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ २९ ॥[२।५४](२८)

(नित्यम्) प्रतिदिन खाते हुए (अशनं पूजयेत्) भोज्य पदार्थ का आदर करे (च) और (एतद्+अकुत्सयन्+अद्यात्) इसे निन्दाभाव से रहित होकर अर्थात् श्रद्धापूर्वक खाये (दृष्ट्वा हृष्येत् च प्रसीदेत्) भोजन को देख कर मन में उल्लास और प्रसन्नता की भावना करे (च) तथा (सर्वशः प्रतिनन्देत्) उसकी सर्वदा प्रशंसा करे ॥२९॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ३० ॥[२।५५](२९)

(हि) क्योंकि (पूजितम् अशनम्) श्रद्धा-आदरपूर्वक किया हुआ भोजन (नित्यं बलं च ऊर्जं यच्छति) सदैव बल और स्फूर्ति देने वाला होता है (तु तत्+अपूजितम्) और वह अनादरपूर्वक (भुक्तम्) खाया हुआ (इदम् उभयं नाशयेत्) इन दोनों बल और स्फूर्ति को नष्ट करता है ॥३०॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ ३१ ॥
[२।५६](३०)

(न कस्यचित्+उच्छिष्टं दद्यात्) न किसी को अपना झूठा पदार्थ दे (च) और (तथा एव न अन्तरा अद्यात्) उसी प्रकार न किसी भोजन के बीच आप खावे (न चैव अति-अशनं कुर्यात्) न अधिक भोजन करे (च) और (न उच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्) न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये

बिना कहीं इधर-उधर जाये ॥३१॥ (स० प्र० पृ० २६७)

अनुशीलन : उच्छिष्ट खाने में दोष—उच्छिष्ट भोजन के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने विस्तृत प्रकाश डाला है, जो उल्लेखनीय है—

प्रश्न—एकसाथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है; सुधार नहीं।

प्रश्न—"**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके शिष्य को भोजन करना चाहिए।

प्रश्न—जो उच्छिष्ट मात्र का निषेध है तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, पुनः उनको भी न खाना चाहिए।

उत्तर—सहत कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत ही औषधियों का सार ग्राह्य; बछड़ा अपनी माँ के बाहर का दूध पीता है भीतर के दूध को नहीं पी सकता इसलिये उच्छिष्ट नहीं परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी माँ का स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता। देखो ! स्वभाव से यह सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट का कोई भी न खाये। जैसे अपने मुख, नाक, आँख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श से घृणा नहीं होती वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है। इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् झूठा न खाय।

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है"।

(स० प्र० दशम समुल्लास)

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥३२॥ [२।५७] (३१)

(अतिभोजनम्) अधिक भोजन करना (अनारोग्यम्) स्वास्थ्यनाशक (अनायुष्यम्) आयुनाशक (अस्वर्ग्यम्) सुख-नाशक (अपुण्यम्) अहितकर (च) और (लोकविद्विष्टम्) लोगों द्वारा निन्दित माना गया है (तस्मात्)

इसलिए (तत्) उस अधिक भोजन करने को (परिवर्जयेत्) छोड़ देवे ॥३२॥

आचमन-विधि—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥३३॥ [२।५८] (३२)
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥३४॥ [२।५९] (३३)

(विप्रः) द्विज (नित्यकालम्) प्रतिदिन आचमन करते समय (ब्राह्मेण तीर्थेन) ब्राह्मतीर्थ [हाथ के अंगूठे के मूलभाग का स्थान, जिससे कलाई भाग की ओर से आचमन ग्रहण किया जाता है] से (वा) अथवा (कायत्रैदशिकाभ्याम्) कायतीर्थ=प्राजापत्य [कनिष्ठा अंगुली के मूलभाग के पास का स्थान] से या त्रैदशिक=देवतीर्थ [-अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान] से (उपस्पृशेत्) आचमन करे, (पित्र्येण कदाचन न) पितृतीर्थ [अंगूठे तथा तर्जनी के मध्य का स्थान] से कभी आचमन न करे ॥३३॥

(अंगुष्ठमूलस्य तले) अंगूठे के मूलभाग के नीचे का स्थान (ब्राह्मतीर्थं प्रचक्षते) ब्राह्मतीर्थ (अंगुलिमूले कायम्) अंगुलियों के मूलभाग का स्थान कायतीर्थ (अग्रे दैवम्) अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान देवतीर्थ और (तयोः+अधः पित्र्यम्) अंगुलियों और अंगूठे का मध्यवर्ती मूल भाग का स्थान पितृतीर्थ (प्रचक्षते) कहा जाता है ॥३४॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥३५॥ [२।६०] (३४)

(पूर्वं अपः त्रिः+आचमेत्) पहले जल का तीन बार आचमन करे (ततः) उसके बाद (मुखं द्विः प्रमृज्यात्) मुख को दो बार धोये (च) और (खानि एव) नाक, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों को (आत्मानं च शिरः एव) हृदय और सिर को भी (अद्भिः) जल से (स्पृशेत्) स्पर्श करे ॥३५॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती, निवीती कण्ठसज्जने ॥३८॥ [२।६३] (३५)

(द्विजः) द्विज (दक्षिणे पाणौ उद्धृते) दाहिने हाथ को ऊपर रखने की अवस्था में [अर्थात् जब द्विज यज्ञोपवीत को दायें हाथ और कन्धे के नीचे लटकाकर तथा बायें कन्धे के ऊपर रखकर पहनता है, तब] (उपवीति) 'उपवीती' (सव्ये) बायें हाथ को ऊपर रखकर पहनने की अवस्था में (प्राचीन आवीती) 'प्राचीन आवीती' और (कण्ठसज्जने) गले में माला के

समान पहनने की अवस्था में (निवीती) 'निवीती' (उच्यते) कहलाता है ॥ ३८ ॥

मेखलादि के ग्रहण-विधि—

मेखलामाजनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥३९॥ [२ । ६४] (३६)

(मेखलाम्+अजिनं दण्डम्+उपवीतं कमण्डलुम्) मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु (विनष्टानि) इनके बेकार होने पर (अप्सु प्रास्य) इन्हें बहते जल में फेंककर (अन्यानि) दूसरे नयों को (मन्त्रवत् गृह्णीत) मन्त्रपूर्वक धारण करे ॥ ३९ ॥

अनुशीलन : नष्ट उपवीत, दण्ड आदि का जल में प्रक्षेपण क्यों— इस श्लोक में वर्णित पदार्थों को मनु ने जल में डालने का जो विधान किया है उससे 'बहते जल' से अभिप्राय है। क्योंकि स्थिर जल में किसी पदार्थ को डालने से गन्दगी बढ़ती है। स्थिर जल गन्दा भी होता है। इसी लिए मनु ने स्नान आदि सभी प्रयोगों के लिए बहते जल के प्रयोग का ही विधान किया है (द्रष्टव्य ४ । २०३ श्लोक)।

केशान्त-संस्कार कर्म—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥४०॥ [२६५] (३७)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (षोडशे) सोलहवें (राजन्यबन्धोः द्वाविंशे) क्षत्रिय के बाईसवें (वैश्यस्य) वैश्य के (ततः द्व्यधिके) [उससे दो वर्ष अधिक] अर्थात् चौबीसवें (वर्षे) वर्ष में (केशान्तः विधीयते) केशान्त कर्म=क्षौर मुंडन हो जाना चाहिए।

अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिए अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितना केश रखे। और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिर में बाल रखने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूंछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है। ॥ ४० ॥ (स० प्र० २५८)

उपनयन विधि की समाप्ति एवं ब्रह्मचारी के कर्मों का कथन—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥४३॥ [२।६८] (३८)

(एषः) यह [२ । ११—४२] (द्विजातीनाम् उत्पत्तिव्यञ्जकः) द्विजा-

तियों के द्वितीय जन्म को प्रकट करने वाली अर्थात् मनुष्यों को द्विज= ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाने वाली (पुण्यः) कल्याण-कारक (औपनायनिक: विधि) उपनयन संस्कार की विधि (प्रोक्तः) कही, (कर्मयोगं निबोधत) [अब उपनयन में दीक्षित होने वाले द्विज ब्रह्मचारियों के] कर्त्तव्यों को सुनो—॥ ४३ ॥

अनुशीलन : 'उत्पत्तिव्यंजकः' के अधिक स्पष्टीकरण एवं पुष्टि के लिए द्रष्टव्य हैं २।१२१—१२५ (१४६—१५०) श्लोक और उनकी समीक्षाएं ।

(ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य)
२ । ३९ से २ । १६४ तक

उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी को शिक्षा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥४४॥ [२।६९] (३९)

(गुरुः) गुरु (शिष्यम् उपनीय) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (आदितः) पहले (शौचम्) शुद्धि=स्वच्छता से रहने की विधि (आचारम्) सदाचरण और सद्व्यवहार (अग्निकार्यम्) अग्निहोत्र की विधि (संध्योपासनम्+एव) और सन्ध्या-उपासना की विधि (शिक्षयेत्) सिखाये ॥ ४४ ॥

"**सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या**" अर्थात् भलीभांति जिसमें परमेश्वर का ध्यान करते हैं अथवा जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाये, वह 'सन्ध्या' है ।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके संध्योपासन को जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें । प्रथम स्नान, इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं ।"
(स० प्र० ३९)

वेदाध्ययन से पहले गुरु को अभिवादन—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥४६॥ [२।७१] (४०)

(ब्रह्मारम्भे च अवसाने) वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर (सदा गुरोः पादौ ग्राह्यौ) सदैव गुरु के दोनों चरणों को छूकर नमस्कार करे [२।४७] (हस्तौ संहत्य अध्येयम्) दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बाद [गुरु से] पढ़ना चाहिये; (सः हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी [हाथ जोड़ने] को 'ब्रह्माञ्जलि' कहा जाता है ॥४६ ॥

गुरु को अभिवादन करने की विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥४७॥ [२।७२] (४१)

(गुरोः उपसंग्रहणम्) गुरु के चरणों का स्पर्श (व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्) हाथों को अदल-बदल करके [प्रणामकर्त्ता का बायां हाथ नीचे रह कर गुरु के बायें पैर का स्पर्श करे और उसके ऊपर से दायां हाथ दायें चरण को स्पर्श करे] करना चाहिए (सव्येन सव्यः) बायें हाथ से बायां चरण (च) और (दक्षिणेन दक्षिणः) दायें हाथ से दायां पैर का (स्प्रष्टव्यः) स्पर्श करना चाहिए ॥ ४७ ॥

अध्ययन के आरंभ एवं समाप्ति की विधि—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ४८ ॥
[२।७३] (४२)

(गुरुः नित्यकालम्) गुरु सदैव पढ़ाते समय (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (अध्येष्यमाणं तु) पढ़ने वाले शिष्य को ('भो अधीष्व' इति ब्रूयात्) 'हे शिष्य पढ़ो' इस प्रकार कहे (च) और ('विरामः+अस्तु' इति आरमेत्) 'अब विराम करो' ऐसा कहकर पढ़ाना समाप्त करे ॥ ४८ ॥

वेदाध्ययन के आद्यन्त में प्रणवोच्चारण का विधान—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ४९ ॥ [२।७४] (४३)

(सर्वदा ब्रह्मणः आदौ च अन्ते प्रणवं कुर्यात्) [शिष्य] सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण करे (पूर्वम् अनोंकृतम्) आरम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से (स्रवति) पढ़ा हुआ बिखर जाता है [=भलीभांति ग्रहण नहीं हो पाता] (च) और (पुरस्तात् विशीर्यति) बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता ॥ ४९ ॥

अनुशीलन : अध्ययन के आद्यन्त में ओंकारोच्चारण के लाभ—(१) 'ओ३म्' का उच्चारण करने से यहां मनु का अभिप्राय ओंकारोच्चारणपूर्वक मन को एकाग्र या समाहित करने से है। अन्यत्र भी मनु ने सन्ध्योपासन और अध्ययन से पूर्व समाहित या एकाग्रचित्त होने के लिए कहा है [२।७९]। यह बिल्कुल सही मनोवैज्ञानिक बात है कि यदि छात्र मन को एकाग्र करके अध्ययन नहीं करता तो उसे पूर्णज्ञान ग्रहण नहीं होता, कुछ बिखरता रहता है और कुछ-कुछ ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार अध्ययन

के पश्चात् भी एकाग्रता न रखने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं हो पाता। मन के एकदम अन्यत्र जाने से संचित ज्ञान में गौणता और भुलावा-सा आ जाता है, जबकि अध्ययन की समाप्ति पर अधीत विषय के प्रति एकाग्रता बनाये रखने से वह स्थिर हो जाता है। २।७४ में इसी भाव को दूसरे ढङ्ग से स्पष्ट किया है कि यदि एक भी इन्द्रिय एकाग्रता को छोड़कर अपने विषय में लग जाती है तो उसके साथ ही व्यक्ति की बुद्धि भी उतनी कम होने लगती है।

(२) इसमें कुछ योगदर्शन के प्रमाण और उन पर आधारित विचार उल्लेखनीय हैं—

(क) यह 'प्रणव' अर्थात् 'ओम्' शब्द उस अनादि-अनन्त, सर्वव्यापक सृष्टि-रचयिता परमात्मा का सबसे मुख्य नाम है। वह सबका आदि गुरु है। उसका स्मरण आदि-अन्त में करने से उसके सर्वज्ञता के गुणों की ओर प्रवृत्ति होकर बहुज्ञ बनने की भावना आती है। [**"स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" "तस्य वाचकः प्रणवः"** योगदर्शन १।२६,२७]।

(ख) **तज्जपस्तदर्थभावनम्** । योग १।२८ ॥

"इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण……करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)

'ओ३म्' एवं गायत्री की उत्पत्ति—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ५१ ॥ [२७६] (४४)

(प्रजापतिः) परमात्मा ने (अकारम् उकारं च मकारं) ओ३म् शब्द के 'अ' 'उ' और 'म्' अक्षरों को [अ+उ+म्=ओम्] (च) तथा (भूः भुवः स्वः इति) 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' गायत्री मन्त्र की इन तीन व्याहृतियों को (वेदत्रयात् निरदुहत्) तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है।

[द्वितीय 'इति' का प्रयोग पादपूर्त्यर्थ है] ॥ ५१ ॥

अनुशीलन : ओंकार और व्याहृतियों का विवेचन—इस श्लोक में प्रतिपादित मनु की मान्यता की, निरुक्तकार ने भी विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए पुष्टि की है। '**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**" [ऋ० १।१६४।४५] मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"**कानि तानि चत्वारि पदानि ? ओंकारः, महाव्याहृतयश्च इति आर्षम्** ।" [१३।९] अर्थात् वाक्स्वरूप ब्रह्म या वेद का वर्णन करने वाले वे चार पद कौन से हैं ? ओंकार अर्थात् 'ओम्' अक्षर और 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' ये तीन महाव्याहृतियां। इनको यास्क ने मनु के समान महत्त्व दिया है।

(१) 'ओम्' अक्षर के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए "**ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्**

यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः" [ऋ० १।१६४।३९] मन्त्र की व्याख्या में आचार्य शाकपूणि और ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि अक्षर वह 'ओम्' ही है और यह 'ओम्' अक्षर त्रयी विद्यारूप चारों वेदों का प्रतिनिधि है—"**कतमत्तदेतत् अक्षरम् ? ओमित्येषा वागिति** शाकपूणिः। '**एतद्ध वा** एतदक्षरं **यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिपत्तिः' इति च ब्राह्मणम्** ।" [१३।१०]।

महर्षि दयानन्द ने इसी आधार पर 'ओम्' को ईश्वर का सर्वप्रमुख नाम माना है—

"जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है। जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।" (द० ल० प० पृ० २३२)

(२) "अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से इस प्रकार हैं—

'भूरिति वै प्राणः' 'यः प्राणयति चराचरं जगत् सः भूः स्वयंभूरीश्वरः' —जो सब जगत् के जीवन का आधार प्राण से भी प्रिय और स्वयंभू है उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। **'भुवरित्यपानः' यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः'**—जो सब दुःखों से रहित जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इस लिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। **'स्वरिति व्यानः' 'यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः'**—जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम स्वः' है।" (स० प्र० ३८)

त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥५२॥ [२।७७] (४५)

(परमेष्ठी प्रजापतिः) सबसे महान् परमात्मा ने (तत्+इति+अस्याः सावित्र्याः ऋचः) 'तत्' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री ऋचा [=गायत्री मन्त्र] का (पादं पादम्) एक-एक पाद [प्रथम पाद है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्,' द्वितीय पाद—'भर्गो देवस्य धीमहि', तृतीय पाद—'धियो यो नः प्रचोदयात्'] (त्रिभ्यः+एव तु वेदेभ्यः) तीनों वेदों से (अदूदुहत्) दुहकर सार रूप में बनाया है ॥५२॥

'ओ३म्' एवं गायत्री के जप का फल—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ५३ ॥ [२।७८] (४६)

(एतत्+अक्षरम्) इस [ओम्] अक्षर को (च) और (व्याहृतिपूर्विकाम्) 'भूः भुवः स्वः' इन व्याहृतियों सहित (एताम्) इस गायत्री ऋचा [=मन्त्र] को ["ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य

धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।'' इस मन्त्र को] (वेदवित् विप्रः) वेद-पाठी द्विज (सन्ध्ययोः जपन्) दोनों संध्याओं—प्रातः, सायंकाल में जपते हुए (वेदपुण्येन युज्यते) वेदाध्ययन के पुण्य से ही युक्त होता है ॥ ५३ ॥

अनुशीलन : **'ओम्' ईश्वर का मुख्यनाम**—(१) यह 'ओम्' अक्षर परमेश्वर का सब से मुख्य वाचक नाम है। पुष्टि के लिए इसमें योगदर्शन का प्रमाण है—

(क) **तस्य वाचकः प्रणवः** ॥ १ । २७ ॥

''जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है, और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें ओंकार सब से उत्तम नाम है।''

(ख) **तज्जपस्तदर्थभावनम्** । १ । २८ ॥

''इसलिए इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता, और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।'' (ऋ० भू० उपासना विषय)

इसमें अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी उल्लेखनीय हैं—

(ग) **''ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत''** । (छान्दोग्य उपनिषद्)

(घ) **''ओमिति-एतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानम् ।''**(माण्डूक्य उपनिषद्)

(ङ) **''ओं खम्ब्रह्म''** । यजु० ४० । १७ ॥

(कभी नष्ट न होने वाले उपासनीय परमेश्वर का 'ओम्' यह नाम है।)

(२) मनुस्मृति में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर ओम् और सावित्री के जप का विशेष विधान है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है—११ । २२२, २२५, २६५ श्लोक ।

(३) गायत्री मन्त्र और उसका अर्थ—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् । (यजुर्वेद ३६ । ३ ॥ ऋग्वेद ३ । ६२ । १०) ॥

अर्थ—'(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिसनाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (भूः) जो प्राण का भी प्राण (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने हारा (स्वः) स्वयं सुख-स्वरूप और अपने उपासकों को सब सुखों की प्राप्ति कराने हारा है, उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्य आदि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्धस्वरूप है (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म, स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।' (सं० वि० ७५)

(४) २।५१ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है। उससे इस श्लोक का भाव और अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

इन्द्रिय-संयम का निर्देश—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥६३॥ [२।८८] (४७)

(विद्वान् यन्ता वाजिनाम् इव) जैसे विद्वान्-सारथि घोड़ों को नियम में रखता है वैसे (विषयेषु+अपहारिषु) मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचने वाले विषयों में (विचरताम्) विचरती हुई (इन्द्रियाणां संयमे) इन्द्रियों के निग्रह में (यत्नम्) प्रयत्न (आतिष्ठेत्) सब प्रकार से करे ॥६३॥
(स० प्र० पृ० ४८)

"मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे, जैसे घोड़े को सारथि रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है; इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म-मार्ग से हटाकर धर्ममार्ग में सदा चलाया करें।'
(स० प्र० पृ० २५६)

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे"। (सं० वि० पृ० ८४)

अनुशीलन—'इन्द्रिय की व्युत्पत्ति'—'इदि—परमैश्वर्ये' धातु से **'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०'** (उणादि० २।२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्र' प्रातिदिक से **'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्र······इति वा'** (अ० ५।२।९३) से 'घच्' प्रत्यय निपातित है। **इन्द्रियवान् इन्द्रः, आत्मा तत्करणं ज्ञानकर्म-ऐश्वर्यप्राप्तेः साधनम् लिङ्गं चिह्नं वा तदिन्द्रियम्, शरीरावयवम्।** अर्थात् =शरीर के वे अवयव जो आत्मा के ज्ञान-कर्म-ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के साधन या चिह्न हैं वे इन्द्रिय हैं। आंख, नाक, कान, व हाथ, पैर, आदि मन सहित ग्यारह इन्द्रियां हैं।

ग्यारह इन्द्रियों की गणना—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६४ ॥ [२।८९] (४८)

(पूर्वे मनीषिणः) पहले मनीषि-विद्वानों ने (यानि एकादश+इन्द्रियाणि+आहुः) जो ग्यारह इन्द्रियां कहीं हैं (तानि यथावत्+अनुपूर्वशः) उनको यथोचित क्रम से (सम्यक् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहता हूं ॥ ६४ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥६५॥ [२।६०](४९)

(श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा) कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, (च) और (पञ्चमी) पांचवीं (नासिका) नासिका [=नाक] (पायु-उपस्थं हस्त-पादम्) गुदा, उपस्थ (=मूत्र का मार्ग) हाथ, पग (वाक्) वाणी (दशमी स्मृता) ये दश इन्द्रिय इस शरीर में हैं ॥ ६५ ॥ (सं० वि० पृ० ८४)

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥६६॥ [२।९१](५०)

(एषाम्) इनमें❀ (श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि) कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और (पायु-आदीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि) गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय, (प्रचक्षते) कहाती हैं ॥ ६६ ॥ (सं वि० पृ० ८४)

❀ (अनुपूर्वशः) क्रमशः·········

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पंचकौ गणौ ॥६७॥ [२।९२] (५१)

(एकादशं मनः) ग्यारहवां मन है÷(स्वगुणेन उभयात्मकम्) वह अपने स्तुति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है (यस्मिन् जिते) जिस मन के जीतने में (एतौ) ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ❀ (जितौ) जीत लिये जाते हैं ॥ ६७ ॥ (सं० वि० पृ० ८४)
÷(ज्ञेयम्) ऐसा समझना चाहिए·········। ❀(पञ्चकौ गणौ) पांचों-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय अर्थात् दसों इन्द्रियां·········।

अनुशीलन : चरक में इन्द्रियां एवं इन्द्रियों के विषय—इन्द्रियों के अधिष्ठान एवं विषयों पर चरक शास्त्र में प्रकाश डाला गया है। विशेष ज्ञानकारी के लिए विवरण प्रस्तुत है। ज्ञानेन्द्रियां हैं—

(क) "तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनम्-इति पञ्चेन्द्रियाणि ।
पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापः भूरिति ।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानान्यक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥
पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥

(सूत्रस्थाने) (अ० ८। ५-६)

अर्थात्—चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, स्पर्श ये पांच इन्द्रियां हैं। क्रमशः तेज, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु ये पांच इन्द्रियों के द्रव्य हैं। क्रमशः आंख, कान, नाक,

जीभ और त्वचा इनके अधिष्ठान हैं। रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श क्रमशः इन्द्रियों के अर्थ =विषय हैं।

(ख) कर्मेन्द्रियां—

हस्तपादं गुदोपस्थं जिह्वेन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव, पादौ गमनकर्मणि॥

पायूपस्थौ विसर्गार्थे, हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वाग् इन्द्रियं वाक् च॥

अर्थात्—हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ, और जिह्वा ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। हाथों का कार्य ग्रहण करना, पावों का चलना, गुदा का मलत्याग, उपस्थ का मूत्रत्याग और जिह्वा का कार्य बोलना है। (शारीरस्थान १। २३-२४)

(ग) मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। उसका कार्य चिन्तन, विचार, संकल्प आदि करना है—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

(विमानस्थान १। १६)

इन्द्रिय-संयम से प्रत्येक कार्य में सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥६८॥ [२।६३] (५२)

(इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन) जीवात्मा इन्द्रियों के साथ मन लगाने से (असंशयम्) निःसंदेह (दोषम्+ऋच्छति) दोषी हो जाता है (तु तानि सन्नियम्य एव) और उन पूर्वोक्त [२। ६५-६७] दश इन्द्रियों को वश में करके ही (ततः) पश्चात् (सिद्धिं नियच्छति) सिद्धि को प्राप्त होता है॥६८॥

"जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है।" (स० प्र० पृ० ४८)

"जो इन्द्रिय के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन्म बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं।" (स० प्र० पृ० २५४)

"इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है।" (स० प्र० पृ० २५८)

विषयों के सेवन से इच्छाओं की वृद्धि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥६९॥ [२।९४] (५३)

यह निश्चय है कि (कृष्णवर्त्मा हविषा एव) जैसे अग्नि में ईन्धन और घी डालने से (भूय एव+अभिवर्धते) [अग्नि] बढ़ता जाता है (कामानाम्+उपभोगेन कामः न जातु शाम्यति) वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिए॥ ६९ ॥ (स० प्र० पृ० २५८)

विषय त्याग ही श्रेष्ठ है—

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥७०॥ [२।९५] (५४)

(यः+एतान् सर्वान् प्राप्नुयात्) जो इन सब इच्छाओं या सब विषयों का उपभोग करे (च) और (यः एतान् केवलान् त्यजेत्) जो इन सब को त्याग दे (सर्वकामानां प्रापणात्) [इन दोनों बातों में] सब इच्छाओं या विषयों को प्राप्त=उपभोग करने से (परित्यागः) सर्वथा त्याग देना (विशिष्यते) अधिक अच्छा है॥ ७० ॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥७१॥ [२।९६] (५५)

(विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि) विषयों में आसक्त इन इन्द्रियों को (असेवया) विषयों के सेवन के बिना (तथा संनियन्तुं न शक्यन्ते) वैसे आसानी से वश में नहीं किया जा सकता। (यथा नित्यशः ज्ञानेन) जैसे कि नित्यप्रति ज्ञानपूर्वक वश में किया जा सकता है। मनुष्य विषयसेवन से दोषों को प्राप्त होता है और विषयत्याग से सिद्धि को प्राप्त करता है [२। ९८] इत्यादि विषयत्याग के ज्ञान से इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है॥ ७१ ॥

विषयी व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥७२॥ [२।९७] (५६)

(विप्रदुष्टभावस्य) जो अजितेन्द्रिय दुष्टाचारी पुरुष है, उस पुरुष के (वेदाः त्यागः यज्ञाः नियमाः तपांसि) वेद पढ़ना, त्याग करना, यज्ञ [=अग्निहोत्रादि] करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम) आदि करना, तप [=निन्दास्तुति, और हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों का सहन] करना आदि कर्म (कर्हिचित्)

कदापि (सिद्धिं न गच्छन्ति) सिद्ध नहीं हो सकते ॥७२॥ (सं० वि० पृ० ८४)

"जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।"

(सं० वि० पृ० ४६)

"जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं।"

(स० प्र० पृ० २५८)

अनुशीलन : इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए देखिए १।१०६ और २।१३५ श्लोक।

जितेन्द्रिय की परिभाषा—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥७३॥ [२।९८] (५७)

(जितेन्द्रियः स विज्ञेयः) जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि (यः नरः) जो [मनुष्य] (श्रुत्वा) स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुनके शोक (स्पृष्ट्वा) अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख (दृष्ट्वा) सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्टरूप देख अप्रसन्न (भुक्त्वा) उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित (घ्रात्वा न हृष्यति ग्लायति) सुगन्ध में रुचि दुर्गन्ध में अरुचि न करता ॥ ७३ ॥ (स० प्र० पृ० २५८)

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥७४॥ [२।९९] (५८)

(सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु) सब इन्द्रियों में यदि (एकम् इन्द्रियं क्षरति) एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो (तेन) उसी के कारण (अस्य प्रज्ञा क्षरति) इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है (दृतेः पादात्+उदकम् इव) जैसे चमड़े के बर्त्तन=मशक में छिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है ॥ ७४ ॥

इन्द्रिय-संयम से सब अर्थों की सिद्धि—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥७५॥ [२।१००] (५९)

(इन्द्रियग्रामम्) पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय [इन दश इन्द्रियों के समूह को] (च) और (मनः) ग्यारहवें मन को (वशे कृत्वा) वश में करके

(योगतः तनुम्=अक्षिण्वन्) युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ (सर्वान् अर्थान् संसाधयेत्) सब अर्थों को सिद्ध करे ॥ ७५ ॥
(स० प्र० पृ० २५८)

"ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में करके और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किंचित्-किंचित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।" (सं० वि० पृ० ८४)

अनुशीलन : 'योग' के अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन देखिए ६।६५ पर अनुशीलन में।

सन्ध्योपासन-समय—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥७६॥ [२।१०१] (६०)

(अर्कदर्शनात् पूर्वां संध्याम्) दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः संध्या (सम्यक्+ऋक्षविभावनात् तु पश्चिमाम्) सूर्यास्त से लेकर [अच्छी प्रकार] तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में [(समासीनः) भली-भाँति स्थित होकर] (सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्) सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ॥ ७६ ॥ (द० ल० पं० पृ० २३६)

संध्योपासना का फल—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥७७॥ [२।१०२] (६१)

[मनुष्य] (पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठन्) प्रातःकालीन संध्या में बैठकर जप करके (नैशम्+एनः व्यपोहति) रात्रिकालीन मानसिक मलिनता या दोषों को दूर करता है (तु पश्चिमां समासीनः) और सायंकालीन संध्या करके (दिवाकृतं मलं हन्ति) दिन में सञ्चित मानसिक मलिनता या दोषों को नष्ट करता है। [अभिप्राय यह है कि दोनों समय संध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प किया जाता है तथा गायत्री-जप से अपने संस्कारों को शुद्ध पवित्र बनाया जा सकता है] ॥ ७७ ॥❀

❀ [**प्रचलित अर्थ**—प्रातःकाल की संध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायंकाल की संध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिन में किये पापों को नष्ट करता है ॥ १०२ ॥]

अनुशीलन : 'एन:' शब्द का यहाँ 'संस्कारजन्य दोष' अर्थ है। इस पर विस्तृत समीक्षा २।२[२।२७] पर द्रष्टव्य है।

संध्योपासन न करनेवाला शूद्रवत्—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥७८॥ [२।१०३](६२)

(य:) जो मनुष्य (पूर्वां न तिष्ठति च पश्चिमां न उपास्ते) नित्य प्रातः और सायं संध्योपासन को नहीं करता (स: शूद्रवत्) उसको शूद्र के समान समझकर (सर्वस्मात् द्विजकर्मण: बहिष्कार्य:) [समस्त] द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिए ॥ ७८ ॥ (द० ल० पं० पृ० २:६)

प्रतिदिन गायत्री-जप का विधान—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥७६॥ [२।१०४](६३)

(अरण्यं गत्वा) जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा (समाहित:) सावधान होके*(अपां समीपे नियत:) जल के समीप स्थित होके (सावित्रीम्+अपि+अधीयीत) सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थ ज्ञान और उस के अनुसार अपने चाल-चलन को करे ॥ ७६ ॥

(स० प्र० पृ० ४१)

*(नैत्यकं विधिम्+आस्थित:) नित्य-चर्या का अनुष्ठान करता हुआ अर्थात् नित्यकर्मों के समान अनिवार्य रूप से ····

वेद, अग्निहोत्र आदि में अनध्याय नहीं होता—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥८०॥ [२।१०५] (६४)

(वेदोपकरणे चैव) वेद के पठन-पाठन में (च) और (नैत्यके स्वाध्याये) नित्यकर्म में आने वाले गायत्री जप या संध्योपासना [२।७६] में (होम-मन्त्रेषु चैव) तथा यज्ञ करने में (अनध्याये अनुरोध: न अस्ति) अनध्याय का विचार या आग्रह नहीं होता अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय का विचार लागू नहीं होता ॥ ८० ॥

"वेद के पढ़ने-पढ़ाने, संध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममंन्त्रों में अनध्यायविषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं है।" (स० प्र० पृ० ४६)

"वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम-मन्त्रों में अनध्याय नहीं है। नित्य-कर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे,

इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूँ।" (पू० प्र० पृ० १४४-१४५)

नैत्यके नास्त्यनध्यायो, ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥८१॥ [२।१०६] (६५)

(नैत्यके अनध्यायः न+अस्ति) नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता जैसे श्वासप्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्ध नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, न किसी दिन छोड़ना (हि) क्योंकि॰ (अनध्याय-वषट्कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्) अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तमकर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है ॥

॰ (तत् ब्रह्मसत्रं स्मृतम्) उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है............ ।

जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥ ८१ ॥ (स० प्र० ४९)

अनुशीलन : 'वषट्कार' की व्युत्पत्ति—'वह्' धातु से 'डषटि' के योग से 'वषट्' शब्द बनता है। यह अव्यय है। वषट् का अर्थ यज्ञादि धार्मिक क्रिया या आहुति है। इस प्रकार '**अनध्यायवषट्कृतम् ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्**' पंक्ति का अर्थ बना—'अनध्याय की स्थिति में भी की गई धार्मिक क्रिया' या अग्निहोत्रादि में आहुति दान आदि कर्म' ब्रह्मयज्ञ में दी गई उपासना रूप आहुति के सदृश पुण्यकारक होता है। ईश्वर का स्मरण होने से वह पुण्यदायक ही होता है।

स्वाध्याय का फल—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥८२॥

[२।१०७] (६६)

(यः) जो व्यक्ति (अब्दं स्वाध्यायम्) जलवर्षक मेघस्वरूप स्वाध्याय को [वेदों का अध्ययन एवं गायत्री का जप यज्ञ, उपासना आदि [२।७९—८१] (शुचिः) स्वच्छ-पवित्र होकर, (नियतः) एकाग्रचित्त होकर (विधिना) विधिपूर्वक (अधीते) करता है (तस्य एषः) उसके लिए यह स्वाध्याय (नित्यं) सदा (पयः दधि घृतं मधु क्षरति) दूध, दही, घी और मधु को बरसाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इन पदार्थों का सेवन करने से शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली और नीरोग हो जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय करने से भी मनुष्य का जीवन शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय और

पुण्यमय या आनन्दमय हो जाता है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनकी सिद्धि हो जाती है ॥ ८२ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) **स्वाध्याय से अभिप्राय**—इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन है। यहां दूध, घी और मधु को उपलक्षण या प्रतीक रूप में लिया गया है और इस वाक्य का मुहावरे के रूप में प्रयोग है। आयुर्वेद के अनुसार दूध का मुख्य गुण तृप्ति करना, दही का पुष्टि करना, घी का बल-आयु को बढ़ाना और शहद का शरीर-दोषों का नाश करना मुख्य गुण है। इनके अनुसार वेद के स्वाध्याय में भी मानवजीवन को शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय, आनन्दमय बनाने वाले गुण हैं। यही आलंकारिक वर्णन का अभिप्राय है। कुछ टीकाकारों ने इन्हें क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का प्रतीक माना है। यहां मनु ने वेद के मन्त्र का भाव ज्यों का त्यों अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। तुलना कीजिए; वेद का मन्त्र है—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम् ॥ ऋ० ९। ६७। ३२ ॥

(२) **'अब्दम्' का संगत अर्थ**—इस श्लोक में 'अब्दम्' शब्द का प्रयोग भी यौगिक है [**अपो ददाति इति अब्दम् मेघस्वरूपम्**] और इसका अर्थ 'वर्ष' न होकर 'वृष्टिकारक मेघस्वरूप' यहां संगत होता है। 'अब्दम्' शब्द का 'वर्ष' अर्थ करते हुए टीकाकारों ने जो यह अर्थ किया है कि 'जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे वह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है' यह अर्थ मनु के अभिप्राय के अनुकूल और प्रसंगानुकूल नहीं जंचता। यह अर्थ करने से निम्न आपत्तियां रह जाती हैं—(क) वेदाध्ययन, यज्ञ, उपासना को मनु ने द्विजमात्र का आवश्यक कर्म माना है [१। ८८—९०] और सभी स्थानों पर उसे अनिवार्य घोषित करते हुए सदैव करते रहने का आदेश है [२। ७७—८१ (१०२—१०६)]। अतः मनु द्वारा उसके कुछ समय के महत्त्व को दर्शाने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। (ख) मनु ने ये सभी कर्म ब्रह्मचारियों के नौ, अठारह या छत्तीस वर्ष तक नित्य-कर्म के रूप में विहित किये हैं [३। १—२]।

जब इतने वर्षों तक ब्रह्मचारी-द्विजों को ये कर्म अनिवार्य रूप से करने ही हैं तो यहां एक वर्ष तक के सीमित काल का उल्लेख करने का कोई प्रसंग ही नहीं बनता। (ग) 'अब्दम्' का अर्थ 'वर्ष' करने से श्लोक में 'नित्यम्' शब्द का प्रयोग भी संगत नहीं बैठता। यदि वर्ष भर की सीमाका निर्धारण ही कर दिया है तो ये लाभ स्वाध्यायी

❀ [**प्रचलित अर्थ**—जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधि पूर्वक वेदाध्ययन करता है उसे यह सर्वदा दूध, दही, घी, तथा मधु देता है (जिन से वह देवों तथा पितरों को तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञ को पूर्ण करने वाले होते हैं) ॥ २। १०७ ॥]

को वर्ष भर ही मिलेंगे, सदा कैसे मिल सकते हैं? यदि एक वर्ष तक स्वाध्याय करने से ये लाभ सदा मिल सकते हैं तो फिर एक वर्ष से अधिक स्वाध्याय की आवश्यकता और विधानों की क्या जरूरत है? शायद इसी उलझन को अनुभव करते हुए कुछ टीकाकारों ने तो श्लोकार्थ में 'नित्यम्' शब्द का अर्थ ही छोड़ दिया। वस्तुतः यहाँ यौगिकार्थ रूप में 'अब्द' का प्रयोग है। जैसे बादल वर्षयिता है, वैसे ही स्वाध्याय को भी इन लाभों का वर्षयिता=दाता माना है। श्लोक में 'क्षरति' क्रिया का प्रयोग भी इस शब्द के 'मेघ' अर्थ का पोषक है। आलंकारिक क्रिया का प्रयोग होने से अर्थ तदनुरूप ही ग्रहण करना उचित है।

(३) 'स्वाध्याय' शब्द से मनु का अभिप्राय वेदों का निरन्तर साङ्गोपाङ्ग अध्ययन, संध्योपासना और अग्निहोत्र से है। यह उन्होंने स्वयं २। ७९—८१ [२। १०४—१०६] श्लोकों में स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त निम्न श्लोकों में भी स्पष्टतः वेदाध्ययन आदि को ही 'स्वाध्याय' कहा है—[२। १४०—१४३(२। १६५—१६८); ४। १७—२०, १४७—१४९; ११। २४५॥]

समावर्तन तक होमादि कर्त्तव्य करने का कथन—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥८३॥ [२।१०८](६७)

(कृतः+उपनयनः द्विजः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज (अग्नीन्धनम्) अग्निहोत्र करना (भैक्षचर्याम्) भिक्षावृत्ति (अधःशय्याम्) भूमि में शयन (गुरोः हितम्) गुरु की सेवा (आसमावर्तनात्) समावर्तन संस्कार [वेदाध्ययन समाप्त करके घर लौटने तक ३।१—३] तक (कुर्यात्) करता रहे ॥ ८३ ॥

पढ़ाने योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ ८४ ॥
[२। १०९] (६८)

(आचार्यपुत्रः) अपने आचार्य [गुरु] का पुत्र (शुश्रूषुः) सेवा करने वाला (ज्ञानदः) किसी विषय के ज्ञान का देने वाला (धार्मिकः) धर्मनिष्ठ व्यक्ति (शुचिः) छल-कपटरहित आचरण वाला (आप्तः) घनिष्ठ व्यक्ति मित्र आदि (शक्तः) विद्या ग्रहण करने में समर्थ अर्थात् बुद्धिमान् पात्र (अर्थदः) धन देने वाला (साधुः) हितैषी (स्वः) अपने परिवार का, सम्बन्धी आदि (दश धर्मतः अध्याप्याः) ये दश धर्म से अवश्य पढ़ाने योग्य हैं ॥८४॥

अनुशीलन : आप्त का अर्थ और व्याकरण—आप्त का शास्त्रों में अधिक प्रचलित अर्थ 'यथार्थवक्ता' 'सत्यवक्ता' है, किन्तु साथ ही घनिष्ठ व्यक्ति भी अर्थ प्रचलित है। मनु० में देखिए अ० ८। १ श्लोक। 'आप्लृ-व्याप्तौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। यत् प्रत्ययान्त शब्द आप्त्या का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है—**"आप्त्या—आप्नोते"** [१६।२।१६] इस प्रकार उक्त अर्थ में आप्त की व्युत्पत्ति हुई—**'आप्नोति हृदये आत्मीयत्वेन स आप्तः।'**

प्रश्नादि के बिना उपदेश निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ८५ ॥
[२।११०](६६)

(न, अपृष्टः) कभी बिना पूछे (च) वा (अन्यायेन पृच्छतः) अन्याय से पूछने वाले को जो कि कपट से पूछता हो (कस्यचिद् न ब्रूयात्) ऐसे किसी को उत्तर न देवे (मेधावी) उनके सामने❀ बुद्धिमान्+(जडवत् आचरेत्) जड़ के समान रहे, हाँ जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उनको बिना पूछे भी उपदेश करे ॥ ८५ ॥ (स० प्र० पृ० २५६)

❀(जानन् अपि हि) जानते हुए भी............

+ (लोके) लोक में...................... ।

दुर्भावनापूर्वक प्रश्न-उत्तर से हानि—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥८६॥ [२।१११] (७०)

"(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह.........इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से (पृच्छति) पूछता है (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (तयोः+अन्यतरः प्रैति) पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है अर्थात् निन्दित होता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधिगच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं ॥" ८६ ॥ (द० ल० भ्र० पृ० ३४७)

अनुशीलन : प्रैति से अभिप्राय—'प्रैति' का प्रयोग यहाँ मुहावरे के रूप में हुआ है। मरजाने से अभिप्राय यह भी है कि बिना उत्तर दिये सम्बन्ध तोड़ कर चले जाना। यह स्वाभाविक ही है कि जब कोई दुर्भावना से पूछता या उत्तर देता

है, तो उनमें से कोई एक व्यक्ति किनारा कर लेता है। यदि ऐसा नहीं करते तो उनमें दूसरी अवस्था विवाद और विरोध की आ जाती है।

विद्या-दान किसे न दें—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥८७॥ [२।११२](७१)

(यत्र धर्मार्थौ न स्याताम्) जहाँ धर्म और अर्थप्राप्ति न हो (वा) और (तद्विधा शुश्रूषा अपि) गुरु के अनुरूप सेवाभावना भी न हो (तत्र विद्या न वक्तव्या) ऐसे को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि (ऊषरे शुभं बीजम्+इव) वह ऊसर भूमि में श्रेष्ठ बीज बोने के समान है। जैसे बंजर भूमि में बोया हुआ बीज व्यर्थ होता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति को दी गई विद्या भी व्यर्थ जाती है ॥ ८७ ॥

कुपात्र को विद्यादान का निषेध—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ८८ ॥

[२ । ११३] (७२)

(कामम्) चाहे (ब्रह्मवादिना) वेद का विद्वान् (विद्यया+एव समं मर्त्तव्यम्) विद्या को साथ लेकर मरजाये (हि) किन्तु (घोरायाम् आपदि+अपि) भयंकर आपत्तिकाल में भी (एनाम् इरिणे तु न वपेत्) इस विद्या को बंजर भूमि में न बोये अर्थात् जहां विद्या फलवती न हो, जो उसका विनाश या दुरुपयोग करे, ऐसे कुपात्र के लिये न दे, उसे न पढ़ाये ॥ ८८ ॥

विद्यादान-सम्बन्धी आख्यान एवं निर्देश—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ८९ ॥

[२।११४] (७३)

[एक आख्यान प्रचलित है कि एक बार] (विद्या ब्राह्मणम्+एत्य+आह) विद्या विद्वान् ब्राह्मण के पास आकर बोली—(ते शेवधिः अस्मि, माम्, रक्ष) "मैं तेरा खजाना हूँ, तू मेरी रक्षा कर (माम् असूयकाय मा दाः) मुझे मेरी उपेक्षा, निन्दा या ईर्ष्या द्वेष करने वाले को मत प्रदान कर (तथा वीर्यवत्तमा स्याम्) इस प्रकार से ही मैं वीर्यवती=महत्त्वपूर्ण और शक्तिसम्पन्न बन सकूंगी" ॥ ८९ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥९०॥ [२।११५] (७४)

(यम्+एव तु शुचिं नियतब्रह्मचारिणम्) "जिसे तुम छल-कपट रहित शुद्ध श्रद्धाभाव से युक्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी (विद्यात्) समझो (तस्मै अप्रमादिने निधिपाय मां ब्रूहि) उस आलस्यरहित और इस खजाने की रक्षा एवं वृद्धि करने में समर्थ विप्र वेदभक्त जिज्ञासु शिष्य को मुझे पढ़ाना" ॥ ९० ॥

अनुशीलन : विद्या के आख्यान का निरुक्त में वर्णन—८८-९० श्लोकों में मनु ने जिस विद्या के आख्यान को वर्णित किया है, यह प्राचीन काल में बहु-प्रचलित मार्गनिर्देशक आख्यान था। निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें कुछ विस्तार से इसी आख्यान का वर्णन है। भाव एवं शब्दसाम्य द्रष्टव्य है। श्लोक इस प्रकार हैं—

१. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

२. य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥

३. अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥

४. यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

(निरु० २ । १ । ४)

गुरु को प्रथम अभिवादन—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥९२॥ [२।११७] (७५)

(यतः) जिससे (लौकिकम्) लोक में काम आने वाला—शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान आदि सम्बन्धी (वा) अथवा (वैदिकम्) वेदविषयक (तथा) तथा (आध्यात्मिकम्+एव) आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी (ज्ञानम्) ज्ञान (आददीत) प्राप्त करे (तम्) उसको (पूर्वम्+अभिवादयेत्) पहले नमस्कार करे ॥ ९२ ॥

गुरु की शय्या और आसन पर न बैठे—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ९४ ॥ [२।११९] (७६)

(श्रेयसा) गुरुजन आदि बड़ों द्वारा (अध्याचरिते) प्रयोग में लायी जाने वाली (शय्या—आसने) शय्या पलंग आदि और आसन पर (न समाविशेत्) न बैठे (च) और (शय्यासनस्थ:) यदि अपनी शय्या और आसन पर लेटा या बैठा हो तो (एनम्) इन गुरुजन आदि बड़ों को (प्रत्युत्थाय+अभिवादयेत्) उनके आने पर उठकर नमस्कार करे ।। ९४ ।।

बड़ों को अभिवादन से मानसिक प्रसन्नता—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ।।९५।। [२।१२०] (७७)

(स्थविरे+आयति) विद्या, पद, आयु आदि में बड़ों के आने पर (यून: प्राणा:) छोटों के प्राण (उत्क्रामन्ति) ऊपर को उभरने-से लगते हैं अर्थात् प्राणों में हलचल, घबराहट-सी उत्पन्न होने लगती है (हि) किन्तु (प्रत्युत्थान–अभिवादाभ्याम्) उठने और नमस्कार करने से (पुन:) फिर से (तान् प्रतिपद्यते) शिष्य प्राणों की सामान्य-स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्राणों की घबराहट, हलचल और उभराव दूर हो जाते हैं ।।९५।।❀

अभिवादन और सेवा से आयु, विद्या, यश, बल की वृद्धि—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशो बलम् ।।९६।। [२।१२१] (७८)

(अभिवादनशीलस्य) अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और (नित्यं वृद्धोपसेविन:) विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है (तस्य आयु: विद्या यश: बलं चत्वारि वर्धन्ते) उसकी आयु, विद्या, कीर्त्ति और बल, इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है ।। ९६ ।।

(सं० वि० पृ० ८५)

"जो सदा नम्र सुशील विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करता उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते"। (स० प्र० पृ० ४९)

अनुशीलन : अभिवादनादि से आयु-विद्या-बल-यश की वृद्धि कैसे ? यहां प्रश्न उठता है कि अभिवादनशील और नित्यवृद्धोपसेवी व्यक्ति के आयु, विद्या, यश और बल कैसे बढ़ते हैं ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इन मान्यताओं का उत्तर

❀[**प्रचलित अर्थ**— युवा लोगों के प्राण वृद्ध लोगों के आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करने से वह युवा पुरुष उन्हें पुन: प्राप्त कर लेता है ।। १२० ।।]

मनु के भावों से खोजकर यहां स्पष्ट किया जाता है। उससे पूर्व, उत्तर से सम्बन्धित दो बातों को स्पष्ट करना आवश्यक है—एक तो यह कि जो व्यक्ति अभिवादनशील और सेवा करने की प्रवृत्ति का होता है, वह स्वभाव से ही विनम्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक गुणग्राही होता है। उस पर सेव्य और अभिवाद्य व्यक्तियों के गुणों का प्रभाव आता रहता है। दूसरी बात यह है कि वृद्ध व्यक्तियों से यहां वयोवृद्ध व्यक्तियों के साथ-साथ विशेषरूप से विद्या-अनुभववृद्ध विद्वान् व्यक्तियों से अभिप्राय है। मनु ने यह मान्यता २। १२६–१३१ [२। १५१–१५६] श्लोकों में स्पष्ट कर दी है, विशेष रूप से निम्न श्लोक में तुलनात्मक रूप में—

> **न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।**
> **यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः॥** २॥ १३१ [२।१६६]

इनके स्पष्टीकरणके उपरान्त अब उन चार लाभों पर विचार कियाजाता है—

(१) मनु ने २। ९७ से १०१ [२। १२२ से १२६] में अभिवादन का विधान किया है और इसे प्रत्येक विद्यार्थी और व्यक्ति के लिए अच्छा गुण माना है। अभिवादनशील और वृद्धसेवी व्यक्ति विनम्र होता है। उसके आदर करने के स्वभाव, विनम्रता और सेवा-सुश्रूषा, सुशीलता आदि गुणों के कारण उसकी सभी स्थानों पर प्रशंसा होती है। इस प्रकार उसका यश बढ़ता है।

(२) अभिवादनशील और सेवा शुश्रूषा करने वाले व्यक्ति के इन गुणों से प्रभावित होकर विद्वानों की स्वाभाविक रूप से अधिक विद्या प्रदान करने की भावना बनती है। वह अपने इन गुणों के प्रभाव से विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध विद्वानों से उनकी बुद्धि में अन्तर्निहित ज्ञान को जैसे स्वतः आकृष्ट कर लेता है। एक बहुत उपयुक्त उदाहरण द्वारा मनु ने इस बात को स्वयं समझाया है—

> **यथा खनन् खनित्रेण नरोवार्यधिगच्छति।**
> **तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥** २। १९३ [२। २१८]

इन गुणों से रहित व्यक्ति को विद्या नहीं आती। यही कारण है कि विद्या प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों में मनु ने और सभी शास्त्रों ने सेवा भावना को आवश्यक माना है—"**धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा। तत्र विद्या न वक्तव्या**=॥" २।८७ [२। ११२], "**शुश्रूषुः**······**अध्याप्या दश धर्मतः**" । २।८४ [२। १०९]। इस प्रकार विद्यावृद्धि होती है। अभिवादनशील और सेवाभावी के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का स्नेह उमड़ पड़ता है और वह चाहता है कि मैं इसका जितना हो सके भला करूं।

(३–४) जो विद्यार्थी या व्यक्ति अभिवादनशील, शुश्रूषु होकर विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य में रहेगा तो उसे उनसे धर्म अर्थात् सदाचार शुद्धि, ईश्वरोपासना, श्रेष्ठ गुण और अनुभव, योगसिद्धि आदि का ज्ञान एवं शिक्षा-

दीक्षा प्राप्त होगी। ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ 'उपसेविनः' पद का प्रयोग है जिसका विशेष अर्थ है—'वृद्धों के समीप रहकर सेवा करना'। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए मनु के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ २।४४ [२।६९]

यही शिक्षाएं अभिवादनशील और विद्या-वयोवृद्धों के समीप गुरुवत् प्राप्त होती रहती हैं। तन, मन की शुद्धि से [५।१०९] नीरोग होकर, सदाचार, अग्निहोत्र-सन्ध्योपासना आदि धर्मपालन से आयु एवं बल की वृद्धि होती है। इसकी पुष्टि में मनु के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) शुद्धि एवं संन्ध्योपासना आदि से आयुवृद्धि—

१. **उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।**
पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्॥

२. **ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।**
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ ४।९३-९४॥

(ख) सदाचार से आयु-बल वृद्धि—

१. **आचाराल्लभते ह्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः॥**

२. **सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।**
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ ४।१५६, १५८॥

सदाचार से आयुवृद्धि और दुराचार से अल्पायु-वर्णन सम्बन्धी अन्य श्लोक ४।१५७, ४।१३४, १।४१-४२ भी द्रष्टव्य हैं।

(ग) धार्मिक-सात्त्विक व्रतों से आयु-यश आदि की वृद्धि—

१. **स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥** ४।१३।

(वे व्रत ४।१४ से २५८ तक विहित हैं)

इन सब बल-आयु-वर्धक बातों का ज्ञान-अनुभव, विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य से प्राप्त होता है, और उनका सान्निध्य अभिवादनशीलता, सेवा-शुश्रूषा से प्राप्त होता है। इस प्रकार श्लोकोक्त गुणों से बल और आयु की वृद्धि होती है।

अभिवादन-विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥९७॥ [२।१२२] (७९)

(विप्रः) द्विज (ज्यायांसम्+अभिवादयन्) अपने से बड़े को नमस्कार करते हुए (अभिवादात् परम्) अभिवादनसूचक शब्द के बाद ('अहं असौ नामा अस्मि' इति) 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (स्वं नाम परिकीर्त्तयेत्) अपना नाम बतलाये, जैसे—अभिवादये अहं देवदत्तः………… [शेष विधि । ६६ में है] ॥ ६७ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भो भाव ऋषिभिः स्मृतः ॥६६॥ [२।१२४] (८०)

[२ । ६७ में विहित प्रक्रिया पूरी होने के बाद फिर] (अभिवादने) अभिवादन में (स्वस्य नाम्नः अन्ते) अपना नाम बताने के पश्चात् ('भोः' शब्दं कीर्तयेत्) 'भोः' यह शब्द लगाये (हि) क्योंकि (ऋषिभिः) ऋषियों ने (भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः) 'भोः' के अभिप्राय को नामों के स्वरूप का द्योतक ही माना है अर्थात् 'भोः' संबोधन के उच्चारण में ही नाम का अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है [२।१०३] । जैसे—"अभिवादये अहं देववत्तः 'भोः' ॥६६॥

अभिवादन का उत्तर देने की विधि—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१००॥ [२।१२५] (८१)

(अभिवादने) अभिवादन का उत्तर देते समय (विप्रः) द्विज को (सौम्य 'आयुष्मान् भव' इति वाच्यः) 'हे सौम्य ! आयुष्मान् हो' ऐसा कहना चाहिए (च) और (अस्य नाम्नः+अन्ते अकारः पूर्वाक्षरः प्लुतः) नमस्कार करने वाले के नाम के अन्तिम अकार आदि स्वरों को पहले अक्षर सहित प्लुत की ध्वनि [तीन मात्राओं के समय] में उच्चारण करे। जैसे—'देवदत्त' नाम में अन्तिम स्वर अकार है, जो 'त्' में मिला हुआ है । इस प्रकार 'त्' सहित अकार को अर्थात् अन्तिम 'त' को ही प्लुत बोले । उदाहरण है—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३" अथवा "आयुष्मान् भव सौम्य यज्ञदत्त३" ॥ १०० ॥

अभिवादन का उत्तर न देने वाले को अभिवादन न करें—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१०१॥ [२।१२६] (८२)

(यः विप्रः) जो द्विज (अभिवादस्य प्रत्यभिवादनम्) अभिवादन करने के उत्तर में अभिवादन करना नहीं जानता अर्थात् नहीं करता (विदुषा सः न+अभिवाद्यः) बुद्धिमान् आदमी को उसे नमस्कार नहीं करना

चाहिए, क्योंकि (सः यथा शूद्रः तथा+एव) वह शूद्र के समान है ॥ १०१ ॥

वर्णानुसार कुशल प्रश्नविधि—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१०२॥[२।१२७](८३)

[मिलने पर, नमस्कार के बाद] (ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्) ब्राह्मण से कुशलता—प्रसन्नता एवं वेदाध्ययन आदि की निर्विघ्नता, (क्षत्रबन्धुम्+अनामयम्) क्षत्रिय के बल आदि की दृष्टि से स्वास्थ्य के विषय में, (वैश्यं क्षेमम्) वैश्य से क्षेम—धन आदि की सुरक्षा और आनन्द के विषय में, (च) और (शूद्रम्+आरोग्यम्+एव) शूद्र से स्वस्थता के विषय में (पृच्छेत्) पूछे। अभिप्राय यह है कि वर्णानुसार उनके मुख्य उद्देश्यसाधक व्यवहारों की निर्विघ्नता के विषय में प्रधानता से पूछे ॥ १०२ ॥

दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१०३॥[२।१२८](८४)

(दीक्षितः) उपनयन में दीक्षित (यः यवीयान्+अपि भवेत्) यदि कोई छोटा भी हो तो उसे (नाम्ना अवाच्यः) नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए (धर्मवित्) व्यवहार में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह (एनं 'भो' 'भवत्' पूर्वकम् अभिभाषेत) अपने से छोटे व्यक्ति को 'भो' 'भवत्' जैसे आदरबोधक शब्दों से सम्बोधित करे ॥ १०३ ॥

परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१०४॥ [२।१२९](८५)

(या परपत्नी च योनितः असम्बन्धा स्त्री स्यात्) जो कोई दूसरे की पत्नी और योनि से सम्बन्ध न रखने वाली स्त्री अर्थात् बहन आदि न हो (ताम्) उसे ('भवति' 'सुभगे' 'भगिनी' इति+एवं ब्रूयात्) 'भवति !' [=आप] 'सुभगे !' [=सौभाग्यवति !] 'भगिनी !' [=बहन] इस प्रकार के शब्दों से सम्बोधित करे ॥ १०४ ॥

सम्मान के आधार—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१११॥[२।१३६](८६)

(वित्तं बन्धुः वयः कर्म) एक—धन, दूसरे—बंधु, कुटुम्ब, कुल, तीसरी—आयु, चौथा—उत्तम कर्म (पञ्चमी विद्या भवति) और पांचवीं—श्रेष्ठविद्या (एतानि मान्यस्थानानि) ये पांच मान्य के स्थान हैं, परन्तु (यद्-यद्+उत्तरं गरीयः) [जो-जो परला है वह अतिशयता से उत्तम है] धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक आयु, आयु से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र विद्या वाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ।। १११ ।।

(स० प्र० पृ० २५६)

अनुशीलन : **विशिष्ट विद्वान् सर्वाधिक सम्मान्य**—लौकिक और वैदिक क्षेत्र, दोनों में ही विशिष्ट विद्वान्व्यक्ति सर्वाधिक सम्मान्य होता है। अन्य प्रमाणों से भी यह बात स्पष्ट होती है—

"यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।" (निरु० १ । १४)=जगत् में अधिक विद्याज्ञाता सबसे विशेष माना जाता है, इसी प्रकार वेदविद्यावेत्ताओं में भी जो अधिक वेदविद्या का ज्ञाता है वह अधिक सम्मान्य एवं महान् है।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ।।११२।। [२।१३७] (८७)

(त्रिषु वर्णेषु) तीनों वर्णों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में परस्पर (पञ्चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति स्युः) उक्त [२ । १११] पांच गुणों में उत्तरोत्तर स्तर वाले अधिक गुण जिसमें हों (अत्र सः मानार्हः) समाज में वह कम गुणवालों के द्वारा सम्मान करने योग्य है (दशमीं गतः शूद्रः+अपि) तथा दशमी अवस्था अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र भी सब के द्वारा सम्मान देने योग्य है ।। ११२ ।।

किस-किस के लिए मार्ग दें—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयो वरस्य च ।।११३।।[२।१३८](८८)

(चक्रिणः) सवारी अर्थात् रथ, गाड़ी आदि में बैठे हुए को (दशमीस्थस्य) दशमी अवस्था वाले अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को (रोगिणः) रोगी को (भारिणः) बोझ उठाये हुए को (स्त्रियः) स्त्री को (च) और (स्नातकस्य) स्नातक को (राज्ञः) राजा को (च) तथा (वरस्य) दूल्हे को (पन्था देयः) पहले रास्ता दे देना चाहिए ।। ११३ ।।

राजा और स्नातक में स्नातक अधिक मान्य—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥११४॥ [२।१३९] (८९)

(तेषाम् तु) उन [२ । ११३] सब के (समवेतानाम्) एकत्रित होने पर (स्नातक-पार्थिवौ मान्यौ) स्नातक और राजा सबके सम्मान के योग्य हैं (च) और (राजस्नातकयोः एव) राजा तथा स्नातक में भी (स्नातकः) स्नातक ही (नृपमानभाक्) राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है अर्थात् स्नातक विद्वान् सबसे अधिक सम्मान का पात्र है ॥ ११४ ॥

आचार्य का लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ११५ ॥ [२ । १४०] (९०)

(यः उपनीय तु) जो यज्ञोपवीत कराके (सकल्पं च सरहस्यम्) कल्पसूत्र और वेदान्तसहित (शिष्यं वेदम्+अध्यापयेत्) शिष्य को वेद पढ़ावे (तम्+आचार्यं प्रचक्षते) उसको 'आचार्य' कहते हैं ॥ ११५ ॥
(द० ल० वे० पृ० ४)

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्म क्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कलासहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिए।" (द० ल० शि० पृ० ८९)

अनुशीलन : **कल्प से अभिप्राय**—यहां 'कल्प' से किसी ग्रन्थ-विशेष से अभिप्राय नहीं है अपितु वेदोक्त यज्ञ, धर्मक्रियाओं आदि का निरूपण जिसमें होता है, उस विद्याविशेष से है।

उपाध्याय का लक्षण—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ ११६ ॥ [२।१४१] (९१)

(यः) जो (वृत्ति+अर्थम्) जीविका के लिए (वेदस्य एकदेशम्) वेद के किसी एक भाग या अंश को (अपि वा पुनः वेदांगानि) या फिर वेदांगों= शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष विद्याओं को (अध्यापयति) पढ़ाता है (सः उपाध्यायः उच्यते) वह 'उपाध्याय' कहलाता है ॥ ११६ ॥

अनुशीलन : वेदांगों से यहां तत्तत् विद्याविशेष ग्रहण करनी चाहिए, कोई ग्रन्थविशेष नहीं।

पिता-गुरु का लक्षण—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ ११७ ॥

[२।१४२] (९२)

(यः) यथाविधि) जो विधि-अनुसार (निषेकादीनि कर्माणि करोति) गर्भाधान आदि संस्कारों को करता है (च) तथा (अन्नेन संभावयति) अन्न आदि भोज्य पदार्थों द्वारा बालक का पालन-पोषण करता है (स विप्रः) वह विद्वान् द्विज (गुरुः+उच्यते) 'गुरु' कहलाता है ॥ ११७ ॥

"जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं।" (द० ल० भ्रा० पृ० २७६)

"निषेक—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।" (पू० प्र० पृ० ७७)

ऋत्विक् का लक्षण—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्य तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥११८॥ [२।१४३] (९३)

(यः वृतः) जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किये जाने पर (तस्य) उस वरण करने वाले के (अग्न्याधेयम्) अग्निहोत्र (पाकयज्ञान्) बलिवैश्वदेव आदि तथा पूर्णिमा आदि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों को (अग्निष्टोम+आदिकान् मखान्) अग्निष्टोम आदि बड़े यज्ञों को (करोति) करता है (सः तस्य ऋत्विक् उच्यते) वह उस वरण करने वाले का 'ऋत्विक्' कहलाता है ॥ ११८ ॥

अनुशीलन : ऋत्विज् का अधिकारी कौन—ऋत्विज् कैसे होने चाहिएं, इस पर महर्षि दयानन्द ने प्रकाश डाला है, जो उद्धरणीय है—"ऋत्विजों के लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील वैदिक मत वाले, वेदवित् एक, दो, तीन अथवा चार का वरण करें।" (सं० वि० सामान्य प्र०)

अध्यापक या आचार्य की महत्ता—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ ११९ ॥ [२।१४४[(९४)

(यः ब्रह्मणा) जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा (उभौ श्रवणौ अवितथम् आवृणोति) दोनों कानों को भलीभांति परिपूर्ण करता है [सुनाता-पढ़ाता है] (सः माता सः पिता ज्ञेयः) उसे माता, पिता समझना चाहिए

(तं कदाचन न द्रुह्येत्) और उससे कभी द्रोह [=ईर्ष्या-अपमान] न करे ।। ११९ ।।

अनुशीलन : ११९ की **निरुक्त से तुलना**—निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत किया है, जो मनु के श्लोक से भाव और शब्दों की दृष्टि से पर्याप्त मिलता-जुलता है। तुलना कीजिए—

य आवृणोत्यवितथेन कर्णा-अदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ।। (निरु० २।१।४)

पिता से वेदज्ञानदाता आचार्य बड़ा होता है—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।। १२१ ।। [२।१४६](९५)

(उत्पादक-ब्रह्मदात्रोः) उत्पन्न करने वाले पिता और विद्या या वेद-ज्ञान देनेवाले पिता आचार्य [११५] में (ब्रह्मदः पिता गरीयान्) वेदज्ञान देनेवाला आचार्य रूप पिता ही अधिक बड़ा और माननीय है (हि) क्योंकि (विप्रस्य) द्विज का (ब्रह्मजन्म) [शरीर-जन्म की अपेक्षा] ब्रह्मजन्म=उप-नयन में दीक्षित करके वेदाध्ययन एवं ईश्वरज्ञान कराना ही (इह च प्रेत्य शाश्वतम्) इस जन्म और परजन्म में स्थिर रहने वाला है अर्थात् शरीर तो इस जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु योग तथा विद्या के संस्कार मुक्तिप्राप्ति तक साथ देते हैं ।। १२१ ।।

अनुशीलन : **ब्रह्मजन्म से अभिप्राय**—आचार्य उपनयन संस्कार के द्वारा वेदाध्ययन और ईश्वरज्ञान कराके एक जन्म प्रदान करता है, जिसे इस श्लोक में 'ब्रह्मजन्म' की संज्ञा दी है। यह जन्म शाश्वत सुखदायक है अर्थात् मुक्तिपर्यन्त इस जन्म और परजन्मों में सुखदायक है। इसी जन्म के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज (**द्विर्जायते इति द्विजः**) कहा जाता है। यह अनुष्ठान वेदाधारित ही है; द्रष्टव्य है प्रमाणरूप में एक मन्त्र=जिसका भाव मनुस्मृति के २।११-१२, ४३, ४४ आदि में भी आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ।।
(अथर्व० ११।५।११)

"आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रि पर्यन्त संध्यो-पासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या-स्थापन करने के लिए उसको पूर्ण विद्वान् करदेता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं (सं० वि० ९४)

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ।। १२२ ।।[२।१४७](९६)

(माता च पिता यत् एनं मिथः उत्पादयतः) माता और पिता जो इस बालक को मिलकर उत्पन्न करते हैं, वह (कामात्) सन्तान-प्राप्ति की कामना से करते हैं (यत्+योनौ+अभिजायते) वह जो माता के गर्भ से उत्पन्न होता है (तस्य तां संभूतिं विद्यात्) उसका वह साधारणरूप से संसार मेंप्रकट होना मात्र जन्म है अर्थात् वास्तविक जन्म तो उपनयन में दीक्षित करके शिक्षा के रूप में आचार्य ही देता है जिससे मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है ।।१२२।।

आचार्य द्वारा प्रदत्त ब्रह्मजन्म स्थिर होता है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ।।१२३।। [२।१४८](९७)

(वेदपारगः आचार्यः) वेदों में पारंगत आचार्य [२।११५ (२।१४०)] (विधिवत्) विधि-अनुसार (सावित्र्या) गायत्रीमन्त्र की दीक्षापूर्वक [२।४४, ४६, ५१-५३] अर्थात् उपनयन संस्कार से [२।११-१२] (अस्य) इस विद्यार्थी या व्यक्ति के (यां जातिम् उत्पादयति) जिस जन्म अर्थात् ब्रह्म-जन्म को प्रदान करता है [द्रष्टव्य २।१२१, १२२, १२५ श्लोक] (सा तु) वही जन्म तो (सत्या) वास्तविक मनुष्य जन्म है, (सा+अजरा+अमरा) वह जन्म अजरता=कभी क्षीण न होना और अमरता—मृत्यु अर्थात् विनाश को न प्राप्त होना आदि गुणों से युक्त है अर्थात् वेद और ईश्वर-ज्ञान-रूपी जन्म में दीक्षित होकर मनुष्य अजर-अमर मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है। यही मनुष्य का सत्य अर्थात् वास्तविक उद्देश्य, है । सुशिक्षा के बिना मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बनता ।। १२३ ।।

अनुशीलन : 'जाति' शब्दार्थ का विवेचन—'जन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'जाति' शब्द निष्पन्न होता है। यहां यह 'जन्म' के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त है और 'ब्रह्मजन्म' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अन्य किसी जातिविशेष के लिए नहीं—

(क) पूर्वापर श्लोकों में इन्हीं गुण वाले ब्रह्मजन्म का प्रसंग है। १२१ में माता से प्राप्त जन्म की अपेक्षा ब्रह्मजन्म को उत्कृष्ट एवं शाश्वत बतलाया है। १२२ और १२३ श्लोक उसके अर्थवाद हैं । १२२ में माता-पिता से प्राप्त जन्म कम महत्त्व वाला किस कारण से है यह स्पष्ट किया है। १२३ में ब्रह्मजन्म किस कारण से उत्कृष्ट है, यह स्पष्ट किया है। इस प्रकार उसी अर्थ की इसमें क्रमशः अनुवृत्ति है।

(ख) १२५ में भी ब्रह्मजन्म का कथन है, जो आचार्य या गुरु द्वारा प्राप्त होता है, उसे ही 'जाति' कहते हैं।

(ग) इस श्लोक में 'जाति' ब्रह्मजन्म के अर्थ में प्रयुक्त है। इसकी सिद्धि मनु द्वारा प्रयुक्त विशेषणों से ही हो जाती है। 'सत्या, अजरा, अमरा' विशेषण अन्य किसी जाति में नहीं घटते अपितु ब्रह्मजन्म में ही घटते हैं, क्योंकि यही मुक्तिप्राप्ति में साधक होता है। देखिए—

"ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" [२।३(२।२८), २।४३ (२।६८); २।२२४ (२।२४६); ४।१४; ४।१४८, १४६; ६।८१-८५ आदि]।

(घ) जाति का अर्थ 'जन्म' है। इसकी पुष्टि मनु स्वयं ६।२०१ श्लोक द्वारा करते हैं। वहां **"जात्यन्धबधिरौ"** अर्थात् **'जन्म से अंधे और बहरे'** यह प्रयोग 'जन्म' अर्थ में है। इस प्रकार यहां भी 'जाति' शब्द का 'जन्म' अर्थ ग्रहण करना ही मनु-सम्मत है। इसी अर्थ में १०।४ में भी इसका प्रयोग है—

१. **"चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः"** [१०।४॥]

गुरु का सामान्य लक्षण—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया ॥१२४॥ [२।१४६](६८)

(यः यस्य) जो कोई जिस किसी का (श्रुतस्य अल्पं वा बहु उपकरोति) विद्या पढ़ाकर थोड़ा या अधिक उपकार करता है (तम्+अपि+इह) उसको भी इस संसार में (तया श्रुत+उपक्रियया) उस विद्या पढ़ाने के उपकार के कारण (गुरुं विद्यात्) गुरु समझना चाहिए॥ १२४॥

विद्वान् बालक वयोवृद्ध से बड़ा होता है—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१२५॥ [२।१५०](६६)

(ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता) ईश्वरज्ञान एवं वेदाध्ययन के जन्म को देने वाला (स्वधर्मस्य च शासिता) और उसके अपने धर्म का उपदेश देने वाला (विप्रः) विद्वान् (बालः+अपि) बालक अर्थात् अल्पायु होते हुए भी (धर्मतः) धर्म से (वृद्धस्य पिता भवति) शिक्षा प्राप्त करने वाले दीर्घायु व्यक्ति का पिता अर्थात् गुरु के समान बड़ा होता है॥ १२५॥

उक्त विषय में आङ्गिरस का दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१२६॥ [२।१५१](१००)

[इस प्रसंग में एक इतिवृत्त भी है] (आङ्गिरसः शिशुः कविः) आङ्गि-

वंशी 'शिशु' नामक बालक विद्वान् ने (पितॄन्) अपने पिता के समान चाचा आदि पितरों को (अध्यापयामास) पढ़ाया (ज्ञानेन परिगृह्य) ज्ञान देने के कारण (तान् 'पुत्रकाः' इति ह उवाच) उनको 'हे पुत्रो' इस शब्द मे सम्बोधित किया ॥ १२६ ॥

अनुशीलन: (१) 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति—कविः शब्द 'कु-शब्दे' (अदादि) धातु से 'अच इः' (उणादि ४। १३९) सूत्र से 'इः' प्रत्यय लगने से बनता है। इसकी निरुक्ति है—

'क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा विद्वांसः' (ऋ० द० ऋ० भू०)
"कविः क्रान्तदर्शनो भवति" (निरुक्त १२। १३)

इस प्रकार विद्याओं के सूक्ष्म तत्त्वों का द्रष्टा, बहुश्रुत ऋषि व्यक्ति कवि होता है। इसे 'अनूचान' भी इस प्रसंग में कहा है [२। १२६] ब्राह्मणों में भी कवि के इस अर्थ पर प्रकाश डाला है—"ये वा अनूचानास्ते कवयः" (ऐ० २। २)।

"एते वै कवयो यदृषयः" (श० १। ४। २। ८)।
"ये विद्वांसस्ते कवयः" (७। २। २। ४)।
शुश्रुवांसो वै कवयः" (तै० ३। २। २। ३)।

(२) शिशु आङ्गिरस—यह अंगिरावंश का एक विद्वान् बालक था। बाल्यावस्था में मन्त्रद्रष्टा होने के कारण यह गुणाभिधान 'शिशु' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। इसका यह आख्यान ताण्डय ब्राह्मण १३।३।२३-२४ और पञ्च ब्रा० १३।३।२४ में यथावत् आता है। वहां इसे "मन्त्रकृतां मन्त्रकृत्" कहा है। ऋ० ९।११२ सूक्त,, इसी शिशु ऋषि द्वारा दृष्ट है। सामवेद में "यत्सोम चित्रम् ....." [उ० ३।२।११] तृच् को इसके द्वारा दृष्ट होने के कारण ही "शैशव साम" कहा गया है।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१२७॥ [२।१५२] (१०१)

(आगतमन्यवः ते) [उक्त संबोधन को सुनकर] गुस्से मे आये हुए उन पितरों ने (तम्+अर्थं देवान् अपृच्छन्त) उस 'पुत्र' सम्बोधन के अर्थ अथवा औचित्य के विषय में देवताओं=बड़े विद्वानों से पूछा (च) और तब (देवाः समेत्य एतान् ऊचुः) सब विद्वानों ने एकमत होकर इनसे कहा कि (शिशुः वः न्याय्यम् उक्तवान्) तत्त्वदर्शी 'शिशु' आङ्गिरस ने तुम्हारे लिए 'पुत्र' शब्द का सम्बोधन ठीक ही किया है ॥ १२७ ॥

विद्वत्ता के आधार पर बालक और पिता की परिभाषा—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१२८॥ [२।१५३] (१०२)

(अज्ञ: वै बाल: भवति) चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या-विज्ञान से रहित है वह बालक और (मन्त्रद: पिता भवति) जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध [=पिता] मानना चाहिए (हि) क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् (अज्ञं बालम्+इति) अज्ञानी को बालक (मन्त्रदं तु पिता इत्येव आहु:) और ज्ञानी को पिता कहते हैं ॥ १२८ ॥ (स० प्र० २५६)

"अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा वह निश्चय करके बालक होता है, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला विद्या पढ़ा विद्याविचार में निपुण है वह पिता-स्थानीय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञजन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है, इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान् अवश्य होना चाहिए। (सं० वि० पृ० ८५)

अवस्था आदि की अपेक्षा वेदज्ञानी की श्रेष्ठता—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१२९॥ [२।१५४] (१०३)

(हायनै:) अधिक वर्षों के बीतने (पलितै:) श्वेत बाल के होने (वित्तेन) अधिक धन से (बन्धुभि:) बड़े कुटुम्ब के होने से (न) वृद्ध नहीं होता (ऋषय: धर्मं चक्रिरे) किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही नियम है कि (न: यो अनूचान: स महान्) जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है, वही वृद्ध पुरुष कहाता है ॥ १२९ ॥ (स० प्र० पृ० २५६)

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों न धन और न बन्धु-जनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है।" (सं० वि० पृ० ८५)

अनुशीलन : 'अनूचान' सबसे महान्—अनु+वच्+लिट् उसको कानच् होकर शब्दसिद्धि होती है। इस श्लोक में स्थापित मान्यता वैदिक क्षेत्र में यथावत मान्य रही है। निरुक्त के निम्न वचनों में यही भाव है—

(क) "**यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।**" (१।१४) "**तस्माद् यदेव किञ्चिदनूचानः अभ्यूहति आर्षं तद् भवति।**" (परिशिष्ट १३।११)।

अर्थात्—जैसे जगत् में अधिक विद्याओं का ज्ञाता विशेष व्यक्ति माना जाता है उसी प्रकार वेदवेत्ताओं में वेदविद्याओं का अधिक ज्ञाता प्रशंसनीय अर्थात् सबसे महान् माना जाता है। वेद-वेदांगों में पारगत विद्वान् तर्क द्वारा जिस मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करता है वह ऋषिदृष्ट अर्थ ही होता है।

(ख) शतपथ ब्राह्मण में भी 'अनूचान' व्यक्ति को विद्वानों में महान् माना है—
"यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः" ॥ ४। ६। ६। ५ ॥

अर्थात्—जो ब्राह्मणों में परम विद्वान है वही इनमें अत्यन्त बलवान् अर्थात् सब से महान् है।

वर्णों में परस्पर ज्येष्ठता के आधार—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१३०॥[२।१५५](१०४)

(विप्राणां ज्ञानतः) ब्राह्मण ज्ञान से (क्षत्रियाणां तु वीर्यतः) क्षत्रिय बल से (वैश्यानां धनधान्यतः) वैश्य धन-धान्य से और (शूद्राणां जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम्) शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध [=बड़ा] होता है ॥१३०॥
(स० प्र० पृ० २५६)

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१३१॥[२।१५६](१०५)

(तेन वृद्धः न भवति) उस कारण से वृद्ध नहीं होता (येन+अस्य शिरः पलितम्) कि जिससे इसका शिर फूल जाये, केश पक जावें (यः+वै युवा+अपि+अधीयानः) किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है (तं देवा स्थविरं विदुः) उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है ॥ १३१ ॥
(सं० वि० पृ० ८५)

"शरीर के बाल श्वेत होने से बूढ़ा नहीं होता किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं।" (स० प्र० पृ० २५६)

मूर्खता की निन्दा तथा मूर्ख का जीवन निष्फल—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३२॥[२।१५७](१०६)

(यथा काष्ठमयः हस्ती) जैसे काठ का कठपुतला हाथी, वा (यथा-चर्ममयः मृगः) जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो (यः+च अनधीयान विप्रः) वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है (ते त्रयः नाम बिभ्रति) उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं ॥ १३२ ॥ (सं० वि० पृ० ८५)

"जो विद्या नहीं पढ़ा है वह जैसा काठ का हाथी, चमड़े का मृग

होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है।"
(स० प्र० पृ० २५६)

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥१३३॥ [२।१५८] (१०७)

(यथा स्त्रीषु षण्ढः अफलः) जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है अर्थात् सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकता (यथा गवि गौः अफला) और जैसे गायों में गाय निष्फल है अर्थात् जैसे गाय गाय से सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकती (च) और (यथा अज्ञे दानम्) जैसे अज्ञानी व्यक्ति को दान निष्फल होता है (तथा) वैसे ही (अनृचः विप्रः अफलम्) वेद न पढ़ता हुआ अथवा वेद के पाण्डित्य से रहित ब्राह्मण निष्फल है अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व सफल नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण का सबसे प्रधान कर्म है ॥ १३३ ॥

गुरु-शिष्यों का व्यवहार—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१३४॥ [२।१५९] (१०८)

(अहिंसया+एव भूतानाम्) (विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि) वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के (श्रेयः+अनुशासनं कार्यम्) कल्याण के मार्ग का उपदेश करें (च) और (मधुरा श्लक्ष्णा वाक् प्रयोज्या) उपदेष्टा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें (धर्मम्+इच्छता) जो धर्म की उन्नति चाहे वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे ॥ १३४ ॥
(स० प्र० पृ० ४६)

"इसलिये विद्या पढ़ विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं।" (स० प्र० पृ० २५६)

पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है—

यस्य वाङ्मनसो शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१३५॥ [२।१६०] (१०९)

(यस्य वाङ्मनसी) जिस मनुष्य के वाणी और मन (शुद्धे च सम्यग्गुप्ते सर्वदा) शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं (सः वै) वही (सर्वं वेदान्तोप-

गतं फलं प्राप्नोति) सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ।। १३५ ।।

अनुशीलन : इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए १।१०६,२।७२ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

दूसरों से द्रोह आदि का निषेध—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१३६॥ [२।१६१](११०)

मनुष्य (आर्तः+अपि) स्वयं दुःखी होता हुआ भी (अरुंतुदः न स्यात्) किसी दूसरे को कष्ट न पहुंचावे (न परद्रोहकर्मधीः) न दूसरे के प्रति ईर्ष्या या बुरा करने की भावना मन में लाये (अस्य यया वाचा उद्विजते) इस मनुष्य के जिस वचन से कोई दुःखित हो (ताम् अलोक्यां न उदीरयेत्) उस ऐसी लोक में अप्रशंसनीय वाणी को न बोले ।। १३६ ।।

ब्राह्मण के लिए अपमान-सहन का निर्देश—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१३७॥[२।१६२](१११)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (विषात्+इव) विष के समान (सम्मानात्) उत्तम मान से (नित्यम्+उद्विजेत) नित्य उदासीनता रखे (च) और (अमृतस्य+इव) अमृत के समान (अवमानस्य सर्वदा आकांक्षेत्) अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिए भिक्षा मात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ।। १३७ ।। (सं० वि० पृ० ८५)

"संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे । क्योंकि, जो अपमान से डरता और मान इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है । इसलिए चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे कोई वैर बांधे, चाहे अन्न, पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे । इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने ।" (सं० वि० पृ० २१६)

"वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है ।" (स० प्र० पृ० ५०)

अनुशीलन : **अपमान सहन का कथन क्यों ?**—अभिप्राय यह है कि सम्मान या लोकैषणा की भावना मनुष्यमात्र को संसार में फंसाती है। जब तक मनुष्य में यह भावना रहती है, वह विरक्त नहीं हो सकता—सांसारिक मोहों को नहीं त्याग सकता। इसी भावना से अहंकार को बल मिलता है और वह उग्र होता चला जाता है। शास्त्रों के अनुसार मनुष्यमात्र का और विशेषतः ब्राह्मण का उद्देश्य ब्रह्म-प्राप्ति करना है [२।३, अन्यत्र २।२८], अहंकार ब्रह्मप्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है। अपमान की कामना और सहिष्णुता से अहंकार क्षीण होता है, संसार से विरक्ति की भावना बढ़ती है, अपमान को सहने अर्थात् निन्दा सहने से दुर्गुणों का ह्रास होकर चरित्र में निर्मलता आती है। इनसे ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य को पाने में सहायता मिलती है। ६।५७–५८ में मनु ने स्वयं इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है। इन भावों की पुष्टि के लिए ६।४७-४८ भी द्रष्टव्य हैं—

(क) **अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।**
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ॥ ६।५८॥

(ख) **अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥६।४७॥**

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१३८॥[२।१६३](११२)

(हि) क्योंकि (अवमतः सुखं शेते) अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है (च) और (सुखं प्रतिबुध्यते) सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जागृत अवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है। अभिप्राय यह है कि मानव को सर्वाधिक रूप में व्यथित करने वाली मान-अपमान और उन से उत्पन्न होने वाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते तथा जागते व्यथित नहीं करती, वह निश्चिन्त एवं शान्तिपूर्वक रहता है। (अस्मिन् लोके सुखं चरति) वह इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है, तथा (अवमन्ता) अपमान में व्यथित होने वाला व्यक्ति (विनश्यति) [चिन्ता और शोक के कारण] विनाश को प्राप्त होता है ॥१३८॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१३९॥ [२।१६४] (११३)

(अनेन क्रमयोगेन) इसी प्रकार से [उपर्युक्त निर्देशों के अनुसार] (संस्कृतात्मा द्विजः) कृतोपनयन द्विज कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या* (शनैः) धीरे-धीरे (ब्रह्माधिगमिकं तपः) वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को (संचिनुयात्) बढ़ाते चले जायें ॥ १३९ ॥ (स० प्र० ५०)

* (गुरौ वसन्) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए·······

द्विज के लिए वेदाभ्यास की अनिवार्यता—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१४०॥ [२।१६५] (११४)

(द्विजन्मना) द्विजमात्र को (विधिचोदितैः तपोविशेषैः च विविधैः व्रतैः) शास्त्रों में विहित विशेष तपों [ब्रह्मचर्यपालन, वेदाभ्यास, धर्मपालन, प्राणायाम, द्वन्द्वसहन आदि २ । १४१—१४२ (१६६—१६७); ६—७०—७२] और विविध व्रतों [२ । १४६—१६४ में प्रदर्शित] का पालन करते हुए (कृत्स्नः वेदः) सम्पूर्ण वेदज्ञान को (सरहस्यः) रहस्य पूर्वक अर्थात् गूढार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक (अधिगन्तव्यः) अध्ययन करके प्राप्त करना चाहिए ॥ १४० ॥

वेदाभ्यास परम तप है—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१४१॥ [२।१६६] (११५)

(द्विजोत्तमः) द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष (सदा तपः तप्स्यन्) सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ (वेदम्+एव अभ्यस्येत्) वेद का ही अभ्यास करे (हि) जिस कारण (विप्रस्य) ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को (वेदाभ्यासः) वेदाभ्यास करना (इह) इस संसार में (परं तपः उच्यते) परम तप कहा है ॥ १४१ ॥ (सं० वि० ८५)

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायः शक्तितोऽन्वहम् ॥१४२॥[२।१६७]
(११६)

(यः द्विजः) जो द्विज (स्रग्वी-अपि) माला धारण करके अर्थात् गृहस्थी होकर भी (अनु+अहम्) प्रतिदिन (शक्तितः स्वाध्यायम् अधीते) पूर्ण शक्ति से अर्थात् अधिक से अधिक प्रयत्नपूर्वक वेदों का अध्ययन करता रहता है (सः) वह (आ नखाग्रेभ्यः ह+एव) निश्चय ही पैरों के नाखून के अग्रभाग तक अर्थात् पूर्णतः (परमं तपः तप्यते) श्रेष्ठ तप करता है ॥१४२॥

अनुशीलन : स्रग्वी शब्द पर विचार—मनु ने माला आदि अलंकृत करने वाली वस्तुओं का धारण करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध किया है, [२ । १५२ (१७७) ॥], किन्तु गृहस्थेच्छुक के लिए समावर्तन के अवसर पर माला धारण करने का विधान है [३ । ३] "**स्रग्विणं तल्पआसीनम्**......"। प्रतीत होता है कि माला धारण करना गृहस्थाश्रम में प्रवेश की द्योतक एक परम्परा थी । शायद वही परम्परा आज वर-वधू द्वारा परस्पर माला डालने के रूप में प्रचलित है । यह माल्यार्पण

विवाह संस्कार से पूर्व होता है। इस प्रकार 'स्रग्वी' प्रयोग गृहस्थ के लिए रूढ शब्द है, अतः यहां इससे गृहस्थ अर्थ ग्रहण किया गया है।

वेदाभ्यास के विना शूद्रत्व प्राप्ति—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥१४३॥[२।१६८](११७)

(यः द्विजः) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (वेदम् अनधीत्य) वेद को न पढ़कर (अन्यत्र श्रमं कुरुते) अन्य शास्त्र में श्रम करता है (सः) वह (जीवन्+एव) जीवता ही (सान्वयः) अपने वंश के सहित ※ (शूद्रत्वं गच्छति) शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है॥ १४३॥ (सं० वि० ८५)

※ (आशु) शीघ्र ही······।

"जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।" (स० प्र० ५०)

अनुशीलन : वेद त्याग से कुटुम्ब की शूद्रता कैसे? यहां शंका उत्पन्न होती है कि वेदाध्ययन में श्रम न करने वाले व्यक्ति के साथ उसका कुटुम्ब क्यों और कैसे शूद्रत्व को प्राप्त करता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसा व्यक्ति शूद्र नहीं बनता अपितु 'शूद्रत्व' को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति वेदाध्ययन में यत्न न करके अन्यत्र श्रम करता है, उसमें विद्वत्ता और धार्मिकता का ह्रास होता जायेगा। अविद्वत्ता के कारण वह शूद्रपन के स्तर पर आ जायेगा। जब घर का प्रमुख व्यक्ति विद्वान् नहीं होगा तो उसके आश्रित पुत्र-पौत्रादि भी अशिक्षा से ग्रस्त होकर शूद्रभाव को प्राप्त करेंगे। द्विजों का मुख्य उद्देश्य वेदाध्ययन है। इसे त्यागकर अन्य कार्यों में श्रम करने वाला व्यक्ति द्विजत्वरहित हो जाता है। जैसे शूद्र वेदाध्ययन से रहित होता है वैसा ही वह व्यक्ति हो जाता है।

गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के पालनीय विविध नियम—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥ १५०॥[२।१७५] (११८)

(गुरौ वसन्) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आत्मनः तपोवृद्ध्यर्थम्) अपने विद्यारूप तप की वृद्धि के लिये (इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य) इन्द्रियों के समूह [२।६४-६७] को वश में करके (इमाम्+तु नियमान् सेवेत) इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे॥१५०॥

अनुशीलन : 'ब्रह्मचारी' शब्द की व्युत्पत्ति—ब्रह्मचारी शब्द 'ब्रह्मन्' शब्द उपपद में होने से 'चर गतौ' (भ्वादि) धातु से णिनिः प्रत्यय के योग से बनता है। विग्रह है—**ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य सः ब्रह्मचारी**=वेदाध्ययन में जो निरन्तर रहता है वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। इस

आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् दीक्षित होकर गुरुकुल में अपने गुरु के साथ निवास करता है, तथा जबतक गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट नहीं हो जाता तब तक वेदाध्ययन के साथ-साथ ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करता है।

ब्रह्मचारी के दैनिक नियम—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१५१॥[२।१७६](११६)

[ब्रह्मचारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (देव-ऋषि-पितृ-तर्पणम्) विद्वानों, ऋषियों, ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों की अभिवादन आदि प्रसन्नताकारक कार्यों, से तृप्ति=संतुष्टि (च) और (स्नात्वा शुचिः) स्नान करके, शुद्ध होकर (देवता+अभ्यर्चनम्) परमात्मा की उपासना (च) तथा (समिद्+आधानम्) अग्निहोत्र भी (कुर्यात्) किया करे॥ १५१ ॥❀

अनुशीलन : ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-पितर कौन ?—कई व्याख्याकारों ने इस श्लोक का अर्थ भ्रान्तिपूर्ण एवं मनुमान्यता से विरुद्ध किया है। इस श्लोक में गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-पितृ-तर्पण और 'देवता-अभ्यर्चन' का कथन है। यहां इन शब्दों के अर्थ एवं श्लोकाभिप्राय को विवेचनापूर्वक स्पष्ट करना आवश्यक है, जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो—

(१) देव, ऋषि, पितर ये विद्वानों और पालन-पोषणकर्त्ता ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों के स्तर विशेष हैं। पितृयज्ञ में 'मृतपितृतर्पण' की मान्यता को स्वीकारने वाले व्यक्ति भी इस बातको शतप्रतिशत रूपमें स्वीकार करते हैं कि पितृयज्ञ का विधान केवल गृहस्थों-वनस्थों के लिए ही है, ब्रह्मचारी के लिए नहीं। लेकिन मनु ने ब्रह्मचारी के लिए भी 'देवर्षिपितृतर्पण' की बात कही है तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि 'पितृतर्पण' का अर्थ मृतकों के लिए श्राद्ध करना नहीं है, अपितु यह एक ऐसा कार्य है जिसे ब्रह्मचारी भी कर सकते हैं। गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए कौन देव, ऋषि और पितर हो सकते हैं, इसका २। ११५—१३१ श्लोकों में मनु ने गुरुजनों का वर्णन करके स्वयं संकेत दे दिया है। बाद में बताये हुए ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य उन्हीं विभिन्न स्तरीय गुरुजनों के साथ लागू हो सकते हैं। अतः वे ही उसके देव, ऋषि, पितर हैं, न कि कोई कल्पित देव या मृत पितर आदि। विभिन्नस्तरीय इन संज्ञा शब्दों के अर्थज्ञान और इनके स्वरूप को समझने के लिए ३।८२ की समीक्षा में प्रमाणयुक्त विवेचन देखिये।

❀[**प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मचारी नित्य स्नान कर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे ॥ १७६ ॥]

(२) 'देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय—

निरुक्त में कहा गया है कि "यो देवः सा देवता" [७।४।१५] देव को ही देवता कहा जाता है। देव शब्द से तल् और टाप् प्रत्यय के योग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है। चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है। क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है। जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान्, माता, पिता आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य, लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं। अतः यहां 'देवताऽभ्यर्चनम्' से अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से है; यदि कहीं अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवताओं की स्तुति का वर्णन मिलता है तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति अभिप्रेत है। क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्यशक्तियां या गुण हैं, उसी के प्रत्यङ्ग हैं। भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना। इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(अ) "महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः, आत्मैवैषां रथो भवति,
आत्माश्वः, आत्मायुधम्, आत्मेषवः, सर्वं देवस्य देवस्य।" (निरुक्त ७।१।४)

अर्थात्—एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है। सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेक-विध ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यङ्गरूप हैं। उनका इसी में समाहार हो जाता है। उस एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु; आयुध= शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा; इषु=बाण के समान सब दुष्टगुणों और दुःखों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है। परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं।

इसमें वेदों का प्रमाण है—

(आ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १०।१६४।४६)

(इ) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु० ३२।१॥)

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए—

(ई) आत्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ १२ । ११९ ॥

(उ) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२ । १२३ ॥

(ऊ) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है । प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं—२।७६–७८ (२।१०१–१०३), ४।९२-९३, १२।११८, ११९, १२२, १२५ ॥

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'देवता-अभ्यर्चनम्' का यहां अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् संध्या करने से है । अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं । इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है ।

(३) तर्पण का सही अभिप्राय—

'तृप्-तृप्तौ' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से 'तर्पण' शब्द सिद्ध होता है । जिस का अर्थ है—प्रसन्न करना । "**येन कर्मणा विबुधः देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति = सुखयन्ति, तत् तर्पणम् ।**" = जिस कर्म से विद्वान् देवों, ऋषियों और पितरों को तृप्त अर्थात् सुख और प्रसन्नतायुक्त करते हैं, वह तर्पण है ।' इसी प्रकार '**यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् श्राद्धम्**' श्रद्धा से उनकी सेवा आदि करना श्राद्ध कहलाता है । इस प्रकार तर्पण करना मृत में नहीं अपितु जीवित व्यक्ति में ही संभव होता है । मनु इस श्लोक में यह कहना चाहते हैं कि ब्रह्मचारी को प्रतिदिन विद्वान्, देवों, ऋषियों और पितरों को प्रसन्न करने वाले सेवा, अन्न-भोजन, दान, अभिवादन, मधुरभाषण आदि कार्य करने चाहिएँ, यही उनका तर्पण है । ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य है । इस प्रकार के आचरण से उसे विद्या की प्राप्ति शीघ्र और सुगमता से होती है । तर्पण के इस अर्थ की पुष्टि में मनु के निम्न श्लोक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—

(अ) यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २ । १९३॥

(आ) स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥३ । ८१॥

(इ) कुर्यादहरहः श्राद्धम् अन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ३ । ८२ ॥

(४) प्रमुख गुण के आधार पर ऋषि, देव, पितरों में अन्तर—

इस प्रकार २ । ११५–१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान्

ही स्तर के अनुसार ऋषि, देव और पितर हैं। इनमें किसी विद्या के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ 'ऋषि' कहलाते हैं। दिव्य-गुण आचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव' और पालक गुण की प्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं। ब्रह्मचारी को इनकी सेवा करनी चाहिए।

मद्य, मांस आदि का त्याग—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१५२॥[२।१७७](१२०)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी (मधु-मांसं गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः) गंध,※ माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग (सर्वाणि यानि शुक्तानि) सब खटाई (प्राणिनां हिंसनम्) प्राणियों की हिंसा............(वर्जयेत्) छोड़ देवें ॥ १५२ ॥

※(मधु-मांसम्) मदकारक मदिरा आदि पदार्थ और मांस...
(स० प्र० पृ० ५०)

अनुशीलन : मधु का अर्थ—इस श्लोक में मधु का अर्थ मदिरा है। '**माद्यते इति सतः**' जो मद=नशा उत्पन्न करे अर्थात् मदिरा भांग आदि पदार्थ। मांस के साथ इस शब्द का प्रयोग और वह भी निषेधात्मक रूप में होने से इस अर्थ की पुष्टि स्वतः हो जाती है। शहद अर्थवाचक मधु को मनु अभक्ष्य नहीं मानते। यतो हि जातकर्म में उसका भक्षण के लिए विधान है—

"**मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्**" २।४ [२। २९]

अंजन, छाता, जूता आदि धारण का निषेध—

अभ्यङ्गमंजनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१५३॥[२।१७८](१२१)

(अभ्यंगम्) अगों का मर्दन—बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श (अक्ष्णोः च अञ्जनम्) आंखों में अञ्जन (उपानत्-छत्र-धारणम्) जूते, और, छत्र का धारण (कामं क्रोधं लोभं च) काम, क्रोध लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष; [चकार से मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, का ग्रहण किया है।] (च) और (नर्त्तनं गीत-वादनम्) नाच, गान, बाजा बजाना [इनको भी छोड़ देवे' यह पूर्वश्लोक से अनुवृत्ति आती है] ॥१५३॥ (स० प्र० पृ० ५०)

जूआ, निन्दा, स्त्रीदर्शन आदि का निषेध—

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१५४॥[२।१७९](१२२)

(द्यूतम्) द्यूत (जनवादम्) जिस किसी की कथा (परिवादम्) निन्दा

(अनृतम्) मिथ्याभाषण (स्त्रीणां प्रेक्षण+आलम्भम्) स्त्रियों का दर्शन, आश्रय (परस्य उपघातम्) दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें।
॥ १५४ ॥ (स० प्र० ५०)

एकाकी शयन का विधान—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१५५॥[२।१८०](१२३)

(सर्वत्र एकः शयीत) सर्वत्र एकाकी सोवे (रेतः क्वचित् न स्कन्दयेत्) वीर्यस्खलित कभी न करे (कामात् हि रेतः स्कन्दयन्) काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि (आत्मनः व्रतं हिनस्ति) अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥ १५५ ॥ (स० प्र० पृ० ५०)

भिक्षासम्बन्धी नियम—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १५७ ॥[२।१८२](१२४)

(उदकुम्भम्) पानी का घड़ा (सुमनसः) फूल (गोशकृत्) गोबर (मृत्तिका) मिट्टी (कुशान्) कुशाओं को (यावत्+अर्थानि) जितनी आवश्यकता हो उतनी ही (आहरेत्) लाकर रखे (च) और (भैक्षम्) भिक्षा भी (अहः+अहः चरेत्) प्रतिदिन-प्रतिदिन मांगकर खाये ॥ १५७ ॥

किनसे भिक्षा ग्रहण करे—

वेद-यज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१५८॥[२।१८३](१२५)

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (स्वकर्मसु प्रशस्तानाम्) अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और (वेदयज्ञैः+अहीनानाम्) वेदाध्ययन और पञ्चमहायज्ञों से जो हीन नहीं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के (गृहेभ्यः) घरों से (प्रयतः) प्रयत्न पूर्वक (अन्वहम्) प्रतिदिन (भैक्षम् आहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे ॥ १५८ ॥

किन-किन से भिक्षा ग्रहण न करे—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १५९ ॥[२।१८४] (१२६)

ब्रह्मचारी (गुरोः कुले न भिक्षेत) गुरु के परिवारों तथा मित्रों में भी भिक्षा न मांगे (अन्य गेहानाम् अलाभे तु) अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो (पूर्वं-पूर्वं विवर्जयेत्) पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले

अर्थात् पहले मित्रों, परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है ॥ १५६ ॥

पापकर्म करने वालों से भिक्षा न लें—

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १६० ॥ [२।१८५](१२७)

(पूर्वोक्तानाम्+असंभवे) पूर्व [२।१५८-१५६] कहे हुए घरों के अभाव में (सर्वं वा+अपि ग्रामं चरेत्) सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले (तु) किन्तु (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (वाचं नियम्य) अपनी वाणी को नियन्त्रण में रखता हुआ (अभिशस्तान्) पापी व्यक्तियों को (वर्जयेत्) छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए वाणी न खोले ॥ १६० ॥

सायं-प्रातः अग्निहोत्र का पुनः विशेष विधान—

दूरदाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १६१ ॥ [२।१८६](१२८)

(दूरात् समिधः आहृत्य) दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएँ लाकर (विहायसि संनिदध्यात्) उन्हें खुले [=हवादार] स्थान में रख दे (ताभिः) और फिर उनसे (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (सायं च प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (अग्निं जुहुयात्) अग्निहोत्र करे ॥ १६१ ॥

"अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो काल में करे। दो ही रात-दिन की संधि-वेला हैं, अन्य नहीं।" (स० प्र० पृ० ४१)

अनुशीलन : यज्ञ की समिधाएं—समिधाएं किस-किस वृक्ष की और कैसी होनी चाहिए इसके ज्ञान के लिए महर्षि दयानन्द का उद्धरण विशेष उपयोगी है—

"पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब [आम] बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाण छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों, अच्छे प्रकार देख लेवें, और बराबर और बीच में चुनें। (सं० वि० सामान्य प्र०)

गुरु के समीप रहते ब्रह्मचारी की मर्यादाएँ—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १६६ ॥[२।१९१](१२९)

(गुरुणा चोदितः) गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर (वा) अथवा (अप्रचोदितः एव) बिना प्रेरणा किये भी [ब्रह्मचारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (अध्ययने) पढ़ने में (च) और (आचार्यस्य हितेषु) गुरु के हितकारक कार्यों में (यत्नं कुर्यात्) यत्न करे ॥ १६६ ॥

गुरु के सम्मुख सावधान होकर बैठे और खड़ा हो—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१६७॥[२।१९२] (१३०)

[गुरु के सामने बैठने या खड़े होने की अवस्था में ब्रह्मचारी] (शरीरं च वाचं च बुद्धि+इन्द्रिय+मनांसि एव च) शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी (नियम्य) वश में करके अर्थात् सावधान होकर (गुरोः मुखं वीक्षमाणः) गुरु के सामने देखता हुआ (प्राञ्जलिः) हाथ जोड़कर (तिष्ठेत्) बैठे और खड़ा होवे ॥ १६७ ॥

गुरु के आदेशानुसार चले—

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१६८॥ [२।१९३](१३१)

(नित्यम्+उद्धृतपाणिः स्यात्) सदा उद्धृतपाणि रहे अर्थात् ओढ़नेके वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे [ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुआ बायें कंधे पर जाकर टिके, जिसे दायां कन्धा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रहा जाये] (साधु+आचारः) शिष्टसभ्य आचरण रखे (सुसंयतः) संयमपूर्वक रहे ('आस्यताम्' इति उक्तः सन्) गुरु के द्वारा 'बैठो' ऐसा कहने पर (गुरोः अभिमुखं आसीत) गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे ॥ १६८ ॥

गुरु से निम्न स्तर की वेशभूषा रखे—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १६९ ॥ [२।१९४](१३२)

(गुरु-सन्निधौ) गुरुके समीप रहते हुए (सर्वदा) सदा (हीन+अन्न+वस्त्र+वेषः स्यात्) अन्न=भोज्यपदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से

सामान्य रखे (च) और (अस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत्) इस गुरु से पहले जागे (च) तथा (चरमं संविशेत्) बाद में सोये ॥ १६९ ॥

बातचीत करने का शिष्टाचार—

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१७०॥ [२।१९५] (१३३)

(प्रतिश्रवण+संभाषे) प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना, और संभाषा—बातचीत, ये (शयानः न समाचरेत्) लेटे हुए न करे (न+आसीनः) न बैठे-बैठे (न भुञ्जानः) न कुछ खाते हुए (च) और (न तिष्ठन्) न दूर खड़े होकर (न पराङ्मुखः) न मुंह फेरकर ये बातें करे [करणीय शिष्ट स्थितियों का वर्णन १७१-१७२ में है] ॥ १७० ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१७१॥ [२।१९६] (१३४)

(आसीनस्य स्थितः) बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर (तिष्ठतः तु अभिगच्छन्) खड़े हुए गुरु के सामने जाकर (आव्रजतः तु प्रति+उद्गम्य) अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर (धावतः तु पश्चात् धावन्) दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर (कुर्यात्) प्रतिश्रवण और बातचीत [२ । १७०] करे ॥ १७१ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१७२॥ [२।१९७] (१३५)

(पराङ्मुखस्य+अभिमुखः) गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर (च) और (दूरस्थस्य अन्तिकम् एत्य) दूर खड़े हों तो पास जाकर (शयानस्य तु) लेटे हों (च) और (निदेशे एव तिष्ठतः) समीप ही खड़े हों तो (प्रणम्य) विनम्र होकर प्रतिश्रवण और बातचीत करे ॥ १७२ ॥

गुरु से निम्न आसन पर बैठे—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १७३ ॥ [२।१९८] (१३६)

(गुरुसन्निधौ) गुरु के समीप रहते हुए (अस्य) इस ब्रह्मचारी का (शय्या+आसनम्) बिस्तर और आसन (सर्वदा) सदा ही (नीचम्) गुरु के आसन से नीचा या साधारण रहना चाहिए (गुरोः तु चक्षुः विषये) और

गुरु की आंखों के सामने (यथेष्टासनः न भवेत्) कभी मनमाने आसन से न बैठे अर्थात् शिष्टतापूर्वक बैठे ॥ १७३ ॥

गुरु का नाम न ले—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १७४ ॥ [२।१९९] (१३७)

(परोक्षम् अपि) पीछे से भी (अस्य) **अपने गुरु का (केवलं नाम** न +उदाहरेत्) केवल नाम न ले [अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य' 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नहीं] (च) और (अस्य) इस गुरु की (गति+भाषित +चेष्टितम्) चाल, वाणी तथा चेष्टाओं का (न अनुकुर्वीत) अनुकरण= नकल न उतारे ॥ १७४ ॥

गुरु की निन्दा न सुने—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥१७५॥[२।२००] (१३८)

(यत्र) जहां (गुरोः परीवादः अपि वा निन्दा प्रवर्त्तते) गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो (तत्र) वहां (कर्णौ पिधातव्यौ) अपने कान बन्द कर लेने चाहिएं अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिए (वा) अथवा (ततः अन्यतः गन्तव्यम्) उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए ॥ १७५ ॥ ❀

अनुशीलन : 'कर्णौ पिधातव्यौ' मुहावरा—इस श्लोक में 'कर्णौ पिधातव्यौ' मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय कान बन्द कर लेना नहीं है अपितु 'न सुनना' या 'ध्यान न देना' है। इसका हिन्दी में अनूदित मुहावरा आज भी उसी अर्थ में प्रचलित है—'कान बन्द रखना' अर्थात् ध्यान न देना या न सुनना। इस के विपरीत 'कान धरना' या 'कान खुले रखना' मुहावरे प्रचलित हैं। जिन का अर्थ है—ध्यान से सुनना।

गुरु को कब अभिवादन न करे—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥१७७॥[२।२०२] (१३९)

(एनम्) शिष्य अपने गुरु को (दूरस्थः) दूर से (न+अर्चयेत्) नमस्कार न करे (न क्रुद्धः) न क्रोध में (न स्त्रियाः अन्तिके) जब अपनी स्त्री के पास

❀ [**प्रचलित अर्थ**—जहां गुरु की बुराई या निन्दा होती हो वहां ब्रह्मचारी कान बन्द करले या वहां से अन्यत्र चला जाये ॥ २०० ॥]

बैठे हों न उस स्थिति में जाकर अभिवादन करे (च) और (यान+आसनस्थः) यदि सवारी पर बैठा हो तो (अवरुह्य) उतरकर (एनम्) अपने गुरु को (अभिवादयेत्) अभिवादन करे ।। १७७ ।।

साथ बैठने न बैठने सम्बन्धी निर्देश—

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ।। १७८ ।। [२।२०३] (१४०)

(प्रतिवाते) शिष्य की ओर से गुरु की ओर आने वाली वायु में (च) और (अनुवाते) उसके विपरीत अर्थात् गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली वायु की दिशा में (गुरुणा सह न+आसीत) गुरु के साथ न बैठे (च) तथा (गुरोः असंश्रवे एव) जहां गुरु को अच्छी प्रकार न सुनाई पड़े ऐसे स्थान में (किंचित्+अपि न कीर्तयेत्) कुछ बात न करे ।। १७८ ।।

गुरु के साथ कहां-कहां बैठे—

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ।।१७९।। [२।२०४] (१४१)

(गो+अश्व+उष्ट्रयान—प्रासादस्रस्तरेषु) बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी पर और महलों अथवा घरों में बिछाये जानेवाले बिछौने पर (च) और (कटेषु) चटाइयों पर (च) तथा (शिला-फलकनौषु) पत्थर, तख्ता, नौका पर (गुरुणा सार्धम् आसीत) गुरु के साथ बैठ जाये ।। १७९ ।।

गुरु के गुरु से गुरुतुल्य आचरण—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ।।१८०।। [२।२०५] (१४२)

(गुरोः गुरौ सन्निहिते) गुरु के भी गुरु यदि समीप आ जायें तो (गुरुवत् वृत्तिम् आचरेत्) उनसे अपने गुरु के समान ही आचरण करे (च) और (स्वान् गुरून्) अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के आने पर (गुरुणा अनिसृष्टः न अभिवादयेत्) गुरु से आदेश पाये बिना अभिवादन करने न जाएँ ।। १८० ।।

अन्य अध्यापकों से व्यवहार—

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ।।१८१।। [२।२०६] (१४३)

(विद्यागुरुषु) विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुओं में (स्वयोनिषु) अपने वंश वाले सभी बड़ो में (च) और (अधर्मान् प्रतिषेधत्सु उपदिशत्सु+अपि)

अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी (नित्या एतत्+एव वृत्तिः) सदैव यही [ऊपर वर्णित] बर्ताव करे ॥ १८१ ॥

युवती गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध और उसमें कारण—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥१८७॥ [२।२१२] (१४४)

(पूर्णविंशतिवर्षेण) जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हैं ऐसे (गुणदोषौ विजानता) गुण और दोषों को समझने में समर्थ युवक शिष्य को (युवतिः गुरुपत्नी तु) जवान गुरुपत्नी का (पादयोः न अभिवाद्या) चरणों का स्पर्श करके अभिवादन नहीं करना चाहिए [अर्थात् बिना चरणस्पर्श किये ही उसका अभिवादन करे । उसकी विधि २ । १६१ में वर्णित है] ॥ १८७ ॥

युवति के चरण स्पर्श से हानि—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥१८८॥ [२।२१३] (१४५)

(इह) इस संसार में (एषः स्वभावः) यह स्वाभाविक ही है कि (नारीणां नराणां दूषणम्) स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है—दोष लग जाता है (अतः अर्थात्) इस कारण (विपश्चितः) बुद्धिमान् व्यक्ति (प्रमदासु) स्त्रियों के साथ व्यवहारों में (न प्रमाद्यन्ति) कभी असावधानी नहीं करते अर्थात् ऐसा कोई वर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की आशंका हो ॥ १८८ ॥ ❀

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥१८९॥ [२।२१४](१४६)

(लोके) संसार में (प्रमदाः) स्त्रियाँ (काम-क्रोध-वश+अनुगम्) काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले (अविद्वांसम्) अविद्वान् को (वा) अथवा (विद्वांसम्+अपि) विद्वान् व्यक्ति को भी (उत्पथं नेतुम्) उसके मार्ग से उखाड़ने में अर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में (हि) निश्चय से (अलम्) पूर्णतः समर्थ हैं ॥ १८९ ॥

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में हाव-भाव और रूप सौन्दर्य के द्वारा

❀ [प्रचलित अर्थ—स्त्रियों का यह स्वभाव है कि इस जगत् में शृङ्गार-चेष्टाओं के द्वारा व्यामोहित कर पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती हैं, अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं ॥ २१३ ॥]

पुरुषों को मोहित कर लेने का पूर्ण सामर्थ्य है। उनके इन गुणों के कारण पुरुष उनके संसर्ग से स्वयं अथवा उन्हीं के प्रयत्न से सदाचार के मार्ग से भ्रष्ट हो सकता है।

स्त्रीवर्ग के साथ एकान्तवास निषेध—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१९०॥[२।२१५](१४७)

[मनुष्य को चाहिए कि] (मात्रा स्वस्रा वा दुहित्रा) माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी (विविक्त+आसनः न भवेत्) एकान्त आसन पर न बैठे या न रहे, अर्थात् एकान्तनिवास न करे क्योंकि (बलवान्+इन्द्रिय-ग्रामः) शक्तिशाली इन्द्रियां (विद्वांसम्+अपि) विद्वान्=विवेकी व्यक्ति को भी (कर्षति) खींचकर अपने वश में कर लेतीं हैं अर्थात् अपने-अपने विषयों में फंसाकर पथभ्रष्ट कर देती हैं॥ १९० ॥

"इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।" (पू० प्र० १५)

युवति गुरुपत्नी के अभिवादन की विधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥१९१॥[२।२१६] (१४८)

(कामं तु) अच्छा तो यही है कि (युवा) युवक शिष्य (युवतीनां गुरुपत्नीनाम्) जवान गुरुपत्नियों को (असौ+अहम्+इति ब्रुवन्) 'यह मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (विधिवत्) पूर्ण विधि के अनुसार [२।९७, ९९] (भुवि) भूमि पर झुककर ही (वन्दनं कुर्यात्) अभिवादन करे॥ १९१ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ १९२ ॥[२।२१७] (१४९)

शिष्य (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करते हुए अर्थात् यह विचारते हुए कि स्त्रियों को अभिवादन करना शिष्ट व्यक्तियों का कर्त्तव्य है (गुरुदारेषु) गुरुपत्नियों को (अन्वहम् अभिवादनं कुर्वीत) प्रतिदिन अभिवादन करे (च) और (विप्रोष्य) परदेश से लौटकर (पादग्रहणम्) चरणस्पर्श कर अभिवादन करे॥ १९२ ॥

गुरु सेवा का फल—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१६३॥ [२।२१८] (१५०)

(यथा खनित्रेण खनन् नरः) जैसे फावड़े से खोदता हुआ मनुष्य (वारि+अधिगच्छति) जल को प्राप्त करता है (तथा) वैसे (शुश्रूषु) गुरु की सेवा करने वाला पुरुष (गुरुगतां विद्याम्) गुरुजनों ने जो विद्या प्राप्त की है, उसको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ।। १६३ ।। (सं० वि० ८५)

ब्रह्मचारी के लिए केश-सम्बन्धी तीन विकल्प एवं ग्रामनिवास का निषेध—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥१६४॥ [२।२१९] (१५१)

ब्रह्मचारी (मुण्डः वा जटिलः वा स्यात्) चाहे तो सब केश मुंडवा कर रहे, चाहे सब केश रखकर रहे (अथवा) या फिर (शिखाजटः) केवल शिखा रखकर [शेष केश मुंडवाकर] (स्यात्) रहे। (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (क्वचित् ग्रामे) किसी निवास स्थान में रहते (सूर्यः) सूर्य (न अभिनिम्लोचेत्) न तो अस्त हो (न=अभ्युदियात्) न कभी उदय हो अर्थात् प्रमाद के कारण उसके निवास स्थान पर रहते-रहते सूर्य अस्त नहीं होना चाहिए और न ही सोते-सोते सूर्योदय होना चाहिए अपितु उससे पूर्व ही संध्योपासन आदि नित्यकर्मों के लिये वन-प्रदेश में निकल जाना चाहिए [२। ७६, ७८, ७७, ७६] ।। १६४ ।।

प्रमादवश सोते रहने पर प्रायश्चित्त—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥१६५॥ [२।२२०] (१५२)

(तं चेत्) यदि उसे (कामचारतः शयानम्) इच्छानुसार सोते हुए (सूर्यः अभि+उदियात्) सूर्य का उदय हो जाये (अपि वा) अथवा (अविज्ञानात् निम्लोचेत्) अनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्य अस्त हो जाये तो (दिनं जपन्+उपवसेत्) दिनभर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे= खाना न खाये ।। १६५ ।।

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणः युक्तः स्यान्महतैनसा ॥१६६॥ [२२१] (१५३)

(यः) जो (सूर्येण अभिनिर्मुक्तः) प्रमाद में सूर्य के अस्त हो जाने

पर (च) और (शयानः+अभ्युदितः) सोते-सोते सूर्य उदय होने पर (प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः) प्रायश्चित्त नहीं करता है वह (महता+एनसा युक्तः स्यात्) बड़े अपराध का भागी बनता है अर्थात् उसे बड़ा दोषी माना जायेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये सबसे परमावश्यक कर्म संध्योपासन का विधान है और इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है ।। १६६ ।।

अनुशीलन : 'एनः' के अर्थज्ञान के लिए २।२ [२।२७] पर भी समीक्षा द्रष्टव्य है।

संध्योपासन का विधान एवं विधि—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥१६७॥[२।२२२] (१५४)

ब्रह्मचारी (नित्यम्) प्रतिदिन (उभे संध्ये) प्रातः और सायं दोनों संध्याकालों में [२।७६, ७७] (शुचौ देशे) शुद्ध स्थान में (आचम्य) आचमन करके (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (समाहितः) एकाग्र होकर (जप्यं जपन् उपासीत) परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे ।। १६७ ।।

"नित्य संध्योपासन..............के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया करे।" (सं० वि० ७६)

स्त्री-शूद्रादि के उत्तम आचरण का भी अनुकरण करे—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥१६८॥[२।२२३](१५५)

(यदि स्त्री यदि+अवरजः) यदि स्वाश्रित स्त्री अथवा शूद्र भी (किंचित् श्रेयः समाचरेत्) कोई श्रेष्ठ कार्य करें (तत्सर्वं+आचरेत्) उनसे शिक्षा लेकर उस पर आचरण करना चाहिए (वा) अथवा (यत्र) जिस शास्त्रोक्त कर्म में (अस्य मनः रमेत्) इसका मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे ।। १६८ ।।

निम्नस्तर के व्यक्ति से भी ज्ञान-धर्म की प्राप्ति—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।२१३।।[२।२३८](१५६)

(शुभां विद्यां श्रद्दधानः) उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ पुरुष (अवरात्+अपि आददीत) अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण

करे (अन्त्यात्+अपि परं धर्मम्) नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे, और (दुष्कुलात् अपि स्त्रीरत्नम्) निद्यकुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री का ग्रहण करे, यह नीति है ।। २१३ ।। (सं० वि० ८५)

उत्तम वस्तुओं का सभी स्थानों से ग्रहण—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ।।२१४।।[२।२३९](१५७)

(विषात्+अपि+अमृतं ग्राह्यम्) विष से भी अमृत का ग्रहण कर लेना चाहिए, और (बालात्+अपि सुभाषितम्) बालक से भी उत्तम वचन को ग्रहण कर लेना चाहिए, और (अमित्रात्+अपि सद्-वृत्तम्) वैरी से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए, तथा (अमेध्यात्+अपि काञ्चनम्) अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए ।। २१४ ।।

"विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को ले लेना ।" (सं० वि० ८५)

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ।।२१५।।[२।२४०](१५८)

"(स्त्रियः) उत्तम स्त्री (रत्नानि) नाना प्रकार के रत्न (विद्या) विद्या (धर्मः) सत्य (शौचम्) पवित्रता (सुभाषितम्) श्रेष्ठभाषण (च) और (विविधानि शिल्पानि) नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी (सर्वतः समादेयानि) सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करें" ।। २१५ ।।
(स० प्र० ६९)

अनुशीलन : इस अध्याय का विषय विद्या या शिक्षा प्राप्ति का है। २१३–२१५ श्लोकों में विद्या-सम्बन्धी बात प्रमुखतः कहते हुए साथ ही अन्य सामान्य शिक्षाप्रद बातें भी कह दी हैं जो कि लोकोक्तिवत् प्रसिद्ध हैं। विद्या से सम्बद्ध होने के कारण ये सभी वचन प्रासंगिक एवं विषयसंगत हैं।

आपत्ति काल में अब्राह्मण से विद्याध्ययन एवं उसके नियम—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ।।२१६।। [२।२४१](१५९)

(आपत्काले) आपत्ति काल में (अब्राह्मणात्) अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय आदि से भी (अध्ययनम्) विद्या ग्रहण करना (विधीयते) विहित है (यावत् अध्ययनम्) शिष्य जब तक पढ़े तब तक (गुरोः अनुव्रज्या च शुश्रूषा) गुरु की आज्ञा का पालन और सेवा करे ।। २१६ ।।

अनुशीलन : **अब्राह्मण से विद्या प्राप्ति**—अब्राह्मण से विद्याप्राप्ति की परम्परा मनु के पश्चात् भी रही है। यद्यपि विद्यादान ब्राह्मण का प्रमुख कर्त्तव्य रहा है किन्तु अन्य वर्णों से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है इसकी पुष्टि मनु निम्न श्लोकों में पहले भी कर चुके हैं—

(क) **श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।**
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २। २१३ (२३८)

(ख) **स्त्रियः रत्नान्यथो विद्या·········समादेयानि सर्वतः** ॥ २।२१५(२४०)

(ग) सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है (सूत्रस्थान द्वि० अ०)

"**ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके।**"=ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; क्षत्रिय, क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे यह मत अनेक आचार्यों का है (स० प्र० तृ० समु०)। उपनयन और मन्त्रसंहिताओं का निषेध यह इसलिए है कि वह निश्चित समय पर इस संस्कार का अधिकार खो बैठता है, इसी कारण वह शूद्र कहलाता है, किन्तु पढ़ना उसको भी चाहिए।

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२१७॥ [२।२४२] (१६०)

(अनुत्तमां गतिं काक्षन् शिष्यः) उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह (अब्राह्मणे गुरौ) अब्राह्मण गुरु के यहाँ (च) और (अन्+अनूचाने ब्राह्मणे) वेदों में अपारंगत=साङ्गोपाङ्ग वेदों के अध्यापन में असमर्थ ब्राह्मण गुरु के समीप भी (आत्यन्तिकं वासं न वसेत्) आजीवन निवास न करे [क्योंकि इनके पास शिष्य की प्रगति रुक जाती है। सांगोपांग वेदों के ज्ञाता विद्वान् के पास रहकर ही उन्नति की उत्तम गति तक पहुंच सकता है] ॥ २१७ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥२१८॥ [२।२४३] (१६१)

(यदि तु) यदि ब्रह्मचारी शिष्य (गुरोः कुले) गुरुकुल में (आत्यन्तिकं वासं रोचयेत) जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो (आशरीर-विमोक्षणात्) शरीर छूटनेपर्यन्त (एनम्) अपने गुरु की (युक्तः परिचरेत्) प्रयत्न पूर्वक सेवा करे ॥ २१८ ॥

समावर्तन की इच्छा होने पर गुरुदक्षिणा का विधान एवं नियम—

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२२०॥ [२।२४५] (१६२)

(धर्मवित्) विधि का ज्ञाता शिष्य (स्नास्यन् तु) स्नातक बनने [समावर्तन कराने] की इच्छा होने पर (गुरुणा+आज्ञप्तः) गुरु से आज्ञा प्राप्त करके (शक्त्या) शक्ति के अनुसार (गुर्वर्थम्) गुरु के लिए (आहरेत्) दक्षिणा प्रदान करे। किन्तु (पूर्वं गुरवे किंचित् न उपकुर्वीत) समावर्तन से पहले गुरु को दक्षिणा या भेंट रूप में कुछ नहीं देना चाहिए ॥ २२० ॥

गुरुदक्षिणा में देय वस्तुएं—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं वासांसि वा शाकं गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२२१॥ [२।२४६] (१६३)

[शिष्य यथाशक्ति] (क्षेत्रम्) भूमि (हिरण्यम्) सोना (गाम्) गाय (अश्वम्) घोड़ा (छत्र+उपानहम्+आसनम्) छाता, जूता, आसन (धान्यम्) अन्न [वासांसि) वस्त्र (वा) अथवा (शाकम्) शाक (गुरवे) गुरु के लिए (प्रीतिम्+आवहेत्) प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे ॥ २२१ ॥

आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का फल—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २२४ ॥ [२ । २४९] (१६४)

(यः विप्रः) जो द्विज विद्वान् (एवम्) उपर्युक्त प्रकार से (अविप्लुतः) अखण्डित रूप से (ब्रह्मचर्यं चरति) ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करता है (सः उत्तमं स्थानं गच्छति) वह उत्तम स्थान अर्थात् ब्रह्म के पद को प्राप्त करता है (च) और (इह) इस संसार में (पुनः न आजायते) पुनर्जन्म नहीं लेता अर्थात् प्रवाह से चलने वाले जन्म-मरण से छूट जाता है। [क्योंकि मोक्षसुख भी कर्मों का फल है, अतः वह सान्तकर्मों का अनन्त फल नहीं हो सकता। अतः मोक्ष-सुख की अवधि पूरी होने पर जीव का फिर जन्म अवश्य होता है।] ॥ २२४ ॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दीभाष्यसमन्वितायाम्
'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
संस्कार-ब्रह्मचर्याश्रमात्मको द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(समावर्तन, विवाह एवं पञ्चयज्ञविधान-विषय)

[समावर्त्तन ३ । १—३ तक]

ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन काल—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥ (१)

(गुरौ) गुरु के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी को (त्रैवेदिकं व्रतम्) ज्ञान कर्म, उपासना रूप त्रिविध ज्ञानवाले वेदों के अध्ययन सम्बन्धी ब्रह्मचर्य व्रत का (षट्त्रिंशद्+आब्दिकम्) छत्तीस वर्ष पर्यन्त (तत्+अर्धिकम्) उस से आधे अर्थात् अठारह वर्ष पर्यन्त (वा) अथवा (पादिकम्) उन छत्तीस के चौथे भाग अर्थात् नौ वर्ष पर्यन्त (वा) अथवा (ग्रहण+अन्तिकम्+एव) जब तक विद्या पूरी न हो जाये तब तक (चर्यम्) पालन करना चाहिए ॥ १ ॥

"आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस और आठ मिलके चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिलके छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।" (स० प्र० ४४)

समावर्तन कब करे—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥ (२)

(वेदान् वेदौ वा वेदं यथाक्रमम्+अधीत्य) ब्रह्मचर्य से चार, तीन, दो अथवा एक वेद को यथावत् पढ़ (अविप्लुतब्रह्मचर्यः) अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके (गृहस्थाश्रमम्+आवसेत्) गृहाश्रम को धारण करे ॥ २ ॥ (सं० वि० ९८)

"जब यथावत् ब्रह्मचर्य आचार्यानुकूल वर्त्तकर धर्म से चारों, तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे।" (स० प्र० ७८)

अनुशीलन : (१) **समावर्तन से अभिप्राय**—गुरु के समीप रहकर, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वेदों एवं वेदाङ्गशास्त्रों की शिक्षा प्राप्त कर गुरुकुल से घर वापिस लौटने का नाम 'समावर्तन' है। यह प्रधानतया गृहस्थ धारण के उद्देश्य से किया जाता है। 'सम्' और 'आ' उपसर्गपूर्वक 'वृत्—वर्त्तने' (भ्वादि) धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से समावर्तन शब्द निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—'वापिस लौटना'। यह एक संस्कार है, जिसको 'स्नान' भी कहा जाता है। इसीकारण समावर्तन करने वाले को 'स्नातक' कहा जाता है। स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—"**त्रय एव स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति।**"

पार० गृह्यसूत्र २। ५। ३२॥

अर्थात्—स्नातक (=गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त करके घर लौटने वाले शिक्षित व्यक्ति) तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक=जो विद्या को समाप्त करके किन्तु ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण न करके समावर्तन करते हैं, २. व्रतस्नातक=जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त करके किन्तु विद्या को पूर्ण किये बिना स्नातक बनते हैं, ३. विद्याव्रतस्नातक= जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं।

(२) **समावर्तन का काल और उसके आवश्यक नियम**—उपर्युक्त ३। १–२ श्लोकों में मनु ने समावर्तन के काल और उसके लिए आवश्यक नियमों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार समावर्तन के लिए प्रमुख दो नियम हैं—

१. त्रयीविद्यारूप चारों वेदों के अध्ययन-काल में ३६, १८ और ९ वर्षों की तीन अवधि निर्धारित की हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए कम से कम नौ वर्ष तक गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना अनिवार्य है [३। १]।

२. इसके साथ-साथ यह भी अनिवार्य है कि द्विज कम से कम एक वेद का साङ्गोपांग अध्ययन अवश्य करे। उससे अधिक दो, तीन, चार वेदों का अध्ययन करना उसकी इच्छा पर निर्भर है [३। २]।

इन दोनों नियमों को पूर्ण करके ही द्विज के लिए स्नातक बनकर गृहाश्रम को धारण करने का विधान है, अन्यथा नहीं।

इन तथा मनु के अन्य वचनों के अनुसार समावर्तन का काल कम से कम २५ वर्ष के अनन्तर निर्धारित होता है। इसे दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) उपनयन संस्कार में [२। ११-१३(२। ३६-३८)] मनु ने उपनयन काल में कई-कई विकल्पात्मक विधान दिये हैं। सामान्य अवस्था में सबसे कम आयु ८ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होता है। ९ वर्ष कम से कम एक वेद के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन का

काल है। वेद के अध्ययन से पूर्व उन्हें समझने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा एवं सामान्य वेदाङ्गों [=शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष (छह)] का गम्भीर ज्ञान भी आवश्यक है [२। ११५(२। १४०)]।

इसमें वर्णोच्चारण शिक्षा से लेकर दर्शन-उपनिषदों तक ७—८ वर्ष का समय लगता है। इस प्रकार ८+८+९=२५ वर्षों का कम से कम प्रारम्भिक वेद का पूर्ण शिक्षाकाल बनता है।

(ख) मनु ने २५ वर्ष तक गुरुकुल–निवास का विधान किया है उसके पश्चात् गृहस्थ में जाने का कथन है—"**चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥**" [४। १] यह आयु का पहला भाग २५ वर्ष तक का समय है। तब तक विद्यार्थी गुरुकुलवास करे। पुनः समावर्तन कर गृहस्थ बने। [इस विषय में विस्तृत विवेचन ३। ४ की समीक्षा में पढ़िये]।

इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में कम से कम २५ वर्ष तक अध्ययन काल अवश्य होता है। उसके पश्चात् ही समावर्तन करना मनुसम्मत है।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा॥ ३॥ (३)

(तं स्वधर्मेण प्रतीतम्) जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म है उससे युक्त (पितुः ब्रह्मदायहरम्) पिता=जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण (स्रग्विणम्) और माला का धारण करने वाले (तल्प आसीनम्) अपने पलंग में बैठे हुए आचार्य को (प्रथमं गवा अर्हयेत्) प्रथम गोदान से सत्कार करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे॥ ३॥
(स० प्र० ७८)

अनुशीलन: 'स्रग्वी' शब्द 'गृहस्थी' के लिए रूढ है और इसका मुहावरे के रूप में प्रयोग होता है। देखिए २। १४२ पर विस्तृत विवेचन।

(विवाह-विषय)

[३। ४ से ३। ४२ तक]

गुरु की आज्ञा से विवाह—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ ४॥ (४)

(यथाविधि समावृत्तः) यथावत् उत्तम रीतिसे ब्रह्मचर्य और विद्या

अथ विशुद्ध मनुस्मृतिः

अथ प्रथमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन'-समीक्षाभ्यां सहितः]

(सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति विषय १।५ से १।७८ तक)

मनुस्मृति-भूमिका
(१।१ से १।४ तक)

महर्षियों का मनु के पास आगमन—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥ (१)

(महर्षयः) महर्षि लोग (एकाग्रम्+आसीनम्) एकाग्रतापूर्वक बैठे हुए (मनुम्) मनु के (अभिगम्य) पास जाकर, और उनका (यथान्यायम्) यथोचित (प्रतिपूज्य) सत्कार करके (इदम्) यह (वचनम्) वचन (अब्रुवन्) बोले ॥ १ ॥

महर्षियों का मनु से वर्णाश्रम-धर्मों के विषय में प्रश्न—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥ (२)

(भगवन्) हे भगवन् ! आप (सर्ववर्णानाम्) सब वर्णों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (च) और (अन्तरप्रभवाणाम्) सभी वर्णों के अन्दर होने वाले अर्थात् आश्रमों=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के [वर्णानां अन्तरे प्रभवः-उत्पत्तिः, स्थितिः येषां ते अन्तरप्रभवाः=आश्रमाः] (धर्मान्) धर्मों-कर्त्तव्यों को (यथावत्) ठीक-ठीक रूप से (अनुपूर्वशः) और क्रमानुसार अर्थात् वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम से तथा आश्रमों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के क्रम से (नः) हमें

(वक्तुम्) बतलाने में (अर्हसि) समर्थ हो ॥ २ ॥ (इस दूसरे श्लोक के प्रश्न की पूर्ति १।३ में होगी ।)+

अनुशीलन : मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है [धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः २।१० (१।१२६)]। तदनुसार इसमें धर्म का ही प्रतिपादन है। मनुस्मृति में धर्म के स्वरूप तथा इस श्लोक में आये आधारभूत शब्द 'अन्तरप्रभवाणाम्' पर यहां सप्रमाण विचार किया जाता है—

(१) **धर्म का स्वरूप**—(क) व्याकरण की दृष्टि से 'धृञ्-धारणे' धातु से 'अर्तिस्तु सुहुसृधृ०' [उणादि १।१४०] सूत्र से प्राप्त 'मन्' प्रत्यय के योग से 'धर्म' शब्द सिद्ध होता है। **'धारणात् धर्म इत्याहुः' 'ध्रियते अनेन लोकः'** आदि व्युत्पत्तियों के अनुसार 'जिसे आत्मोन्नति और उत्तम सुख के लिए धारण किया जाये' अथवा 'जिसके द्वारा लोक को धारण किया जाये अर्थात् व्यवस्था या मर्यादा में रखा जाये', उसे धर्म कहते हैं। इस प्रकार आत्मा की उन्नति करने वाला, मोक्ष या उत्तम व्यावहारिक सुख देने वाला सदाचरण, कर्त्तव्य अथवा श्रेष्ठ विधान (कानून), नियम, धर्म है।

(ख) मनुस्मृति में धर्म को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। स्थूल रूप से उसे दो अर्थों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. मुख्य अर्थ (आध्यात्मिक उद्देश्यसाधक)
२. गौण अर्थ (लौकिक व्यवहार-साधक)

१. आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा के उपकारक, निःश्रेयससिद्धि अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति कराने वाले 'आचरण' को 'धर्म' कहते हैं। यह धर्म का मुख्य अर्थ है। यही धर्म सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है, जो त्याज्य नहीं है। इसी का प्रतिपादन करना धर्मशास्त्रों का प्रमुख उद्देश्य है। मनु ने इस धर्म का वर्णन निम्न श्लोक में किया है—

वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रिया, आत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ।। १२।८३।।

निम्न प्रमाणों से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है—

(अ) धर्मं शनैः संचिनुयात्···परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ।।४।२३८।।

(आ) धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति सुदुस्तरम् ।। ४।२४२ ।।

(इ) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। ६।९२ ।।

+[प्रचलित अर्थ—हे भगवन् ! सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और 'अम्बष्ठादि' अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज, तथा 'भूर्जकण्टक' आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये आप योग्य हैं (अतः उन्हें कहिए) ।। २ ।।]

मनुस्मृति में धर्मपालन के परिणामस्वरूप जो फलप्राप्ति दिखायी है, वह भी इस अर्थ की मुख्यता की ओर संकेत करती है—

(ई) **एतद्वो ऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।**
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १२।११६॥

(उ) **अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।**
व्यपेत कल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥४।२६०॥

इस अर्थ की सिद्धि में प्रमाणरूप में १।१२८, २।१३४ [२।१५६], २।२२४ [२४६], ४।१३८, १५६, १७५, २३८, २३६, २४२, २४३, २६०॥८।१६, १७, ८३ आदि श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

२. व्यावहारिक क्षेत्र में त्रिविध=आत्मिक, मानसिक, शारीरिक उन्नति कराने वाले, मानवत्व और देवत्व का विकास करने वाले, उत्तम सुखसाधक श्रेष्ठ व्यावहारिक कर्त्तव्य, मर्यादाएँ और विधान (कानून) धर्म कहलाते हैं। ये व्यावहारिक क्षेत्र के होने के कारण कर्म हैं. जिनमें देश-काल-परिस्थितिवश कुछ परिवर्तन भी आ जाते हैं। इसमें निम्न प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(अ) **न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्** ॥४।१३८॥
(आ) **योषितां धर्ममापदि** ॥६।५६॥
(इ) **एष धर्मः स्त्रीपुंसयोः** ॥६।१०१, १०३॥
(ई) **द्यूतधर्मं निबोधत** ॥ ६।२२० ॥
(उ) **दण्डं धर्मं विदुः बुधाः** ॥७।१८॥
(ऊ) **राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि** ॥७।१॥
(ए) विवाह—'**ब्राह्मो धर्मः**', '**दैवं धर्मम्**', '**आर्षः धर्मः**', '**आसुरः धर्मः**।
॥ ३।२७—३१। आदि-आदि॥

दर्शनशास्त्रों में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनके अनुसार धर्म की परिभाषा निम्न है—

(अ) "**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (वैशेषिक १।१।२)

अर्थात्—जिसके आचरण से (अभ्युदयः) मनुष्य की त्रिविध=आत्मिक, मानसिक व शारीरिक उन्नति और व्यावहारिक उत्तम सुख की प्राप्ति एवं वृद्धि हो तथा (निःश्रेयससिद्धिः) मोक्षसुख की सिद्धि हो (सः धर्मः) वह आचरण या कर्त्तव्य धर्म है।

(आ) "**चोदनालक्षणो धर्मः**" (पूर्वमीमांसा १।१।२)

अर्थात्—(चोदनालक्षणः) वेदों में मनुष्यों को करने के लिए जो कर्त्तव्य विहित किये हैं, वह (धर्मः) धर्म है।

(२) 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का मनु-सम्मत अर्थ—

इस श्लोक में मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट और उनके अनुयायी सभी टीकाकारों ने 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का—"संकीर्ण जातियों या वर्णसङ्करों के" यह अर्थ अशुद्ध किया है। इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां हैं—

(क) २। १८ [इस संस्करण के अनुसार १। १३७] में 'अन्तरप्रभवाणाम्' के पर्यायवाची रूप में 'सान्तरालानाम्' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे यहाँ वर्णों के साथ 'अन्तरप्रभवाणाम्' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ 'सान्तरालानाम्' शब्द का प्रयोग है। उस श्लोक में 'सान्तरालानाम्' शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अतः यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द 'अन्तरप्रभवाणाम्' शब्द का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये। यद्यपि २। १८ [१। १३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' शब्द का अर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसङ्कर' किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। यतोहि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक आधार 'सदाचार' [२। ६, १२ या १। १२५, १३१] का लक्षण किया है और बताया है कि "ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार' कहलाता है"। इस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसङ्कर' या 'संकीर्ण जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वर्णसङ्करों का आचरण 'सदाचार' ही नहीं हो सकता और न ही उनके आचरण को उन श्लोकों में 'सदाचार' के रूप में माना है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णसङ्करों के धर्मवर्णन-प्रसङ्ग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण को निन्दनीय और गर्हित कहा है। उस प्रसङ्ग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं—"**मातृदोषविगर्हितान्**"= माता के दोष से निन्दित जन्म वाले [१०। ६], "**क्रूराचारविहारवान्**"=क्रूर आचार-व्यवहार वाले [१०। ९], "**अधमो नृणाम्**"=मनुष्यों में नीच [१०। १२], "**अव्रतांस्तु यान्**"=व्रतहीन [१०। २०], "**पापात्मा भूर्जकण्टकः**"=पापी आत्मा वाले भूर्जकण्टक [१०। २१],"**ततोऽप्यधिकदूषितान्**"=उनसे भी अधिक दूषित आचरण वाले [१०। २९] "**जनयन्ति विगर्हितान्**"=निन्दित सन्तानों को जन्म देते हैं [१०। २९]। इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अपध्वंसज' (पतितोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है। इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशु-हिंसा आदि धर्म बतलाये हैं वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म हैं, जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है। फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है। इससे यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना संगत नहीं है, और मनु के विरुद्ध भी है। अतः वहां उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए। उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में 'अन्तरप्रभव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णसंकरों के धर्मों का नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है। आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे—द्वितीय अध्याय में—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का वर्णन है। साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं। फिर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७। १ से ६। ३२५ तक है। वैश्य के अतिरिक्त कर्त्तव्यों का कथन ६। ३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०। १–६] तक तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ६। ३३४-३३५ [इस संस्करण में १०। ७-८] में है। यदि 'अन्तरप्रभवाणाम्' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं। १२। ६७ में भी वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख है—"**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्**" इसी प्रकार ७। ३५ में भी राजा को वर्णों और आश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥

इस प्रवृत्ति के अनुसार भी यहां वर्णों के साथ प्रयुक्त 'अन्तरप्रभव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है।

(घ) मनुस्मृति में दशम अध्याय को छोड़कर वर्णों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है। नामकरण संस्कार [२। २६-३५ या २। १-१०], विवाहविधि [३। २०] आदि प्रसङ्गों में जहाँ शूद्रों के लिए भी विधान किए हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है। दशम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है, वह वस्तुतः मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए)। यतो हि वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से वर्णित है। मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं—"**वर्णधर्मान्निबोधत**" १। १४४ [अन्य संस्करणों में २। २५]। इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा—"**एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**" १०।१४२ [अन्य संस्करणों में १०। १३१]। दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन

है, आपद्धर्म का नहीं। यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अभीष्टता, किन्तु फिर भी किसी ने इस वर्णन को वलात् मिलाया है।

इसी प्रकार १० । १५ [अन्यत्र १० । ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि आर्यों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई वर्ण नहीं है। इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य भाषाएं बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषाएं [१० । ५६ (अन्यत्र १० । ४५)]। यहां वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं। इससे वर्णसंकरों का वर्णन [१० । ५–७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता। जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं विरुद्ध है। अतः यहां भी 'वर्णसंकर' अर्थ न होकर 'आश्रम' अर्थ ही मनुस्मृतिसम्मत है।

(ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १ । ८७–९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेखन तथा उनका कर्मवर्णन किया है। उससे यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते। इन श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन करना अभीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं। अतः यहाँ भी 'अन्तर-प्रभव' का अर्थ वर्णसंकर आदि करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत है।

(३) प्रतीत होता है कि जब वर्णसङ्करों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ तो उन लोगों ने तदनुसार ही 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया। यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठभेद करने का भी प्रयास किया। तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में 'अन्तर-प्रभवाणाम्' पद के स्थान पर 'संकरप्रभवाणाम्' पाठभेद भी मिलता है। यह पाठभेद वर्णसंकर सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था। यह पाठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (प्रभो) वेदज्ञ होने से धर्मोपदेश में समर्थ हे विद्वन् ! (अस्य सर्वस्य) इस सब [१।५—२।१४४ (२।२५) में वर्णित] समस्त जगत् के, (अचिन्त्यस्य) जिनका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता अथवा जिनमें असत्य कुछ भी नहीं है, और (अप्रमेयस्य) जिनमें अपरिमित सत्यविद्याओं का वर्णन है, उन (स्वयम्भुवः विधानस्य) स्वयम्भू [१।६] परमात्मा द्वारा रचित [१।२३] विधानरूप वेदों के (कार्य-तत्त्वार्थवित्) कार्य=कर्त्तव्य-रूप धर्मों या प्रतिपाद्य विषयों के, तत्त्वार्थवित्=यथार्थरूप अथवा उनके

रहस्यों को, और [द्वितीयार्थ में] वेदार्थों को जानने वाले (एकः त्वम्) एक आप ही हैं [अर्थात् इस समय धर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् आप ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अतः आप ही उन्हें कहिये] ।।

अभिप्राय यह है कि वेद सब सत्यविद्याओं के विधायक ग्रन्थ हैं, इस प्रकार वे जगत् के विधान रूप अर्थात् संविधान हैं। महर्षि लोग प्रशंसापूर्वक मनु से कह रहे हैं कि उन विधानरूप वेदों में कौन-कौन से करने योग्य कार्य अर्थात् कर्त्तव्यरूप धर्म विहित हैं, उन्हें भलीभांति समझने वाले विशेषज्ञ विद्वान् आप हैं, अतः हमें वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाइये। (यह श्लोक १।२ का पूरक वाक्य है। दूसरे श्लोक में वर्णाश्रम धर्मों का प्रश्न है, अतः इसमें उन्हीं का ज्ञाता बताकर मनु की प्रशंसा की है। यही मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय है—'धर्मों का कथन')।। ३ ।। ❀

"स्वयम्भू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उनके अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं।" (ऋ० भू० ५८)

अनुशीलन : कुल्लूकभट्ट आदि प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अपूर्ण या त्रुटिपूर्ण अर्थ किया है। उनके अर्थों में निम्न त्रुटियां हैं—

(१) 'अस्य सर्वस्य' सर्वनामों को वेद के साथ जोड़ दिया है।

(२) कुल्लूकभट्ट ने 'कार्य' का 'अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य' तथा—

(३) 'तत्त्वार्थवित्' का 'ब्रह्म के ज्ञाता' ये असंगत, सीमित और मनुस्मृति से असम्मत अर्थ किये हैं।

इनकी पुष्टि के लिए विस्तृत विचार करना आवश्यक है—

(१) **'अस्य सर्वस्य' पदों की सही संगति**—(क) यहां 'अस्य सर्वस्य' पदों का अर्थ 'इस सब जगत् के' होना उपयुक्त एवं प्रासंगिक है। 'अस्य' या 'इदम्' शब्दों का जब स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है तो मुख्यरूप से उसके तीन अभिप्राय होते हैं—(१) उपस्थित या निकट की वस्तु की ओर संकेत, (२) निकट रूप से स्थित जगत्, (३) पूर्वापर विषय या वस्तु की ओर संकेत। इन तीनों ही अर्थों के आधार पर यदि इन पदों को परखा जाये तो इनका वेद के साथ सम्बन्ध न होकर 'जगत्' अर्थ ही व्यञ्जित होता है। यतो हि अगला वक्ष्यमाण विषय या अग्रिम प्रसंग जगत् का है, अतः वेद के साथ इन पदों को नहीं जोड़ा जा सकता। इन से 'जगत्' की ओर ही संकेत है। 'अस्य' 'इदम्' आदि पदों का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से 'जगत्' के लिये करने की संस्कृत भाषा की सदैव प्रवृत्ति रही है। १।५ में "आसीत् इदम्" का प्रयोग भी 'जगत्' के लिए ही किया है।

❀ [प्रचलित अर्थ—क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य और ब्रह्म के जानने वाले हैं ।।३।।]

(ख) इसके अतिरिक्त सृष्टि-उत्पत्ति के इसी प्रसंग में दो अन्य स्थानों पर भी इन पदों का प्रयोग 'जगत्' अर्थ में ही किया है। यथा—सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्ण होने पर—"**सर्वस्य अस्य तु सर्गस्य**" [१।८७], इस विषय को समाप्त भी इन्हीं पदों के स्वतन्त्र प्रयोग से किया है—"**संभवश्च अस्य सर्वस्य**" [इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति कही। २।२५, इस संस्करण में १।१४४]। (ग) शैली के आधार पर भी इन पदों का यहां 'जगत्' अर्थ सिद्ध होता है। १।५ से मनु ने जो सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया है, वह इन पदों के ही अनुसार है। इस श्लोक में कथन है कि 'इस जगत् के विधान= वेद के आप ज्ञाता हैं'। मनु ने इसी लिये धर्मों का कथन करने से पूर्व 'जगत्' के स्वरूप को बतलाना प्रारम्भ किया, जिससे धर्मोत्पत्ति, धर्म की आवश्यकता, महत्त्व एवं स्वरूप का परिज्ञान होकर उसके प्रति प्रेरित हो सकें। मनु ने यहां साङ्गोपाङ्ग शैली अपनायी है। 'अस्य सर्वस्य' पदों के द्वारा ही १।५ से प्रारम्भ होने वाले सृष्ट्युत्पत्ति-विषय का संकेत है और इन्हीं पदों के प्रयोगपूर्वक इस विषय को समाप्त किया है—"संभवश्च अस्य सर्वस्य" [२।२५ या १।१४४] (घ) इस श्लोक में 'विधान' शब्द का वेदों के लिये जो प्रयोग किया है वह भी साभिप्राय होने से सार्थक है, तथा निमित्त-निमित्ती भाव-द्योतनार्थ प्रयुक्त है। वेद 'विधान' हैं और विधान किसी निमित्त से विहित होता है, अतः 'अस्य सर्वस्य' पदों से संकेतित जगत् उनका निमित्ती है। 'वेद जगत् के लिये एक विधान है' यह भाव मनु ने अन्य स्थानों पर भी प्रकट किया। १२।९४ में वेदों को पितृ-देव-मनुष्यों का सनातन 'चक्षुः' कहा है (**पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्**)। यहां वेद के लिये 'चक्षुः' शब्द का प्रयोग लगभग 'विधान' के समान अर्थ देने वाला है। जैसे 'चक्षु' कहने से यह बोध होता है कि यह इन्द्रिय प्राणियों को दिखाने के लिये है, उसी प्रकार 'विधान' कहने से भी यह बोध होता है कि यह किन्हीं के मार्गदर्शन के लिये है। इस प्रकार 'विधानस्य' के साथ प्रयुक्त 'अस्य सर्वस्य' पदों से 'जगत्' अर्थ का ही संकेत मिलता है।

(२—३) **'कार्यतत्त्वार्थवित्' का संगत अर्थ**—(क) 'कार्य' का 'अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य' अर्थ करना और 'तत्त्व' का अर्थ 'ब्रह्म' करना भी अप्रासंगिक और मनुस्मृति से असम्मत है। 'कार्य' से इस श्लोक में अभिप्राय 'कर्त्तव्यों, प्रतिपाद्य विषयों' या 'समस्त व्यावहारिक तत्त्वों' अर्थात् 'धर्मों से है। मनुस्मृति में [१।२] जिज्ञासा और प्रश्न का विषय 'धर्म' है तो उसका प्रतिपाद्य या उत्तर का विषय भी 'धर्म' होगा। केवल यज्ञ या ब्रह्म का वर्णन करना मनुस्मृति का प्रतिपाद्य नहीं है, और न इनके बारे में स्वतन्त्र रूप से जिज्ञासा ही प्रकट की गयी है। यज्ञादि धर्म के अङ्ग हैं और स्वतः धर्मों के अन्तर्भूत हो जाते हैं। केवल यज्ञों और ब्रह्म को ही वेदों का कार्य या साध्य मान लेने से वेदों की उपयोगिता सीमित हो जाती है जब कि मनु की मान्यता इसके विपरीत है। मनु केवल यज्ञ या ब्रह्म के लिए ही वेदों की प्रकटता नहीं मानते अपितु संसार के समस्त श्रेष्ठ व्यवहारों=धर्मों और ज्ञान-विज्ञान आदि का साधक मानते हैं। इसकी पुष्टि के लिए निम्न श्लोक प्रमाण रूप में द्रष्टव्य है—

(अ) १ । २१ में वेदों के द्वारा ही समस्त पदार्थों का नामकरण, उनके कर्मों का विधान, स्थितियों का विभाजन बताकर वेदों की बहुमुखी और व्यापक उपयोगिता को स्वीकार किया है—

"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ।।

(आ) १२ । ९७ में चारों वर्णों, आश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से माना है ।

(इ) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है (१२ । ९८) ।

(ई) १२ । ९९ में समस्त व्यवहारों का सर्वोपरि साधक-शास्त्र वेद को ही कहा है ।

(उ) राजनीति की शिक्षा देने वाला [७ । ४३, १२ । १००], धर्माधर्म का ज्ञान देने वाला [१२ । १०९—११३] जगत् के श्रेष्ठ व्यवहारों का साधक [१ । २३] शास्त्र वेद ही को कहा है ।

(ऊ) १२ । ९४ में वेदों को पितृ-देव-मनुष्यों का 'चक्षु' (धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान आदि का दर्शाने वाला) कहा है ।

इनके अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें मनु ने वेदों के कार्य या उद्देश्य को व्यापक माना है । अतः कुल्लूकभट्ट द्वारा केवल यज्ञ या ब्रह्म को ही वेदों का कार्य कहना मनु की धारणा के प्रतिकूल है ।

(ख) मनुस्मृति उपनिषदों की भांति केवल आध्यात्मिक ग्रन्थ नहीं है, जिसमें केवल यज्ञ और ब्रह्म का ही दिग्दर्शन कराया गया हो; अपितु समाज का विधान या धर्मशास्त्र भी है । यही कारण है कि मनुस्मृति में इनका वर्णन अङ्गीरूप में न होकर अंगरूप में है । १ । १२५—१३४ [२ । ६—१५] श्लोकों में मनु ने धर्म का विकास वेद से माना है । मनु का प्रमुख वचन है—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** १ । १२५ । यज्ञ और ब्रह्मप्राप्ति का इसके अन्दर स्वतः ही अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि ये भी मनुष्यों के धर्म हैं । इस प्रकार कुल्लूकभट्ट का अर्थ मनुस्मृति-प्रतिपाद्य के अनुरूप नहीं है ।

(ग) और यह अर्थ अप्रासंगिक भी है । १ । २ में मनु से वर्णों और आश्रमों के धर्मों का प्रश्न है । श्लोकों की संगति ध्यान देने योग्य है—'आप वर्णों और आश्रमों के सब धर्मों को बतलाने में समर्थ हैं [१ । २] तथा जगत् के विधानरूप वेदों के कर्त्तव्यरूप धर्मों को जानने वाले आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं [१ । ३] । इस प्रकार जो यहां प्रश्न रूप में प्रष्टव्य है, उस के मनु वेदज्ञ होने से ज्ञाता हैं, और जिसके वे ज्ञाता हैं, वही उनसे प्रष्टव्य हो सकता है । वही मनुस्मृति में प्रतिपादित है । मनुस्मृति में धर्मों का प्रतिपादन है । उसी का प्रश्न है । उसी प्रश्न के उत्तर के मनु ज्ञाता हैं, इसी लिए उनसे वह प्रश्न किया गया है । मनु से प्रश्न तो धर्मों का किया है और साथ ही

उन्हें विशेषज्ञ विद्वान् बताया जा रहा है केवल यज्ञों और ब्रह्म का, और मनुस्मृति में प्रतिपादन है मुख्य रूप से धर्मों का। यह विसंगति पूछे गये प्रश्न और आगे प्रतिपादित विषय की एकरूपता से ही दूर हो सकती है। वस्तुतः यहाँ मनु को 'वेदों के अर्थों का ज्ञाता और वेद के प्रतिपाद्य या वेद में विहित धर्मों का समझने वाला' कहना ही अभिप्रेत है। इसकी पुष्टि बारहवें अध्याय के १०८–११४ श्लोकों से भी हो जाती है जिनमें वेदवेत्ता को ही धर्म का उपदेश करने का आदेश है, अन्य को नहीं। इसी योग्यता के कारण ही महर्षि लोग मनु के पास जिज्ञासा लेकर पहुंचे हैं। और उन्हीं धर्मों को समझने की योग्यता का वे वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थ अधिक संगत, युक्तियुक्त और मनुसम्मत है।

मनु का महर्षियों को उत्तर—

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥ (४)

(तैः) उन (महात्मभिः) महर्षि लोगों द्वारा (सम्यक्) भलीभांति श्रद्धासत्कार पूर्वक (तथा) उपर्युक्त प्रकार से (पृष्टः) पूछे जाने पर, (सः अमितौजाः) वह अत्यधिक ज्ञानसम्पन्न महर्षि मनु (तान् सर्वान् महर्षीन्) उन सब महर्षियों का (आर्च्य) यथाविधि सत्कार करके (श्रूयताम् इति) 'सुनिए' ऐसा (प्रत्युवाच) उत्तर में बोले ॥ ४ ॥

अनुशीलन : प्रथम चार श्लोकों की मौलिकता पर विचार— यद्यपि १–४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की भांति मौलिक नहीं हैं तथापि ये शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है। (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी अन्य शिष्य ने किया है। संकलयिता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है। (२) घटना मौलिक है। (३) प्रश्न भी मौलिक है, अतः संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे। जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक मौलिक संकलितरूप में ही हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन है (**'महर्षिमनुना भृगुः'** १। ६० ॥ 'उक्तवान् मनुः' १। ११८ ॥ 'मनुना **परिकीर्तितः**' १। १२६ ॥ **मनुरब्रवीत्** ८। ३३९ ॥ आदि)। उनका कहना है कि मनु के भावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है अतः इस प्रकार के श्लोक असंगत नहीं लगते। यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि, (१) मनुस्मृति मनु के भावों को लेकर रचा

ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के भावों का यथावत् उसी शैली में संकलन है। (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती; अतः 'मनूक्तवान्' आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त हैं, मौलिक नहीं। (३) १।४ में 'श्रूयताम्' कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं। इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है वही मौलिक संकलन है, अन्य द्वारा नामोल्लेख पूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है। अतः उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं हैं।

(जगदुत्पत्ति-विषय)

[१।५ से ५४, ७८]

उत्पत्ति से पूर्व जगत् की स्थिति—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ ५॥ (५)

(इदम्) यह सब जगत् (तमोभूतम्) सृष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था।......उस समय (अविज्ञेयम्) न किसी के जानने (अप्रतर्क्यम्) न तर्क में लाने और (अलक्षणम् अप्रज्ञातम्) न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा। किन्तु वर्त्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है❀। (स० प्र० २१३)

❀(सर्वतः) सब ओर (प्रसुप्तम् इव) सोया हुआ-सा पड़ा था॥५॥

अनुशीलन **: मनुस्मृति के प्रश्न और उत्तर की संगति**—प्रायः सभी टीकाकारों ने यहाँ यह शंका उठायी है कि महर्षियों ने धर्मविषयक प्रश्न किया था। [१।२] किन्तु मनु ने सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन अप्रासंगिक रूप से क्यों किया? कुछ आलोचकों ने इस वर्णन को अप्रासंगिक के साथ-साथ विशृंखलित भी माना है और कुछ अनुसन्धाताओं ने इसे प्रक्षिप्त ही घोषित कर डाला। वस्तुतः यह वर्णन न तो अप्रासंगिक है, न विशृंखलित और न प्रक्षिप्त। आलोचकों ने इस वर्णन को उक्त आरोपों से मढ़कर भूल की है। मनुस्मृति की शैली को पहचानने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि यह वर्णन प्रासंगिक, शृङ्खलाबद्ध एवं मौलिक है। इसकी सिद्धि में निम्न युक्तियाँ एवं प्रमाण हैं—

(१) मनुस्मृति की शैली—मनुस्मृति कुछ प्रमुख विषयों में विभाजित है और इसकी यह शैली है कि जब कोई भी विषय प्रारम्भ होता है तो उसके प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत होता है। यहाँ भी **'अस्य सर्वस्य'** [१।३] पदों

से अगले [१ । ५] वक्ष्यमाण विषय के प्रारम्भ का संकेत किया और अन्त में १ ।१४४ [२ । २५] में 'संभवश्चास्य सर्वस्य' कहकर इस विषय का समापन संकेत भी दिया है। उसी श्लोक में फिर साथ ही अगले विषय का संकेत भी है। इस प्रकार इस विषय का प्रारम्भ और समापन का संकेत मनु ने स्वयं ही दे दिया है और इस तरह यह विषय पृष्ट प्रश्न से और अगले विषय से शृङ्खलावत् जुड़ा हुआ है। इस स्थिति में इसे अप्रासंगिक या विशृङ्खलित नहीं कहा जा सकता। जिन आलोचकों ने इसे प्रक्षिप्त कहा है वे मनु की शैली को नहीं पकड़ पाये।

(२) शैली के आधार पर इस प्रसङ्ग के व्यवस्थित और प्रासंगिक सिद्ध हो जाने के पश्चात् अब यहाँ प्रश्न उठता है कि आलोचकों अथवा टीकाकारों को इस प्रसङ्ग को अप्रासंगिक, विशृङ्खलित एवं प्रक्षिप्त कह देने की भ्रान्ति कैसे हुई? और मनु ने ऋषियों द्वारा धर्मों की जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन क्यों प्रारम्भ किया? इसके उत्तर में निम्न स्पष्टीकरण दिये जा सकते हैं—

(क) मनु ने प्रश्न के अनुसार ही उत्तर के विषय को चुना है और यह वर्णन २-३ श्लोकों के प्रश्न में निहित अवान्तर जिज्ञासाओं के समाधान के लिए प्रारम्भ किया गया है, जो पूर्णतः व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है। टीकाकारों द्वारा प्रश्न-वर्णन करने वाले २-३ श्लोकों का सही और संगत अर्थ न समझने के कारण ही यह भ्रान्ति और शङ्का उत्पन्न हुई है।

टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक को तो एकमात्र स्वतन्त्र प्रश्न माना है और तृतीय श्लोक को स्वतन्त्र प्रशंसा-वाक्य। संगति की दृष्टि से दोनों को असम्बद्ध रखते हुए उन्होंने इनका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

द्वितीय श्लोक—"हे भगवन्! ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों और 'अम्बष्ठ' आदि अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज तथा 'भूर्जकण्टक' आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये आप योग्य हैं (इसलिये उनको कहिये)।"

तृतीय श्लोक—"क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य के और ब्रह्म के जानने वाले हैं।"

टीकाकारों द्वारा ऊपर प्रदर्शित अर्थ करने से यहां विषय-वर्णन की सङ्गति का क्रम नहीं बन पाता। द्वितीय श्लोक में मनु से प्रश्न तो धर्मों के विषय में है और तृतीय श्लोक में उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें विद्वान् बताया जा रहा है—वेद में विहित अग्निष्टोम आदि यज्ञों का और ब्रह्म का। जबकि सङ्गत बात तो तभी मानी जा सकती है जब जिस विषय का प्रश्न किया हो उस समय उसी विषय में उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा की जाये। यह क्या कि मनु से प्रश्न किसी अन्य विषय का किया जा रहा है और उनको विद्वान् किसी अन्य विषय का बताया जा रहा है।

(ख) इसी प्रकार एक त्रुटि यह हुई कि तृतीय श्लोक के 'अस्य सर्वस्य' सर्वनामों

को वेदों का विशेषण मानकर अर्थ किया है, जबकि ये 'जगत्' अर्थ के संकेत देने वाले हैं।

वस्तुतः ये दोनों ही श्लोक सम्बद्ध और एकवाक्यात्मक हैं। तृतीय श्लोक, द्वितीय श्लोक के वाक्य का पूरकवाक्य है। उनमें द्वितीय श्लोक में किये गये प्रश्न के सन्दर्भ में कारणपूर्वक मनु की प्रशंसा है कि 'हम आपके पास ही जिज्ञासा लेकर आये हैं।' तृतीय श्लोक में जाकर यह वाक्य पूर्ण होता है—'क्योंकि आप ही इस विषय के एकमात्र विशिष्ट विद्वान् हैं।' फिर चतुर्थ-पञ्चम श्लोकों से मनु जो उत्तर देना शुरू करते हैं, उसका चुनाव उन्होंने इन्हीं श्लोकों के 'अस्य सर्वस्य' पदों के अनुसार ही किया है। इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—

"हे भगवन् ! आप सब वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक और क्रमशः बतलाने में समर्थ हैं, क्योंकि, हे प्रभो ! इस जगत् के विधानरूप अपौरुषेय, अचिन्त्य और अपरिमितज्ञानयुक्त वेदों के प्रतिपाद्य अथवा व्यावहारिक तत्त्व अर्थात् धर्मों और वेदार्थों के ज्ञाता एकमात्र आप ही हैं। (अतः हमें वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का प्रवचन कीजिए)।" इस प्रकार वेदों में जिन बातों को धर्म बतलाया है उनको या वेदों में विहित धर्मों को जानने वाले विशिष्ट विद्वान् मनु हैं। अथवा वेदों का प्रतिपाद्य धर्म भी है, यतोहि १।१२५, १३१ [२।६, १२] श्लोकों में धर्म का मूलस्रोत वेद को ही माना है, इसलिए भी मनु इस विषय के विद्वान् हैं। इसी विषय का मनु को प्रवचन करना है और इसी विषय में उनसे प्रश्न किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जो पृष्ट-विषय है उसी के सन्दर्भ में मनु की प्रशंसा है, जो प्रशंसित एवं पृष्ट-विषय है उसी का मनुस्मृति में प्रतिपादन है, यह सुसंगति बन जाती है।

(ग) इन श्लोकों में संक्षेप में मनु से यह कहा है कि 'इस जगत् के विधानरूप अपौरुषेय वेदों के धर्मों को जानने वाले आप हैं अतः हमें वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों को कहिए।' मनु ने श्लोकों में अन्तर्निहित जिज्ञासाओं के अनुसार ही अपने उत्तर को प्रारम्भ किया—यह जगत्, जिसके लिए वेदों को विधानरूप में रचा, इसकी क्या स्थिति है ? [१।५–८७], वेद जगत् के विधानरूप कैसे हैं ? क्योंकि वे ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं से कर्मों, नामों का विभाजन तथा निर्धारण किया गया है [१।२१, २३, ८७—९१] वेदों से धर्म की उत्पत्ति कैसे होती है और यह धर्म किन लक्षणों वाला है ? [१।१२०—१४४ या २।१—२५] इस प्रकार तृतीय श्लोक से उद्भावित होने वाली जिज्ञासाओं का १।१४४ [२।२५] तक कथन करके फिर द्वितीय श्लोक के मुख्य प्रश्न धर्मों के वर्णन पर आते हैं और १।१४४ [२।२५] में **'वर्णधर्मान् निबोधत'** कहकर उनका वर्णन शुरू करते हैं। इस प्रकार तृतीय श्लोक के असंगत अर्थ के कारण इस वर्णन को अप्रासङ्गिक कहने की भ्रान्ति हुई है। (विस्तृत जानकारी के लिए १।३ श्लोक पर 'अनुशीलन' नामक समीक्षा देखिए)।

(३) १।५ से १।१४४ (अन्य संस्करणों के अनुसार २।२५) श्लोकों का यह वर्णन मनुस्मृति की भूमिका रूप है। और जिस प्रकार भूमिका में लेखक अपने विषय

से सम्बद्ध सभी आवश्यक संभावित बातों की जानकारी दिया करता है, इसी प्रकार मनु ने धर्मों से सम्बद्ध सभी आवश्यक संभावित जिज्ञासाओं के समाधान के लिए इस वर्णन को प्रारम्भ किया है। विषय की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। मनु ने इस वर्णन में जिन बातों का संक्षेप में वर्णन किया है, धर्मों का अध्ययन करते समय वे शङ्कायें सभी के मन में उठनी स्वाभाविक हैं, अतः भूमिका के वर्णन से मनु ने पहले ही उनके विषय में अपना मत प्रकट कर दिया है। जैसे—मनुस्मृति में जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? [१ । १२९ या २ । १०] उस धर्म का क्या लक्षण है ? [१ । १२५, १३१ या २ । ६, १२] जिस जगत् में धर्म की आवश्यकता है उसकी क्या स्थिति है ? उसमें कर्मानुसार जीवों की गतियाँ किस प्रकार हैं ? [१ । ५-८७, १ । ४२-५०] जिससे व्यक्ति धर्म के प्रति प्रेरित हो सके। धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है, इसलिए धर्मोत्पत्ति से पूर्व जगदुत्पत्ति का वर्णन है। वेदों को धर्म का स्रोत इसलिए माना है क्योंकि वे अपौरुषेय हैं [१ । २१-२३]। इस जगत् का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, वही वेदों और वेदों के द्वारा धर्मों का विधान करने वाला है, अतः उस ईश्वर द्वारा विहित धर्मों का मनुष्यों को पालन करना चाहिए, इत्यादि बातों की जानकारी के लिए ही मनु जी ने यह वर्णन भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है। संध्या के मन्त्रों में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' आदि तीन मन्त्र हैं, उनको वेदोत्पत्ति, भाववृत्त अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वर्णन करने वाला कहा गया है एवं इन मन्त्रों को 'अघमर्षण' अर्थात् पाप दूरीकरणार्थ कहा जाता है। क्योंकि धर्माचरण से अधर्म की निवृत्ति होती है। अतः मनुस्मृति में कथित ये श्लोक अप्रासङ्गिक नहीं हैं। अघमर्षण मन्त्रों में वेद की उत्पत्ति ईश्वर से बताई है।

(४) **मनुस्मृति की साङ्गोपाङ्ग शैली**—मनु ने साङ्गोपाङ्ग शैली अपनायी है। प्राचीन शास्त्रों में इस शैली का प्रचलन था,यथा—'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' '**जन्माद्यस्य यतः**' (वेदान्त १।१–२)। इस शैली की यह पद्धति है कि सबसे महान् तत्त्व परमेश्वर के वर्णन को प्रारम्भ करके क्रमानुसार अपने विषय पर लाया जाता है। इससे दो बातों का संकेत मिलता है कि उस शास्त्र का चरमप्रयोजन ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करना है और उस विषय का उस परम तत्त्व से सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी धर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से दर्शाया है क्योंकि धर्म वेदों के माध्यम से ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट हैं, और इन धर्मों का पालन करके मोक्षप्राप्ति या आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य बनाना इन शास्त्रों का चरम-उद्देश्य है। जैसे कहा भी है—"**ब्राह्मीयं क्रियते तनुः** [२ । २८ या इस संस्करण में २ । १]।

जगदुत्पत्ति और उसका क्रम—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥ (६)

(ततः) तब (स्वयम्भूः) अपने कार्यों को करने में स्वयं समर्थ, किसी

दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला (अव्यक्तः) स्थूल रूप में प्रकट न होने वाला (तमोनुदः) 'तम' रूप प्रकृति का प्रेरक=प्रकटावस्था की ओर उन्मुख करने वाला (महाभूतादि वृत्तौजाः) अग्नि, वायु आदि महाभूतों को,'आदि' शब्द से महत् अहङ्कार आदि को भी [१। १४–१५] उत्पन्न करने की महान् शक्ति वाला (भगवान्) परमात्मा (इदम्) इस समस्त संसार को (व्यञ्जयन्) प्रकटावस्था में लाते हुए ही (प्रादुरासीत्) प्रकट हुआ ॥ ६ ॥ +

अनुशीलन : (१) **स्वयम्भू का सही अर्थ**—यहां कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने 'स्वयम्भूः' का अर्थ 'स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाला' (स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति) यह विरुद्ध अर्थ किया है। इसी श्लोक में परमात्मा के लिए 'अव्यक्तः' विशेषण प्रयुक्त है जिसका अर्थ है—'जो कभी स्थूल रूप में प्रकट नहीं होता।' इससे स्पष्ट है कि परमात्मा सदा सूक्ष्म रूप में ही रहता है, कभी शरीरधारण नहीं करता। इसके विरुद्ध होने से कुल्लूक का उक्त अर्थ अमान्य है।

इस प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदत्त 'स्वयम्भू' शब्द की व्युत्पत्ति उल्लेखनीय है—"(भू सत्तायाम्) 'स्वयम्' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। 'यः स्वयं भवति स स्वयंभूरीश्वरः' जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम "स्वयम्भू' है।" (स० प्र० प्र० समु०) प्रमाण रूप में इसी श्लोक की समीक्षा वेदमन्त्र 'घ' भाग देखिए।

(२) **परमात्मा की प्रकटता से अभिप्राय**—परमात्मा के प्रकट होने से भी यहां तात्पर्य 'जगत् को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट होने' से है। इसी भाव की ओर इंगित करने के लिए ही मनु ने '**व्यञ्जयन् इदम्**' पाठ का प्रयोग किया है। यदि मनु को स्वतन्त्र रूप से अथवा बिना जगत् की प्रकटता के ही परमात्मा की प्रकटता अभीष्ट होती तो वे परमात्मा की प्रकटता के साथ जगत् की व्यक्तता वर्णित नहीं करते, अपितु पहले स्वतन्त्र रूप से परमात्मा की उत्पत्ति दर्शाते, परमात्मा की उत्पत्ति के बाद फिर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते। जगत् की प्रकटता को देखकर ही परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है। जगत् को प्रकटावस्था में लाना ही परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति है, जगत् को प्रलयावस्था में लाना उसकी अप्रकटता है। १। ५२—५४ श्लोकों में परमात्मा की इन्हीं अवस्थाओं को क्रमशः 'जाग्रत्' और 'सुषुप्ति' कहा है। इन श्लोकों से उक्त बातों की पुष्टि भलीभांति हो जाती है। अतः इस श्लोक में किसी शरीरधारी के रूप में परमात्मा की उत्पत्ति प्रदर्शित करना अशुद्ध एवं मनुस्मृति के विरुद्ध है।

+ [प्रचलित अर्थ—तब स्वयम्भू (स्वेछा से शरीर धारण करने वाले), अव्यक्त=इन्द्रियों के अगोचर (नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं किन्तु योग से प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले (प्रकृति-प्रेरक), भगवान् आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥]

(३) **सृष्ट्युत्पत्ति विषयक वेदमन्त्रों के प्रमाण**—नीचे प्रमाण रूप में वेदों के सृष्ट्युत्पत्ति एवं पुरुषसूक्त के कुछ ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं जिनसे सृष्ट्युत्पत्ति विषय पर प्रकाश पड़ता है। इनमें परमेश्वर को निराकार, अजन्मा आदि दर्शाया गया है। मनु ने इन्हीं भावों को १।५—६ श्लोकों में संकलित किया है—

(क) **"तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

(ऋ० १०। १२६। ३)

यह सब जगत् सृष्टि से पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के एकदेशी आच्छादित था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया ॥"

(स० प्र० २०७)

(ख) **"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।**
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरम् ॥

(ऋ० १०। १२६। १)

(नासदासीत्) जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी, उस समय (असत्) शून्यनाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था (नो सदासीत् तदानीं०) उस काल में सत् अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्योमा०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था (किमाव०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढक सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढक सकता। उस जल से नदी में प्रवाह नहीं चल सकता और न कभी वह गहरा और उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है।"

(ऋ० भू० ११७)

(ग) **"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।"**

(यजु० ३१। १६)

जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है।" (ऋ० भू० १३३)

(घ) निम्न वेद-मन्त्र में परमेश्वर को 'स्वयम्भू' विशेषण से अभिहित करते

हुए सूक्ष्म, अन्तर्यामी, शरीररहित, जन्म-मरण रहित और सृष्टि तथा वेदार्थों का प्रकाशक कहा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
(यजु० ४० । ८)

(ङ) "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।**
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ० १० । १२१ । १)

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है।"
(स० प्र० २०७)

(च) "**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।**
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (यजु० ३१ । २)

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषणसहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है, उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत) जो मोक्ष है उसका देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं; सो परमेश्वर (अन्न) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे अलग भी है क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपने सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता।"
(ऋ० भू० १२०)

(छ) "**तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति ।**" (यजु० ३१ । १७)

जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्तमान था। जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है तब-तब **कार्यजगत्** रूप गुणवाला होके स्थूल बनके देखने में आता है।" (ऋ० भू० १३१)

प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति—

उद्बबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥ (७)
महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥ (८)

(च) और फिर उस परमात्मा ने (आत्मनः एव) स्वाश्रयस्थित कृति से (सद्-असद्+आत्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और

विकारी अंश से कार्यरूप में जो अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक तत्त्व को (च) और (मनसः अपि) महत्तत्त्व से (अभिमन्तारम्) 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करने वाले (ईश्वरम्) सामर्थ्यशाली (अहंकारम्) 'अहंकार' नामक तत्त्व को (च) और फिर उससे (सर्वाणि त्रिगुणानि) सब त्रिगुणात्मक पांच तन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को [१ । १६, २७] (च) तथा (आत्मानम् एव महान्तम्) आत्मोपकारक अथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को (च) और (विषयाणां ग्रहीतृणि) विषयों को ग्रहण करने वाली (पञ्चेन्द्रियाणि) दोनों वर्गों की पांचों ज्ञानेन्द्रियों—आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा एवं चकार से पांच कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु, को [२ । ६४—६६] (शनैः) यथाक्रम से (उद्बबर्ह) उत्पन्न कर प्रकट किया ॥१४,१५॥ [शेष उत्पत्ति अगले श्लोक में है]❀

अनुशीलन : '**१४-१५ श्लोकों के अर्थ में भ्रान्ति और सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया**—इन दोनों श्लोकों के अर्थ को सही रूप में न समझने के कारण टीकाकारों एवं आलोचकों को भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है। टीकाकारों ने सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया का यहाँ प्रतिक्रम से वर्णन माना है और 'मनः सदसदात्मकम्' का संकल्प-विकल्पात्मक मन अर्थ किया है और फिर मन से पूर्व अहंकार, अहंकार से पूर्व महत् इत्यादि रूप में अर्थ किया है। लेकिन वह 'प्रतिक्रम' भी क्रमबद्ध रूप से नहीं सिद्ध हो पाया, क्योंकि १५वें श्लोक में महत्तत्त्व के बाद इन्द्रियों का वर्णन आ गया। इस अर्थ की भ्रान्ति के कारण आलोचकों ने इन श्लोकों को विशृङ्खलित और भ्रामक घोषित कर दिया। वस्तुतः इन श्लोकों के अर्थ को सही रूप में नहीं समझा गया है। मनुस्मृति का और सांख्यदर्शन का सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम मिलता है—'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः, अहंकारात् पंचतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्। पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः॥**'

(सांख्य १ । ६१)

(सत्त्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता, तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व=बुद्धि, उससे अहंकार, उससे

❀ [प्रचलित अर्थ—ब्रह्मा ने परमात्मा से सत्-असत् आत्मा वाले 'मन' की सृष्टि की तथा मन से पहले 'अहम्=मैं इस अभिमान से युक्त एवं अपने कार्य को करने में समर्थ अहंकार की सृष्टि की ॥ १४ ॥ अहंकार से पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्व=बुद्धि की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त) विषयों की और रूप-रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियों की तथा पांच शब्दतन्मात्रा आदियों की सृष्टि की ॥१५॥]

पांच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत ये चौबीस, और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पांच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियों, मन तथा स्थूल भूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति = उपादानकारण और न किसी का कार्य है।" (स० प्र० २०६) यही क्रम यहां है।

(२) 'महत्तत्त्व' और 'मन' से अभिप्राय—'मन' 'महत्' 'बुद्धि' इन शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग विभिन्न शास्त्रों में मिलता है। यहां प्रथम पंक्ति में पठित 'मन' शब्द से अभिप्राय 'महत्' नामक आद्य कार्यतत्त्व से है। 'मन' इन्द्रिय प्रथमकार्य हो ही नहीं सकता। प्रकृति का प्रथम विकार 'महत्' है, अतः यहां उसे ही 'मन' शब्द से व्यवहृत किया है। इसमें सांख्यदर्शन का प्रमाण भी है— "महत् आख्यम् आद्यं कार्यं तन्मनः" [१।७२] अर्थात्—प्रकृति का जो सर्वप्रथम कार्य है, उसे 'महत्' कहते हैं और उसे मन भी कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है।

और १५वें श्लोक की प्रथम पंक्ति में पठित 'महान्तम्' से अभिप्राय 'मन' इन्द्रिय से है। इसकी पुष्टि 'आत्मानम्' विशेषण से ही हो जाती है। 'मन' इन्द्रिय का ही आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। 'अत् सातत्यगमने' धातु के अनुसार 'आत्मानम्' का अर्थ निरन्तर गमनशील बनता है। मन का यही स्वभाव है। इस प्रकार दोनों श्लोकों का अर्थ निर्भ्रान्त और उचितक्रमयुक्त बन जाता है। चरकशास्त्र ने शारीर-स्थान अ० १।६२—६६ श्लोकों में इसी प्रक्रिया को प्रामाणिक मानकर वर्णन किया है।

(३) 'आत्मनः उद्बबर्ह' का अर्थ—यहां 'आत्मनः उद्बबर्ह' पद प्रयोग से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि मन आदि तत्त्व परमात्मा के किसी अंश से बने हैं, जैसा कि नवीन वेदान्त में माना जाता है। मनु० १२।२४ में प्रकृति के पर्यायवाची रूप में 'आत्मा' पद का प्रयोग किया है। यह 'आत्मा' नामक प्रकृति सत्त्व, रज, तम युक्त है और इसका प्रथम विकार 'महान्' है। यहां इसका अभिप्राय है—'इन तत्त्वों को अपने आश्रय या स्वाश्रयस्थित प्रकृति से उत्पन्न कर प्रकट किया।' व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।" (स० प्र० २१२) "जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसकी आत्मा है अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है, जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है।" (ऋ० भू० ४१) इस प्रकार महत् आदि की 'प्रकृति' आत्मा है, अतः यहां 'आत्मनः' से अभिप्राय 'प्रकृति से' है। इसकी पुष्टि में १।५३, ५४ और ५७ श्लोक प्रमाण हैं। वहां यह स्पष्ट किया गया है कि प्रलयावस्था के समय यह समस्त जगत्

अपने प्रकृतिरूप में होकर सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में लीन हो जाता है। पुनः उत्पत्ति के समय परमात्मा उन्हें अपने आश्रय से निकाल कर जिलाता है—तत्त्वों को संयुक्त करता है।

पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्णन—

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितोजसाम् ।
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥ (६)

(तेषां तु) ऊपर [१४—१५ में] वर्णन किये गये उन तत्त्वों में से (अमित-ओजसाम्) अत्यधिक शक्तिवाले (षण्णाम्+अपि) छहों तत्त्वों के (सूक्ष्मान् अवयवान्) सूक्ष्म अवयवों=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्रायें तथा छठे अहंकार के सूक्ष्म अवयवों को (आत्ममात्रासु) इनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर (सर्व भूतानि) सब पांचों सूक्ष्म महाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की (निर्ममे) सृष्टि की ॥ १६ ॥+

अनुशीलन : (१) पञ्चतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति— जो जिससे सूक्ष्म होता है वह उस स्थूल की आत्मा होता है। अहंकार से पञ्च-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई है अतः अहंकार पञ्चतन्मात्राओं की आत्मा कहलायेगा। इस प्रकार पञ्चभूतों की रचना की प्रक्रिया और क्रम यह बना—पञ्चतन्मात्राओं के आत्मरूप तत्त्व अहंकार के विकारी अंश और आकाश के सूक्ष्म अवयवों=शब्द-तन्मात्राओं के मिलने से 'आकाश' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। वायु के आत्मभूत तत्त्व आकाश के विकारी अंश तथा वायु के सूक्ष्म अवयवों स्पर्शतन्मात्राओं के मिलने से 'वायु' नामक महाभूत की रचना हुई। अग्नि के आत्मभूत तत्त्व वायु के विकारी अंश के साथ अग्नि के सूक्ष्म अवयव अर्थात् रूपतन्मात्राओं के संयोग से 'अग्नि नामक महाभूत की रचना हुई। जल के आत्मभूततत्त्व अग्नि के विकारी अंश के साथ जल के सूक्ष्म अवयव अर्थात् रसतन्मात्रा के संयोग से 'जल' नामक महाभूत बना और पृथिवी के आत्मभूत तत्त्व जल के विकारी अंश के साथ पृथिवी के सूक्ष्म अवयव अर्थात् गन्धतन्मात्रा के संयोग से 'पृथिवी' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। [द्रष्टव्य १।७५—७८ श्लोक]

(२) **१६ वें श्लोक का संगत अर्थ**—सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का त्रुटि-पूर्ण और असङ्गत अर्थ किया है। (१) टीकाकारों ने इसमें **'सर्वभूतानि निर्ममे'** 'सब प्राणियों की सृष्टि की' यह अर्थ किया है। यहां यह अर्थ करने की न तो संगति

+ [**प्रचलित अर्थ**—अनन्त शक्ति वाले उन छह (अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) के सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं के अपने-अपने विकारों में मिलाकर सब प्राणियों की सृष्टि की ॥१६॥]

ही है और प्राणियों की उत्पत्ति कह देने से उत्पत्ति का प्रसङ्ग समाप्त-सा हो जाता है। पुनः १६, २० श्लोकों में समग्र जगत् की जो एकसाथ उत्पत्ति दर्शायी है, वह पुनरुक्ति-सी हो जाती है और छः सूक्ष्म अवयवों से प्राणिजगत् की उत्पत्ति मानने से १६वें श्लोक के सात अवयवों द्वारा जगत्-रचना के कथन से भिन्नता आती है। यहां संगत अर्थ पञ्चभूतों की उत्पत्ति का ही है। अभी सृष्टि-उत्पत्ति के मूलतत्त्वों के वर्णन का प्रसंग चल रहा है। १५वें श्लोक में इन्द्रियों की उत्पत्ति कह दी है। उसके पश्चात् पञ्चभूतों का क्रम आता है, उनका संकेत इस श्लोक में है। इस प्रकार सभी तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रमबद्ध वर्णन पूरा हो जाता है। इसकी पुष्टि १।७४—७८ श्लोकों से होती है। इन श्लोकों में पञ्चभूतों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन ठीक इसी प्रकार किया है। इस तरह अर्थ करने से संगति तथा क्रमबद्धता आ जाती है और विरोध आदि त्रुटियां दूर हो जाती हैं।

(३) सृष्टि-उत्पत्ति विषय में शास्त्रों में अविरोध या विरोध—

प्रसङ्ग से यहां यह जिज्ञासा पैदा होती है—

(प्रश्न) सृष्टि-विषय में वेदादि शास्त्रों का अविरोध है वा विरोध?

(उत्तर) अविरोध है।

(प्रश्न) जो अविरोध है तो—

"तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥" (ब्रह्मा० १)

यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है। उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें। आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है; यहां आकाशादि क्रम से और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जल आदि क्रम से सृष्टि हुई। वेदों में कहीं पुरुष कहीं हिरण्यगर्भ आदि से; मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें?

(उत्तर) इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्नि आदि का होता है, अग्नि आदि क्रम से और जब विद्युत्=अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है। अर्थात् जिस-

जिस प्रलय में जहां-जहां तक प्रलय होता है वहां-वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुरुष और हिरण्यगर्भ आदि सब नाम परमेश्वर के हैं। परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है—मीमांसा में—"ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म-चेष्टा न की जावे," वैशेषिक में—"समय न लगे बिना बने ही नहीं", न्याय में—"उपादान कारण न होने से कुछ नहीं बन सकता", सांख्य में—"तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता", और वेदान्त में "बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके" इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसा ही सृष्टिरूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।"

(स० प्र० २१९—२२०)

सूक्ष्म-शरीर से आत्मा का संयोग—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम्॥ १८॥ (१०)

(तदा) तब जगत् के तत्त्वों की सृष्टि होने पर (सह कर्मभिः) अपने-अपने कर्मों के साथ (महान्ति भूतानि) शक्तिशाली सभी सूक्ष्म महाभूत (च) और (सूक्ष्मैः अवयवैः मनः) समस्त सूक्ष्म अवयवों अर्थात् इन्द्रियादि के साथ मन (सर्वभूतकृत्+अव्ययम्) सब भौतिक प्राणि-शरीरों को जन्म=जीवनरूप देने वाले अविनाशी आत्मा को [क्योंकि जीवात्मा के संयोग से ही समस्त शरीरों में जीवन आता है और उसके वियोग से समाप्त हो जाता है।] (आविशन्ति) आवेष्टित करते हैं [और इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की रचना होती है] ॥ १८ ॥*

अनुशीलन : (१) <u>पंचमहाभूतों के कर्म</u>—पञ्चभूतों में आकाश का कर्म अवकाश देना है, वायु का गति, तेज का पाक, जल का एकत्रीकरण और पृथिवी का कर्म धारण करना है।

(२) **१८वें श्लोक का संगत अर्थ**—प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'विनाश-रहित एवं सब भूतों के कर्त्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई।'

---

* [प्रचलित अर्थ—विनाशरहित एवं सब भूतों के कर्त्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई॥ १८॥]

इस अर्थ में निम्न त्रुटियाँ आती हैं—

(क) १।१४-१५ में मन की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से कही जा चुकी है, दो श्लोकों के बाद पुनः मन की उत्पत्ति कहने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार यह अनावश्यक पुनरुक्ति बन जाती है।

(ख) टीकाकारों के इन अर्थों से वर्णन की कोई क्रमबद्ध संगति नहीं जुड़ती। १४-१५ श्लोकों में मन आदि तत्त्वों की उत्पत्ति वर्णित कर दी। १६वें में सब प्राणियों की उत्पत्ति दिखा दी। १७वें में परमात्मा के प्रकृति रूपी शरीर का निर्वचन दिखा दिया। फिर १८वें में पुनः मन आदि की उत्पत्ति कह दी। १९वें में फिर एक बार समस्त जगत् की उत्पत्ति दर्शा दी। इस प्रकार कोई क्रम नहीं बनता।

(ग) १६वें श्लोक में छः तत्त्वों द्वारा प्राणिजगत् की रचना का कथन करने से और १९वें में सात तत्त्वों द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति का कथन करने से भिन्न कथन होने से विरोध आता है।

(घ) मनु ने जब सृष्ट्युत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करके सभी तत्त्वों की उत्पत्ति दर्शायी है तो यह भी आवश्यक है कि उन तत्त्वों का आत्मा के साथ संयोग भी प्रदर्शित होना चाहिए। जीव के साथ तत्त्वों का संयोग प्रदर्शित न करने पर उत्पत्ति-वर्णन अधूरा ही रह जाता है और मनुस्मृति में तो इस बात का वर्णन और भी आवश्यक है क्योंकि मानव धर्म ही मनुस्मृति का अभीष्ट विषय है। केवल स्थूल जगत् की उत्पत्ति दर्शाना इसका मुख्य विषय नहीं है। किन्तु प्रचलित टीकाओं में श्लोक के अर्थ जिस प्रकार किये गये हैं उनमें कहीं यह प्रसङ्ग नहीं आता। इस प्रकार यह अभाव पाठकों को खटकता है।

इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थों के अनुसार ये सब त्रुटियां दूर हो जाती हैं तथा अन्य शास्त्रों की भांति सृष्ट्युत्पत्ति-वर्णन में पूर्णता और क्रमबद्धता भी बनी रहती है।

(ङ) सूक्ष्म शरीर के तत्त्व—"पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।" (स० प्र० नवम समु०) पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत १।१४-१५ में परिगणित हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पांच प्राण हैं।

समस्त विनश्वर संसार की उत्पत्ति—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥१९॥ (११)

[इस प्रकार] (अव्ययात्) विनाशरहित परमात्मा से [और द्वितीयार्थ में] सृष्टि के मूल कारण अविनाशिनी प्रकृति से (तेषां तु) उन्हीं [१४-१५ में वर्णित] (महौजसाम्) महाशक्तिशाली (सप्तानां पुरुषाणाम्) सात

तत्त्वों—महत्, ग्रहंकार तथा पाँच तन्मात्राओं के (सूक्ष्माभ्यः मूर्तिमात्राभ्यः) जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से (इदम् व्ययम्) यह दृश्यमान विनाशशील विकाररूप जगत् (सम्भवति) उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

अनुशीलन : यह समस्त विनाशशील जगत् संक्षेप में निम्न प्रक्रिया से प्रकटरूप में आता है। गत श्लोकों में यही प्रक्रिया और क्रम बतलाया है—

(१) सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम—"जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच—सूक्ष्मभूत श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पाँच कर्म इन्द्रियां हैं और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पंच-तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त करते हुए क्रम से पाँच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की ओषधियां, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है, परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती, क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।" (स प्र० २२२)

(२) पुरुष के महत्तत्त्व आदि अर्थ—निरुक्त २।१।३ में पुरुष की व्युत्पत्ति दी है—"पुरिशयः=पुरुषः।" इस आधार पर अपने कार्यपदार्थों में सूक्ष्मरूप से शयन करने अर्थात् स्थित रहने से महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्व 'पुरुष' कहलाते हैं। शत० ब्राह्मण में 'वायु' और 'अग्नि' महाभूत को 'पुरुष' संज्ञा से अभिहित किया गया है [१३।६।२।१; १०।४।१।६]।

(३) सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति—

"(प्रश्न) मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई वा पृथिवी आदि की?

(उत्तर) पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवी आदि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।" (स० प्र० २२३)

"(प्रश्न) सृष्टि के आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे?

(उत्तर) अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उनका जन्म सृष्टि के आदि में ईश्वर देता, क्योंकि "**मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त**" यह यजुर्वेद में लिखा है। इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों, सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक माँ-बापों की सन्तान हैं।" (स० प्र० २२३)

पञ्चमहाभूतों के गुणों का कथन---

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥ (१२)

(एषाम्) इन [१९वें में चर्चित] पञ्चमहाभूतों में (आद्य+आद्यस्य गुणं तु) पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण को (परः परः) परला-परला अर्थात् उत्तरोत्तर बाद में उत्पन्न होने वाला भूत प्राप्त करता है (च) और (यः) जो-जो भूत (यावतिथः) जिस संख्या पर स्थित है (सः सः) वह-वह (तावद्गुणः) उतने ही अधिक गुणों से युक्त (स्मृतः) माना गया है ॥ २० ॥

अनुशीलन : **पञ्च महाभूतों का क्रम और गुण**—जैसे, पञ्च-महाभूतों का निश्चित क्रम है—१. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी। उनमें आकाश प्रथम स्थान पर है, इस प्रकार उसका केवल एक अपना शब्द गुण ही है। वायु द्वितीय स्थान पर है, अतः उसके दो गुण हैं—एक अपने से पहले वाले आकाश का शब्द तथा दूसरा अपना स्पर्श गुण। इसी प्रकार तृतीय स्थानीय अग्नि में दो अपने से पहले वाले आकाश और वायु नामक भूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श गुण हैं तथा तीसरा अपना रूप गुण। चतुर्थ स्थानीय जल के इसी प्रकार चार गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पंचमस्थानीय पृथिवी में पांच गुण हैं—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध। इसे तालिका द्वारा निम्न प्रकार स्पष्ट किया जाता है—

पञ्चमहाभूतों का उत्पत्तिक्रम और गुणों की तालिका

(श्लोक १।२०, ७५—७८ के वर्णनानुसार)

	१	२	३	४	५
पञ्च महाभूतों का उत्पत्ति क्रम	आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
१. आकाश का निजी गुण	शब्द	शब्द	शब्द	शब्द	शब्द
२. वायु का निजी गुण	×	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श
३ अग्नि का निजी गुण	×	×	रूप	रूप	रूप
४. जल का निजी गुण	×	×	×	रस	रस
५. पृथिवी का निजी गुण	×	×	×	×	गन्ध
प्रत्येक महाभूत में कुल गुण	१	२	३	४	५

वेदशब्दों से नामकरण एवं विभाग—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥ (१३)

(सः) उस परमात्मा ने (सर्वेषां तु नामानि) सब पदार्थों के नाम [यथा-गो-जाति का 'गौ', अश्वजाति का 'अश्व' आदि] (च) और (पृथक्-पृथक् कर्माणि) भिन्न-भिन्न कर्म [यथा—ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन; क्षत्रिय का रक्षा करना; वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि (१ । ८७—९१) अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र-अहिंस्र आदि कर्म (१ । २६—३०)] (च) तथा (पृथक् संस्थाः) पृथक्-पृथक् विभाग [जैसे—प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि (१ । ४२—४६)] या व्यवस्थाएं [यथा—चार वर्णों की व्यवस्था (१ । ३१,१ । ८७—९१)] (आदौ) सृष्टि के प्रारम्भ में (वेदशब्देभ्यः एव) वेदों के शब्द से ही (निर्ममे) बनायीं अर्थात् मन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया ॥ २१ ॥+

अनुशीलन : (१) इस श्लोक के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

"इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है । उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो (पू० प्र० ८९)

वेद में भी कहा है—

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु० ४० । ८)

अर्थात् आदि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ।" (स० प्र० २०८)

(२) **सृष्टि के प्रारम्भ में नामकरण**—अभिप्राय यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेदशब्दों के द्वारा ही मनुष्यों को नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान हुआ । परमात्मा ने वेदशब्दों के रूप में यह सब ज्ञान दिया । 'निर्ममे' से यहां भाव, नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान वेदशब्दों में अन्तर्निहित करके लोगों को अवगत कराने से है ।

(३) **२१वें श्लोक के क्रम पर विचार**—प्रतीत होता है कि यह श्लोक मूलक्रम से खण्डित होकर आगे-पीछे हो गया है । इस श्लोक का किसी प्रक्षेप की प्रवृत्ति से या

+ [प्रचलित अर्थ—हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्मा ने सबों के नाम (यथा—'गो' जाति का 'गौ' और 'अश्व' जाति का 'अश्व') और कर्म (यथा—'ब्राह्मणों' का वेदाध्ययन आदि, क्षत्रियों का वेदाध्ययन तथा रक्षण आदि) तथा लौकिक व्यवस्था (यथा—कुम्हार का घट आदि बनाना, बुनकर का कपड़ा बुनना, नापित का क्षौर करना आदि) को पहले वेद-शब्दों से ही जानकर पृथक्-पृथक् बनाये ॥ २१ ॥]

प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। यह श्लोक क्रम की दृष्टि से २३वें (अग्निवायुरविभ्यस्तु......) के पश्चात् होना चाहिए। प्रसंग और क्रम की दृष्टि से वहीं ठीक बैठता है क्योंकि वेदों की रचना होने के बाद ही उनसे नाम, कर्म आदि का ज्ञान होगा, पूर्व नहीं। वेदों की रचना का होना २३वें श्लोक में कहा जा रहा है और उनसे नाम आदि का निर्माण पहले ही वर्णित हो गया। इस प्रकार उचित क्रम नहीं बनता।

इसके अतिरिक्त वर्तमान प्रतियों में जो यह २१वें श्लोक के रूप में है, यहां पूर्वापर प्रसंग उत्पत्ति की प्रक्रिया का है; इस श्लोक से वह भंग हो रहा है। २०वें में सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया है, २२वें में उस प्रसंग का उपसंहार रूप में संक्षिप्त एकत्र कथन है। इन कथनों के बीच में वेदों के द्वारा नाम, कर्म आदि का ज्ञान होने का कथन करना असंगत है। इस क्रम में यह आपत्ति भी है। किन्तु इससे इसे प्रक्षिप्त नहीं समझ लेना चाहिए, यतो हि इस श्लोक का प्रक्षिप्त प्रसंग या प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह स्थानभ्रष्ट मात्र प्रतीत होता है।

(४) **२१वें श्लोक का संगत अर्थ**—कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए व्यवस्थाओं के उदाहरण में—'कुम्हार का घड़ा बनाना, जुलाहे का कपड़ा बनाना' ये उदाहरण गलत और मनुविरुद्ध दिये हैं। यहां व्यवस्थाओं से अभिप्राय है जैसे—चार वर्णों की व्यवस्था। इसे १।३१ में मनु ने कर्मानुसार परमात्मा-निर्मित माना है। इसी प्रकार राज्यव्यवस्था आदि भी हो सकती है। मनु ने केवल चार वर्णों को माना है। उनके मत में कुम्हार, जुलाहा आदि कोई जाति-उपजाति नहीं है और न ही ये जातियां या उनके ये कार्य ईश्वर-रचित हैं। मनु के अनुसार तो 'शिल्पकार्य' वैश्य का कार्य है; चाहे वह किसी भी प्रकार का शिल्पकार्य करे वैश्य ही कहलायेगा, कुम्हार या जुलाहा नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति आज बर्तन बनाने का कार्य कर रहा है वह कल कपड़े बनाने का कार्य भी कर सकता है, परसों कोई अन्य, फिर भी वह वैश्य ही कहलायेगा कुम्हार या जुलाहा नहीं। क्योंकि मनु ने ऐसी जातियों और उनके नामों का निर्धारण ही नहीं किया। जाति-उपजाति की कल्पनाएं वर्ण-व्यवस्थाओं की शिथिलता के पश्चात् कार्यरूढ़ि के आधार पर अवर समाज द्वारा की गई हैं। अतः उन्हें ईश्वररचित व्यवस्था मानकर मनु के श्लोक में उदाहरण रूप में देना गलत एवं मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है।

उपसंहार रूप में समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥ (१४)

[इस प्रकार १।५—२० श्लोकों में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार] (सः प्रभुः) उस परमात्मा ने (कर्मात्मनां च देवानाम्) कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के (प्राणिनाम्) मनुष्य, पशु-पक्षी

आदि सामान्य प्राणियों के (च) और (साध्यानाम्) साधक कोटि के विशेष विद्वानों के (गणम्) समुदाय को [१ । २३ में वर्णित] (च) तथा (सनातनं सूक्ष्मं यज्ञम् एव) सृष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवाहमान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहंकार पञ्चतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को (असृजत्) रचा ॥ २२ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) **२२वें श्लोक का संगत अर्थ**—कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने 'साध्य' का अर्थ 'सूक्ष्मम्' विशेषण को उसके साथ जोड़कर 'सूक्ष्म देवयोनि-विशेष' किया है। यह मिथ्या कल्पना मात्र है, क्योंकि मनुष्यों से भिन्न कोई देवयोनि जगत् में नहीं होती। १।४३-४९ श्लोकों में मनु ने सभी योनिगत प्राणियों का दिग्दर्शन कराया है। उनमें ऐसी कोई योनि उल्लिखित नहीं है। इस प्रकार की कल्पना मनु के उक्त श्लोकों के विरुद्ध जाती है। वस्तुतः, मनुस्मृति में जहां कहीं भी प्राणियों में देव, ऋषि, पितर आदि का उल्लेख आता है, वे मनुष्यों के स्तरविशेष हैं। योग्यता एवं स्तरविशेषानुसार ये मनुष्यों की ही संज्ञायें हैं।

(२) **'सूक्ष्मम्' का अर्थ**—यहां 'सूक्ष्मम्' विशेषण को भी साध्यों के साथ जोड़ना सङ्गत नहीं है। सृष्टि-उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन करने के उपरान्त उस सम्पूर्ण प्रसङ्ग का इस श्लोक में उपसंहार किया है और एकत्र रूप में यह संकेत दिया है कि इस प्रकार परमात्मा ने जड़-चेतन, सूक्ष्म और स्थूल, विशेष और सामान्य आदि विभिन्न रूपों में समस्त संसार को रचा है।

(३) **'साध्यों' से अभिप्राय**—यहां प्राणियों से पृथक् साध्यों की पृथक् से गणना उनकी विशिष्टता की ओर इङ्गित करने के लिए की है। सृष्टि के प्रारम्भ में सभी प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनमें साधक कोटि के विशिष्ट संस्कारी व्यक्ति भी होते हैं। मनुस्मृति के श्लोक में इस शब्द को समझने के लिए साध्यकोटि के व्यक्तियों में जैसे अग्नि, वायु, रवि आदि ऋषियों का नाम उद्धृत किया जा सकता है। ये भी साधक कोटि के अत्यन्त विशिष्ट संस्कारी जीव थे। तभी तो अनेक मनुष्यों में केवल इन्हीं को वेदज्ञान प्रकट करने का श्रेय मिला। निरुक्तकार ने 'ऋषि' शब्द के निर्वचन के प्रसंग में आचार्य औपमन्यव के मत का उल्लेख करते हुए इन तपस्वी साधकों को तपस्या में लीन रहने की साधना के परिणामस्वरूप वेदज्ञान की प्राप्ति का कथन किया है। उससे इनके साध्यकोटि के व्यक्ति होने की बात और पुष्ट हो जाती है। यथा—

"**ऋषिः दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।**" (नि० २। ३। ११)

अर्थात्-वेदमन्त्रों का अर्थ-दर्शन करने से ऋषि होता है, ऐसा औपमन्यव का मत है। प्रार-

---

❀ [**प्रचलित अर्थ**—उस ब्रह्मा ने देव (इन्द्रादि), कर्मस्वभाव, प्राणी, अप्राणि पत्थर आदि, साध्यगण और सनातन यज्ञ (अग्निष्टोम आदि) की सृष्टि की ॥ २२॥]

त्रिक अग्नि आदि ऋषियों को तपस्या करते हुए अपौरुषेय वेदों का साक्षात्कार हुआ, अतः वे ऋषि प्रसिद्ध हुए।

इन तपस्वी साधकों को साधना में लीन रहते हुए वेदज्ञान-प्राप्ति होने की चर्चा ब्राह्मणग्रन्थों में भी आती है—

(क) "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः।" (शत० ११।५।२।३)

(ख) "अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभू-अभ्यानर्षत्तदृषयोऽभवन्।" (तै० आ० २।८)

अगले ही श्लोक में मनु ने भी इनका उल्लेख किया है। इस साधक कोटि में अन्य अनेक व्यक्तियों को भी माना जाता है। इसमें कुछ अन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

१. "साध्याः देवाः साधनात्" (निरुक्त १२।४०)
२. "साध्याः नाम देवाः (=विद्वांसः) आसन्" (ताण्ड्य ब्रा० ८।३।५)
महर्षि-दयानन्द ने इस शब्द को और भी स्पष्ट कर दिया है—
१. साधनसाध्याः (देवाः=विद्वांसो जनाः) (यजु० २९।११)
२. साधनं योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः (जनाः) (यजु० ३१।९)
३. सर्वैर्विद्वद्भिः संसेवितुमर्हाः (विद्वांसो जनाः) (ऋग्० १।१६४।५०)
४. साध्याः ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च (ऋ० भू० ६१ सृष्टिविद्याविषयः)

इस प्रकार 'साध्य' का अर्थ 'साधक कोटि के विद्वान् विशेष' ही है। और मनुस्मृति की भी अन्तःसाक्षी है—"पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः' [मनु० १२।४९] अर्थात् जो मध्यम सत्त्वगुणी जीव हैं, वे पितर व साध्य=कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापकादि का जन्म पाते हैं। वेदों का ज्ञान देने वाले प्रारम्भिक ऋषि भी संसार के प्रथम अध्यापक=शिक्षक थे।

साध्यकोटि के विद्वानों का वर्णन और सृष्टि के प्रारम्भ में साध्यकोटि के व्यक्तियों के उत्पन्न होने का उल्लेख वेद के पुरुषसूक्त में भी आता है—

१. "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६)
२. "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥" (यजु० ३१।९)
३. "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।" (यजु० ३१।१४)

"जो ब्रह्माण्ड का रचन-पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है।" (ऋ० भू० १२७–१२८)

(४) यज्ञ का व्यापक अर्थ, वेदों का उद्देश्य—इसी प्रकार प्रचलित टीकाओं में किया गया यज्ञ शब्द का अर्थ भी संकुचित है। इस श्लोक में यज्ञ शब्द का 'हवन' यह सीमित अर्थ न होकर व्यापक अर्थ 'जगत्' है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ दी जा सकती हैं—(क) मनु ने केवल होम-सम्पादन के लिए ही वेदों की उत्पत्ति नहीं स्वीकार की है अपितु संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, व्यवहार आदि की सिद्धि के लिए वेदों की उत्पत्ति मानी है। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसे आशय दिये हैं। कुछ प्रमाणों से यह बात पुष्ट हो जायेगी—

(अ) १२।९७ में चारों वर्णों, आश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से ही माना है।

(आ) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है। (१२।९८)

(इ) संसार के समस्त व्यवहारों का सर्वोत्तम साधकग्रन्थ वेद को कहा है। (१२।९९)

(ई) १२।९४ में वेद को पितृ, देव, मनुष्यों का 'चक्षु' अर्थात् धर्म-अधर्म,-ज्ञान-विज्ञान आदि का दर्शनेवाला कहा है।

(उ) इसी प्रकार राजनीति की शिक्षा देने वाला (७।४३; १२।१००) शास्त्र भी वेद ही है।

(ऊ) वेद सभी धर्मों का स्रोत एवं आधार है। (२।६—१५)

(ए) १।२१ में वेदों के द्वारा ही संसार के समस्त पदार्थों का नामकरण, विभाग, कर्मनिर्धारण, यह सिद्ध करता है कि वेदों की उत्पत्ति केवल होम-सम्पादन के लिए ही नहीं अपितु जगत् में समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए है।

(ऐ) १।३ में वेदों को सब सत्यविद्याओं का विधान करने वाला ग्रन्थ कहना, अथवा जगत् का संविधान और समस्त व्यवहारों का साधक ग्रन्थ कहना भी वेदों की उपयोगिता को व्यापक सिद्ध करता है।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेदों की उपयोगिता के विषय में मनु की व्यापक दृष्टि है, यदि उसे केवल होम तक ही सीमित किया जायेगा तो उक्त मान्यताओं से उस का विरोध आयेगा। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि १।२३ में प्रयुक्त 'यज्ञसिद्ध्यर्थम्' पद का अर्थ भी 'होमसिद्धि के लिए' न होकर 'जगत् में समस्त व्यवहारों, धर्मों और ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि के लिए' अथवा 'जगत् की सिद्धि के लिए' यह अर्थ होगा। इसी प्रकार यहां भी यज्ञ का व्यापक अर्थ 'जगत्' ही ग्रहण होगा। इस में दोनों श्लोकों की यह सुसंगति भी बन जाती है कि 'परमात्मा ने संसार को रचा (१।२२) और उस संसार की सिद्धि के लिए अथवा संसार में समस्त सिद्धियां प्राप्त करने के लिये वेदों को रचा (१।२३)।' (ख) यज्ञ के 'जगत्' अर्थ में निम्न प्रमाण हैं—

(अ) "यज्ञो वै भुवनम्" (तै० सं० ३ । ३ । ७ । ५)

(आ) "विराट् (संसारः) वै यज्ञः" (श० १ । १ । १ । २२)

(इ) "वैराजः यज्ञः" (गो० पू० ५ । २४; गो० उ० ६ । १५)

(ई) महर्षि दयानन्द ने (यजु० १३ । १४) मन्त्र-भाष्य करते हुए जगत् को ही यज्ञ कहा है—"देवाः यज्ञं अतन्वत"—पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ है। (ऋ० भू० ९३, सृष्टिविद्याविषयः)

(ग) यहां 'यज्ञम्' के साथ 'सनातनम्' विशेषण का प्रयोग भी 'जगत्' अर्थ का पोषक है। क्योंकि, यज्ञ की क्रिया के रूप में सनातनता कभी नहीं हो सकती, अतः यह विशेषण 'हवन' अर्थ में जुड़ता ही नहीं। न जुड़ने के कारण टीकाकारों ने खींचातानी कर के इसे जोड़ने का प्रयास किया कि—'वेदोक्त कर्म होने से अथवा कल्पान्तर में भी यज्ञों का व्यवहार होनेके कारण यज्ञ सनातन हैं।' लेकिन इस प्रकार तो सभी वेदोक्त क्रियाएं सनातन हैं, यज्ञों की ही उनसे क्या विशिष्टता होगी? अतः यह प्रयास निष्फल ही है। इस के अतिरिक्त मनु ने १ । ५७ में 'सनातन' के बिल्कुल पर्यायवाची शब्द के रूप में 'अजस्रम्' (संञ्जीवयति चाजस्रम्) विशेषण का प्रयोग 'जगत्' के लिये किया है, जो यहां भी यज्ञ के साथ 'सनातनम्' शब्द प्रयोग 'जगत्' अर्थ में पोषक है।

वेदों का आविर्भाव—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥ (१५)

उस परमात्मा ने (यज्ञसिद्ध्यर्थम्) जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए [यज्ञे जगति प्राप्तव्या सिद्धिः यज्ञसिद्धिः, अथवा यज्ञस्य सिद्धिः यज्ञसिद्धिः] (अग्नि-वायु-रविभ्यः तु) अग्नि, वायु और रवि से अर्थात् उन के माध्यम से (ऋग्यजुःसामलक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म) ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को (दुदोह) दुहकर प्रकट किया ॥ २३ ॥ *

"जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग्यजु० साम और अथर्व का ग्रहण किया। (स० प्र० २०३)

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं

---

* प्रचलित अर्थ—उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया ॥ २३ ॥

ऋग्यजुः सामलक्षणम् ।। १ । ३ ।। अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः । २ । १५१ (इस संस्करण में २।१२६) अर्थात् इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अंगिरा से ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।" (ऋ० भू० १६)

अनुशीलन : (१) प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ शब्द का 'जगत्' अर्थ है। इसकी पुष्टि के लिए १। २२ की समीक्षा देखिए।

(२) **वेदोत्पत्ति विषयक वेदादि के प्रमाण**—महर्षि मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत वेद को माना है। वे वेदों को अपौरुषेय मानकर इस श्लोक में परमेश्वर से ही वेदोत्पत्ति मानते हैं। मनु ने यह मान्यता वेदों से ही ग्रहण की है। देखिए स्वयं वेद भी इस मान्यता को वर्णित कर रहे हैं—

(क) **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।। (यजु० ३१ । ७)

अर्थ—उस सच्चिदानन्दस्वरूप, सब स्थानों में परिपूर्ण, जो सब मनुष्यों द्वारा उपास्य और सब सामर्थ्य से युक्त है, उस परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और छन्दांसि=अथर्ववेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए।

(ख) **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।**
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः ।। (अथर्व १०।४।२०)

अर्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान, और ऋग्वेद प्राण के समान है (ब्रूहि कतमःस्विदेव सः) चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है ? उसको तुम मुझसे कहो, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (स्कम्भं तम्) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो।

(ऋ० भा० भू० वेदोत्पत्ति विषय)

ब्राह्मणों ने भी इस मान्यता को यथावत् स्वीकार किया है—

(ग) **"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ।**
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।।" (शत० १४।५)

अर्थात्—उस महान् शक्तिशाली परमात्मा के निश्वासरूप में प्रकट ये चारों वेद जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अङ्गिरा से प्रकट अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(च) "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः।" (श० ११।५।२।३)

अर्थात्—उन तपस्वी ऋषियों के माध्यम से परमात्मा ने अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद,इस प्रकार त्रयीविद्यारूप चार वेद प्रकट किये।

(३) **वेदोत्पत्ति की मान्यता का अन्यत्र वर्णन**—मनु ने वेदों को अपौरुषेय माना है, जैसा कि इस श्लोक में वर्णन है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मनु ने अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर की है, द्रष्टव्य हैं—१।३,२१॥ ११।२६४–२६५॥ १२।९४ श्लोक।

धर्म-अधर्म, सुख-दुःख आदि का विभाग—

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥ २६॥ (१६)

(च) और फिर (कर्मणां विवेकार्थम्) कर्मों के विवेचन के लिए (धर्म-अधर्मौ) धर्म-अधर्म का (व्यवेचयत्) विभाग किया (च) तथा (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को(सुखदुःखादिभिः द्वन्द्वैः) सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों =दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं के जोड़ों से (प्रयोजयत्) संयुक्त किया ॥२६॥

अनुशीलन : धर्म-अधर्म के विभाग की चर्चा निम्न वेदमन्त्र में आती है। वही भाव यहां मनु ने ग्रहण किय है—

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः" (यजु० १९।७७)

(प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देखके सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है।' (ऋ० भा० भू० ९७)

सूक्ष्म से स्थूल के क्रम से सृष्टि का वर्णन—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥२७॥ (१७)

(दशार्धानाम् तु) दश के आधे अर्थात् पांच महाभूतों की ही (याः) जो (विनाशिन्यः) विनाशशील अर्थात् अपने अहङ्कार कारण में लीन होकर नष्ट होने के स्वभाव वाली (अण्व्यः मात्राः स्मृताः) सूक्ष्म तन्मात्राएं कही गई हैं (ताभिः) उनके (सार्धं) साथ अर्थात् उनको मिलाकर ही (इदं सर्वम्) यह समस्त संसार (अनुपूर्वशः) क्रमशः—सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर, स्थूलतर से स्थूलतम के क्रम से (संभवति) उत्पन्न होता है॥ २७॥

अनुशीलन : **२७ वें श्लोक के क्रम पर विचार**—प्रतीत होता है कि मूल प्रति में खण्डित हो जानेके कारण यह श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गया है प्रसंग और क्रम

की दृष्टि से यह १६वें के पश्चात् होना चाहिए, क्योंकि—(१) "कर्मणां च विवेकार्थं" इस श्लोक के पश्चात् इसका कोई क्रम नहीं जुड़ता। यहां प्रसंग को भंग करता है। (२) भूतों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति और उनसे जगत् की उत्पत्ति का क्रम तथा प्रसंग १६वें तक पूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से भी यहां संगत है। (३) २० वें में 'एषां' कहकर तन्मात्राओं व पञ्चभूतों का ही वर्णन है। इस प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व तन्मात्राओं के वर्णन का श्लोक होना चाहिए जो प्रचलित पाठ में नहीं है। और इस प्रसंग में ऐसा और कोई दूसरा श्लोक है नहीं जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन हो। यही एक श्लोक ऐसा है जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन है। इस प्रकार २०वें श्लोक के 'एषां' पद से प्राप्त होने वाले एक श्लोक के अभाव का संकेत और इस श्लोक का २७वीं संख्या पर असंगत होना, ये दोनों बातें इस श्लोक का उपयुक्त स्थान १६वें के पश्चात् नियत करती हैं। अतः यह इसी क्रम से रखा जाना चाहिए। इसके मूल में प्रक्षेप की कोई भी प्रेरक-प्रवृत्ति संभव न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं माना गया है।

जीवों का कर्मों से संयोग—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥२८॥ (१८)

(सः प्रभुः) उस परमात्मा ने (प्रथमम्) सृष्टि के आरम्भ में (यं तु) जिस प्राणी को (यस्मिन् कर्मणि) जिस कर्म में (न्ययुङ्क्त) लगाया (पुनः पुनः) प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति समय में [१। ८०] (सः) वह फिर (सृज्यमानः) उत्पन्न होता हुआ अर्थात् जन्म धारण करता हुआ (तदेव) उसी कर्म को ही (स्वयम्) अपने आप (भेजे) प्राप्त करने लगा॥ २८॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥ २६॥ (१६)

(हिंस्र+अहिंस्रे) हिंसा [सिंह, व्याघ्र आदि का] अहिंसा [मृग आदि का] (मृदु-क्रूरे) दयायुक्त और कठोरतायुक्त(धर्म-अधर्मौ) धर्म तथा अधर्म (अनृत-ऋते) असत्य और सत्य (यस्य) जिस प्राणी का (यत्) जो कर्म (सर्गे) सृष्टि के प्रारम्भ में (सः अदधात्) उस परमात्मा ने धारण कराना था (तस्य तत्) उस को वही कर्म (स्वयम्) अपने आप ही (आविशत्) प्राप्त हो गया॥ २६॥

अनुशीलन : जगदुत्पत्ति-प्रयोजन एवं कर्मफल—सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों के कर्मों की भिन्नता के कारण और जगत्-रचना के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

(उत्तर)·········प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्योंकर भोग सकते थे ?" (स० प्र० २१३)

"(प्रश्न) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतंग आदि जन्म दिये हैं; इससे परमात्मा में पक्षपात आता है ?

(उत्तर) पक्षपात नहीं आता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात आता।"

(स० प्र० २२३—२२४)

यथर्तु लिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तु पर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥ (२०)

(यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुपर्यये) ऋतु-परिवर्तन होने पर (स्वयम् एव) अपने आप ही (ऋतुलिंगानि) अपने-अपने ऋतुचिह्नों—जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रमञ्जरी आदि को (अभिपद्यन्ते) प्राप्त करती हैं (तथा) उसी प्रकार (देहिनः) देहधारी प्राणी भी (स्वानि-स्वानि कर्माणि) अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं ॥ ३० ॥

चार वर्णों की व्यवस्था का निर्माण—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥ (२१)

[फिर उस परमात्मा ने] (लोकानां तु) प्रजाओं अर्थात् समाज की (विवृद्ध्यर्थम्) विशेष वृद्धि=शान्ति, समृद्धि एवं प्रगति के लिए (मुखबाहु-ऊरु-पादतः) मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार क्रमशः (ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं च शूद्रम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को (निरवर्तयत्) निर्मित किया। अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण किया ॥ ३१ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) चातुर्वर्ण्यव्यवस्था-निर्माण वेदों से—वेद में पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है। मनु ने इस श्लोक में ठीक उसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति दर्शायी है। इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता

❀ [प्रचलित अर्थ—लोक-वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की ॥ ३१ ॥]

है। जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है वैसा ही मनुस्मृति में है। मन्त्र निम्न हैं—

"यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥
(यजु० ३१।१०)

(यत्पुरुषं०) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है (किं बाहू) बल वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(यजु० ३१।११)

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्य-भाषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है (पद्भ्यां शूद्रो०) जैसे पग सबसे नीच अङ्ग है वैसे मूर्खता आदि नीच* गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है।" (ऋ० भू० १२५-१२६)

(२) इस आलंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। निम्न वचनों में ब्राह्मण को समाज या मनुष्यों का मुख रूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं—

(अ) ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखम्। (तां० ६।१।६)
ब्राह्मण मनुष्यों का मुख है।

(आ) अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्। (श० ३।६।१।१४)

इस समाज या जगत् का ब्राह्मण मुखरूप है अर्थात् सर्व प्रमुख स्थान वाला है।

---

* यहां महर्षि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त 'नीच' शब्द 'उच्च' का विलोमार्थक है, जो संस्कृत 'निम्न' का पर्यायवाची है, यह आजकल की भाषा और व्यवहार में प्रयुक्त 'नीच' घृणार्थक नीच अर्थ में नहीं है। इसका अर्थ है—'गुणों के अनुपात में निम्न गुणों वाला।'

(३) वर्णोत्पत्ति-विषयक भ्रान्त कल्पना—इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट ने एक अत्यन्त अविश्वसनीय कल्पना की है और उसे उसी प्रकार के अन्ध-विश्वास से पुष्ट किया है। उन्होंने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण को पैदा किया, बाहुओं से क्षत्रिय को, जंघाओं से वैश्य और पैर से शूद्र को पैदा किया है'। इस अन्ध कल्पना पर कभी किसी का विश्वास न बने, शायद इसीलिए उन्होंने यह वाक्य भी जोड़ा—"दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्रह्मणो न विशङ्कनीयं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" [ऋक् १०।९०।१२]। अर्थात्—ब्रह्मा के मुख आदि से ब्राह्मण आदि का निर्माण दिव्य-शक्ति से हुआ है, इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह बात वेदों से सिद्ध है, वेद में कहा है—'ब्राह्मण इस परमात्मा का मुख हुआ।' वस्तुतः यहां आलंकारिक वर्णन है, जिसका अर्थ इस प्रकार बनता है कि परमात्मा ने मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों की समानता के अनुसार क्रमशः चारों वर्णों का निर्माण किया है। जैसे—७।४ में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, चन्द्र आदि आठ वस्तुओं के अंश से राजा का निर्माण होना कहा है। स्पष्ट है कि इनसे राजा की रचना नहीं हो सकती, किन्तु आलंकारिक रूप में यहां राजाओं में इनके गुणों का होना अभिप्रेत है। ठीक इसी प्रकार यहां भी गुणों की समानता के आधार पर वर्णों की रचना का कथन है। कुल्लूक ने जिस पद को प्रमाण रूप में दिया है उसका अर्थ भी 'उत्पन्न होना' नहीं बनता, अपितु आलंकारिक रूप में 'ब्राह्मण मुखस्थानीय रूप में था,' यह अर्थ ही संगत होता है। दिव्य शक्ति भी अपनी एक निश्चित प्रक्रिया में काम करती है। दिव्य शक्ति होने का यह मतलब नहीं कि वह सृष्टिक्रम-विरुद्ध रूपमें कुछ भी कर डाले, अतः कुल्लूकका यह विश्वास भी बुद्धिसंगत नहीं है। शैली और प्रसंगके अनुसार भी यदि विचार किया जाये तो इसका आलंकारिक ही अर्थ बनता है, कुल्लूक भट्ट और उनके अनुसरणकर्त्ताओं का अर्थ असंगत सिद्ध होता है—(१) सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम में १।१६,१९,२२ में मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति का होना कहा जा चुका है और उसके पश्चात् ऋषियों से वेदज्ञान की प्रकटता [१।२३], प्रजाओं की सुख-दुःखादि से संयुक्ति [१।२६] आदि भी दिखायी जा चुकी है फिर दोबारा उत्पत्ति कैसी? (२) मनुस्मृति में ब्रह्मा का प्रसंग प्रक्षिप्त है, अतः उसका नाम जोड़कर अर्थ करना भी उचित नहीं (इसके लिए १।७—१३ पर समीक्षा देखिए।) और परमात्मा सूक्ष्म, अव्यय होने से शरीर धारण नहीं करता। अतः उसके मुखादि की कल्पना भी नहीं हो सकती, उनसे उत्पत्ति आदि की कल्पना का तो फिर प्रश्न ही नहीं। (३) यदि ब्रह्मा के माध्यम से यह उत्पत्ति मानी जाये तो उस प्रसङ्ग से भी यह अन्ध-कल्पना सिद्ध नहीं होती। यतोहि, ब्रह्मा के प्रसङ्ग में सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम—'ब्रह्मा से विराट्, विराट से मनु और मनु से अन्य सृष्टि'—[१।३२-४१] इस रूप में उल्लिखित है। उससे भी अनेक प्रकार से विरोध आता है—(क) मनु की उत्पत्ति बाद में हुई दर्शायी गयी है और ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति पहले ही दिखा दी। (ख) अब जबकि ब्रह्मा की वंश-परम्परा से सारी सृष्टि-उत्पत्ति मानी है तो ब्राह्मण आदि पहले ही क्यों

और किससे पैदा हुए ? (ग) यदि ब्राह्मण आदि को पहले उत्पन्न कर दिया था तो फिर विराट्, मनु आदि की उत्पत्ति की ब्रह्मा को क्या आवश्यकता थी ? सृष्टि तो उन्हीं से चल जाती। (घ) जब मुख आदि से ब्राह्मण आदि की रचना कर डाली तो फिर 'विराट्' को भी क्यों न किसी अङ्ग से बनाया ? उनके जन्म के लिए पहले स्त्री-रचना की क्यों आवश्यकता हुई ? [१।३२]। इस प्रकार अनेक युक्तियों से कुल्लूकभट्ट और उनके अनुसरणकर्त्ताओं की कल्पना गलत और असंगत सिद्ध होती है, अतः आलंकारिक अर्थ ही मनु-अभिप्रेत मानना चाहिए।

प्राणियों की उत्पत्ति का प्रकार—

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥ (२२)

(इह) इस संसार में (येषां भूतानाम्) जिन मनुष्यों का—वर्णगत मनुष्यों का (यादृशं कर्म) जैसा कर्म (कीर्तितम्) वेदों में कहा है (तत्) उसे (तथा) वैसे ही (१।८७–९१) (च) और (जन्मनि) उत्पन्न होने में (क्रमयोगम्) जीवों का जो एक निश्चित प्रकार रहता है, उसे (वः) आप लोगों को (अभिधास्यामि) कहूँगा ॥ ४२ ॥

अनुशीलन : ४२ वें श्लोक की शैली एवं अर्थ पर विचार—

(१) सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग समाप्त होकर वह प्रसंग कर्मों के वर्णन की ओर चला गया था। किन्तु सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें अभी शेष रह गई थीं, जिनसे अवगत कराना मनु को आवश्यक लगा। इसलिए वे प्रसंग को बदलकर पुनः सृष्टि-उत्पत्ति पर लाये हैं जिससे शेष अग्रिम बातों की जानकारी दे सकें। पहले उस प्रसंग को बदलने का संकेत कर दिया है। मनु की यह एक शैली है कि जब भी वे कोई भिन्न प्रसंग शुरू करते हैं, उसका संकेत देते हैं। इस कारण प्रसंग-भिन्नता का दोष नहीं आता (२) यहां 'कीर्तितम्' से 'वेदों में कहा है' यह भाव अभिप्रेत है। १। ३, २१, ८७ श्लोकों से यह पुष्ट होता है। इन श्लोकों में मनु ने यह भाव प्रकट किया है कि—परमात्मा ने जो भी कर्म आदि बनाये उनका ज्ञान वेदों के द्वारा करवाया। यहां वेदों में कहे कर्मों को ही मनु बतलायेंगे, यतो हि १। ३ में मनु को 'कार्यतत्त्वार्थवित्' कहकर वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म-अधर्मों को ही जानने की इच्छा प्रकट की थी। (३) 'क्रमयोगम्' से यहां क्रमानुसार अर्थ लेना उचित नहीं है। जीवों के उत्पन्न होने में जो एक निश्चित प्रकार रहता है जैसे—मनुष्यादि जरायु से पैदा होते हैं। पक्षी, सर्प आदि अण्डों से, इत्यादि यहां 'कमयोगं च जन्मनि' का इसी से अभिप्राय है।

जरायुज-जीव—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥ (२३)

(पशवः) ग्राम्यपशु गौ आदि (मृगाः) अहिंसक वृत्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि (च) और (उभयोदतः व्यालाः) दोनों ओर दांत वाले हिंसक वृत्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि (च) तथा (रक्षांसि) राक्षस (पिशाचाः) पिशाच (च) तथा (मनुष्याः) मनुष्य (जरायुजाः) ये सब 'जरायुज' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं ॥ ४३ ॥

अनुशीलन : राक्षस और पिशाच का लक्षण ३।३३-३४ श्लोकों की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

अण्डज-जीव—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥ (२४)

(पक्षिणः) पक्षी (सर्पाः) सांप (नक्राः) मगरमच्छ (मत्स्याः) मछलियां (च) तथा (कच्छपाः) कछुए (च) और (यानि) अन्य जो (एवं प्रकाराणि) इस प्रकार के (स्थलजानि) भूमि पर रहने वाले (च) और (औदकानि) जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब (अण्डजाः) 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदज-जीव—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥ ४५ ॥ (२५)

(दंशमशकम्) डंक से काटने वाले मच्छर आदि (यूका) जूं (माक्षक) मक्खियां (मत्कुणम्) खटमल (यत् च अन्यत् किञ्चित् ईदृशम्) जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं जो (ऊष्मणः) ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से (उपजायन्ते) पैदा होते हैं, । वे सब (स्वेदजम्) 'स्वेदज' अर्थात् पसीने से उत्पन्न होनेवाले कहाते हैं ॥ ४५ ॥

अनुशीलन : संस्कृत के शब्दकोशों के अनुसार और जैसा कि इस श्लोक से भी ज्ञात होता है, यहां 'स्वेद' शब्द का अर्थ व्यापक है। प्राकृतिक पदार्थों में उत्पन्न क्लिन्नता=सीलन या तापयुक्त सीलन, प्राणियों के शरीर से उत्पन्न पसीना और नवमेघकृत सेचन, ये सब 'स्वेद' कहलाते हैं। इन स्वेदरूपों से श्लोक में वर्णित तथा अन्य बहुत से लघु जीव उत्पन्न होते हैं। वे सब 'स्वेदज' कहलाते हैं।

उद्भिज्ज जीव तथा ओषधियां—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥ (२६)

(बीजकाण्डप्ररोहिणः) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (सर्वे स्थावराः) सब स्थावर जीव [एक स्थान पर टिके रहने वाले] वृक्ष आदि (उद्भिज्जाः) 'उद्भिज्ज'—भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। इनमें—(फलपाकान्ताः) फल आने पर पककर सूख जाने वाले और (बहुपुष्पफलोपगाः) जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं, । (ओषध्यः) वे 'ओषधि' कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

वनस्पति तथा वृक्ष—

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥ (२७)

(ये अपुष्पाः फलवन्तः) जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, (ते) वे (वनस्पतयः स्मृताः) 'वनस्पतियां' कहलाती हैं। [जैसे-बड़=वट, पीपल, गूलर आदि] (च) और (पुष्पिणः फलिनः एव) फूल लगकर फल लगने वाले (उभयतः) दोनों से युक्त होने के कारण (वृक्षाः) वे उद्भिज्ज स्थावर जीव 'वृक्ष' (स्मृताः) कहलाते हैं ॥ ४७ ॥

गुल्म, गुच्छ, तृण, प्रतान तथा बेल—

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥ (२८)

(विविधम्) अनेक प्रकार के (गुच्छ) जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि (गुल्मम्) एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि (तथैव) उसी प्रकार (तृणजातयः) घास की सब जातियां, (बीजकाण्डरुहाणि) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (प्रतानाः) उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि (च) और (वल्ल्यः) उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें (एव) ये सब स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं ॥ ४८ ॥

वृक्षों में अन्तश्चेतना—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ (२९)

(कर्महेतुना) पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण (बहुरूपेण तमसा) बहुत प्रकार के अज्ञान आदि तमोगुण से (वेष्टिताः) आवेष्टित=घिरे हुए या भरपूर (एते) ये स्थावर जीव [४६-४८] (सुख-दुःख-समन्विताः) सुख और दुःख के भावों से संयुक्त हुए (अन्तःसंज्ञाः भवन्ति) आन्तरिक चेतना वाले होते हैं। अर्थात् इनके भीतर चेतना तो होती है किन्तु चर प्राणियों

के समान बाहरी क्रियाओं में प्रकट नहीं होती। अत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना और भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता ॥ ४९ ॥

अनुशीलन : वृक्षों की चेतनता पर विचार—मनु ने यहां वृक्षादि में चेतना तो स्वीकार की है किन्तु वह चेतना बाह्यरूप में प्रकट होने वाली न होकर केवल आन्तरिक मानी है। दूसरी बात यह है कि ये अत्यधिक तमोगुण से वेष्टित हैं।

यद्यपि सुख-दुःख के भावों से युक्त चेतना इनमें है किन्तु तमोगुणाधिक्य के कारण उनकी अनुभूति इनमें नहीं है। जैसे मूर्च्छित प्राणी में चेतना होते हुए भी सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता। अतः वृक्षों के साथ सुख-दुख का व्यवहार नहीं है। सुख-दुःख-अनुभूति उसी को होती है जो पञ्चेन्द्रियों से संयुक्त होता है और उन इन्द्रियों के साथ उनके विषय का सम्बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। सांख्यदर्शन में कहा है—

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः ॥ ५ । २७ ॥

"जब पांचों इन्द्रियों का पांच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प, व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चलाजाना, शून्य बहिरी वालों को स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध और शून्य जिह्वा वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।" (स०प्र० द्वादश समु०) इसी प्रकार वृक्षों को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती और इसी कारण वृक्षों के काटने आदि में हिंसा तथा हिंसाजन्य पाप नहीं होता।

परमात्मा की जाग्रत् एवं सुषुप्ति अवस्थाएं—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥ (३०)

(यदा) जब (सः देवः) वह परमात्मा [१ । ६ में वर्णित] (जागर्ति) जागता है अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है (तदा) तब (इदं जगत् चेष्टते) यह [१ । ४२–४९ में वर्णित] समस्त संसार चेष्टायुक्त [प्रकृति से समस्त विकृतियों की उत्पत्ति पुनः प्राणियों का श्वास- प्रश्वास चलना आदि चेष्टाओं से युक्त] होता है, (यदा) और जब (शान्तात्मा) यह शान्त आत्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर (स्वपिति) सोता है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति के कार्य से निवृत्त हो जाता है (तदा) तब (सर्वम्) यह समस्त संसार (निमीलति) प्रलय को प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

परमात्मा की सुषुप्ति अवस्था में जगत् की प्रलयावस्था—

तस्मिन्स्वपिति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥ (३१)

(सुस्थे) सृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए (तस्मिन् स्वपिति तु) उस परमात्मा के सोने पर (कर्मात्मानः) कर्मों—श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना आदि

कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे (शरीरिणः) देहधारी जीव भी (स्वकर्मभ्यः, निवर्तन्ते) अपने-अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं (च) और (मनः) 'महत्' तत्त्व (ग्लानिम्) उदासीनता=सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को (ऋच्छति) प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

अनुशीलन : मन शब्द से यहाँ 'महत्तत्त्व' अर्थ अभिप्रेत है। इसकी पुष्टि के लिए १।१४–१५ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥ (३२)

(तस्मिन् महात्मनि) उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में (यदा) जब (युगपत् तु प्रलीयन्ते) एकसाथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं (तदा) तब (अयं सर्वभूतात्मा) यह सब प्राणियों का आश्रय-स्थान परमात्मा (निर्वृतः) सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुआ-हुआ (सुखं स्वपिति) सुखपूर्वक सोता है ॥ ५४ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥ (३३)

(सः अव्ययः) वह अविनाशी परमात्मा (एवम्) इस प्रकार [५१-५४ के अनुसार] (जाग्रत्-स्वप्नाभ्याम्) जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा (इदं सर्वं चर-अचरम्) इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः (अजस्रं सञ्जीवयति) प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है (च) और फिर (प्रमापयति) मारता है अर्थात् कारण में लीन करता है ॥ ५७ ॥

अनुशीलन : मान्यता एवं भावसाम्यता के लिए इसकी पुष्टि में १२।१२४ श्लोक भी द्रष्टव्य है।

निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त और दिन-रात का काल-परिमाण—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥ (३४)

(दश च अष्टौ च) दस और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह (निमेषाः) निमेषों [=पलक झपकने का समय] की (काष्ठा) एक काष्ठा होती है (ताः त्रिंशत्तु) उन तीस काष्ठाओं की (कला) एक कला होती है (त्रिंशत्कलाः) तीस कलाओं का (मुहूर्तः स्यात्) [४८ मिनट का] होता है, और (तावतः तु) उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्तों के (अहोरात्रम्) एक दिन-रात होते हैं ॥ ६४ ॥

अनुशीलन : (१) प्राचीन काल-परिमाण की आधुनिक काल परिमाणों से तुलना—आधुनिक काल-विभाग के अनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा सकता है—८/४५ सैकेण्ड का निमेष, ३⅕ सैकेण्ड की १ काष्ठा, १ मिनट ३६ सैकेण्ड की १ कला, ४८ मिनट का १ मुहूर्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

(२) ६४ वें श्लोक की शैली पर विचार—यहां पाठकों को यह शंका हो सकती है कि जब मनु की शैली किसी भी विषय और प्रसंग के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत देने की है (जैसा कि भूमिका में प्रदर्शित है) तो यह काल-प्रमाण का प्रसंग बिना संकेत के क्यों प्रारम्भ कर दिया गया? इसके उत्तर में स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस प्रसंग का भी कई स्थानों पर संकेत है। ५२-५७ श्लोकों में परमात्मा की जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओं की प्रसंग से चर्चा की थी। उसी से यह कालप्रमाण का प्रसंग सम्बद्ध है। वे श्लोक इसकी भूमिकावत् हैं। आलंकारिक वर्णन करते समय सृष्टिकाल को परमात्मा की जाग्रत् अवस्था माना है और सुषुप्ति को प्रलय अवस्था। ये अवस्थाएं दिन और रात की अपेक्षा रखती हैं, अतः परमात्मा का दिन कितना और रात कितनी होती है यह बतलाना आवश्यक हुआ। उसे ही कहने के लिए प्रारम्भ में मानुष-दिन-रात का वर्णन करते हुए [६४-६५] ६८ वें श्लोक में परमात्मा के दिन-रात का वर्णन करने का संकेत दे दिया है और ७३ वें में इस चर्चा को समाप्त किया है। इस प्रकार इन श्लोकों के प्रसंग की कड़ी सुनिश्चित क्रम के पूर्वापर प्रसंगों से जुड़ी हुई है।

सूर्य द्वारा दिन-रात का विभाग—

अहोरात्रे विभजते सूर्य्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥ (३५)

(सूर्य्यः) सूर्य (मानुष-दैविके) मानुष=मनुष्यों के और दैवी=देवों के (अहोरात्रे) दिन-रातों का (विभजते) विभाग करता है, उनमें (भूतानां स्वप्नाय रात्रिः) प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और (कर्मणां चेष्टायै अहः) कामों के करने के लिए 'दिन' होता है ॥ ६५ ॥

दैवी दिन-रात उत्तरायण-दक्षिणायन—

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ (३६)

(वर्षम्) मनुष्यों का एक वर्ष (दैवे रात्रि-अहनी) एक दैवी 'दिन-रात' होते हैं (तयोः पुनः प्रविभागः) उन दैवी 'दिनरात' का भी फिर विभाग है—(तत्र+उदगयनम् अहः) उसमें सूर्य की भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् 'उत्तरायण' दैवी दिन कहलाता है, और (दक्षिणा-

यनम् रात्रिः स्यात्) सूर्य की दक्षिण की ओर स्थिति अर्थात् 'दक्षिणायन' दैवी रात है ॥ ६७ ॥

अनुशीलन : (१) **उत्तरायण-दक्षिणायन का विवेचन**—इस श्लोक में दैवी दिन-रातों का वर्णन किया गया है। यहाँ देव शब्द से कोई लौकिक-अलौकिक प्राणिविशेष अभिप्रेत नहीं है अपितु जड़-देवता सूर्य का आलंकारिक वर्णन है। ६५ वें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में सूर्य को मानुष और दैवी दिन-रातों का विभागकर्त्ता बतलाया गया है। उसी के क्रम से यहां उत्तरायण और दक्षिणायन रूपी दिन-रातों का वर्णन है। सूर्य के ये दोनों अयन छः-छः मास निम्न प्रकार होते हैं—

१. उत्तरायण
- १. भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर सूर्य की स्थिति का काल।
- २. मकररेखा से उत्तर कर्करेखा की ओर स्थिति का काल।
- ३. माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़—इन छह मासों का समय।
- ४. शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु का काल।

२. दक्षिणायन
- १ भूमध्य रेखा से दक्षिण की ओर सूर्य की स्थिति का काल।
- २. कर्क रेखा से दक्षिण मकररेखा की ओर स्थिति का काल।
- ३. श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक आग्रहायण, पौष—इन छह मासों का समय।
- ४. वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतुओं का काल।

मानुष दिन उज्ज्वल एवं तीव्र प्रकाशमय होता है और रात्रि अनुज्ज्वल एवं मंद प्रकाश (तारे चन्द्र आदि का प्रकाश) वाली होती है। इसी प्रकार उत्तरायण के समय ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रकाश और ताप में तीव्रता की अधिकता होती है, अतः यह अयन दिन के समान है। दक्षिणायन के समय हेमन्त ऋतु में सूर्य के प्रकाश और ताप में स्वल्पता एवं मन्दता होती है, अतः वह अयन रात्रि के समान है। इस प्रकार दैवी दिन-रातों का आलंकारिक वर्णन है।

(२) **सूर्य जड़ देवता है**—निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—"**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।**" (७।४।१५) अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्युस्थानीय को देवता कहते हैं।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अतः देव या देवता है।

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं। उनमें वसुसंज्ञक देवताओं में 'सूर्य' को भी परिगणित किया है—

"स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशत् इति ? अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत् इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च, एते वसवः ।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणाः (प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च) आत्मा-एकादशास्ते ।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्य एते आदित्याः ।

(३) कतम इन्द्र, कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । तदाहुः । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स ब्रह्मात्यदित्या-चक्षते । (शत० कां० १४ । प्रपा० १६)

इसके अतिरिक्त दिव्यगुण और दिव्य कर्म वाले व्यक्ति भी देव कहाते हैं यथा—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव ।" (प्रपा० ७।११) [विस्तृत समीक्षा ३।८२ पर द्रष्टव्य है] ।

ब्रह्म के दिन-रात का वर्णन—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥ (३७)

[मनु महर्षियों से कहते हैं कि] (ब्राह्मस्य तु क्षपा+अहस्य) ब्राह्म=परमात्मा के दिन-रात का (तु) तथा (एकैकशः युगानाम्) एक-एक युगों का (यत् प्रमाणम्) जो कालपरिमाण है (तत्) उसे (क्रमशः) क्रमानुसार और (समासतः) संक्षेप से (निबोधत) सुनो ॥ ६८ ॥

अनुशीलन : ब्राह्मदिन व ब्राह्मरात्रि का विशेष परिमाण (१।७२) में द्रष्टव्य है ।

सतयुग का परिमाण—

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य यावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥ (३८)

(तत् चत्वारि सहस्राणि वर्षाणां कृतं युगम् आहुः) उन दैवी [६७वें में जिनके दिन-रातों का वर्णन है] चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है । (तस्य) इस सतयुग की (यावत्+शती सन्ध्या) जितने दिव्य सौ वर्ष की अर्थात् ४०० वर्ष की सन्ध्या होती है और (तथाविधः) उतने ही वर्षों का अर्थात् ४०० वर्षों का (सन्ध्यांशः) संध्यांश का समय होता है ॥६९॥

अनुशीलन : चार युगों का परिमाण—किसी भी युग के पूर्वसन्धि-काल को 'संध्या' और उत्तरसन्धि काल को 'संध्यांश' कहा जाता है । श्लोक के अनुसार सतयुग का कालपरिमाण—४०००+४०० (संध्यावर्ष)+४०० (संध्यांशवर्ष)=४८०० दिव्यवर्ष बनता है । इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुना करना पड़ेगा । इस प्रकार ४८००+३६०=१७२८००० मानुष वर्षों का एक सतयुग होता है ।

त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का परिमाण—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥ (३९)

(च) और (इतरेषु त्रिषु) शेष अन्य तीन—त्रेता, द्वापर, कलियुगों में (ससंध्येषु ससंध्यांशेषु) 'संध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में (सहस्राणि च शतानि एक-अपायेन) क्रमशः एक-एक हजार और एक-एक सौ घटा देने से (वर्तन्ते) उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकल आता है अर्थात् ४८०० दिव्यवर्षों का सतयुग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्र और संध्या ४०० वर्ष व संध्यांश ४०० वर्ष में से एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष + ३०० संध्यावर्ष + ३०० संन्ध्यांशवर्ष = ३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है इसी—२००० + २०० + २०० = २४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १००० + १०० + १०० = १२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है ॥ ७० ॥

देवयुग का परिमाण—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥ (४०)

(यद् + एतत्) जो यह (आदौ) पहले [६९-७० में] (चतुर्युगम्) चारों युगों को (परिसंख्यातम्) कालपरिमाण के रूप में गिनाया है (एतद्) यह (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का काल [मनुष्यों का एक चतुर्युगी का काल] (देवानाम्) देवताओं का (युगम्) एक युग (उच्यते) कहा जाता है ॥ ७१ ॥

अनुशीलन : चार युगों के परिमाणकी तुलनात्मक तालिका—१२००० दिव्यवर्षों की एक चतुर्युगी होती है। उसे मानुष वर्षों में बदलने लिए ३६० से गुणा करने पर १२००० + ३६० = ४३,२०,००० मानुष वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दोनों श्लोकों के कालपरिमाण को तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

दिव्यवर्ष,	संध्यावर्ष,	संध्यांशवर्ष,	कुल दिव्यवर्षोंको	गुणा करनेसे	मानुषवर्ष,	युगनाम
४००० +	४०० +	४०० =	४८०० ×	३६० =	१७,२८,०००	सतयुग
३००० +	३०० +	३०० =	३६०० ×	३६० =	१२,९६,०००	त्रेतायुग
२००० +	२०० +	२०० =	२४०० ×	३६० =	८,६४,०००	द्वापरयुग
१००० +	१०० +	१०० =	१२०० ×	३६० =	४,३२,०००	कलियुग
१०००० +	१००० +	१००० =	१२००० —	३६० =	४३,२०,०००	एकचतुर्युगी

ब्रह्म के दिन-रात का परिमाण—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥ (४१)

(दैविकानां युगानाम् तु) देवयुगों को (सहस्रं परिसंख्यया) हजार से गुणा करने पर जो कालपरिमाण निकलता है, जैसे—चार मानुषयुगों के दिव्यवर्ष १२००० होते हैं, उनको हजार से गुणा करने पर १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का (ब्राह्मम्) परमात्मा का (एकं अहः) एक दिन (च) और (तावतीं रात्रिम्) उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक रात (ज्ञेयम्) समझनी चाहिए ॥ ७२ ॥

अनुशीलन : चार मानुष युगों के दिव्यवर्ष—१२००० × १००० = १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन अथवा रात्रि हुई। यह १,२०,०० ००० × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानुषवर्षोंका कालपरिमाण बनता है। चार अरब बत्तीस करोड़ मानुष वर्षों का सृष्ट्युत्पत्ति काल है, जो परमात्मा की जाग्रत् अवस्था (सृष्टि में प्रवृत्त रहना) का दिन है। इतना ही काल सुषुप्ति अवस्था (सृष्टिकार्यों से निवृत्त होकर प्रलय रखना) का रात्रि-काल है (यही १।५२—५७ श्लोकों में आलंकारिक रूप से वर्णित है)।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥ (४२)

जो लोग (तत् युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यम्+अहः) उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को (च) और (तावतीम् एव रात्रिम्) उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को (विदुः) समझते हैं (ते वै) वे ही (अहोरात्रविदः जनाः) वास्तव में दिन-रात=सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय के काल-विज्ञान के वेत्ता लोग हैं ॥ ७३ ॥

अनुशीलन : वेदोत्पत्ति-समय पर विचार—महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में १। ६८ से ७३ श्लोकों को उद्धृत करके उनका भाव निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर अर्थात् १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय होय कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ?

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं—स्वायंभुव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ (सात) मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ (चौदह) मन्वन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है, सो उस की गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षों का सतयुग रक्खा है; (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता; (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख, बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है।

एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नौ सौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिस को आर्यलोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रखी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है; और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता, है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है, इसके (१,९६,०८,५२,९७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिये। जैसे आज पर्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं।" (ऋ० भू० पृष्ठ २३-२४)

सुषुप्तावस्था से जागने पर सृष्टि-उत्पत्ति का प्रारम्भ—

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥७४॥ (४३)

(सः प्रसुप्तः) वह प्रलय-अवस्था में सोया हुआ-सा [१।५२-५७] परमात्मा (तस्य अहर्निशस्य+अन्ते) उस [१।६८-७२] दिन-रात के बाद (प्रति-बुध्यते) जागता है=सृष्ट्युत्पत्ति में प्रवृत्त होता है (च) और (प्रति-बुद्धः) जागकर (सद्-असद्+आत्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और जो विकारी अंश से कार्यरूप में अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक प्रकृति के आद्यकार्यतत्त्व को (सृजति) सृष्टि करता है ॥ ७४ ॥

अनुशीलन : (१) यहां सृष्टि-उत्पत्ति का नया प्रसंग प्रारम्भ नहीं किया गया है अपितु पूर्वोक्त प्रसंग में [१।१४-१६] तत्त्वों की उत्पत्ति के साथ भूतों की उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन नहीं हो पाया था, उसी शेष वर्णन को यहां विस्तार से दर्शाया है।

(२) इस श्लोक में मन का अर्थ 'महत्तत्त्व' है जो सृष्टि-उत्पत्ति में प्रकृति का प्रथम कार्य है। इसकी पुष्टि के लिए विस्तृत समीक्षा १।१४-१५ के अनुशीलन में देखिए।

सूक्ष्म पञ्चभूतों की उत्पत्ति के क्रम में आकाश की उत्पत्ति—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥ (४४)

(सिसृक्षया) सृष्टि को रचने की इच्छा से फिर वह परमात्मा (मनः सृष्टिं विकुरुते) महत्तत्त्व की सृष्टि को विकारी भाव में लाता है—अहंकार के रूप में विकृत करता है (तस्मात्) फिर उस के विकारी अंश से (चोद्य-मानम् आकाशं जायते) प्रेरित हुआ-हुआ 'आकाश' उत्पन्न होता है। (तस्य) उस आकाश का (गुणं शब्दं विदुः) गुण 'शब्द' को मानते हैं ॥ ७५ ॥

अनुशीलन : आकाशोत्पत्ति के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा है उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें?" (स० प्र० अष्टम समु०)

वायु की उत्पत्ति—

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥ (४५)

(आकाशात् तु विकुर्वाणात्) उस आकाश के विकारोत्पादक अंश से (सर्वगन्धवहः) सब गन्धों को वहन करने वाला (शुचिः) शुद्ध और (बलवान्) शक्तिशाली (वायुः) 'वायु' (जायते) उत्पन्न होता है (सः वै) वह वायु निश्चय से (स्पर्शगुणः) 'स्पर्श' गुणवाला (मतः) माना गया है ॥७६॥

अग्नि की उत्पत्ति—

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णुः तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥ (४६)

(वायोः+अपि) उस वायु के भी (विकुर्वाणात्) विकारोत्पादक अंश से (विरोचिष्णुः) उज्ज्वल (तमोनुदम्) अन्धकार को नष्ट करने वाली (भास्वत्) प्रकाशक (ज्योतिः+उत्पद्यते) 'अग्नि' उत्पन्न होती है (तत्+रूप गुणम्+उच्यते) उसका गुण 'रूप' कहा है ॥ ७७ ॥

जल और पृथिवी की उत्पत्ति—

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥ (४७)

(च) और (ज्योतिषः विकुर्वाणात्) अग्नि के विकारोत्पादक अंश से (रसगुणाः आपः स्मृताः) 'रस' गुण वाला जल उत्पन्न होता है और (अद्भ्यः) जल से (गन्धगुणा भूमिः) 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है (इति+एषा सृष्टिः+आदितः) यह इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर [१।१४ से) यहां तक वर्णित सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया है ॥ ७८ ॥

अनुशीलन : ७५ से ७८ तक के श्लोकों की प्रक्रिया को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए १।१६ पर 'अनुशीलन' में सं० १ समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

मन्वन्तर के काल-परिमाण—

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥ (४८)

(प्राक्) पहले श्लोकों में [१।७१] (यत्) जो (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का (दैविकं युगम्+उदितम्) एक 'देवयुग' कहा है (तत्+एकसप्ततिगुणम्) उससे इकहत्तर गुणा समय अर्थात् १२०००×७१=८,५२,००० दिव्यवर्षों का अथवा ८,५२,००० दिव्यवर्ष×३६०=३०,

६७,२०,००० मानुषवर्षों का (इह मन्वन्तरम् उच्यते) यहां एक 'मन्वन्तर का कालपरिमाण माना गया है ॥ ७६ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥ (४६)

(परमेष्ठी) वह सबसे महान् परमात्मा (असंख्यानि मन्वन्तराणि) असंख्य 'मन्वन्तरों' को (सर्गः) सृष्टि-उत्पत्ति (च) और (संहारः एव) प्रलय को (क्रीडन्+इव) खेलता हुआ-सा (पुनः-पुनः) बार-बार (कुरुते) करता रहता है ॥ ८० ॥

अनुशीलन—१।७६–८० श्लोकों को उद्धृत करके इनके भाव को महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"इन श्लोकों में दैव-वर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होयगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचना, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा।" (पृ० २४)

सृष्टि प्रवाह से अनादि—

"(प्रश्न) कभी सृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं ?

(उत्तर) नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि, अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसका आदि वा अन्त नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि-अन्त होता रहता है; क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण, [ये] तीन स्वरूप से अनादि हैं वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और वर्तमान प्रवाह से अनादि है। जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता है कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिए।"

(स० प्र० २२३)

मनुप्रोक्त काल-परिमाण की तालिका

(श्लोक १।६४ से १।८० तक वर्णित)

पलक गिरने का समय	१ निमेष	८/४५ सेकेण्ड
१८ निमेष	१ काष्ठा	३ 1/5 सेकेण्ड
३० काष्ठा	१ कला	१ मिनट ३६ सेकेण्ड
३० कला	१ मुहूर्त्त	४८ मिनट या दो घड़ी
३० मुहूर्त्त	१ दिनरात	२४ घण्टे या ६० घड़ी
१५ दिनरात	१ पक्ष (मानव)	
२ पक्ष	१ मास (मानव)	
६ मास	१ अयन (मानव) (उत्तरायण या दक्षिणायन)	१ दिन या रात (दिव्य)
२ अयन (१२ मास)	१ वर्ष (मानव)	१ दिनरात (दिव्य)
३६० दिनरात (दिव्य)	३६० वर्ष (मानव)	१ वर्ष (दिव्य)

४,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= १४,४०,००० मानववर्ष	सतयुग का प्रमुखकाल-परिमाण
४०० ,, ,,	= १,४४,००० ,,	सतयुग का संध्याकाल
४०० ,, ,,	= १,४४,००० ,,	सतयुग का संध्यांशकाल
४,८०० ,, ,,	= १७,२८,००० ,,	सतयुग का पूर्ण काल-परिमाण

३,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= १०,८०,००० मानववर्ष	त्रेता का प्रमुख काल-परिमाण
३०० ,, ,,	= १,०८,००० ,,	त्रेता का संध्याकाल
३०० ,, ,,	= १,०८,००० ,,	त्रेता का संध्यांशकाल
३,६०० ,, ,,	= १२,९६,००० ,,	त्रेता का पूर्ण काल-परिमाण
२,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ७,२०,००० मानववर्ष	द्वापर का प्रमुख काल-परिमाण
२०० ,, ,,	= ७२,००० ,,	द्वापर का संध्याकाल
२०० ,, ,,	= ७२,००० ,,	द्वापर का संध्यांशकाल
२,४०० ,, ,,	= ८,६४,००० ,,	द्वापर का पूर्ण काल-परिमाण
१,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ३,६०,००० मानववर्ष	कलि का प्रमुख काल-परिमाण
१०० ,, ,,	= ३६,००० ,,	कलि का संध्याकाल
१०० ,, ,,	= ३६,००० ,,	कलि का संध्यांशकाल
१,२०० ,, ,,	= ४,३२,००० ,,	कलि का पूर्ण काल-परिमाण
१२,००० दिव्यवर्ष × ३६०	=४३,२०,००० मानववर्ष	एक चतुर्युगी (मानव) का समय या देवों का एक युग
१२,००० × ७१ ,, × ३६०	=३०,६७,१०,००० ,,	एक मन्वन्तर का समय
१,२०,००,००० ,, × ३६० (१००० दिव्य युग)	=४,३२,००,००,०००,,	ब्रह्म का एक दिन या एक रात का काल-परिणाम अर्थात् सृष्टि की समयावधि या एक प्रलय की समयावधि
२,४०,००,००० दिव्यवर्ष × ३६०	=८,६४,००,००,०००मानववर्ष	ब्रह्म का एक दिन-रात का काल अर्थात् एक सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय की कालावधि

चारों वर्णों के कर्मों का निर्धारण—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥ (५०)

(अस्य सर्वस्य सर्गस्य) इस [५—८० पर्यन्त श्लोकों में वर्णित] समस्त संसार की (गुप्त्यर्थम्) गुप्ति अर्थात् सुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिए (सः महाद्युतिः) महातेजस्वी परमात्मा ने (मुख-बाहु-उरु-पद्-जानाम्) मुख, बाहु, जंघा और पैर की तुलना से निर्मितों के अर्थात् क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के (पृथक् कर्माणि+अकल्पयत्) पृथक्-पृथक् कर्म बनाये ॥ ८७ ॥

अनुशीलन : 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणा वर्णव्यवस्था की सूचक—(१) मनु ने वेद के आधार पर वर्णव्यवस्था का विधान किया है। यजु० ३१।१०—११ में जो वर्णव्यवस्था प्रदर्शित की है, मनु ने उसी को यथावत् प्रस्तुत किया है। यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। इस श्लोक में और १।३१ में भी यह स्पष्ट किया है कि समाज में चारों वर्णों का निर्माण मुख, बाहु, ऊरु और पैर की तुलना के अनुसार हुआ है और तदनुसार ही कर्मों का निर्धारण किया है [१।८८—९१]। जो व्यक्ति इन कर्मों का पालन करेगा, वह उस-उस वर्ण का अधिकारी होगा। (विस्तृत विश्लेषण के लिए १।३१ की अनुशीलन समीक्षा और १। ९२—१०७, २। ११—१३, १०। ६५ की अन्तर्विरोध शीर्षक समीक्षा द्रष्टव्य है)।

(२) स्वयं 'वर्ण' शब्द इस व्यवस्था को कर्माधारित व्यवस्था सिद्ध करता है। निरुक्त में वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति दी है—"**वर्णो वृणोतेः**" [२।१।४] अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह वर्ण है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः
गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ।"

(ऋ० भा० भू० वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात्—गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जावे वह वर्ण है।

(३) वर्णों के नामों की व्युत्पत्ति से भी वर्णों के कर्मों का बोध होता है। शब्द में जो भाव है वही उस वर्ण का प्रमुख कर्म है। उन कर्मों को अपनाने से ही व्यक्ति उस वर्ण का अधिकारी बनता है। (विस्तृत विश्लेषण १।८८—९१ श्लोकों के अनुशीलन में देखिए)।

ब्राह्मण के कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥ (५१)

"(ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (अध्ययनम्-अध्यापनम्) पढ़ना-पढ़ाना (तथा) तथा (यजन याजनम्) यज्ञ करना-कराना, (दानं च प्रतिग्रहम् एव) दान देना और लेना, ये छः कर्म (अकल्पयत्) हैं" ॥८८॥ (स० प्र० ८९)

'(एक) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें (दो)—पूर्ण विद्या पढ़ें, (तीन)—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें, (चार)—यज्ञ करावें, (पांच)—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें, (छठा)—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी"।

"इनमें से तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, धर्म में; और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं। परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥

जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है।" (सं० वि० १७४)

अनुशीलन : 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक—वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण किया है और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है। 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा० ४।२।५९) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति है—**'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः'** अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है। मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है।

ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है। निम्न वचनों में ब्राह्मण के कर्त्तव्य उद्दिष्ट हैं—

(क) **आग्नेयो ब्राह्मणः** (तां० १५।४।८)। **आग्नेयो हि ब्राह्मणः** (काठ० २९।१०)
=यज्ञाग्नि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण होता है।

(ख) **ब्राह्मणो व्रतभृत्** (तै० सं० १।६।७।२)। **व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्** (श० १२।८।२।४)
=ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों=कर्मों को धारण करने वाला होता है। सत्य बोलना व्रत का एक रूप है।

(ग) **गायत्रो वै ब्राह्मणः** (ऐ० १।२८)। **गायत्रो यज्ञः** (गो० पू० ४।२४)। **गायत्रो वै बृहस्पतिः** (तां० ५।१।१५)
=ब्राह्मण गायत्र होता है। गायत्र वेद, यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं।

क्षत्रिय के कर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥ (५२)

'दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपांग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना......(विषयेषु + अप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना—लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलता आदि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना।'' ॥ ८९ ॥ + (स० प्र० १७५)

+ (क्षत्रियस्य समासतः) ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं ॥ ८९ ॥

''न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन दान विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर आत्मा से बलवान् रहना।'' (स० प्र० पृ० ६०)

अनुशीलन : 'क्षत्रिय' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक—(१) क्षणु—हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'क्तः' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में त्रैङ्=पालन करने अर्थ में (भ्वादि) धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा० ३।२।१०१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'इय्' होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, 'क्षत्राद् घः' (अ० ४।१।१३८) सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घः' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना। 'क्षदति रक्षति जनान् क्षत्रः' जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, **क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स 'क्षतः'=घातादिः, ततस्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः**=आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय, कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में—**क्षत्रं राजन्यः** (ऐ० ८।२; ३।४) **क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्यः** (श० १३।१।५।३)=क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है जो प्रजा का रक्षक होता है।

(२) यहां अपत्यार्थ में 'इय्' आदेश के योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं? इसकी शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है। वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है। अष्टाध्यायी २।१।१९ में **'संख्यावंश्येन'** सूत्र में विद्या से जन्म

माना है। मनुस्मृति २ । ११६—१२३ श्लोकों में स्पष्टतः विद्या के आधार पर जन्म माना है। इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव, विद्या के आधार पर भी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं। जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी या अपत्य आदि नहीं होते किन्तु फिर भी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या आदि यथा वरुणानी, मैत्रावरुणः आदि प्रयोग होते हैं।

(३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७ । १ से ६ । २२५ श्लोकों में है।

वैश्य के कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।। ६० ।। (५३)

"(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन वर्धन करना (दानं) विद्या-धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना (कुसीद) एक सैंकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना (कृषि) खेती करना (वैश्यस्य) ये वैश्य के कर्म हैं" ।। ६० ।।
(सं० प्र० ६१)

"(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीनों धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक् पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) ब्याज का लेना ❀ (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना, बोना आदि व्यवहार का जानना. ये चार कर्म वैश्य की जीविका।"
(स० वि० १७६)

❀"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये, उससे आगे कौड़ी न लेवे, न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे"।
(स० वि० पृ० १७६ पर ऋ० दया० की टिप्पणी)

अनुशीलन : 'वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक—(१) **"विशः मनुष्यनाम"** (निघं० २।३) उससे भावार्थ में 'यत्', उससे स्वार्थ में 'अण्'। अथवा 'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना। **"यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति सः 'वैश्यः' व्यवहारविद्याकुशलः जनो वा**=जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध व्यावहारिक विद्याओं में कुशल जन 'वैश्य' होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में—

"एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः" (तां० १८।४।६) **"तस्माद् बहुपशु-वैश्वदेवो हि जागतो (वैश्यः)** (तां ६।१।१०)=पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य है।

(२) वैश्य के विस्तार से कर्त्तव्यों का वर्णन द्रष्टव्य है ६।२२५–३३३ में।
शूद्र के कर्म—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ६१ ॥ (५४)

"(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन—जिसको पढ़ने से विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अन-सूयया) निन्दा से रहित प्रीति से (शुश्रूषाम्) सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है" ॥ ६१ ॥

(सं० वि० १७७)

अनुशीलन : 'शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक—(१) शुच्—शोकार्थक (भ्वादि) धातु से **'शुचेर्दश्च'** (उणा० २।१९) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है। **शूद्रः=शोचनीयः शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साधुर् अविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा**=शूद्र वह व्यक्ति होता है जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण-पोषण की चिन्ता की जाती है ऐसा सेवक मनुष्य। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—**"असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः"** (तै० ३।२।३।९) असतः=अविद्यातः। अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न जीवनस्थिति रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, ऐसा मनुष्य शूद्र होता है।

(२) शूद्र के कर्त्तव्यों के प्रसङ्ग में, शूद्र के प्रति मनु की धारणा क्या है, इस बात पर भी प्रकाश पड़ जाता है। मनु ने वहां शूद्र के लिए शुचिः='पवित्र' (शरीर

एवं मन से), उत्कृष्ट शुश्रूषुः = 'उत्तम सेवा करने वाला' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि मनु की शूद्र के प्रति हीन भावना नहीं है। सबकी सेवा करने वाला व्यक्ति अपवित्र कैसे कहा जा सकता है?

(३) शूद्र जन्मना नहीं होता किन्तु वह व्यक्ति शूद्र होता है जो उपनयन में दीक्षित होकर ब्रह्मजन्म अर्थात् वेदाध्ययन रूपी द्वितीय जन्म को प्राप्त नहीं कर सका। द्विजों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका अध्ययनरूपी दूसरा ब्रह्मजन्म उपनयन के समय होता है "**द्विर्जायते इति द्विजः।**" शूद्र का यह दूसरा जन्म न होने से उसका पर्यायवाची शब्द 'एकजातिः' = एक जन्म वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि मनु जन्मना नहीं, व्यक्ति को कर्मणा शूद्र मानते हैं। देखिए मनु ने यह मान्यता १०।४ में प्रकट की है—

"चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः।"

(४) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकता है।

[९।३३५॥ १०।६५]

(५) शूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ९।३३४–३३५ श्लोकों में है। उन श्लोकों से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते तथा न घृणास्पद मानते हैं।

मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मानुसार है—

(क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे। यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है, अपितु बहुत बार तो अज्ञान में विरोधी कर्म भी कर देता है। जब उस अवस्था में उसे जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति माना जा रहा है [९८] तो बाद में कर्मों के न करने या विरोधी कर्मों के करने से भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए। लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से यह स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और व्यवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं। यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी। कोई पालन करे या न करे व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा क्योंकि उनका श्रेष्ठत्व-अश्रेष्ठत्व तो जन्म से निर्धारित हो ही चुका। लेकिन मनु ने कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है। निम्न श्लोकों में उनकी अत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है— **शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।**

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ १०।६५॥

अर्थात्—श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुण-युक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिए।

(ख) अपने धर्म-कर्मों को पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है। यथा—(अ) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है (**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥** २।१६८)। (आ) संध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है (**न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः॥** २।१०३)। (इ) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होने पर द्विज बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति 'व्रात्य' संज्ञक शूद्र कहलाते हैं [२।३७–४०]। (ई) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त करता है (**उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥** (४।२४५)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना है और न जन्मना आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते।

(ग) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह पुनः अपने वर्ण का हो सकता है। मनु ने यह मान्यता, 'व्रात्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है [११।१९१–१९६]। इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है।

(घ) मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन गुणों की योग्यता के आधार पर माना है [२।१३६, १३७, १५४, १५६]। मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते अपितु कर्म या गुणों को ही आधार मानते हैं।

(ङ) मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए "**लोकानां विवृद्धयर्थम्**" (समाज की वृद्धि के लिए १।३१) और "**सर्वस्यास्य तु गुप्त्यर्थम्**" (इस समस्त जगत् की सुरक्षा के लिये २।८७) को कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है। इन कारणों पर विशेष ध्यान देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं। क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हो गये तो उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी? केवल

उच्च लोगोंकी ही वृद्धि होगी। अपितु वृद्धि भी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा। उसे अपने स्तर की उन्नति का अवसर ही कहां मिलेगा? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निरर्थक होगा। इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है—वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजाएं नहीं बनायीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिये) चार वर्ण बनाये अर्थात् पहले प्रजाएं बनीं, जो जन्मना समान थीं फिर उनमें से गुण कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज-व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे। इस प्रयोगपद्धति से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है।

(च) (१) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है:..'वर्णो वृणोतेः' (२।१।४) अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है—

"वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हाः
गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः।"
(ऋ० भा० भू० वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात्—गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण है।

(२) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार ही रखे गये हैं। नामों की व्युत्पत्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १। ८७–९१ श्लोकों पर देखिए)।

(३) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं। यथा—

(अ) सः (क्षत्रियः) ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति।" (ऐ० ७।२३)
क्षत्रिय दीक्षित होकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।

(आ) "तस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते॥" (शत० ३।२।१।४०)

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो अथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयन-संस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ब्राह्मण कर्म वाले होते हैं। बाद में कर्मानुसार क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं।

(छ) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं, इसमें अन्य प्रमाण भी हैं—(क) शूद्र को वे हीन नहीं मानते अपितु 'शुचिः'=पवित्र 'उत्कृष्ट शुश्रूषु' आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं [९।३३५]। सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला भला अपवित्र, अछूत, या हीन कैसे हो सकता है? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते

हैं कि वह पढ़ता नहीं। उसका वेदाध्ययन रूपी दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता। ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्यों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूपी दूसरा जन्म होता है—'**द्विर्जायते इति द्विजः**। शूद्र को 'एकजातिः' न पढ़ने के आधार पर कहा जाता है। देखिए प्रमाण—"**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णाः द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः॥**' १०।४॥ (ग) मनु कर्मों के आधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं—(१)जो श्रेष्ठ धर्मानुकूल आर्य परम्पराओं में दीक्षित हैं,वे चारों वर्ण आर्य हैं। (२) इनमें अदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१०।४५]। (घ) मनु कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ=आर्य और अश्रेष्ठ =अनार्य मानते हैं। १०।५७–५८ में वे कर्मों के आधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं। ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्ध करती हैं।

(ज) १।३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है।१।१६,२३,२६—३० श्लोकों के द्वारा यह कहा जा चुका कि एकसाथ अनेक प्रजायें उत्पन्न हुई—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के रूप में प्रजायें उत्पन्न नहीं हुई, अपितु समान मनुष्यों के रूप में हुई। फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुख, बाहु, जंघा और पैर की साम्यता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया। १।३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है। उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का बनाया। इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये। यह वर्णन-क्रम (अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है। इन अनेक प्रमाणों से 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अतः इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कहलायेगी। [इस मान्यता के विषय में १।३१,८७–९१॥ २।११॥ १०।६५ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।]

(धर्मोत्पत्ति विषय की भूमिका)

(१।५५ से ५७ तक)

सदाचार परम धर्म—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥१०८॥ (५५)

(श्रुत्युक्तः च स्मार्तः+एव) वेदों में कहा हुआ और स्मृतियों में भी कहा हुआ जो (आचारः) आचरण है (परमः धर्मः) वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है (तस्मात्) इसीलिए (आत्मवान् द्विजः) आत्मोन्नति चाहने वाले द्विज को चाहिए कि वह (अस्मिन्) इस श्रेष्ठाचरण में (सदा नित्यं युक्तः स्यात्)

सदा निरन्तर प्रयत्नशील रहे ।। १०८ ।।

उपरोक्त श्लोक देकर स्वामी जी ने निम्न अर्थ दिया है—

"कहने सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहे।" (स० प्र० ५२)

"जो सत्य-भाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।" (स० प्र० २६०)

आचारहीन को वैदिक कर्मों की फलप्राप्ति नहीं—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ।। १०६ ।। (५६)

(आचारात् विच्युतः विप्रः) जो धर्माचरण से रहित [द्विज] है वह (वेदफलं न अश्नुते) वेद-प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, और जो (आचारेण तु संयुक्तः) विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही (सम्पूर्णफलभाक् भवेत) सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ।। १०६ ।। (स० प्र० ५२)

अनुशीलन : १०६ श्लोक की अन्यत्र पुष्टि—ऋषियों की मान्यताएं शृङ्खलावत् एक संगति में जुड़ी होती हैं और वे प्रसङ्गवश, उन वचनों की पुष्टि स्वयं कर देते हैं। मनु ने इस श्लोक की मान्यता की पुष्टि अन्य श्लोकों में भी की है। उनसे इसकी व्याख्या पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिए इस श्लोक के भाव का अन्य श्लोकों में स्पष्टीकरण—

(क) **यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।**
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ।। १।१३५ [२।१६०] ।।

(ख) **वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।**
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ।। २।७२ (२।६७) ।।

इन श्लोकों में उक्त वेद और वेदोक्त कर्मों में आचरणहीन व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती, आचारवान् को मिलती है इस प्रकार सदाचार से ही धर्म में गति होती है। सदाचार धर्म का मूल है—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ।। ११० ।। (५७)

(एवम्) इस प्रकार (आचारतः) धर्माचरण से ही (धर्मस्य) धर्म की (गतिम्) प्राप्ति एवं अभिवृद्धि (दृष्ट्वा) देखकर (मुनयः) मुनियों ने

(सर्वस्य तपसः परं मूलम्) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूल आधार (आचारम्) धर्माचरण को ही (जगृहुः) स्वीकार किया है ॥ ११० ॥

धर्मोत्पत्ति विषय

(१ । ५८ से ७८ तक)

विद्वानों द्वारा सेवित धर्म का वर्णन-प्रारम्भ—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१२०॥ [२।१] (५८)

(अद्वेषरागिभिः सद्भिः विद्वद्भिः नित्यं सेवितः) जिसका सेवन रागद्वेषरहित [श्रेष्ठ] विद्वान् लोग नित्य करें (यो हृदयेन+अभ्यनुज्ञातः धर्मः) जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जाने वही धर्म माननीय और करणीय है । ❀

❀ (तं निबोधत) उसे सुनो ॥ १२० ॥ (स० प्र० २५६)

"जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ।"

(सं० वि० पृ० १८५)

सकामता-अकामता विवेचन—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥१२१॥ [२।२] (५९)

(हि) क्योंकि (इह) इस संसार में (कामात्मता) अत्यन्त कामात्मता (च) और (अकामात्मता) निष्कामता (प्रशस्ता न अस्ति) श्रेष्ठ नहीं है। (वेदाधिगमः च वैदिकः कर्मयोगः) वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म (काम्यः) ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं ॥ १२१ ॥ (स० प्र० २५६)

"अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें, इसलिये ।" (स० प्र० ४८)

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ १२२ [२।३] (६०)

जो कोई कहे कि मैं निष्काम हूं वा हो जाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि—) (सर्वे) सब काम (यज्ञाः व्रतानि यमधर्माः) यज्ञ❀, सत्य-

भाषणादि व्रत, यम-नियम रूपी धर्म आदि (संकल्पजाः) संकल्प ही से बनते हैं (कामः वै) निश्चय से प्रत्येक कामना (संकल्पमूलः) संकल्पमूलक होती है अर्थात् संकल्प से ही प्रत्येक इच्छा उत्पन्न होती है] ।। १२२ ।।

(स० प्र० २५६)

❋ (संकल्पसंभवाः) संकल्प से सम्भव होते हैं (च) और............

अनुशीलन : यम और नियम ४। २०४ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।।१२३।।[२१४](६१)

(हि) क्योंकि (यत् यत् किंचित् कुरुते) जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं (तत्तत् कामस्य चेष्टितम्) वे सब कामना ही से चलते हैं। (अकामस्य) जो इच्छा न हो तो❋ (काचिद्क्रिया) आंख का खोलना और मींचना भी (न दृश्यते) नहीं हो सकता ।। १२३ ।। (सं० प्र० २५६)

❋(इह) इस संसार में (कर्हिचित्) कभी भी।

"मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच, विकास का होना भी सर्वथा असम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है वह-वह चेष्टा कामना के बिना नहीं है।"

(स० प्र० ५२)

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चैव सर्वान्कामान्समश्नुते ।।१२४।। [२१५] (६२)

(तेषु) उन वेदोक्त कर्मों में (सम्यक् वर्त्तमानः) अच्छी प्रकार संलग्न व्यक्ति (अमरलोकतां गच्छति) मोक्ष को प्राप्त करता है (च) और (यथा संकल्पितान् सर्वान् एव कामान्) संकल्प की गई सभी कामनाओं को (समश्नुते) भलीभांति प्राप्त करता है ।। १२४ ।।

अनुशीलन : **बूलर द्वारा घोषित प्रक्षिप्तता पर विचार**—बूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने १२१ से १२४ श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। उनकी युक्ति है कि यहां सकामता और निष्कामता का कोई प्रसंग नहीं है, अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं। उनकी युक्ति मान्य नहीं है, क्योंकि १२५ वें श्लोक में धर्म का लक्षण कहा है और उनमें वेद का सर्वप्रथम एवं प्रमुख स्थान है। ये श्लोक अगले श्लोकों की भूमिका के रूप में हैं, १२१ वें श्लोक में जो 'वेदाधिगमः' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह संकेत मिलता है। इस प्रकार इनमें प्रसंगविरोध नहीं आता।

धर्म के मूलस्रोत और आधार—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।१२५।। [२१६] (६३)

(अखिलः वेदः) सम्पूर्ण वेद अर्थात् चारों वेद (च) और (तद्-विदाम्) उन वेदों के पारंगत [जिन्होंने २।१ से २।२२४ में प्रोक्त विधिपूर्वक वेदाध्ययन किया है] विद्वानों के (स्मृति-शीले) रचे हुए स्मृतिग्रन्थ अर्थात् वेदानुकूल धर्मशास्त्र और श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न स्वभाव (च) और (साधूनाम् एव आचारः) श्रेष्ठ-सत्याचरण करने वाले पुरुषों का 'सदाचरण' (च+एव) और ऐसे ही श्रेष्ठ-सदाचरण वाले व्यक्तियों की (आत्मनः—तुष्टिः) अपनी आत्मा की संतुष्टि एवं प्रसन्नता अर्थात् जिस काम के करने में आत्मा में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न न हो अपितु सात्त्विक संतुष्टि और प्रसन्नता का अनुभव हो, ये चार (धर्ममूलम्) धर्म के मूलस्रोत=उत्पत्ति-स्थान या आधार हैं ॥१२५॥*

"इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिसमें न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है तभी उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं है।" (स० प्र० २५७)

अनुशीलन : धर्म के चार लक्षणों का स्वरूप—यह श्लोक मनुस्मृति के प्रमुख आधारभूत श्लोकों में से एक है। यहां मनु द्वारा वर्णित धर्म के चार लक्षणों पर मनूक्त मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाता है तथा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है—

१. **वेद**—धर्म के चार मूलस्रोतों या साक्षात् लक्षणों में सर्वप्रथम स्थान वेद का है [१।१२५(२।६)]। चारों वेद धर्मनिर्णय में परमप्रमाण हैं [१।१३२(२।१३)]। इनको श्रुति भी कहा जाता है [१।१३२(२।१३)]। वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वर-रचित हैं [१।२३॥ १२।९९] और इन्हीं के द्वारा संसार की वस्तुओं, धर्मों का प्रथम ज्ञान प्राप्त होता है [१।२१]। वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं [१।३,२१॥१२।९४, ९७-९९, आदि]। क्योंकि चारों वेद धर्म के प्रथम मूलस्रोत हैं, अतः इनका कुतर्क आदि का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए [१।१२९(२।१०), १।१३०(२।११)] और

*[प्रचलित अर्थ—सब वेद, उन्हें (वेदों को) जानने वालों (मनु आदि) की स्मृति और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकार के शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्नता (जहां धर्मशास्त्रों में अनेक पक्ष कहे गये हैं, वहां जिस पक्ष वाले विधान को स्वीकार करने में अपना मन प्रसन्न हो), ये सब धर्म के मूल हैं।]

इस प्रकार जो वेदों की अवमानना करता है वह नास्तिक है तथा समाज से बहिष्कार्य है [१।१३०(२।११)]। त्रयीविद्यारूप चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद 'अखिलवेद' कहे जाते हैं [१।२३॥ ११।२६४॥ १२।११२]।

२. **स्मृति और शील**—चारों वेदों के ज्ञाता विद्वानों द्वारा रचित स्मृतियाँ और उनका श्रेष्ठ गुणसम्पन्न स्वभाव धर्म का दूसरा मूलस्रोत है। इन्हें धर्मशास्त्र भी कहते हैं [१।१२९(२।१०)]। जिन विद्वानों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्मपालन पूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन-मनन किया है, वही प्रामाणिक धर्म-शास्त्र के प्रणेता हो सकते हैं तथा वही धर्म-विषयक संशय में प्रमाण हैं, अन्य नहीं—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणाः ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥१२।१०८॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणाः ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१२।१०९॥

स्मृतियाँ वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक हैं, इसी प्रकार स्वभाव भी। वेद विरुद्ध स्मृतियाँ अमान्य हैं [१२।१०६॥ १२।९४]।

३. **सदाचार**—धर्म का तीसरा मूलस्रोत 'सदाचार' है। श्लोक के पूर्व पदों में उक्त भाव के अध्याहार और निम्नलिखित प्रमाणों से यह सिद्ध है कि 'वेदवेत्ता विद्वानों का 'श्रेष्ठ—सत्याचरण' ही 'सदाचार' है। क्योंकि धर्म के दूसरे लक्षण में वेदवेत्ताओं के स्वभाव को ही धर्म का स्रोत माना है। स्वभावानुसारी आचरण होता है। इस प्रकार यह भी वेदवेत्ताओं का होना चाहिए। इसकी पुष्टि स्वयं मनु ने की है। १।१३६ (२।१७) में दिव्यगुणों से युक्त विद्वानों द्वारा सुशोभित देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा है। उस देश में रहने वाले उन विद्वानों के आचरण को ही 'सदाचार' माना है [१।१३७(२।१८)]। उन्हीं से समस्त शिक्षाएं ग्रहण करने का कथन है [१।१३९(२।२०)]। १।१२० में भी रागद्वेष से रहित सदाचारी विद्वानों द्वारा सेवित और उन द्वारा हृदय से मान्य आचरण को धर्म माना है। वेदों में अपारङ्गत विद्वानों का आचरण 'सदाचार' नहीं कहा जा सकता।

४. **'आत्मनः तुष्टि' और 'स्वस्य-आत्मनः प्रियम्' का स्पष्टीकरण**—धर्म का चौथा मूलस्रोत 'आत्मा की संतुष्टि' और 'अपनी आत्मा का प्रिय' कार्य है। इस स्रोत की स्पष्ट परिभाषा विचारणीय है। यहां प्रश्न उठता है कि सभी व्यक्तियों की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म है अथवा एक स्तर विशेष की सीमा तक के व्यक्तियों की आत्मा का प्रिय कार्य? उत्तर में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हर किसी की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म नहीं अपितु वेदानुकूल आचरण वाले सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पवित्रात्मा विद्वानों की उनकी अपनी आत्मा की संतुष्टि, प्रसन्नता और प्रियता के अनुकूल जो कार्य है वही धर्म है। हर किसी के प्रिय को धर्म मानने में निम्न आपत्तिय आती हैं—

(क) चारों धर्म के स्रोतों की उच्चता, गम्भीरता का स्तर समानप्राय: होना चाहिए। यह नहीं कि एक अत्युन्नत स्तर का हो और एक निम्नतम। एक ओर वेद धर्म के स्रोत हैं और दूसरी ओर हर किसी की आत्मा ही प्रमाण है। इस प्रकार तो व्यक्तियों की संख्या के अनुसार आत्मा के प्रिय कार्य भी पृथक्-पृथक् हो जायेंगे।

(ख) अगर यह कहें कि 'आत्मा की प्रसन्नता' का अभिप्राय यह है कि 'मैं नहीं चाहता कि कोई मुझे कष्ट दे तो मुझे भी औरों के साथ कष्टदायक व्यवहार नहीं करना चाहिए।' तो यह बात उन व्यवहारों में तो लागू हो जाती है जिनमें भय, शङ्का, लज्जा, पीड़ा का सम्बन्ध है, अन्य व्यवहारों में नहीं। इसमें अव्याप्ति-दोष आता है। जैसे कोई व्यक्ति संध्योपासन, अग्निहोत्र, विद्याप्राप्ति, शुद्धि आदि कर्त्तव्यपालन नहीं करता और अतिइन्द्रियासक्ति, अन्धविश्वास, अन्धमान्यता आदि से ग्रस्त है तो वह चाहेगा कि मैं इन बातों के संदर्भ में किसी को कुछ नहीं कहता तो दूसरे मुझे भी न कहें। दूसरों के कहने से वह पीड़ा अनुभव करेगा। जब कि धर्मविहित बात अवश्य कथनीय और पालनीय होती है। उनको दण्डपूर्वक भी कराने का विधान है।

(ग) इसी प्रकार जो दुष्टसंस्कारी, राक्षससंस्कारी, तमोगुणी प्राणी हैं, बाल्यकाल से ही जो जीवहत्या, मांस-भक्षण आदि कार्य करते आ रहे हैं, उनमें इन कार्यों के प्रति भय, शङ्का, लज्जा की अनुभूति दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः उनकी 'आत्मा के प्रिय' को धर्म नहीं माना जा सकता।

इन आपत्तियों के होने से यह कहा जा सकता है कि सभी की आत्मा का प्रिय धर्म नहीं, अपितु सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पुण्यात्मा विद्वानों की आत्मा के प्रिय कार्य ही धर्म हैं। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण उल्लेखनीय हैं—

(घ) मनु ने धर्मकथन में अविद्वानों को प्रमाण नहीं माना अपितु उनको मानने से हानि की आशङ्का प्रकट की है, केवल विशेषस्तर के विद्वानों को ही प्रमाण माना है [१२।११३-११५]। अतः अविद्वानों की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म का लक्षण नहीं हो सकता।

(ङ) मनु ने प्रत्येक बात में वेदानुकूलता को ही धर्म में प्रमाण माना है, अन्य को नहीं [१।१२७ (२।८), १।१२८ (२।६)॥ १२।६४]। इस प्रकार वेदानुकूलता से हीन 'आत्मा के प्रिय कार्य' धर्म के लक्षण नहीं हो सकते।

(च) यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि मनु ने जहां-जहां आत्मा की संतुष्टि की बातें कही हैं वे द्विजों के कर्त्तव्यों के प्रसङ्ग में कही हैं, उनसे भिन्न निम्नस्तरीय व्यक्तियों के लिए नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार द्विजों को विद्वान्, धर्मात्मा, और सद्गुण-सम्पन्न अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार भी इस शब्द से व्याख्या में उक्त अर्थ पुष्ट होता है।

(छ) **आत्मा का प्रिय क्या है ?**—जिस कार्य में आत्मा को भय, शङ्का, लज्जा का अनुभव नहीं होता ऐसे कर्म ही वस्तुतः आत्मा के प्रसन्नताकारक कर्म हैं। इससे

भिन्न कर्म 'आत्मा के प्रिय' नहीं कहे जा सकते [८।९६]। और ऐसे कर्म केवल सात्त्विक कर्म हैं, देखिए १२।२७, ३७ श्लोक। इनसे विपरीत रजोगुणी और तमोगुणी कार्य आत्मा में प्रसन्नता नहीं करते [१२।३३,३५]। यदि प्रसन्नता अनुभव होती है तो वह वास्तविक नहीं है। मनु ने स्वयं स्पष्ट करते हुए कहा है—

(अ) "सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः" ॥१२।३८॥

वे सतोगुण निम्न हैं—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥१२।३१॥

इस प्रमाणयुक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सतोगुणी कार्यों से ही 'आत्मा की प्रसन्नता या संतुष्टि' होती है। सतोगुणी व्यक्तियों की प्रसन्नता ही धर्म का लक्षण हो सकता है। अतः श्लोकोक्त अर्थ ही मनुसम्मत है।

५. यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वेद से उत्तरवर्ती सभी धर्मस्रोतों में वेदानुकूलता का होना मनु ने अनिवार्य माना है। मनु ने प्रत्येक धर्म को श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर ग्रहण करना विहित किया है—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ १।१२७(२।८)

६. 'धर्म क्या है' इसके ज्ञान के लिए १।२ की समीक्षा देखिए।

[इन सभी बातों पर विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति–अनुशीलन' में भी द्रष्टव्य है]।

आत्मानुकूल धर्म का ग्रहण—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ १२७ ॥ [२।८] (६४)

(विद्वान्) [विद्वान्] मनुष्य (इदं सर्वं तु निखिलं समवेक्ष्य) सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध विचार कर [१। १२५ में वर्णित] (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान नेत्र करके (श्रुतिप्रामाण्यतः) श्रुतिप्रमाण से (स्वधर्मे वै निविशेत) स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ॥ १२७ ॥
(स० प्र० २५६)

श्रुति-स्मृति-प्रोक्त धर्म के अनुष्ठान का फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ १२८ ॥ [२।९] (६५)

(हि) क्योंकि (मानवः) जो मनुष्य (श्रुति-स्मृति-उदितम्) वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त (धर्मम्+अनुतिष्ठन्) धर्म का अनुष्ठान करता है, वह (इह कीर्त्ति च प्रेत्य अनुत्तमं सुखम्) इस लोक में कीर्त्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है ॥१२८॥ (स० प्र०२५७)

श्रुति और स्मृति का परिचय—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥१२६॥ [२।१०] (६६)

(श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः) श्रुति को वेद समझना चाहिए, और (धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः) धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए (ते) ये श्रुति और स्मृति शास्त्र (सर्वार्थेषु) सब स्थितियों और सब बातों में (अमीमांस्ये) कुतर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, [इस अर्थ की पुष्टि अगले १३० वें श्लोक की शब्दावली से होती है, देखिए उसका अर्थ], (हि) क्योंकि (ताभ्याम्) उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से (धर्मः) धर्म (निर्बभौ) उत्पन्न हुआ है ॥ १२६ ॥

अनुशीलन : वेद और श्रुति नाम के कारण—वेदों के वेद और श्रुति ये दो नाम क्यों पड़े, इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

(उत्तर) अर्थ भेद से, क्योंकि एक विद् धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी विद् धातु सत्तार्थक है, तीसरे विद्लृ का लाभ अर्थ है, चौथे विद् का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है । जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता आदि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मा आदि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है ।"

(ऋ० भू० २०-२१)

'जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं ।" (ऋ० भू० ७६)

श्रुति-स्मृति का अपमान करने वाला नास्तिक है—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ १३० ॥ [२।११] (६७)

(यः द्विजः) जो कोई मनुष्य (ते मूले) वेद और वेदानुकूल आप्त-ग्रन्थों का (हेतुशास्त्राश्रयात्) तर्कशास्त्र के आश्रय से (अवमन्येत) अपमान करे (सः) उसको (साधुभिः बहिष्कार्यः) श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें, क्योंकि (वेदनिन्दकः) जो वेद की निन्दा करता है (नास्तिकः) वही नास्तिक कहाता है ॥ १३० ॥ (स० प्र० २५६)

"जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकालके बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।" (द० ल० वे० ख० ४८)

"जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिये" (स० प्र० ५३)

अनुशीलन : **'तर्क' शब्द का विवेचन**— श्लोक १२९ और १३० में मनु ने वेदों और वेदवेत्ता व वेदानुसारी आचरण वाले ऋषियों द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रों को 'तर्कशास्त्र का सहारा लेकर अपमान न करने योग्य' कहा है। यहाँ तर्क से अभिप्राय 'उचित तर्क' से नहीं अपितु 'कुतर्क से है। यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट होती है—

(क) मनु ने 'अवमन्येत' क्रिया का प्रयोग किया है जिससे उनका भाव यह है कि तर्कशास्त्र की आड़ लेकर कुतर्क से उनका अपमान न करे।

(ख) कुछ चीजें तर्क से परे होती हैं, जैसे-ईश्वररचित जगत् की प्रलयावस्था मनुष्य बुद्धि से 'अप्रतर्क्य' है अर्थात् बुद्धिगम्य नहीं है [१।५]। इसी प्रकार ईश्वर-प्रदत्त वेदज्ञान भी 'अचिन्त्य', 'अप्रमेय' 'अप्रतर्क्य' अर्थात् मनुष्य-बुद्धि द्वारा पूर्णतः बुद्धिगम्य नहीं है [१।३, २१, २३]। मनु उसे पूर्णतः तर्कानुकूल अर्थात् युक्तिसंगत मानते हैं, अतः वेदज्ञान पर तर्क करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि कोई उसका खण्डन करता है, तो वह कुतर्क ही करता है।

(ग) मनु और अन्य शास्त्र भी तर्क को धर्म निश्चय में प्रमाण मानते हैं शास्त्रों ने तर्क को एक ऋषि का रूप दिया है। किन्तु तर्क करने वाला व्यक्ति कौन हो सकता है यह भी निर्धारित कर दिया है। तत्त्वज्ञानी शास्त्रवेत्ता व्यक्ति ही तर्क करने की योग्यता रखते हैं, अन्य नहीं। मनु कहते हैं कि तर्क से धर्म का ज्ञान प्राप्त करें। साथ ही तर्क के योग्य कौन व्यक्ति हैं यह भी स्पष्ट करते हैं—

(अ) **प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।**
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ १२।१०५॥

(आ) **आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।**
यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः॥ १२।१०६॥

(इ) **त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की········परिषद् स्याद्दशावरा॥** १२।१११॥

(घ) निरुक्तशास्त्र में तर्क को ऋषि के रूप में वर्णित करते हैं। उसके द्वारा वेदमन्त्रार्थों का निश्चय बतलाया है। लेकिन वहीं मनु वाली मान्यता भी स्पष्ट कर दी है कि अतपस्वी, अनृषि और अल्पविद्या वाले लोग तर्क की योग्यता नहीं रखते—

'अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणशः एव तु

निर्वक्तव्याः नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' इत्युक्तं पुरस्तात्।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूलहम्। (परिशिष्ट ११। १३)

इस आधार पर उपर्युक्त योग्यताओं से रहित व्यक्ति को मनु और शास्त्र तर्क करने के अयोग्य मानते हैं। विशेषरूप से वेद और वेदानुकूल शास्त्रों के सन्दर्भ में। इसी आशय से इन श्लोकों में वेदादि को अमीमांस्य और तर्क से अनवमाननीय कहा है।

धर्म के चार आधाररूप लक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१३१॥[२।१२](६८)

"(वेदः स्मृतिः सदाचारः) वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचरण (च) और (स्वस्य आत्मनः प्रियम्), अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण (एतत् चतुर्विधं धर्मस्य लक्षणम्) ये चार धर्म के❀ लक्षण हैं अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है" ॥ १३१ ॥ (स० प्र० २५७)

❀ (साक्षात) सुस्पष्ट या प्रत्यक्ष कराने वाले…………

"श्रुति—वेद, स्मृति—वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य-भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं" (स० प्र० ५३)

अनुशीलन—(क) धर्म एवं धर्म के मूलस्रोतों पर प्रामाणिक विस्तृत विवेचन १। १२५ पर द्रष्टव्य है।

(ख) ऋषि दयानन्द ने धर्म की व्याख्या दार्शनिक आधार ग्रहण करके निम्न प्रकार दी है—

(अ) **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** (वैशे० १। १। २)

जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।"

(आ) **चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः।** (पू० मी० १। १।२)

'(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है, उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है। (ऋ० भू० ११५)

धर्मजिज्ञासा में श्रुति परमप्रमाण और धर्मज्ञान के पात्र—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३२॥ [२।१३] (६९)

(अर्थकामेषु+असक्तानाम्) जो पुरुष अर्थ—सुवर्णादि रत्न और काम—स्त्री सेवनादि में नहीं फंसते हैं (धर्मज्ञानं विधीयते) उन्हीं को धर्म का ज्ञान होता है (धर्मजिज्ञासमानानाम्) जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे (प्रमाणं परमं श्रुतिः) वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्म-अधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता। १३२ ॥(स० प्र० ५३)

"परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात विषय-सेवा में फंसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है।" (स० प्र० २५७)

"धर्मशास्त्र में कहा है कि—'अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" (द० ल० वे० ख० ६)

"जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।"
(पू० प्र० १०५)

वेदोक्त सब विधान धर्म हैं—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१३३॥ [२।१४] (७०)

(यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात्) जहां कहीं श्रुति=वेद में दो पृथक् आदेश विहित हों (तत्र) ऐसे स्थलों पर (उभौ) वे दोनों ही विधान (धर्मौ स्मृतौ) धर्म माने हैं (मनीषिभिः) मनीषी विद्वानों ने (तौ उभौ अपि सम्यक् धर्मौ उक्तौ) उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है ॥ १३३ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१३४॥ [२।१५] (७१)

(उदिते) सूर्योदय के समय (च अनुदिते) और सूर्यास्त के समय (तथा) तथा (समयाध्युषिते) समय के अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् प्रत्येक अथवा किसी भी निर्धारित किये समय में [जैसे विशेष उपलक्ष्य में

आयोजित यज्ञ](सर्वथा यज्ञः वर्तते) सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए (इति इयं वैदिकी श्रुतिः) इस प्रकार ये तीनों ही धर्म हैं, ऐसी वैदिक मान्यता है ॥ १३४ ॥

अनुशीलन : अर्थभेद-एक मत के अनुसार यहाँ प्रातः के तीन यज्ञसमयों का विकल्प है - 'उदिते'=सूर्योदय होने पर, 'अनुदिते'=सूर्योदय से पूर्व नक्षत्र दीखने तक, 'समयाध्युषिते' = नक्षत्रदर्शन बन्द होने से सूर्यदर्शन से पूर्व तक। ऐसा अर्थ करने पर सायंकाल का परिगणन नहीं होता। इस टीका का अर्थ ही व्यापक एवं पूर्ण है।

ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १३६ ॥ [२ । १७] (७२)

(देवनद्योः सरस्वती–दृषद्वत्योः) देव अर्थात् दिव्यगुण और दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदी-प्रदेशों के (यत्+अन्तरम्) जो बीच का स्थान है (तम्) उस (देवनिर्मितम्-देशम्) दिव्यगुण एवं आचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये और निवास से सुशोभित देश को ('ब्रह्मावर्तम्' प्रचक्षते) 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है ॥१३६॥

[देव शब्द का 'दिव्यगुण और आचरण युक्त विद्वान्' शास्त्रप्रसिद्ध अर्थ है। अधिक जानकारी के लिए ३। ८२ पर 'देव' विषयक समीक्षा देखिए]।

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मावर्त्त के स्थान पर आर्यावर्त्त पाठ ग्रहण करके निम्न व्याख्या दी है—

"(देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः) देवनदियों—देव अर्थात् विद्वानों के संग से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदियों, उनमें सरस्वती नदी जो पश्चिम प्रान्त में वर्तमान उत्तर देश से दक्षिण समुद्र में गिरती है, जिसे सिन्धु नदी कहा जाता है और पूर्व में जो उत्तर से दक्षिण दशीय समुद्र में गिरती है, जिसे ब्रह्मपुत्र के नाम से जानते हैं; इन दोनो नदियों के (यत् अन्तरम्) बीच (देवनिर्मितम्) विद्वानो=आर्यों द्वारा सुशोभित (देशम्) स्थान (आर्यावर्त्तं प्रचक्षते) 'आर्यावर्त्त' कहलाता है" ॥ १३६ ॥ (ऋ० दया० पत्र वि० पृ० ६६—हिन्दी में अनूदित)

उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में इस श्लोक के साथ १४१ वां या २। २२ वां श्लोक संयुक्त करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"उत्तर में हिमालय दक्षिण मे विंध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्वभाग पहाड़ से निकलके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम और होकर दक्षिण के समुद्र में

मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।" (पृ० २२४)

सदाचार का लक्षण—

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१३७॥ [२।१८] (७३)

(तस्मिन् देशे) उस ब्रह्मावर्त्त देश में (वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्य-क्रमागतः यः आचारः) वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो आचार है। (सः) वह (सदाचारः+उच्यते) सदाचार कहलाता है॥ १३७॥ ❀

अनुशीलन : सान्तरालानाम् का संगत अर्थ—(१) इस श्लोक में टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' पद का 'वर्णसंकर या संकीर्ण जातियां' अर्थ अशुद्ध एवं मनुविरुद्ध किया है। यहां परम्परागत आचार को 'सदाचार' के रूप में परिभाषित किया है जब कि वर्णसंकरों के आचार को मनुस्मृति में 'सदाचार' के अन्तर्गत ही नहीं माना प्रत्युत निन्द्य आचार कहा है [१०। ५–७३]। अतः यहां इस पद का अर्थ 'आश्रम' ही करना चाहिए। मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय वर्णों और आश्रमों के धर्मोंका वर्णन करना है, वही प्रतिपादित है। प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषय को लक्षण के अन्तर्गत ग्रहण करने की कोई संगति भी सिद्ध नहीं होती। इस दृष्टि से भी 'आश्रम' अर्थ ही उपयुक्त है। १। २ श्लोक में प्रयुक्त 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद भी 'आश्रम' अर्थ का पोषक है और पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है (विशेष जानकारी के लिए १। २ पर 'अनुशीलन' देखिए)।

(२) **'पारंपर्यक्रम' से अभिप्राय**—यहां परम्परागत से अभिप्राय 'सृष्टि-प्रारम्भ में वेदों के विधानों से प्रचलित आचरण' से है क्योंकि वर्णों-आश्रमों की परम्परा और किसी से प्रारम्भ नहीं हुई अपितु वेदों से ही हुई है [१। २३,३१] वेदों से ही वर्ण-व्यवस्था, नामकरण आदि किये गये [१।२१,८७] ऐसी मनु की मान्यता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि मनु वेदविहित आचरण को ही 'सदाचार' मानते हैं [४। १५५, १। १०८ आदि]

❀ [**प्रचलित अर्थ**—उस देश में ब्राह्मण आदि और अम्बष्ठ रथकार आदि वर्ण संकर जातियों का कुलपरम्परागत जो आचार है, वही 'सदाचार' कहा जाता है॥ १३७॥ (२। १८)।]

सारे संसार के लोग ब्रह्मावर्त के विद्वानों से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥१३९॥[२।२०](७४)

(एतद् देशप्रसूतस्य) इसी ब्रह्मावर्त देश [१३६—१३७] में उत्पन्न हुए (अग्रजन्मनः सकाशात्) ब्राह्मणों=विद्वानों के सान्निध्य से (पृथिव्यां सर्वमानवाः) पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्य (स्वं स्वं) अपने-अपने (चरित्रं शिक्षेरन्) आचरण अर्थात् कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें ॥ १३९ ॥

महर्षि दयानन्द ने उसी आर्यावर्त के पाठ के अनुसार अर्थ किया है—

"इसी आर्यावर्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।" (स० प्र० २७३)

मध्यदेश की सीमा—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥१४०॥ [२।२१] (७५)

(हिमवद्-विन्ध्ययोः मध्यं) [उत्तर में] हिमालय पर्वत [और दक्षिण में] विन्ध्याचल के मध्यवर्ती (विनशनात्+अपि यत् प्राक्) विनशन प्रदेश= सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर जो पूर्वदिशा का प्रदेश है (च) और (प्रयागात् प्रत्यक्) प्रयाग प्रदेश से पश्चिम में जो प्रदेश है, वह (मध्यदेशः प्रकीर्तितः) 'मध्यदेश' कहा जाता है ॥ १४० ॥

आर्यावर्त्त देश की सीमा—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥१४१॥[२।२२] (७६)

(आ-समुद्रात्तु वै पूर्वात्) जो पूर्व समुद्र से लेकर (आ-समुद्रात्तु पश्चिमात्) पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान (तयोः एव गिर्योः अन्तरम्) उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे (बुधाः आर्यावर्त्तं विदुः) विद्वान् आर्यावर्त्त कहते हैं ॥ १४१ ॥
(ऋ० दया० पत्र० विज्ञा० ९९ हिन्दी-अनुवाद)

वह आर्यावर्त्त यज्ञिय देश है, उससे परे म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥१४२॥[२।२३](७७)

(तु) और (यत्र) जिस देश में (स्वभावतः कृष्णसारः चरति) स्वाभाविक रूप से कृष्णमृग विचरण करता है (सः) वह [१४१ में वर्णित] आर्यावर्त देश (यज्ञियः देशः ज्ञेयः) यज्ञों से सम्बद्ध=पवित्र, श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ कर्मों वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समझना। (अतः परः तु) इस आर्यावर्त से आगे=परे तो (म्लेच्छदेशः) म्लेच्छभाषाभाषी व्यक्तियों अथवा अशिक्षित व्यक्तियों के देश हैं ॥१४२॥ ❀

"जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश और म्लेच्छ देश कहाते हैं।" (स० प्र० २२५)

अनुशीलन : १४२ का सङ्गत अर्थ—(१) इस श्लोक का अन्य टीकाओं या भाष्यों में जो अर्थ मिलता है वह प्रासङ्गिक सिद्ध नहीं होता। (क) यतोहि, उस अर्थ के अनुसार इस श्लोक में 'यज्ञिय' और 'म्लेच्छ' देशों की एक परिभाषा-सी बन जाती है, जब कि यहां पूर्वापर प्रसङ्ग में यज्ञिय और म्लेच्छ देश की परिभाषाओं का कोई प्रसङ्ग नहीं बनता। (ख) यहाँ पूर्ववर्णन कुछ देशों की सीमाओं का है, और १४१ में उस प्रसङ्ग में आर्यावर्त की सीमा बतलायी है, अतः इस श्लोक का सम्बन्ध भी उसी के साथ बनता है। यह उसके प्रसङ्ग से विच्छिन्न श्लोक नहीं है। इस श्लोक में 'सः' पद इसे पूर्व श्लोक के साथ जोड़ने का संकेत करता है और 'तु' पद यह संकेत देता है कि उसी श्लोक की इसके साथ अनुवृत्ति है। पूर्व देश की विशेषता इसमें प्रदर्शित की है, इस प्रकार यह श्लोक उसका अर्थवाद है। (ग) पहले श्लोक में वर्णित देश का नाम 'आर्यावर्त' है और इस श्लोक में भी उसे यज्ञीय परम्पराओं के आधार पर आर्यों=श्रेष्ठों या श्रेष्ठ परम्परा वाले व्यक्तियों का देश बताया है। "**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**" [शत० १।७।१।५] प्रमाण के अनुसार सभी श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ कहते हैं। उसके साथ इस श्लोक में कृष्ण-मृग विचरण करने की एक प्राकृतिक विशेषता भी अलग से कह दी है। इस प्रकार इस भाष्य का अर्थ प्रासङ्गिक एवं मनुसम्मत है।

(२) **श्लोकार्थ में याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमाण**—

इस भाष्य में जो अर्थ किया गया है वही प्राचीन मान्यता के अनुरूप है, इसकी पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृति के एक श्लोक से हो जाती है। इस श्लोक में यज्ञीय देश की परिभाषा नहीं है, और न कृष्ण मृग को यज्ञीय देश का आधार या लक्षण माना गया है अपितु कृष्णमृग का विचरण करना आर्यावर्त की एक विशेषता मात्र प्रदर्शित की गई है। प्राचीन मान्यता भी यही है। धर्मों के कथन का प्रारम्भ करते हुए याज्ञवल्क्य स्मृति में इस बात को इसी रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्।

❀ [**प्रचलित अर्थ**—जहाँ पर काला मृग स्वभाव से ही विचरण करता है, वह 'यज्ञीय' देश है, इसके अतिरिक्त म्लेच्छ देश है ॥१४२॥]

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः तस्मिन् धर्मान् निबोधत ॥ आचा० २ ॥

अर्थात्—मिथिला निवासी उस योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने थोड़ी देर विचार करके मुनियों से कहा—'जिस देश में काला मृग विचरण करता है या पाया जाता है, उस (आर्यावर्त) देश में अनुष्ठेय धर्मों को सुनो' ॥

(२) **'म्लेच्छ' शब्द का अभिप्राय**—इस श्लोक में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द विचारणीय है। यहां म्लेच्छ शब्द का उत्तरकाल में रूढ़ 'अपवित्र' या 'नीच' अर्थ नहीं है। 'म्लेच्छ अव्यक्तभाषी' अर्थवान् धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से म्लेच्छ शब्द बनता है। जिसका अर्थ है—'ऐसे अशिक्षित लोग जो अस्पष्ट—अशुद्ध भाषा बोलते हैं।' दूसरे शब्दों में इनको हम यह भी कह सकते हैं—'जिन्होंने वर्णाश्रम धर्मानुसार शिक्षा-दीक्षा प्राप्त नहीं की है, ऐसे व्यक्ति।' उपर्युक्त प्रसङ्ग देशों की सीमा बतलाने का है अतः मनु कहते हैं कि उपर्युक्त देशों की सीमा के आगे म्लेच्छ व्यक्तियों के देश हैं। उस समय अशिक्षित देश भी थे, तभी तो मनु संसार के उन सभी देशों के लोगों को 'ब्रह्मावर्त' में आकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए कह रहे हैं [१।१३९ (२।२०)]। यह सीमावर्णन का प्रसंग होने से उन लोगों के प्रति इस श्लोक में कोई हीन मान्यता का भाव प्रदर्शित नहीं किया गया है। मनु व्यक्तियों को हीन अगर मानते हैं तो कर्मणा मानते हैं, जन्मना नहीं; चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो। ऊपर 'म्लेच्छ' का जो अर्थ प्रदर्शित किया है उसकी पुष्टि के लिए उनका ही एक प्रमाण प्रस्तुत है—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचः चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१०।४५॥

यहां 'म्लेच्छों' के लिए 'म्लेच्छवाचः' प्रयोग ध्यान देने योग्य है।

सृष्टि एवं धर्मोत्पत्ति विषय की समाप्ति का कथन, वर्णधर्मों का वर्णन प्रारम्भ—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य, वर्णधर्मान्निबोधत ॥१४४॥ [२।२५] (७८)

(एषा) यह (धर्मस्य योनिः) धर्म की उत्पत्ति [१।१२० से १३९ तक (अथवा २।१ से २।२०)] (च) और (अस्य सर्वस्य संभवः) इस समस्त जगत् की उत्पति [१।५ से ९१ तक] (समासेन) संक्षेप से (वः प्रकीर्तिता) आप लोगों को कही, अब (वर्णधर्मान्) धर्मों को (निबोधत) सुनो—॥१४४॥

अनुशीलन : (१) मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं—प्रथम अध्याय की समाप्ति इस श्लोक के बाद होनी चाहिए ११९ वें श्लोक के पश्चात् अध्याय की समाप्ति करना त्रुटिपूर्ण है। मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक न होकर परवर्ती है।

विभाजनकर्त्ता ने विषयों को अध्यायों का आधार बनाया है, जैसे—प्रथमाध्याय में सृष्टयुत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति विषय हैं, द्वितीय में ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म, तृतीय में गृहस्थ से सम्बद्ध धर्म, आदि। किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन विषयसंगत

नहीं है। पता नहीं विभाजनकर्त्ता की किस भ्रान्ति के कारण यह त्रुटि रह गयी है। प्रथम अध्याय में एक-दूसरे से सम्बद्ध दो विषय हैं—सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति। पारस्परिक घनिष्ठ सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक मुख्य विषय मानकर वर्णित किया है। १।२ में मनु से महर्षियों ने धर्मों के कथन करने की प्रार्थना की थी। धर्मकथन के लिए भूमिका के रूप में धर्मोत्पत्ति, धर्मस्रोत आदि का भी बतलाना आवश्यक था, और ये जगदाश्रित हैं—जगदुत्पत्ति के पश्चात् ही धर्म की उत्पत्ति, आवश्यकता और स्थिति बनती है—अतः इस दृष्टि से आवश्यक समझकर मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। १।४—५ में इस सृष्ट्युत्पत्ति विषय का संकेत-पूर्वक प्रारम्भ है और १। ६१ में कर्मों की रचना के साथ वह पूर्ण होता है तथा १०८ वें श्लोक से धर्म का प्रसंग प्रारम्भ होकर १। १४४ [अन्य संस्करणों के अनुसार २। २५] में समाप्त होता है। १। १४४ में मनु ने एकसाथ ही इन विषयों की पूर्णता का संकेत दिया है—"**एषा धर्मस्य वो योनिः……संभवश्चास्य सर्वस्य**…" जब मनु ने स्वयं उसका समापन एकसाथ और १४३ वें के बाद कहा है तो स्पष्ट है कि इससे पूर्व उस विषय को खण्डित नहीं किया जा सकता। यदि इन दोनों विषयों में एक सृष्ट्युत्पत्ति विषय की पूर्णता पर ही अध्याय-विभाजन किया जाता तो उसे भी एक ही विषय से युक्त होने के कारण स्वीकार्य मान लिया जा सकता था किन्तु परम्परागत अध्याय-विभाजन में तो प्रसंग भी तोड़ रखा है। धर्म के भूमिका रूप १०८—११० श्लोक तो प्रथम अध्याय में रह गये और शेष धर्म-वर्णन प्रसंग द्वितीय अध्याय में चला गया। इस प्रकार प्रसंग ही विखण्डित हो जाता है। १४४ वें के बाद अध्याय में विभाजन होने से न तो प्रसंग ही खण्डित होगा और न विषय, अपितु मनु के संकेत के अनुसार अध्याय की पूर्णता होती है। द्वितीय अध्याय के ये २५ श्लोक प्रथम अध्याय में परिगणित हो जाने से द्वितीय अध्यायों का विभाजन भी वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रूप से हो जायेगा। अन्य अध्यायों की भांति उसका—'**ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म**' यह एक ही मुख्य विषय रह जायेगा। इस प्रकार कई त्रुटियों के कारण परम्परागत अध्यायविभाजन गलत है, प्रथम अध्याय की समाप्ति १।१४४ (२।२५ अन्य प्रकाशनों में) के बाद होना चाहिए (अन्य जानकारी के लिये भूमिका में 'अध्याय-विभाजन' शीर्षक अध्याय पढ़िये)

(२) **मनुस्मृति में वर्णों और आश्रमधर्मों का साथ-साथ वर्णन**—

यहां केवल '**वर्णधर्मान्निबोधत**' और १०।१३१ में "**एषा धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**" इस उपसंहारात्मक पद को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न वर्णों और आश्रमों [१। २] दोनों का किया था फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णधर्म की ही बात क्यों कही? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आश्रमों के धर्म वर्णों के साथ-साथ चलते हैं। वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं। और, छठे अध्याय में आश्रमधर्मों की पूर्णता के

साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य भी पूर्ण हो जाते हैं। छठे अध्याय तक के चारों आश्रमों के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य सभी द्विजों के लिए एक सदृश पालनीय हैं। जो विधान इन अध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वही धर्म-कर्म हैं [१। ८८]।

उसके पश्चात् शेष वर्णों के व्यावहारिक कर्त्तव्यों का कथन—'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, अष्टम अध्याय और नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है। वैश्यों का ९।३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०। १ से १०। ८ तक] तथा शूद्र के कर्त्तव्यों का कथन ९। ३३४-३३५ [इस संस्करण में १०। ९-१० तक] पूर्ण हो जाता है।

(२) इस मध्य द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पञ्चम अध्यायों में गृहस्थाश्रम, षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का वर्णन है। आश्रमधर्मों को वर्णधर्म-विषय के अन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंगसंकेतक श्लोकों तथा उपसंहारात्मक श्लोकों से उसका कथन भी किया है [२।४३ (२।६८), २।२२४ (२।२४९), ३।२, ६७, २८६, ४।१, २५९, ५।१६९, ६।१, ३३, ८७-९०] आदि।

(३) इसी प्रकार इन अध्यायों में द्विज विप्र, ब्राह्मण शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है।

(४) मनु ने संभवत: इसी शैली के अनुरूप १।२ और १।१३७[२।१८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दोंका प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है—'**वर्णानाम् अन्तरे प्रभवः उत्पत्तिः स्थितिः येषां ते अन्तरप्रभवाः= आश्रमाः।**' इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है। यह मनु की शैली है। [इस विषय पर विस्तृत विवेचन मनुस्मृति-अनुशीलन में द्रष्टव्य है]।

इति महर्षि मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
अनुशीलन-समीक्षा-विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
'जगदुत्पत्ति-धर्मोत्पत्तिः' नामात्मकः प्रथमोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

(संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम-विषय)

(संस्कार २ । १ से २ । ३८ तक)

संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१॥ [२।२६] (१)

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि (वैदिकैः पुण्यैः कर्मभिः) वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से (द्विजन्मनाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का (निषेकादिः शरीरसंस्कारः कार्यः) निषेकादि [=गर्भाधान आदि] संस्कार करें, जो (इह च प्रेत्य पावनः) इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है ॥ १ ॥ (स० प्र० २५७)

अनुशीलन : संस्कारों के उद्देश्य और लाभ पर प्रकाश डालते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। अतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।" (स० वि० भूमिका)

संस्कारों से बुरे संस्कारों का निवारण—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२॥ [२।२७] (२)

(गार्भैः) गर्भशुद्धिकारक गर्भकालीन अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कारों से (जातकर्मचौल-मौञ्जीनिबन्धनैः) [जाते जन्मनि शैशवावस्थायां क्रियते यत् संस्कारकर्म तत् जातकर्म] जन्म होने पर शैशवावस्था में जो संस्कार किये जाते हैं वे जातकर्म कहलाते हैं। उनमें जातकर्म [२।४] नामकरण [२।५–८], निष्क्रमण [२।६], अन्न-प्राशन [२।६]; और चौल अर्थात् चूडाकर्म [२।१०], तथा मेखला-बन्धन अर्थात् उपनयन एवं वेदारम्भ आदि [२।११–४३॥२।४४,४६–२२४]

को ग्रहण कर (गुरुणा+अनुमतः स्नात्वा) गुरु की आज्ञा से स्नान करके (द्विजः) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (सवर्णाम्) अपने वर्ण की (लक्षणान्विताम्) उत्तम लक्षण युक्त (भार्याम्) स्त्री से (उद्वहेत) विवाह करे ॥ ४ ॥
(सं० वि० ६६)

"गुरु की आज्ञा से स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रम पूर्वक आके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दरलक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।"
(स० प्र० ७८)

अनुशीलन : (१) **विवाह से अभिप्राय**—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह-प्रापणे, धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से विवाह और 'उद्' उपसर्ग से इसका पर्यायवाची 'उद्वाह' शब्द बनता है। जिनका अर्थ है—'विशेष विधि पूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करके पारस्परिक जिम्मेदारी को वहन करना।' यह एक शास्त्रसम्मत सामाजिक विधान है। इसमें स्त्री-पुरुष सुख-सुविधा हेतु और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए दम्पती के रूप में एक-दूसरे के साथ रहने का निश्चय करते हैं और पारस्परिक दायित्वों को निभाते हैं। इस प्रकार रहकर सन्तानोत्पत्ति के द्वारा मानव वंश की अभिवृद्धि करते हैं।

इसको मनुस्मृति में 'पाणिग्रहण' संस्कार भी कहा गया है। इसका भी यही अभिप्राय है कि उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए एक-दूसरे का हाथ पकड़ना अर्थात् सहारा देना।

(२) **मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की आयु**—अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने यहां विवाह की आयु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्रसंगवश उस पर यहां विस्तृत विवेचन किया जाता है।

वेदों में तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गई है। इसी आधार पर वेदों में सौ और सौ वर्षों से अधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है—'**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम् अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥**" [यजु० ३६। २४]

(क) इस औसत आयु के आधार पर मनु ने मनुष्य-जीवन को निम्न चार अवस्थाओं में विभाजित करके उसकी अवधि निर्धारित की है—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ ४। १ ॥ ५। १६६।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ६। ३३ ॥

सौ वर्ष की आयु के इस प्रकार २५-२५ वर्ष के चार भाग होते हैं। आयु के

प्रथमभाग में अर्थात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। द्वितीय भाग में अर्थात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रहे। पुत्र का पुत्र होने पर अथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६।२] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर तृतीयभाग में अर्थात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे उसके पश्चात् चतुर्थ भाग में संन्यासी बन जाये।

इन विधानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि पुरुष की विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष है। उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए।

(ख) **स्त्री के विवाह की आयु**-इसका संकेत मनु ने ९।९० श्लोक में दिया है—

"त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्।"

अर्थात्-मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर कर सकती है।

कन्याओं को मासिक धर्म सामान्यतः १३-१५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है। तीन वर्ष के अनन्तर यह काल १६-१८ की आयु का होता है। अतः कन्या के विवाह की कम से कम आयु १६ वर्ष है। २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह करे। इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात से विवाह होना चाहिए। क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुष के तुल्य होती है।

(ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्त्तव्यों का जो वर्णन किया है, जैसे—गृहकार्यों में दक्ष होना, घर की साज-सज्जा, शुद्धि आदि में चतुर होना, आय-व्यय की संभाल रखना [५।१५०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुओं की संभाल, धार्मिक अनुष्ठानों का संयोजन [९।११, २६-२८, ९६, १०१], इनसे भी यह ज्ञात होता है कि ये किसी अल्पायु के नहीं अपितु समझदार युवती के लिए विहित कर्त्तव्य हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य आयु १६-१७ वर्ष से ऊपर ही है।

(३) **आयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु**—इस विषय में वैद्यक ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण होते हैं क्योंकि उनमें शरीर के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में शरीर की वृद्धि और क्षीणता के आधार पर चार अवस्थाएं प्रदर्शित की हैं और तदनुसार विवाह की आयु निर्धारित की है—

"चतस्रो अवस्थाः शरीरस्य वृद्धिः, यौवनम्, संपूर्णता, किंचित् परिहाणिः चेति। आषोडशात् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेः यौवनम्, आचत्वारिंशतः संपूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिः चेति।" [सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।२५॥]=शरीर की चार अवस्थाएं हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि=बढोतरी की अवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है और चालीसवें में यौवन की परिपक्वता होती है। उसके पश्चात् शरीर की धातुओं में कुछ-कुछ क्षीणता आने लगती है।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है। इससे पूर्व शरीर की धातुओं

में अपरिपक्वता होती है। बालविवाह से, जहां शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहां गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएं हो जाती हैं; जैसे—गर्भ का न रहना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का अस्वस्थ रहना आदि। इसी कारण सुश्रुतकार ने २५ वर्ष से पूर्व पुरुष का, १६ वर्ष से पूर्व कन्या के विवाह का निषेध किया है। कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाला बताते हैं। निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएं द्रष्टव्य हैं—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ सुश्रुत सूत्र० ३५। १०॥

ऊनषोडश वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ सुश्रुत शा० १०।४७-४८॥

(४) **वेद में विवाह की आयु**—वेद में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है। उपर्युक्त प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर बतलायी गयी है। इस प्रकार वेदों में भी २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है। मन्त्र निम्न है—

"**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥**" अथर्ववेद ११। ५। ५॥

अर्थात्—"जैसे, लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे।" (सं० वि० वेदारम्भप्रकरण)

विवाह-योग्य कन्या—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ५॥ (५)

(या मातुः असपिण्डा) जो स्त्री माता की छह पीढ़ी (च) और (पितुः असगोत्रा) पिता के गोत्र की न हो (सा) वही (द्विजातीनाम्) द्विजों के लिए (दारकर्मणि) विवाह करने में ❀ (प्रशस्ता) उत्तम है॥ ५॥
(सं० वि० ६६)

❀ (मैथुने) मैथुन के लिए

"जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है" (स० प्र० ७६)

विवाह में त्याज्य कुल—

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥ (६)

(स्त्रीसंबन्धे एतानि दशकुलानि) विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल (गो+अजा+अवि+धनधान्यतः समृद्धानि महान्ति+अपि) चाहे वे गाय ❀ आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों (परिवर्जयेत्) उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥ ६ ॥ (सं० वि० ६६)

❀(अजा) बकरी (अवि) भेड़·········

"चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री, आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे ।" (स० प्र० ८०)

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥ (७)

वे दश कुल ये हैं—(हीनक्रियम्) एक=जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो (निष्पुरुषम्) दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो (निश्छन्दः) तीसरा-जिस कुल में कोई विद्वान् न हो (रोमश+अर्शसम्) चौथा जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों, पांचवां—जिस कुल में बवासीर (क्षयी) छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो (आमयावी) सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो (अपस्मारि) आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो (श्वित्रि) नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ (च) और (कुष्ठि कुलानि) दशवां—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुष से विवाह कभी न करे ॥ ७ ॥ (सं० वि० ६६)

"जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले में भी प्रविष्ट हो जाते हैं । इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए ।" (स० प्र० ८०)

विवाह में त्याज्य कन्याएं—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥ (८)

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥ (९)

(कपिलाम्) पीले वर्ण वाली (अधिक+अङ्गीम्) अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि (रोगिणीम्) रोगवती (अलोमिकाम्) जिस के शरीर पर कुछ भी लोम न हों (अतिलोमाम्) जिसके शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों (वाचाटाम्) व्यर्थ अधिक बोलने हारी (पिङ्गलाम्) जिसके पीले, बिल्ली के सदृश नेत्र हों, तथा (ऋक्ष-वृक्ष-नदी-नाम्नीम्) जिस कन्या का ऋक्ष=नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती रोहिणी इत्यादि, ❁ नदी=जिसका गंगा, यमुना इत्यादि (अन्त्य-पर्वत-नामिकाम्) पर्वत—जिसका विंध्याचला इत्यादि (पक्षी +अहि-प्रेष्य-नाम्नीम्) पक्षी अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, अहि अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, प्रेष्य—दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषणनामिकाम्) कालिका, चंडिका इत्यादि नाम हो (न) उससे विवाह न करे ॥ ८, ९ ॥ (सं० वि० ९९) ❁

❁ (वृक्ष) तुलसिया, गेंदा, गुलाबा, चंपा, चमेली आदि वृक्ष नाम वाली । (स० प्र० ८०)

न पीले वर्ण वाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष[1] से लम्बी-चौड़ी अधिक

---

१. महर्षि-दयानन्द ने (३।८) श्लोक के 'अधिकांगी' शब्द के दो अर्थ किये हैं—(१) अधिक अङ्ग वाली, जैसी छंगुली आदि। (२) पुरुष से लम्बी चौड़ी। इस पर पौराणिकों का यह आक्षेप मिथ्या है कि इस शब्द के दोनों अर्थ नहीं बन सकते। देखिये इन अर्थों की सिद्धि—

(१) **अधिकाङ्गीम्=अधिकान्यंगानि यस्यास्ताम्** । अर्थात् जिसके अधिक अङ्ग हैं, वह छंगुली आदि। इस अर्थ में अधिक' शब्द विशिष्ट वाची तथा 'अङ्ग' शब्द अवयववाची है।

(२) **अधिकाङ्गीम्=अधिकम् अङ्गं=शरीरं यस्यास्ताम्** । अर्थात् जिसका शरीर अधिक=लम्बा चौड़ा है, उसको। इस अर्थ में अधिक, 'अध्यारूढ= बढ़ा हुआ अर्थ में और 'अङ्ग' शब्द अङ्ग समुदाय शरीर अर्थ का बोधक है। इन अर्थों में प्रमाण—

(क) 'अधिकम्' अष्टाध्यायी (५।२।७३) सूत्र में 'अध्यारूढ' शब्द का उत्तर-पदलोप और 'कन्' प्रत्यय से इस की सिद्धि की है। और निरुक्त में 'अधि' शब्द का 'उपरिभाव' अर्थ भी बताया है। '**अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा ।**' (निरुक्त १।३)

❁ [प्रचलित अर्थ—कपिल (भूरे) वर्णवाली, अधिक (या कम) अङ्गों वाली (यथा—छह अंगुलियों वाली या चार या तीन अंगुलियों वाली आदि), नित्य रोगिणी रहने वाली, बिल्कुल रोम से रहित या बहुत अधिक रोमवाली, अधिक बोलने वाली और भूरी-भूरी आंखों वाली कन्या से विवाह न करे ॥ ८ ॥]

बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करने हारी और भूरे नेत्र वाली, न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्तारि आदि नक्षत्र नाम वाली; तुलसिया, गेंदा, गुलाबा, चंपा चमेली आदि वृक्ष नाम वाली; गंगा, जमना आदि नदी नाम वाली; चांडाली आदि अन्त्य नाम वाली; विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नाम वाली; कोकिला, मैना आदि पक्षी नाम वाली; नागी, भुजंगा आदि सर्प नाम वाली; माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नाम वाली और भीमकुंअरि, चण्डिका, काली आदि भीषण नाम वाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिए, । क्योंकि ये नाम कुत्सित तथा अन्य पदार्थों के भी हैं।'' (स० प्र० ८०)

विवाहयोग्य कन्या—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥ (१०)

(अव्यङ्ग+अङ्गीम्) जिसके सरल सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध नहीं (सौम्यनाम्नीम्) जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो (हंस–वारणगामिनीम्) हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो (तनु–लोम–केशदशनाम्) सूक्ष्म लोम, केश और दांत युक्त (मृदु+अङ्गीम्) जिसके सब अङ्ग कोमल हों, वैसी (स्त्रियम् उद्वहेत्) स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए ॥ १० ॥ (स० प्र० ८१)

"किन्तु जिसके सुन्दर अंग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चाल वाली, जिसके सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों, जिस के सब अंग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे" (सं० वि० ९९)

आठ प्रकार के प्रचलित विवाह और उनकी विधि—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥ [११]

(ख) 'अङ्ग' शब्द अवयव अर्थ में तो प्रसिद्ध ही है किन्तु अङ्गी=शरीर के लिए भी आता है। जैसे 'येनाङ्गविकारः' (अ० २।३।२०) सूत्र में पाणिनि मुनि ने 'अङ्गी अर्थ में अङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है। महाभाष्य में महर्षि-पतञ्जलि लिखते हैं–'**अंगं शब्दोऽत्र समुदायशब्दः।**' इस पर कैयट लिखते हैं—'**अङ्गान्यस्य सन्तीत्यर्श-आदित्वादच्प्रत्ययान्तोऽत्रांगशब्दो निर्दिष्टः।**'

अतः 'अङ्ग' शब्द का केवल अवयव अर्थ मानकर महर्षि के अर्थ पर आक्षेप करने वालों को प्रथम शास्त्रीयाध्ययन भलीभांति करना चाहिये। महर्षि दयानन्द व्याकरणादि के उद्भट्ट विद्वान् तथा योगी थे, वे शास्त्रविरुद्ध अर्थ कैसे कर सकते थे?

—सम्पादक

(चतुर्णाम्+अपि वर्णानाम्) चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के (प्रेत्य च+इह हित+अहितान्) परलोक में और इस लोक में हित करने वाले [३।३९-४०] तथा अहित करने वाले [३।४१-४२] (इमान् अष्टौ स्त्रीविवाहान्) इन आठ प्रकार के स्त्रियों के, साथ होनेवाले विवाहों को (समासेन) संक्षेप से (निबोधत) जानो, सुनो ॥ २० ॥

अनुशीलन : आठ विवाह और मनु की मान्यता—इस विषय संकेतक श्लोक में मनु ने स्त्री-पुरुषों के दाम्पत्य सम्बन्ध में चारों वर्णों के लिए विशेष प्रक्रिया और योग्यतानुसार (जिस व्यक्ति पर जो लागू हो सकती है) आठ विवाह विधियों का उल्लेख किया है। यद्यपि वर्णों के लिए यहां उल्लेख है किन्तु उनमें से प्रथम चार विवाहों को ही मनु चारों वर्ण वालों के लिए हितकारी [३ । २०], उत्तम और धर्मानुकूल मानते हैं। शेष चारों—आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को निन्दित, अहितकारी [३ । २०], और अधर्मानुकूल मानते हुए उन्हें 'दुर्विवाह' की संज्ञा से अभिहित करते हैं [३ । ३९-४२]। निन्दित विवाहों को अपनाने वाले व्यक्ति और उनकी प्रजा भी निन्द्य होती है, अतः वे निषिद्ध हैं [३ । ४२]।

इसी प्रकार आर्ष विवाह में प्रचलित 'गोयुगल' देने की प्रथा को भी मनु अमान्य घोषित करते हैं। बिना कुछ ले-देकर आर्ष विवाह करना ही धर्मानुकूल है [३।५३-५४] [द्रष्टव्य ३ । २९ की समीक्षा भी]

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥ (१२)

(ब्राह्मः दैवः तथा+एव+आर्षः प्राजापत्यः तथा आसुरः) ब्राह्म, दैव आर्ष, प्राजापत्य, आसुर (गान्धर्वः राक्षसः च एव अधमः पैशाचः च अष्टमः) गान्धर्व, राक्षस और+पैशाच ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ॥ २१ ॥
(सं० वि० ९९)

\+ (अधमः) सबसे निन्दनीय·········

ब्राह्म अर्थात् स्वयंवर विवाह का लक्षण—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दान कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥ (१३)

(श्रुतिशीलवते, अर्चयित्वा) कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का

सत्कार करके (आच्छाद्य) कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके (स्वयम् आहूय) उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो (कन्यायाः दानम्) उसको कन्या देना (ब्राह्मः धर्मः प्रकीर्तितः) वह 'ब्राह्म विवाह' कहाता है ॥ २७ ॥ (सं० वि० ६६)

अनुशीलन : (१) **ब्राह्म-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—विद्वान् एवं श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव के वर को, जिसको कन्या ने स्वयं वरण कर प्रसन्न किया हो, आदरपूर्वक बुलाकर, वस्त्र आदि से अलंकृत कर, दोनों के आदर-सत्कार पूर्वक कन्या प्रदान करना 'ब्राह्म-विवाह' है। इस विवाह में कोई लेन-देन नहीं होता। 'स्वयम् आहूय' पदों से यह व्यंजित है कि कन्या द्वारा वर का चुनाव किया जाता है। सामान्यतः इसमें माता-पिता की भी सहमति होती है [किन्तु स्वयंवर में यह अनिवार्य नहीं है ९।९०-९१]। इसमें कन्या की इच्छा प्रमुख होती है। यह विवाहों में सबसे उत्तम विधि है। वेदों में पारंगत विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से इस का नाम 'ब्राह्म' है।

(२) **ब्राह्म-विवाह ही स्वयंवर विवाह**—कन्या द्वारा स्वयं पसन्द और प्रसन्न करके विवाहार्थ बुलाने के कारण ब्राह्म-विवाह ही स्वयंवर विवाह है। प्राचीन साहित्य में स्वयंवर प्रथा थी और इसको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है। विवाहों में यह ही सर्वश्रेष्ठ है। ९।९०-९१ में भी मनु ने कन्या को इसी स्वयंवर विवाह को करने का निर्देश दिया है—**'विन्देत सदृशं पतिम्'** =अपने सदृश योग्य पति का वरण करे।

दैवविवाह का लक्षण—

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥ (१४)

(वितते तु यज्ञे) विस्तृत यज्ञ में (सम्यक् ऋत्विजे कर्म कुर्वते) बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर उसमें कर्म करने वाले विद्वान् को (अलंकृत्य सुतादानम्) वस्त्र, आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना (दैवं धर्मं प्रचक्षते) वह 'दैव विवाह' + ॥ २८ ॥ (सं० वि० ९६)❀

+(प्रचक्षते) कहा जाता है।

अनुशीलन : (१) **दैव विवाह के लक्षण का स्पष्टीकरण**—

❀[**प्रचलित अर्थ**—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक् के लिए (वस्त्रालङ्कार आदि से) अलंकृत **कन्या का दान करने को धर्मयुक्त 'दैव-विवाह' कहते हैं॥ २८ ॥**

श्लोकोक्त वचनों से अभिप्राय स्पष्ट हुआ कि 'विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में, विवाह के उद्देश्य से सम्मिलित होकर, यज्ञीय क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले विद्वान् व्यक्ति का वरण कर (या पूर्व वरण किये हुए और आकर यज्ञकर्म सम्पादित करते हुए विद्वान् को) वस्त्र, आभूषणों आदि से अलंकृत कर कन्या प्रदान करना दैव विवाह है।

(२) **देव किनको कहते हैं?** —देव, सात्त्विक प्रवृत्ति के [१२।४०[विद्वानों को कहते हैं [द्रष्टव्य २।१२७ (२।१५२) श्लोक और ३।८२ पर 'देव' शीर्षक समीक्षा], और अग्निहोत्र को भी देवयज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। यज्ञ का विशेष अनुष्ठान और उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान् व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के अनुरूप ही हैं। यह विधि देवों=विद्वानों के कर्मानुरूप और सम्मत है, अतः इसका नाम 'दैव विवाह' है।

(३) **ऋत्विक् का प्रसंगानुकूल अर्थ**—ऋत्विक् शब्द यद्यपि 'यज्ञ करने वाले ब्राह्मण विद्वान्' के लिए अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु यहां प्रसंगविशेष से इस शब्द का विशेष अर्थ है। निरुक्त में ऋत्विक् की एक व्युत्पत्ति यह भी दी है—**'ऋतुयाजी भवतीति वा'** [निरु० ३।४।१९]। **ऋतौ=कालविशेषे, अवसरविशेषे याजी=यजनशीलः याजनशीलो वा।** ऋतु शब्द के 'कालविशेष' और 'उद्देश्यविशेष' अर्थ भी हैं। अवसरविशेष या उद्देश्यविशेष के लिए यजन करने वाला भी ऋत्विक् कहलाता है। इस प्रकार विवाह प्रसंग में 'ऋत्विक्' शब्द का अर्थ हुआ—'विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में, विवाह के उद्देश्य से यजन करने वाला अर्थात् यज्ञीय क्रियाओं को सम्पादन करने वाला विद्वान् द्विज, जिसका विवाहार्थ वरण किया जाता है।' विवाह-यज्ञ में 'वर' ही प्रमुख रूप से यज्ञीय क्रियाओं को सम्पन्न करता है। प्रायः सभी क्रियाएँ वर पर केन्द्रित होती हैं।

प्रचलित टीकाओं में ऋत्विक् शब्द का प्रसिद्धार्थ 'यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण विद्वान्' ग्रहण करके 'ऋत्विज्' को ही कन्यादान करना दैवविवाह बतलाया गया है। यह अर्थ मनुवचन से विरुद्ध है और प्रसंगानुकूल नहीं है। यतो हि, (१) मनु ने ये सभी विवाह-विधियां चारों वर्णों के लिए विहित की हैं [३।२०] उनमें प्रथम चार सभी के लिए उत्कृष्ट हैं और अन्तिम चार सभी के लिए निन्द्य हैं [३।३९–४२], (२) आठ विवाहों में किसी भी विवाह का किसी वर्णविशेष के लिए निर्धारण नहीं है अपितु योग्यता और प्रक्रियानुसार है। दैवविवाह को केवल 'ऋत्विक्' के लिए मानना उसके उद्देश्य को सीमित करना है, जो मनुसम्मत नहीं। अन्य विवाह-विधियां जब सभी वर्णों के लिए हैं तो दैव विवाह केवल ऋत्विक् व्यक्तियों के लिए वर्णित हो, यह बात प्रसंगानुकूल नहीं है। इससे 'ऋत्विक्' शब्द के उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

आर्षविवाह का लक्षण—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥ (१५)

जो (वरात्) वर से (धर्मतः) धर्मानुसार (एकं गोमिथुनं वा द्वे) एक गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े (आदाय) लेकर (विधिवत् कन्या प्रदानम्) विधि अनुसार अर्थात् यज्ञादिपूर्वक कन्या का दान करना है (सः) वह (आर्षः धर्मः उच्यते) 'आर्षविवाह' कहलाता है ॥ २९ ॥

"एक गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह आर्ष विवाह ।" (सं० वि० ९९)

अनुशीलन : यह मनु का अपना विधान नहीं है । मनु की मान्यता ३ । ५३ में है । इस पर स्वामी दयानन्द ने भी संस्कारविधि में टिप्पणी देकर लिखा है—

"यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्ति-विरुद्ध भी है । इस लिए कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्ष विवाह है ।" (सं० वि० पृ० ११९ विवाहप्रकरण)

(१) **आर्षविवाह के विवाद का विवेचन**—आर्ष विवाह में कुछ आचार्यों के मत में 'वर से एक गौ का जोड़ा लेकर कन्या प्रदान करने' का कथन है, जैसा कि इस श्लोक में है । किन्तु मनु ने इस विचार का ३ । ५३-५४ में तीव्र शब्दों में खण्डन किया है ।

इस श्लोक में गोयुगल का विधान होने और ३ । ५३ में उसका निषेध होने से व्याख्याकारों ने यह जिज्ञासा और आपत्ति प्रकट की है कि फिर आर्षविवाह का लक्षण क्या है, मनु ने इसको स्पष्ट नहीं किया । अनेक व्याख्याकारों ने इसका समाधान नहीं किया है । कुल्लूकभट्ट ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'इस श्लोक में 'धर्मतः' पद पठित है, जिसका अभिप्राय है कि विवाह में दान देने के धर्म का पालन करने के लिए गोयुगल ले लेना चाहिए, लालचवश नहीं । मनु ने अग्रिम ३ । ५१-५४ श्लोकों में लालचवश शुल्क लेने का निषेध किया है, धर्मविधि को पूरा करने के लिए विहित वस्तु को लेने का नहीं ।'

यह समाधान बुद्धिसंगत और मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता । यह बात तो ठीक है कि ३ । ५१-५४ श्लोकों में मनु ने लालचवश धन आदि लेने का तीव्र शब्दों में निषेध किया है किन्तु इस श्लोक में विहित गोयुगल लेने के कथन को एक मत के रूप में प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट शब्दों में इसका खण्डन भी किया है—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुः मृषैव तत् ।। ३ । ५३ ॥ मनु कहना चाहते हैं कि थोड़ा या बहुत, कैसा भी लेन-देन 'कन्या को बेचने' के समान है, अतः नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार यह समाधान संतोषजनक नहीं है [३ । ५४ की समीक्षा में एतत् सम्बन्धी विवेचन द्रष्टव्य है]।

(२) **आर्षविवाह का लक्षण**—अब प्रश्न उठता है कि आर्षविवाह का लक्षण

या होगा ? क्या मनु ने उसे स्पष्ट किया है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि इस विधि नेषेध में ही इसका लक्षण स्पष्ट हो गया है, अतः उसको पृथक् से कहने की आवश्यकता नहीं रही। परिशेषन्याय से स्पष्ट हुआ कि 'बिना किसी लेन-देन के केवल विवाह संस्कारपूर्वक [विधिपूर्वक ३ । २६] पूर्णतः सादगी से कन्या-प्रदान करना, आर्ष-विवाह है।' इस श्लोक में कन्या के अलंकरण आदि की भी चर्चा नहीं है, जबकि २७, २८, ३० में है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस विवाह में वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत करने का भी कथन नहीं है। यह विवाह उनके बिना पूर्णतः सादगी से ही होता है। केवल विवाहसंस्कार करके ही वर-वधू ऋषित्व के अनुरूप अर्थात् त्याग, तप, गम्भीर निष्ठा की भावना से प्रेरित होकर गृहस्थधारण का निश्चय करते हैं। ऋषिजन-सम्मत, अनुमोदित और उनके आचरणानुरूप होने से इसका नाम आर्ष है।

(३) **ऋषि कौन हैं ?**—मन्त्रद्रष्टा या किसी विद्या के तत्त्वद्रष्टा=विशेषज्ञ विद्वान् व्यक्तियों को ऋषि कहा जाता है। इस विषयक विस्तृत विवेचन ३।८२ की 'ऋषि' शीर्षक समीक्षा में देखिए।

प्राजापत्य विवाह का लक्षण—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥ (१६)

(अभ्यर्च्य) कन्या और वर को, यज्ञशाला में विधि करके ('उभौ धर्मं सह चरताम्' इति) सब के सामने 'तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो' ऐसा (वाचा-अनुभाष्य) कहकर (कन्याप्रदानम्) दोनों की प्रसन्नता पूर्वक पाणिग्रहण होना (प्राजापत्यः विधिः स्मृतः) वह प्राजापत्य विवाह कहाता है ॥ ३० ॥ (सं० वि० ६६)

अनुशीलन : (१) **प्राजापत्य-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—वर-वधू को 'तुम साथ रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करो' यह कहकर कन्या को अलंकृत करके विधिपूर्वक प्रदान करना, प्राजापत्य-विवाह है। इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के पदों से यह व्यंजित होता है कि यह विवाह दोनों के माता-पिताओं के स्तर पर खोज करके निश्चित किया जाता है। इसमें वर-वधू की इच्छा गौण होती है या माता-पिता की इच्छा में ही ढली होती है। माता पिता जहाँ विवाह उपयुक्त समझते हैं, उसका निश्चय कर, विवाह सम्पन्न करके उन्हें गृहस्थ पालन की स्वीकृति दे देते हैं। इसमें भी कोई लेन-देन नहीं होता।

(२) **प्रजापति किनको कहते हैं ?**—प्रजापति, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में तत्पर माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों को कहते हैं। उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है। इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं—**"प्रजा अपत्यनाम"** निघ० २ । २ ॥ **प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा"** निरु० १० । ४१ ॥ **"पितरः प्रजापतिः"** गो० उ० ६ । १५ ॥

"पुरुषः प्रजापतिः" शत० ६।२।१।२३॥ प्रजाओं को उत्पन्न करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापति होता है। पितर अर्थात् माता-पिता आदि प्रजापति होते हैं ['पितर' पर विस्तृत विवेचन ३।८२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है]। सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत और उनके आचरणानुरूप होने से उसका नाम 'प्राजापत्य' है।

आसुर विवाह का लक्षण—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥ ३१॥ (१७)

(ज्ञातिभ्यः च कन्यायै) वर की जाति वालों और कन्या को (शक्तितः द्रविणं दत्त्वा) यथाशक्ति धन देके+(कन्याप्रदानम्) होम आदि विधि कर कन्या देना (आसुरः धर्मः उच्यते) 'आसुर विवाह' कहाता है॥ ३१॥

(सं० वि० १००)

+ (स्वाच्छन्द्यात्) अपनी इच्छा से अर्थात् वर या कन्या की प्रसन्नता और इच्छा का ध्यान न रखके·········

अनुशीलन : (१) **आसुर-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—धन के लोभी माता-पिता कन्या या लड़के की इच्छाओं की उपेक्षा करके या उन्हें महत्त्व न देकर, परस्पर धन ले-देकर, अपनी इच्छा से जो विवाह कर देते हैं, वह 'आसुर-विवाह' है। मनु इसे निन्दनीय और अधर्म मानते हैं [३।४१-४२]।

(२) **असुर किनको कहते हैं?** 'न सुराः—असुराः' अर्थात् जो देवताओं के समान नहीं हैं। जो देवताओं के समान निःस्वार्थ, निर्वैर, परहित, परोपकार, त्याग, तप, सहिष्णुता आदि भावनाओं वाले नहीं हैं। जो अपने देह और प्राणों के ही पोषण में, अपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन और हितसाधनमें तत्पर रहते हैं, उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल आदि रचते हैं, ऐसे व्यक्ति 'असुर' कहलाते हैं। इसमें निरुक्त और ब्राह्मणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं—"**असुरताः स्थानेष्वस्ता, स्थानेभ्य इति वा असुरिति प्राणानामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः।**" निरु० ३। ७॥ "(**असुराः**) **स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः**" शत० ११।१।८।१॥ **मायात्येसुराः (उपासते)**" शत० १०।५।२।१०॥ **असु क्षेपणे** (अदादि) धातु से '**असेरुरन्**' (उणादि १।४२) से 'उरन्' प्रत्यय से 'असुर' शब्द बना। 'असुर से 'सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ में अण्' प्रत्यय लगकर 'आसुर' बनता है। इस प्रकार दूसरे की भावनाओं की उपेक्षा करके धन और स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित, सम्मत अथवा उनके आचरणानुरूप होने से इसका नाम 'आसुर-विवाह' है।

गान्धर्व विवाह का लक्षण—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥ ३२ ॥ (१८)

(वरस्य च कन्यायाः) वर और कन्या की (इच्छया+अन्योन्य-संयोगः) इच्छा से दोनों का संयोग होना (मैथुन्यः) और अपने मन में यह मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं (कामसंभवः) यह काम से हुआ (सः तु गान्धर्वः विज्ञेयः) वह 'गान्धर्व विवाह' कहाता है ॥३२॥ (सं० वि० १००)

अनुशीलन : (१) **गान्धर्व-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—लड़का और लड़की दोनों की इच्छा से परस्पर संयोग होकर शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना और अपने आपको पति-पत्नी के रूप में मानकर विवाह कर लेना, यह 'गान्धर्व-विवाह' है। यह कामभावना से होता है। मनु इसको निन्दनीय और अधर्मानुकूल मानते हैं [३।४१-४२]। मनु ने यद्यपि इसमें धन आदि लेने-देने की बात नहीं कही है किन्तु कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के अनुसार ऐसा विवाह करने वाले व्यक्ति को विवाह के समय कन्या के माता-पिता को बदले में धन देना पड़ता है [प्रक० ५८। अ० २]।

(२) **गन्धर्व किन को कहते हैं ?** गन्धर्व की व्युत्पत्ति है **"गाम्=वाचम् धरतीति गन्धर्वः"** अर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला। संगीत अर्थात् गाने, बजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी, आमोद-प्रमोद में व्यस्त शृङ्गारप्रिय और कामुकप्रवृत्ति-प्रधान हैं 'गन्धर्व' कहते हैं। ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश डाला गया है—**"रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते)** शत० १०।५।२।२०॥ **"योषित् कामा वै गन्धर्वा"** शत० ३।२।४।३॥ **"स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः"** ऐत० १।२७७॥ कौ० १२।३॥ **गन्धो मे, मोदो मे, प्रमादो मे। तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)** जै० उ० ३।२५।४॥ ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से इस विवाह का नाम 'गान्धर्व' है।

राक्षस विवाह का लक्षण—

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥ (१९)

(हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा) हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर (क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् प्रसह्य कन्याहरणम्) क्रोशती, रोती, कांपती और भयभीत हुई कन्या का+बलात्कार हरण करके विवाह करना (राक्षसः विधिः उच्यते) वह 'राक्षस विवाह'※ ॥३३॥ (सं० वि० १००)

\+ (गृहात्) घर से..............

※ (उच्यते) कहा जाता है।

अनुशीलन : (१) **राक्षस विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—कन्या के पक्ष वालों से मार-पीट, लड़ाई-झगड़ा आदि करके रोती-चिल्लाती कन्या को बलात् उठा ले जाकर उससे विवाह करना 'राक्षस-विवाह' है। मनु के अनुसार यह विवाह भी निन्द्नीय और अधर्म है [३। ४१-४२]। यद्यपि मनुस्मृति में इस विवाह में किसी लेन-देन का कथन नहीं है किन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के वर्णनानुसार अपहरणकर्त्ता को विवाह के बदले में कन्या के माता-पिता को धन देना पड़ता है [प्रक० ५८। अ० २]

(२) **राक्षस किनको कहते हैं ?** रक्ष्-पालने धातु से **'सर्वधातुभ्योऽसुन्'** (उणादि ४। १८६) सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है। निरुक्त ४। १८ में राक्षस की निरुक्ति देते हुए कहा है—**"रक्षः रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा।"** अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुँचाता और जो रात्रि में लूट-पाट, चोरी-व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों में सक्रिय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने और पीड़ित करने वाले, अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी, स्वभाव के और मांस-मदिराभोजी तमोगुणी [१२। ४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप, उनसे अनुमोदित या सम्मत होने से इसका नाम 'राक्षस विवाह' है।

पैशाच विवाह का लक्षण—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥ (२०)

(सुप्तां मत्तां वा प्रमत्ताम्) जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को (रहः यत्र+उपगच्छति) एकान्त पाकर दूषित कर देना (सः विवाहानाम् अधमः पापिष्ठः पैशाचः) यह सब विवाहों में नीच से नीच=महानीच, दुष्ट अतिदुष्ट, 'पैशाच विवाह' है ॥ ३४ ॥

(सं०वि० १००)

अनुशीलन : (१) **पैशाच-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—सोती हुई, पागल हुई या नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त अवसर में पाकर दूषित कर देना और उससे विवाह करना, वह 'पैशाच विवाह' है। वह सब विवाहों में अत्यन्त नीच दुष्टतापूर्ण और पापरूप विवाह है। कौटिल्य के अनुसार उसमें भी विवाह करने वाले को विवाह के बदले कन्यापक्ष को धन देना पड़ता है [प्रक० ५८। अ० २]।

(२) **पिशाच किनको कहते हैं ?**—पिश् अवयवे (तुदादि) धातु से 'क' प्रत्यय होने से 'पिशम्' पद बना। 'पिश' उपपद से आङ् पूर्वक 'चमु-अदने' धातु से 'डः' प्रत्यय-पूर्वक 'पैशाच' शब्द बनता है। अथवा 'पिशित' पूर्वपद से 'अश्' धातु से अण्, 'इत' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है। **'ये पिशितम्=अवयवीभूतं, पेशितं**

वा मांस रुधिरादिकम् श्राचमन्ति भक्षयन्ति ते पैशाचाः । प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने वाले, हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, मलिन संस्कारों वाले, अत्यन्त तमोगुणी [१२ । ४४], अत्यन्त निम्न और घृणित स्वभाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से इस विवाह का नाम 'पैशाच' है।

प्रथम चार उत्तम विवाहों से लाभ—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमता ॥ ३९ ॥ (२१)

❀ (ब्राह्म+आदिषु चतुर्षु विवाहेषु) ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से (पुत्राः जायन्ते) जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे (ब्रह्मवर्चस्विनः शिष्टसंमताः) वेदादि विद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के संगति से अत्युत्तम होते हैं ॥ ३९ ॥

(सं० वि० १००)

❀ (अनुपूर्वशः) क्रमशः प्रारम्भ के.........

अनुशीलन : यह वर्णन बालकों के उत्तम संस्कारों की सम्भावना के आधार पर भावी जीवन के लिए किया गया है। वे बालक भविष्य में अर्थात् बड़े होकर उक्तगुणों वाले बनते हैं।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥ (२२)

वे पुत्र वा कन्या (रूप-सत्त्वगुण+उपेताः) सुन्दर रूप, बल-पराक्रम, शुद्ध बुद्धि आदि उत्तम गुणयुक्त (धनवन्तः) बहुधन युक्त (यशस्विनः) पुण्य कीर्त्तिमान् (च) और (पर्याप्तभोगाः) पूर्ण भोग के भोक्ता (धर्मिष्ठाः) धर्मात्मा होकर (शतं समाः जीवन्ति) सौ वर्ष तक जीते हैं ॥ ४० ॥

(सं० वि० १००)

अन्तिम चार विवाह निन्दनीय—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥ (२३)

(इतरेषु तु शिष्टेषु दुर्विवाहेषु) चार विवाहों से जो बाकी रहे चार- आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए (सुताः) सन्तान (नृशंसा+अनृतवादिनः) निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी (ब्रह्मधर्मद्विषः) वेदधर्म के द्वेषी बड़े नीच स्वभाववाले (जायन्ते) होते हैं ॥ ४१ ॥ (सं० वि० १००)

श्रेष्ठ विवाहों से श्रेष्ठ सन्तान, बुरों से बुरी—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥ (२४)

(अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः प्रजा अनिन्द्या भवति) श्रेष्ठ विवाहों से सन्तान भी श्रष्ठ गुण वाली होती है (निन्दितैः नृणां निन्दिता) निन्दित विवाहों से मनुष्यों की सन्तानें भी निन्दनीय कर्म करने वाली होती हैं (तस्मात्) इसलिए (निन्द्यान् विवर्जयेत) निन्दित विवाहों को आचरण में न लावे ॥ ४२ ॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है, उन को किया करें।" (सं० वि० १०२)

ऋतुकाल-गमन सम्बन्धी विधान—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥ (२५)

(ऋतुकालाभिगामी स्यात्) सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे (स्वदारनिरतः सदा) और अपनी स्त्री के बिना दूसरी का सर्वदा त्याग रक्खे वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे (तद्व्रतः) जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती (रतिकाम्यया) वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब (एनां पर्ववर्जं व्रजेत्) पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रति-क्रिया कभी न करें ॥ ४५ ॥ (सं० वि० २९)

अनुशीलन : (१) **'ऋतुदान में वर्जित पर्व**— ऋतुदान में वर्जित पर्व अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी तथा चतुर्दशी हैं। इनका वर्णन ४। १२८ में है। वहां भी यह निषेध है।

(२) **पर्वदिनों में समागम-निषेध क्यों ?**—इन पर्वों के दिनों में समागम का निषेध इसलिए है क्योंकि इन दिनों को मनु ने धार्मिक दिन के रूप में मनाने का विधान करते हुए इन दिनों में विशेष यज्ञों का आयोजन एवं वेदादि ग्रन्थों के स्वाध्याय का विधान किया है [४। २५ ॥ ६। ९ ॥ ३। ३ ॥]। इन धार्मिक कृत्यों के पालन के अवसर पर जितेन्द्रिय रहना, संयम रखना आवश्यक है, क्योंकि अजितेन्द्रियावस्था में इन धार्मिक कर्मों

के फल की सिद्धि नहीं होती [२ । ७२ (२ । ६७)] ।

(३) **'ऋतुकाल में गमन' गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य**—गृहस्थ हो जाने पर व्यक्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्रीगमन = सहवास करना, आवश्यक कर्त्तव्य है; इसीलिए मनु ने कहा है—**'ऋतुकालाभिगामी स्यात्' 'पर्ववर्जं व्रजेत्'** । इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कौटिल्य ने कारणपूर्वक इस कर्त्तव्य को आवश्यक बतलाया है और इसको गृहस्थ का धर्म विधान माना है । इस का पालन न करने पर उसके लिए दण्डव्यवस्था भी निर्धारित की है । वे कहते हैं—'ऋतुकाल में गमन न करने से स्त्रियों के पथभ्रष्ट होने और उनका आचरण दूषित होने की आशंका होती है । ऋतुकाल में गमन न करना अपने गृहस्थ धर्म का पालन न करना है, और ऐसे व्यक्ति को कर्त्तव्य पालन न करने पर ६६ पण दण्ड दिया जाना चाहिये ।—**"तीर्थोपरोधो हि धर्मवधः इति कौटिल्यः ।"** [प्रक० ६० । अ० ४] **"तीर्थगूहमनागमने षण्णवतिर्दण्डः ।"** [प्रक० ५८ । अ० २] । किन्तु कामनारहित स्व स्त्री के साथ भी बलात् गमन न करे—**"नाकामामुपेयात्"** [प्रक० ५८ । अ० २] ।

इसी कारण मनु ने पति के दीर्घप्रवास काल में स्त्री को नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने की स्वीकृति दी है [६ । ७५] । कौटिल्य ने भी इसका समर्थन और विधान किया है [अर्थशास्त्र प्रक० ६० । ४] ।

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥ (२६)

(स्त्रीणां स्वाभाविक ऋतुः) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल (षोडश रात्रयः स्मृताः) सोलह रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके सोलहवें दिन तक ऋतु समय है (इतरैः सद्विगर्हितैः चतुर्भिः अहोभिः सार्धम्) उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं ॥ ४६ ॥ (सं० वि० २६)

प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का स्पर्श और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे, न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे । क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महा रोगकारक है ।" (सं० वि० २६)

निन्दित रात्रियां—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥ (२७)

(तासाम्+आद्याः चतस्रः तु निन्दिताः) जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं (या एकादशी च त्रयोदशी) वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं (शेषा तु दशरात्रयः प्रशस्ता) और बाकी रही दश रात्रि, सो ऋतुदान में श्रेष्ठ हैं ।। ४७ ।। (सं० वि० २९)

अनुशीलन : (१) **ऋतुगमन में निषिद्ध रात्रियां**—४६ वें श्लोक में स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल का समय १६ रात्रि का माना है। उनमें रजोदर्शन के दिन की रात्रि सहित प्रथम चार रात्रियां निन्दित हैं। इसी प्रकार रजोदर्शन के दिन से ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी ऋतुदान में निन्दित हैं। इस प्रकार सोलह रात्रियों में से दश रात्रियां ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ बचती हैं।

किन्तु इन दश रात्रियों के बीच यदि कोई पर्व अर्थात् अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी और चतुर्दशी का दिन आये तो उसकी रात्रि में ऋतुदान न करे, ऐसा स्पष्ट निर्देश ४। १२८ और ३। ४५ में है। इस प्रकार कभी सात-आठ तो कभी दश रात्रियां ऋतुदान के लिए शेष बचती हैं।।

२. **ऋतुकाल की निश्चित रात्रियों का कारण**—रजोदर्शन काल में स्त्रीगमन से व्यक्ति की प्रज्ञा, तेज, बल, ज्योति आयु की हानि होती है। द्रष्टव्य ४। ४०-४२ श्लोक।

पुत्र और पुत्री प्राप्त्यर्थ रात्रि की पृथक्ता—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ।। ४८ ।। (२८)

(युग्मासु पुत्राः जायन्ते) युग्म अर्थात् समसंख्या की रात्रियों-छठी, आठवीं, दशमी, द्वादशी, चतुर्दशी, षोडशी में समागम करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं (अयुग्मासु रात्रिषु स्त्रियः) विषम संख्या वाली अर्थात् पांचवीं, सातवीं नवमी, पन्द्रहवीं रात्रियों में लड़की उत्पन्न होती है (तस्मात्) इसलिए (पुत्रार्थी) पुत्र की इच्छा रखने वाले पुरुष (आर्तवे युग्मासु स्त्रियं संविशेत्) ऋतुकाल में समरात्रियों में स्त्री से समागम करे ।। ४८ ।।

"जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशमी, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं, ये छः रात्रि ऋतुदानमें उत्तम जानें। परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है और जिनको कन्या की इच्छा होवे पांचवीं, सातवीं, नवमी और पन्द्रहवीं, ये चार रात्रि उत्तम समझें[1]। इससे पुत्रार्थी युग्म

---

१. "रात्रि गणना इसलिए की है कि दिन में ऋतुदान का निषध है।"
(सं० वि० २९ पर टिप्पणी)

रात्रियों में ऋतुदान देवे।" (सं० वि० २६)

पुत्र और पुत्री होने में कारण—

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ ४९॥ (२६)

(पुंस अधिके शुक्रे पुमान्) पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र (स्त्रियाः अधिके स्त्री) स्त्री का आर्त्तव अधिक होने से कन्या (समे+अपुमान्) तुल्य होने से नपुंसक पुरुष व वन्ध्या स्त्री※(क्षीणे च अल्पे विपर्ययः) क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा गिर जाना (भवति) होता है॥ ४९॥ (सं० वि० २६)

※ (वा पुम्+स्त्रियौ) अथवा लड़का-लड़की का जोड़ा…………

अनुशीलन : (१) **अधिक शब्द से अभिप्राय**—यहां अधिक शब्द से 'मात्राधिक्य' अभिप्राय नहीं है, अपितु 'सामर्थ्याधिक्य' अभिप्राय है। पुरुष के वीर्य में अधिक सामर्थ्य अथवा पुरुष-बीज के अधिक सामर्थ्यशाली होने पर पुत्रोत्पत्ति होती है। पुरुष की तुलना में स्त्री बीज के अधिक सामर्थ्यशाली होने पर पुत्री, समान सामर्थ्य होने पर लड़का-लड़की का जोड़ा अथवा नपुंसक सन्तान और क्षीण सामर्थ्य या अल्प-सामर्थ्य का बीज होने पर गर्भपात, गर्भ का न रहना आदि होते हैं।

(२) **आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से विरोध नहीं**—अधिकतर लोगों का विचार है कि मनु की मान्यता का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की मान्यता से विरोध आता है। लेकिन मूलतः ऐसा नहीं है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के मतानुसार पुरुष के वीर्य में दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं—१, एक्स, २. वाई। स्त्री के रज में केवल एक्स कीटाणु होते हैं। पुरुष का 'वाई' शुक्राणु जब स्त्री के 'एक्स' कीटाणु से मिलता है तब लड़का होता है 'एक्स' के 'एक्स' से मिलने पर लड़की। संभोग के पश्चात् ये शुक्राणु गर्भ नलिकाओं में दौड़कर स्त्री के डिम्ब में प्रवेश करते हैं। जो शुक्राणु पहले प्रवेश कर जाता है, वही सन्तान रूप बनता है।

यहां भी मूल बात यह है कि जो शुक्राणु जितना प्रबल होगा वह उतना ही पहले जाकर डिम्ब में प्रवेश करेगा। पुरुष-शुक्रकीट अधिक प्रबल होंगे तो वे दौड़ कर पहले प्रवेश करेंगे यदि स्त्री को जन्म देने वाले कीट प्रबल होंगे तो वे प्रथम प्रवेश करेंगे। यहां भी सामर्थ्य की अधिकता ही पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में मूलाधार है। इसलिए आयुर्वेद-चिकित्सा में पुत्र-प्राप्ति चाहने वालों को पुरुषशुक्रसामर्थ्यवर्धक औषधियां प्रदान की जाती हैं।

संयमी गृहस्थ भी ब्रह्मचारी—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥५०॥ (३०)

(निन्द्यासु) निन्दित छह [३।४७] रात्रियों में (च) और (अन्यासु अष्टासु रात्रिषु) इनसे भिन्न शेष दश रात्रियों में से किन्हीं आठ रात्रियों में (स्त्रियः वर्जयन्) स्त्रियों को छोड़ते हुए अर्थात् उनसे समागम न करते हुए (यत्र तत्र+आश्रमे वसन्) गृहस्थाश्रम में भी रहते हुए भी वह (ब्रह्म-चारी+एव भवति) ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ५० ॥

"जो पूर्व निन्दित आठ रात्रि[1] कह आये हैं, उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में बसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है।" (सं० वि २६)

अनुशीलन : कौन गृहस्थ ब्रह्मचारी—निन्दित छह और शेष कोई भी आठ रात्रियां अर्थात् चौदह रात्रियों को छोड़कर, सोलह में से शेष बचीं केवल किन्हीं दो ही श्रेष्ठ रात्रियों में समागम करने वाला गृहस्थ ब्रह्मचारी ही होता है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के आचरण में संयम और जितेन्द्रियता गुणों की प्रधानता होती है ॥

वर से कन्या का मूल्य लेने का निषेध—

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णंच्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥ (३१)

(विद्वान् कन्यायाः पिता) बुद्धिमान्, कन्या के पिता को चाहिए कि वह कन्या के विवाह में (अणु+अपि शुल्कं न गृह्णीयात्) थोड़ा सा भी शुल्क=मोल वा धन न ले (लोभेन शुल्कं गृह्णन् हि) लोभ में आकर शुल्क लेने पर (नरः) वह मनुष्य (अपत्यविक्रयी स्यात्) सन्तान को बेचने वाला ही कहाता है ॥५१॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥५२॥ (३२)

(ये बान्धवाः) जो वर के बान्धव=पिता, भाई आदि रिश्तेदार (मोहात्) लोभ या तृष्णा के वशीभूत होकर (स्त्रीधनानि) कन्याओं के धनों को (नारीयानानि वा वस्त्रम्) कन्या पक्ष या कन्याओं को सवारी या वस्त्रों को लेकर (उपजीवन्ति) उपभोग करके जीते हैं (ते पापाः अधोगतिं यान्ति) वे पापी लोग नीचगति को प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

अनुशीलन : स्त्रीधन विवरण—३।५२ में चर्चित स्त्रीधन का विवरण मनु ने ९।१९४-१९७ में दिया है। प्रमुखतः यह धन छह प्रकार का होता है—(१) अध्यग्नि=विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन, (२) अधि-आवाहनिकम्

---

१. रजोदर्शन से लेकर पहली चार रात्रियां, पूर्णिमा, अमावस्या, अष्टमी और चतुर्दशी की रात्रियां, ये आठ रात्रियां स्वामी दयानन्द ने निन्दित मानी हैं। द्र० सं० वि० २९ पृ०।

=पति के घर आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन, (३) प्रीतिकर्म में प्राप्त धन=प्रसन्नता आदि के अवसर पर पति द्वारा प्रदत्त धन, (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन, (५) पिता से प्राप्त धन, (६) माता से प्राप्त धन। विस्तृत विवरण नवम अध्याय में द्रष्टव्य है।

आर्ष-विवाह में भी गो-युगल लेने का निषेध—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥ (३३)

(केचित्) कुछ लोगों ने (आर्षे) आर्ष-विवाह में (गोमिथुनं शुल्कम्) एक बैलों के जोड़े का शुल्क रूप में लेने का (आहुः) कथन किया है (तत्) वह (मृषा+एव) गलती है—मिथ्या ही है (अपि+एवम्) क्योंकि इस प्रकार (अल्पः+अपि वा महान्) थोड़ा अथवा अधिक धन लेना-देना है (सः तावत्) वह निश्चय से (विक्रयः एव) बेचना ही है[1] ॥ ५३ ॥

"कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्ष विवाह है।" (सं० वि० पृ० ११६, विवाह प्रकरण में टिप्पणी)

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥ (३४)

(ज्ञातयः) कन्या के पिता आदि या रिश्तेदार (यासां शुल्कं न+आददते) जिन कन्याओं के विवाह के लिए वर पक्ष से शुल्क नहीं लेते अर्थात् वरपक्ष से विवाह करके बदले में बिना कुछ धन लिए विवाह कर देते हैं (सः विक्रयः न) इस प्रकार का विवाह 'कन्याओं को बेचना' नहीं कहलाता (तत् कुमारीणां अर्हणम्) ऐसा विवाह वास्तव में कन्याओं का पूजा-सत्कार करना है (च) और (केवलम् आनृशंस्यम्) कन्याओं के प्रति वास्तव में दया और स्नेह प्रदर्शित करना है, बिना कुछ लिये वर को कन्या देना उसका आदर बढ़ाना है ॥ ५४ ॥

---

१. आजकल दहेज के भयंकर परिणाम स्थान-स्थान पर देखने, सुनने और पढ़ने में आ रहे हैं। धन-लोभी दानव धनप्राप्ति के लालच में कितनी ही स्त्रियों को सता रहे हैं, जला रहे हैं, मौत के घाट उतार रहे हैं। विवाह एक व्यापार बनता जा रहा है। दाम्पत्य जीवन स्वर्ग न रहकर नरक का भयावह रूप धारण करता जा रहा है। महर्षि मनु ने विवाह में शुल्क लेने-देने की परम्परा में ऐसी ही भयंकर दशाओं का पूर्वदर्शन किया था। अतः विवाह में प्रत्येक प्रकार के लेन-देन का निषेध किया है ताकि लालच की भावना न रहे और कहा है कि विवाह एक सम्मान की बात है, लोभ की नहीं। गृहस्थ के सुख का आधार नारियां ही हैं। उनकी प्रसन्नता और आदर में ही गृहस्थ स्वर्ग है, निरादर और यातना देने में नरक है, कुलों की अवनति और विनाश है।

अनुशीलन : **आर्षविवाह में शुल्क लेना मनुविरुद्ध**—३ । २९ में आर्षविधि की जो व्यवस्था विहित है, ५१ से ५४ श्लोकों में उसके विरुद्ध और खण्डनात्मक वर्णन है। यहां यह शंका उपस्थित होती है कि कौन-सी मान्यता मौलिक या कौन सी-कौन सी सही मानी जाये या इनमें कौन सी प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

इन श्लोकों की शैली, शब्दावली को देखकर इसका समाधान उपलब्ध हो जाता है। मनुस्मृति का उद्देश्य ही हितकारी धर्मविधान करने का है, अहितकारी बात धर्म नहीं, इसलिए मनु उसको अधर्म घोषित करके उसका निषेध करते हैं। इस प्रसंग में सम्पूर्ण मनुस्मृति से भिन्न शैली और शब्दावली है। तदनुसार उक्त शंका का समाधान इस प्रकार है—

(१) मनु ने ३ । २०-३४ में जो आठ विवाह प्रदर्शित किये हैं वे उनके स्वयंकृत विधान नहीं हैं अपितु उस समय जो किसी रूप में प्रचलित थे उनका वर्णन मात्र किया है। इसी लिए मनु ने प्रसंग-संकेतक श्लोक ३ । २० में "**प्रेत्य चेह हित+अहितान्**" का प्रयोग किया है। अहितकर कोई धर्म नहीं होते, फिर भी यहां उनका वर्णन है, जिससे स्पष्ट होता है कि ये विधान नहीं, मात्र प्रचलित प्रथायें हैं। अन्तिम चार विवाहों के लिए प्रयुक्त नाम भी इन्हें धर्म विधान सिद्ध नहीं करते, वे हैं आसुर, गान्धर्व, राक्षस 'अधम पैशाच'। इनकी जो विधियां हैं वे भी मनुस्मृति की मान्यताओं के अनुसार निन्दनीय हैं। ३ । ४१-४२ में भी मनु ने इनकी निन्दा की है। उन्हें अनार्यों की परम्परा माना है, और निषेध रूप में विहित कर दिया है।

(२) इतना ही नहीं ३ । ३२-३४ में विहित कार्यों के लिए मनु ने ८ । ३५२-३५७, में कठोर दण्डों का विधान भी किया है। वे इन बातों को बलात्कार व व्यभिचार मानते हैं [८ । ३४५-३४६ ३५२-३५७], और ३ । ३१ में वर्णित 'आसुर विवाह' का ३५१- ५४ में खण्डन 'विक्रय के रूप में' कहकर किया है।

(३) अब प्रश्न उठता है कि मनु की मान्यता क्या है और इनमें धर्मविधान कौन से हैं। इसके उत्तर स्पष्ट हैं—(क) ३ । २० में मनु ने जिन आरम्भिक चार विवाहों को इस जन्म और परजन्म के लिए हितकारी माना है वे ही मनुविहित धर्मविधानात्मक विवाह हैं। देखिए ३ । ३९-४० में केवल आरम्भिक चार विवाहों की मनु ने स्वीकृति दी है। इनमें भी आर्ष विवाह की परम्परा को मनु धर्म नहीं मानते अतः उसमें सुधार करके अपनी मान्यता ५१–५४ में स्पष्ट कर दी है। (ख) दायभाग प्रकरण में भी मनु ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि कर दी है। 'आसुर' आदि चार विवाहों में निःसन्तान स्त्री के धन का अधिकार उसके मरने पर पति को नहीं होता, क्योंकि वे विवाह मनु के अनुसार वैधानिक एवं धर्म्य नहीं हैं [९ । १९७]। प्रारम्भिक चार विवाहों में निःसन्तान पत्नी की मृत्यु पर उसके धन का अधिकार पति को है, क्योंकि मनु के मत में ये विवाह धर्मानुकूल हैं [९ । १९६]। इस प्रकार इन श्लोकों और पूर्व के श्लोकों में विरोध होते

हुए भी मान्यता प्रदर्शन के कारण दोनों मौलिक ही हैं।

स्त्रियों के आदर का विधान तथा उसका फल—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥ (३५)

(पितृभिः भ्रातृभिः पतिभिः तथा देवरैः) पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि (एताः पूज्याः च भूषयितव्याः) अपनी कन्या, बहन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें (बहुकल्याणम्+ईप्सुभिः) जिन को कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥ ५५ ॥ (सं० वि० १४७)

स्त्रियों का आदर करने से दिव्य लाभों की प्राप्ति—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥ (३६)

(यत्र) जिस कुल में (नार्यः तु पूज्यन्ते) नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है (तत्र) उस कुल में (देवताः) दिव्यगुण=दिव्य भोग और उत्तम सन्तान (रमन्ते) होते हैं (यत्र) और जिस कुल में (एतास्तु न पूज्यन्ते) स्त्रियों की पूजा नहीं होती है (तत्र सर्वाः अफलाः क्रियाः) वहां जानो उन की सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५६ ॥ (सं० वि० १४८)❀

"जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके, देव संज्ञा धराके आनन्द की क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हैं।" (स० प्र० ९६)

अनुशीलन : ५६ **श्लोक का सही अर्थ**–प्रचलित टीकाओं में इस श्लोक का अर्थ कपोलकल्पित, असंगत तथा मनु-असम्मत है। (१) टीकाकार किन्हीं देवताओं की कल्पना कर उनकी प्रसन्नता की बात तो कहते हैं, किन्तु उसके साथ दूसरी पंक्ति की संगति नहीं लगा पाते। अगर पहली पंक्ति में देवताओं की प्रसन्नता की बात है तो दूसरी में नारियों के अनादर से उनकी अप्रसन्नता की बात होनी चाहिए थी, किन्तु

❀ [**प्रचलित अर्थ**—जिस कुल में स्त्रियों की पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा आदर-सत्कार) होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इन (स्त्रियों) की पूजा नहीं होती, उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं ॥५६॥]

श्लोक में है कि 'उनकी सब क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।' इस प्रकार उनके अर्थ में संगति और तालमेल नहीं बैठता। (२) देवताओं की कल्पना मनु की मान्यता के विरुद्ध है [द्रष्टव्य ३। ८२ पर 'देव' विषयक अनुशीलन]। (३) पूजा का अर्थ यहां सत्कार और सम्मान देना है। वस्तुतः यहां 'देवताः' का अर्थ 'दिव्यगुण' 'दिव्यसन्तान' या 'दिव्यभोग' है। [प्रमाण २। १५१ (२। १७६) पर द्रष्टव्य] यही अर्थ पूर्वापर प्रसंग से सिद्ध होता है। जहां नारियों का सत्कार-सम्मान होता है, वहां नारियां प्रसन्न रहती हैं। उनकी प्रसन्नता से घर का वातावरण प्रसन्न एवं सुख-शान्तिमय होता है। नारी पर ही घर की सुख-शान्ति निर्भर है [३। ५५, ६०, ६२। ६। २८], वही घर की अधिष्ठात्री देवी है [६।२६-२७], माता के रूप में वह निर्मात्री है [६।२७-२८]। इस प्रकार घर की सुख-शान्ति से घर में उत्तम भोग, उत्तम सन्तान, उत्तम शिक्षा, ऐश्वर्य, सुख-सफलता आदि दिव्यगुण पनपते हैं। जहां इसके विपरीत नारियों का अनादर होता है, उस परिवार में अशान्तिके कारण सब क्रियाओं में असफलता प्राप्त होती है। परिवार में उन्नति, सुख आदि नहीं हो पाते। इसी भाव की विस्तृत व्याख्या मनु ने स्वयं ३। ५७-५८, ५९, ६० में भी की है।

इस प्रकार इस भाष्य का अर्थ संगत, मनुसम्मत एवं युक्तियुक्त है।

स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश—

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥ (३७)

(यत्र) जिस कुल में (जामयः) स्त्रियाँ (शोचन्ति) अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन, अत्याचार वा व्यभिचार आदि दोषों से शोकातुर रहती हैं (तत्कुलम् आशु विनश्यति) वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है (तु) और (यत्र एताः न शोचन्ति) जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तम आचरणों से प्रसन्न रहती हैं (तत्+हि सर्वदा वर्धते) वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ५७ ॥

"जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता में भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।" (स० प्र० ६६)

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्येहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥ (३८)

(यानि गेहानि) जिन कुल और घरों में (अप्रतिपूजिताः जामयः) अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रीलोग (शपन्ति) जिन गृहस्थों को शाप देती हैं (तानि) वे कुल तथा गृहस्थ (कृत्याहतानि[1]+इव) जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें वैसे (समन्ततः विनश्यन्ति) चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥ (सं० वि० ५८)

"जो विवाहित स्त्रियां पति, माता, पिता, बन्धु और देवर आदि से दुःखित होके जिन घर वालों को शाप देती हैं, वे जैसे किसी कुटुम्ब भर को विष देके मारने से एक बार सबके सब मर जाते हैं, वैसे उनके पति आदि सब ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।" (ऋ० प०० वि० ४४४)

स्त्रियों का सदा सत्कार-सम्मान रखें—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५६ ॥ (३६)

(तस्मात्) इस कारण (भूतिकामैः नरैः) ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को योग्य है कि (एताः) इन स्त्रियों को (सत्कारेषु च उत्सवेषु) सत्कार के अवसरों और उत्सवों में (भूषण+आच्छादन+अशनैः) भूषण, वस्त्र, खान-पान आदि से (सदा पूज्याः) सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रखें ॥ ५६ ॥ (सं० वि० १४८)

"इसलिए ऐश्वर्य की कामना करने हारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण, वस्त्र और भोजन आदि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें।" (स० प्र० ६६)

पति-पत्नी की परस्पर संतुष्टि से परिवार का कल्याण—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥ (४०)

---

१. 'कृत्या' शब्द दुष्क्रिया अर्थ का भी बोधक है। देखिये महर्षि-दयानन्द का वेद-भाष्य (यजु० ३५ । ११) (सम्पादक)

हे गृहस्थो ! (यस्मिन् कुले) जिस कुल में (भार्यया भर्त्ता संतुष्टः तथैव भर्त्रा भार्या नित्यम्) भार्या से प्रसन्न पति तथा पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है (तत्र वै) उसी कुल में (ध्रुवं कल्याणम्) निश्चित कल्याण होता है। और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है ॥ ६० ॥ (सं० वि० १४७)

"जिस कुल में भार्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं।
(स० प्र० ९५)

पति-पत्नी में पारस्परिक अप्रसन्नता से सन्तान न होना--

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥ (४१)

(यदि हि स्त्री न रोचेत) यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे (पुमांसं न प्रमोदयेत्) वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो (अप्रमोदात् पुनः पुंसः) अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में (प्रजनं न प्रवर्तते) कामोत्पत्ति न होके संतान नहीं होते और होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ ६१ ॥ (सं० वि० १४७)

"जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता।" (स० प्र० ९५)

स्त्री की प्रसन्नता पर कुल में प्रसन्नता—

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥ (४२)

(स्त्रियांतुअरोचमानायाम्) जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से (सर्वम्+एव न रोचते) सब कुल भर अप्रसन्न, शोकातुर रहता है (तु) और (स्त्रियां रोचमानायाम्) जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब (तत् सर्वं कुलं रोचते) सब कुल आनन्दरूप दीखता है। ॥ ६२ ॥ (स० वि० १४७)

'स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता है उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है।" (स० प्र० ९५)

(पञ्चमहायज्ञ-विषय)

[३ । ४३ से ३ । ८४ तक]

पञ्चमहायज्ञों का विधान—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥ (४३)

(गृही) गृहस्थी पुरुष (वैवाहिके अग्नौ) विवाह के समय प्रज्वलित की जाने वाली अग्नि में या गार्हस्थ्यरूप अग्नि में (गृह्यं कर्म यथाविधि) गृहस्थ के सभी कर्त्तव्यों को [जैसे पाचन, याजन और सन्तानोत्पत्ति आदि] उचित विधि के अनुसार (कुर्वीत) करे (च) और (पञ्चयज्ञविधानम्) होम, दैव आदि [३ । ७०] पांचों यज्ञों को (च) तथा (आन्वाहिकीं पक्तिम्) प्रतिदिन का भोजन पकाना ये भी करे ॥ ६७ ॥

पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान का कारण—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥ (४४)

(चुल्ली) चूल्हा (पेषणी) चक्की (उपस्करः) झाड़ू (कण्डनी) ओखली (च) तथा (उदकुम्भः) पानी का घड़ा (गृहस्थस्य पंच सूनाः) गृहस्थियों के ये पांच हिंसा के स्थान हैं (याः तु वाहयन्) जिनको प्रयोग में लाते हुए गृहस्थी व्यक्ति (बध्यते) हिंसा के पापों से बंध जाता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९॥ (४५)

(क्रमेण) क्रम से (तासां सर्वासां निष्कृत्यर्थम्) उन सब [३ । ६८] हिंसा दोषों की निवृत्ति या परिशोधन के लिए (गृहमेधिनां प्रत्यहम्) गृहस्थी लोगों के प्रतिदिन करने के लिए (महर्षिभिः पञ्चमहायज्ञाः क्लृप्ताः) महर्षियों ने पांच महायज्ञों का विधान किया है ॥ ६९ ॥

पञ्चमहायज्ञों के नाम एवं नामान्तर—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥ (४६)

(अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः) पढ़ना-पढ़ाना, संध्योपासन करना [सावित्रीमप्यधीयीत २ । ७९ (२ । १०४)] 'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है (तु) और (तर्पणं पितृयज्ञः) माता-पिता आदि की सेवा-शुश्रूषा तथा भोजन आदि से तृप्ति

करना 'पितृयज्ञ' है (होमः दैवः) प्रातः सायं हवन करना 'देवयज्ञ' है (बलिः भौतः) कीटों, पक्षियों, कुत्तों और कुष्ठी व्यक्तियों तथा भृत्यों आदि आश्रितों को देने के लिए भोजन का भाग बचाकर देना 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' कहलाता है (अतिथिपूजनम्) अतिथियों को भोजन देना और सेवा द्वारा सत्कार करना (नृयज्ञः) 'नृयज्ञ' अथवा 'अतिथियज्ञ' कहाता है ॥ ७० ॥

पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ (४७)

(यः) जो (एतान् पञ्चमहायज्ञान् शक्तितः न हापयति) इन पाँच महायज्ञों को यथाशक्ति नहीं छोड़ता (सः) वह (गृहे+अपि वसन्) घरमें रहता हुए भी (नित्यम्) प्रतिदिन (सूनादोषैः न लिप्यते) चुल्ली=चूल्हा आदि में हुए हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता [यतो हि यज्ञों के पुण्यों से उनका शमन होता रहता है] ॥ ७१ ॥

देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥ (४८)

(यः) जो गृहस्थी व्यक्ति (देवता+अतिथि+भृत्यानां पितॄणां च आत्मनः पञ्चानाम्) अग्नि आदि देवताओं को [हवन के रूप में], अतिथियों को [अतिथि यज्ञ के रूप में], भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले या दूसरों की सहायता पर आश्रित कुष्ठी, भृत्य आदि के लिए [भूतयज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ के रूप में], माता-पिता, पितामह आदि के लिए [पितृयज्ञ के रूप में] और अपनी आत्मा के लिए [ब्रह्मयज्ञ के रूप में] इन पांचों के लिए (न निर्वपति) उनके भागों को नहीं देता है अर्थात् पांच दैनिक महायज्ञों को नहीं करता है (सः) वह (उच्छ्वसन् न जीवति) सांस लेते हुए भी वास्तव में नहीं जीता अर्थात् मरे हुए व्यक्ति के समान है ॥ ७२ ॥

पञ्चयज्ञों के नामान्तर—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पंचयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥ (४९)

(पञ्चयज्ञान्) इन पांच यज्ञों को (अहुतं हुतं प्रहुतं ब्राह्म्यं हुतं च प्राशितं एव) 'अहुत', 'हुत', 'प्रहुत', 'ब्राह्म्यहुत' और प्राशित भी (प्रचक्षते) कहते हैं ॥ ७३ ॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥ (५०)

(अहुतः जपः) 'अहुत' 'जपयज्ञ' अर्थात् 'ब्रह्मयज्ञ' को कहते हैं (हुतः होमः) 'हुतः' होम अर्थात् 'देवयज्ञ' है (प्रहुतः भौतिकः बलिः) 'प्रहुत' भूतों के लिए भोजन का भाग रखना अर्थात् 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' है (ब्राह्म्यं हुतम्) 'ब्राह्म्यहुत' (द्विजाग्र्यार्चा) विद्वानों की सेवा करना अर्थात् 'अतिथियज्ञ' है (प्राशितं पितृतर्पणम्) 'प्राशित' माता-पिता आदि का तर्पण =तृप्ति करना 'पितृयज्ञ' है ॥ ७४ ॥

ब्रह्मयज्ञ एवं अग्निहोत्र का विधान—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥ (५१)

(स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) मनुष्य को चाहिए कि वह पढ़ने-पढ़ाने और संध्योपासन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ में नित्य लगा रहे अर्थात् प्रतिदिन अवश्य करे (च) और (दैवे कर्मणि एव) देवकर्म अर्थात् अग्निहोत्र भी अवश्य करे (हि) क्योंकि (इह) इस संसार में रहते हुए (दैवकर्मणि युक्तः) अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति (इदं चर+अचरं बिभर्ति) इस समस्त चेतन और जड़ जगत् का पालन-पोषण और भला करता है ॥ ७५ ॥

अनुशीलन : अग्निहोत्र से जल-वायु की शुद्धि होकर भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है और उससे प्रजाओं तथा अन्य पदार्थों का कल्याण होता है। इस प्रकार चर और अचर जगत् का पोषण होता है। अगले ही श्लोक में इसका स्पष्टीकरण है।

अग्निहोत्र से लाभ—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥ (५२)

[वह पालन-पोषण और भला इस प्रकार होता है] (अग्नौ सम्यक् प्रास्ता+आहुतिः) अग्नि में अच्छी प्रकार डाली हुई घृत आदि पदार्थों की आहुति (आदित्यम्+उपतिष्ठते) सूर्य को प्राप्त होती है–सूर्य की किरणों से वातावरण में मिलकर अपना प्रभाव डालती है, फिर (आदित्यात्+जायते वृष्टिः) सूर्य से वृष्टि होती है (वृष्टेः+अन्नम्) वृष्टि से अन्न पैदा होता है (ततः प्रजाः) उससे प्रजाओं का पालन-पोषण होता है ॥ ७६ ॥

अनुशीलन : यज्ञ न करने से पाप—होम न करने से पाप और करने से सृष्टि का उपकार होता है। इसको स्पष्ट करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

"प्रश्न—क्या इस होम करने के बिना पाप होता है?

उत्तर—हां, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध पैदा होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए।"

(स० प्र० तृतीय समु० होम प्रकरण)

गृहस्थाश्रम की महत्ता एवं ज्येष्ठता—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥ (५३)

(यथा वायुं समाश्रित्य) जैसे वायु के आश्रय से (सर्वजन्तवः वर्तन्ते) सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है (तथा) वैसे ही (गृहस्थम्+आश्रित्य) गृहस्थ के आश्रय से (सर्वे+आश्रमाः) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का (वर्त्तन्ते) निर्वाह होता है ॥ ७७ ॥ (सं० वि० १४६)

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥ (५४)

(यस्मात्) जिस से (त्रयः+अपि+आश्रमिणः) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, इन तीन आश्रमियों को (अन्नेन दानेन अन्वहम्) अन्न-वस्त्रादि दान से नित्यप्रति (गृहस्थेन+एव धार्यन्ते) गृहस्थ धारण-पोषण करता है (तस्मात्) इसलिए (गृही-आश्रमः ज्येष्ठः) व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है ॥ ७८ ॥ (सं० वि० १४६)

"जिससे गृहस्थ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरंधर कहाता है।"

(स० प्र० १२२)

अनुशीलन : गृहस्थी की ज्येष्ठता-सम्बन्धी मान्यता का कथन तथा ७७ श्लोक के समान आलंकारिक विधि में वर्णन ६। ८६-९० में द्रष्टव्य है।

गृहस्थ के योग्य कौन—

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥ (५५)

हे स्त्री-पुरुषो! जो तुम (अक्षयं स्वर्गम् इच्छता च सुखम् इच्छता)

अक्षय* मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो (यः दुर्बलेन्द्रियैः अधार्यः) जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है (सः नित्यं प्रयत्नेन संधार्यः) उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥ ७९ ॥ (सं० वि० १५०)

"इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे ॥" (स० प्र० १२२)

अनुशीलन : स्वर्ग से अभिप्राय—इस श्लोक के प्रसंग में यहां मनु की स्वर्ग या स्वर्गलोक-सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट करदेना उपयोगी होगा, क्योंकि प्रायः इस सम्बन्ध में भ्रान्ति पायी जाती है। मनुस्मृति की मान्यताओं के सन्दर्भ में भी वह भ्रान्ति न हो, इसलिए यहां इस विषय पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। मनु इस संसार से भिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते। सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है और दुःख की प्राप्ति का नाम नरक है, जो इसी संसार में जीवन में प्राप्त होते रहते हैं। इसमें प्रमाण हैं—

(१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख और मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है। इस श्लोक में अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है और उसके पर्यायवाची रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है।

(२) सुख के अर्थ या पर्यायवाची रूप में अन्यत्र भी स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है—

(क) "**अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्**।" २। ३२ [२। ५७]

(ख) "**दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह**।" ९। २८ ॥

(ग) "**स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्**।" ४। १३ ॥

(३) अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग—

(क) प्रस्तुत ३। ७९ श्लोक में "**स्वर्गमक्षयमिच्छता**"।

(ख) **इदमन्विच्छतां स्वर्गम्, इदमानन्त्यमिच्छताम्**।" ६। ८४ ॥

(४) मनु ने १२। ९, ३९–५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों का वर्णन किया है। उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है।

(५) व्याकरण शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ-गतौ' धातु से '**ड प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते** अ० ३। २ ४८ वार्तिकसूत्र से 'डः' प्रत्यय के योग से बनता

---

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है उतने समय में दुःख का संयोग, जैसे विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता, वैसा नहीं होता।" (ऋषि दया० सं० वि० टिप्पणी गृहास्थाश्रम प्रकरण)

है। गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। 'स्वः' सुख का अनुभव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात् सुख है।

(६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का अर्थ है। 'लोकृ दर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है जिसका अर्थ 'स्थान' है। जहां स्वर्ग प्राप्त होता है—सुख प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक है। नरकसम्बन्धी विवेचन ४।६१ की अन्तर्विरोध समीक्षा में देखिए।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥ ८०॥ (५६)

(ऋषयः पितरः देवाः भूतानि तथा अतिथयः) ऋषि-मुनि लोग, माता पिता, अग्नि आदि देवता, भृत्य तथा कुष्ठी आदि और अतिथि लोग (कुटुम्बिभ्यः आशासते) गृहस्थों से ही आशा रखते हैं अर्थात् सहायता की अपेक्षा रखते हैं (विजानता तेभ्यः कार्यम्) अपने गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को समझने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इनके लिए सहायता कार्य करे॥ ८०॥

अनुशीलन : ऋषि, देवता, देव और पितर के अर्थज्ञान के लिए ३।८२ की समीक्षा देखिए।

पञ्चयज्ञों के मुख्य कर्म—

स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ ८१॥ (५७)

(स्वाध्यायेन ऋषीन्) स्वाध्याय से ऋषिपूजन (यथाविधि होमैः देवान्) यथाविधि होम से देवपूजन (श्राद्धैः पितॄन्) श्राद्धों से पितृपूजन (अन्नैः नॄन्) अन्नों से मनुष्यपूजन (च) और (बलिकर्मणा भूतानि) वैश्वदेव बलि से प्राणी मात्र का सत्कार करना चाहिए॥ ८१॥ (द० ल० ग्र० २३)

अनुशीलन : इस श्लोक पर महर्षि दयानन्द ने प्रकाश डालते हुए लिखा है—

(१) "इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है, सो ही देवपूजा है, अन्य कोई नहीं। और होमस्थान जितने हैं, वे ही देवालयादिक शब्दों से लिए जाते हैं।

पूजा नाम सत्कार। क्योंकि **'अतिथिपूजनम्'** **'होमैर्देवानर्चयेत्'**—अतिथियों का पूजन नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र, इन्हीं का सत्कार, इसका नाम है पूजा, अन्य का नहीं।" (द० शा० ५४)

"इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है।" (पू० प्र० ६७)

श्राद्ध का अर्थ है–श्रद्धा से किया गया कार्य, जैसे श्रद्धापूर्वक माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करना, भोजन देना आदि। यही पितरों का तर्पण या पितृयज्ञ है।

(२) स्वाध्याय-विषयक विस्तृत विवेचन एवं अर्थ ३। ८२ पर देखिए।

पितृयज्ञ का विधान—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥ (५८)

गृहस्थ व्यक्ति (अन्नाद्येन वा उदकेन अपि वा पयः+मूल+फलैः) अन्न आदि भोज्य पदार्थों से और जल तथा दूध से कन्दमूल, फल आदि से (पितृभ्यः प्रीतिम् आवहन्) माता-पिता आदि बुजुर्गों से अत्यन्त प्रेम करते हुए (अहः+ अहः श्राद्धं कुर्यात्) प्रतिदिन श्राद्ध=श्रद्धा से किये जाने वाले सेवा-सुश्रूषा, भोजन देना आदि कर्त्तव्य करे ॥ ८२ ॥

अनुशीलन : यहाँ पितृयज्ञ पर विस्तार से विचार किया जा रहा है। इससे श्राद्ध और तर्पणविषयक बातों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ेगा तथा मृतकश्राद्ध और तर्पण सम्बन्धी भ्रान्तियाँ भी दूर हो सकेंगी। तीसरा 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिससे जो देव, विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे पितर माता-पितादि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी होती है। इस विषय में विस्तृत विवेचन किया जाता है—पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। **'येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति=सुखयन्ति तत्तर्पणम्'**। अर्थात् जिस कर्म से विद्वान्रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, उसे तर्पण कहते हैं। **'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते' तत् 'श्राद्धम्'**। अर्थात् जो इन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, वह श्राद्ध कहाता है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है, मृतको में नहीं। क्योंकि, उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। और जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिए मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असम्भव है······तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर।" (द० ल० ग्र० सं० २४५)

(१) 'पितर' से अभिप्राय—

पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानैः ते पितरः"=जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते हैं। इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) **"देवा वा एते पितरः"** (गो० उ० १। २४)

(आ) **"स्विष्टकृतो वै पितरः"** (गो० उ० १। २५)

अर्थात् सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं।

(इ) **'मर्त्याः पितरः'** (श० २। १। ३। ४)

मनुष्य ही 'पितर' हैं अर्थात् मृत नहीं।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है। माता-पिता-पितामह-आचार्य आदि ही 'पितर' कहलाते हैं।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है। ४। २५७ में उनके ऋण से उऋण होने के लिए कहा है— **महर्षि-पितृ-देवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।** यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है। मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(ई) **अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।**
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ २। १२६॥

(उ) **पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः॥** १२। ४९॥

(ऊ) **पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम्॥** १२। ९४॥

(ए) **दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥** ९। २८॥

(ऐ) **ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।**
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥ ३। ८०॥

मनु ने ४। ३०—३१ में जीवित, धार्मिक, वेदवित् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है। वे श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं। यही श्राद्ध है। हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं।

(ओ) पितरों में वेद का प्रमाण—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ (यजु० २। ३४)

"**अर्थ**—पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत मे पितॄन्) जो मेरे पिता पितामह आदि, माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती) जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेक विध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (स्वधास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो।" (द० ल० ग्र० सं० २४५—२५५)

(अं) **पितरों की गणना और उनका अभिप्राय—**

"जिनकी पितृसंज्ञा है और जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—

१—सोमसदः। २—अग्निष्वात्ताः। ३—बर्हिषदः। ४—सोमपाः। ५—हविर्भुजः ६—आज्यपाः ७—सुकालिनः। ८—यमराजाः। ९—पितृपितामहप्रपितामहाः। १०—मातृपितामहीप्रपितामह्यः। ११—सगोत्राः। १२—आचार्यादिसम्बन्धिनः।

१—**सोमसदः—'सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च' ते 'सोमसदः'**=जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं।

२—**अग्निष्वात्ताः—'अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी=जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैः' ते 'अग्निष्वात्ताः'**=अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुणज्ञात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं।

३. **बर्हिषदः—'बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शम-दमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति' ते 'बर्हिषदः'**=जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं।

४—**सोमपाः—'यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा' ते 'सोमपाः'**= जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।

५—**हविर्भुजः—'हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां' ते 'हविर्भुजः'**=जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज्' कहते हैं।

६—**आज्यपाः—'आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज् गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसः' ते 'आज्यपाः'**= घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उनको 'आज्यप' कहते हैं।

७—**सुकालिनः—'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते। यदा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां' ते 'सुकालिनः'**= मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको सुकालिन्' कहते हैं।

८—**यमराजाः—'ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारः सन्ति' ते 'यमराजाः'**=जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।

९—**पितृ-पितामह-प्रपितामहाः—(पितृ) 'ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तः तत्र वसन्तश्च, विज्ञानादि अनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च,**

चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरः 'वसवः' विज्ञेया ईश्वरोऽपि'=जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है। (पितामह) **'ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तः चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासाः ते 'रुद्राः' स्वे पितामहाश्च ग्राह्याः तथा रुद्र ईश्वरोऽपि'**=जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। (प्रपितामह) **'आदित्यवत् उत्तमगुणप्रकाशका' विद्वांसो ऽष्टचत्वारिंशत् वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवत् विद्याप्रकाशाः त आदित्याः स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्याः तथा आदित्यो ऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते'**=जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

१०—**मातृ-पितामही-प्रपितामह्यः—पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः**= पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये। माता, दादी, परदादी आदि।

११—**सगोत्राः—'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः'**=जो समीपवर्ती ज्ञाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं।

१२—**आचार्यादिसम्बन्धिनः—'ये गुर्वादिसत्यन्ताः सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः'**—जो पूर्णविद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए"। (द० ल० ग्रं० २४५—२५५)

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करनी ही पितृयज्ञ है। मृतपितरों की कल्पना भ्रान्ति एवं अज्ञानता है।

(२) **'देव' से अभिप्राय—**

'दिवु=क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' (दिवादि) धातु से **'पचाद्यच्'** से 'यच्' प्रत्यय अथवा 'दिवु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिवु-परिकूजने' (चुरादि) धातु से 'अच्' प्रत्यय के योग से 'देव' शब्द निष्पन्न होता है। देव जड़ और चेतन दो प्रकार के होते हैं (विस्तृत विवरण १। ६७ की समीक्षा में देखिए)। इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव अभीष्ट हैं। शतपथ में आता हैं—

(अ) "द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति।

(शतपथ १।१।१।४—५)

"दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं। जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे 'देव' और वैसे ही झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं।"

(द० ल० ग्र० सं० २४५—२५५)

(आ) **विद्वांसो हि देवाः** (शत० ३। ७। ६। १०)

(इ) **ये ब्राह्मणः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः ॥**

(शत० २। ४। ३। १४॥

(ई) **सत्यसंहिता वै देवाः** (ऐ० ब्रा० १। १६)

अर्थात् विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं। निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है—"**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता**" [निरु० ७।१५] अर्थात् दान देने से, प्रकाश करने से, प्रकाशित होने से, द्युस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्यगुण एवं उतम आचरण वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है।

मनुस्मृति में ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

(उ) **ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।**
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ २। १२७ ॥

(ऊ) **न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।**
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ २। १३१ ॥

३) **ऋषि से अभिप्राय—**

'**ऋषी गतौ**' धातु से 'इन्' प्रत्यय और '**इगुपधात् किन्**'के योग से '**ऋषि**' शब्द की सिद्धि होती है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं। ऋषि सबसे उच्च-स्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है। वेदमन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष ऋषि कहलाता है। वेद, वेदार्थों और विद्याओं के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है। वही धर्मोपदेष्टा होता है।

(क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है—**ऋषिः दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः।**" [निरु० २। ११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है। औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है। इसी प्रकार '**साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः।**" अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्त्ता होते हैं। [निरु० १। २०]।

(ख) ब्राह्मणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं—

(अ) "यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः ।" (श० ४ । ३ । ४ । १९)

(आ) "एते वै विप्रा यदृषयः ।" (श० १ । ४ । २ । ७)

(ग) महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(इ) न हायनैर्नपलितैः न वित्तेन न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ २ । १२९ ॥

(ई) ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ४ । ९४ ॥

(उ) आर्षं धर्मोपदेशम् च ॥ १२ । १०६ ॥

(ऊ) "अथ यदेवानुब्रवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥" (शत० १ । ७ । ५ । ३)

"अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥" (शत० १ । ४ । ५ । ३)

"अर्थ—सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है वह उनको सुख करने वाला होता है । यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है । जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको 'ऋषि' कहते हैं ।

जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है । जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है ।" (द० ल० ग्र० सं० २४५–२५५)

इस प्रमाणयुक्त विस्तृत विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि पितर, ऋषि, देव जीवित मनुष्यों के स्तरविशेष पर आधारित या विशेषगुणों के आधार पर रखी गई संज्ञाएं हैं । संक्षेप में विद्या के प्रत्यक्षदर्शन के प्रमुख गुण वाले 'ऋषि', आचरण में दिव्य-गुणों की प्रधानता के गुण वाले विद्वान् 'देव', और पालक गुण वाले वयोवृद्ध विद्वान् या पिता आदि 'पितर' हैं ।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥ (५९)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण एवं द्विज व्यक्ति (गृह्ये+अग्नौ) पाकशाला की

अग्नि में (विधिपूर्वकम्) विधिपूर्वक (सिद्धस्य वैश्वदेवस्य) सिद्ध=तैयार हुए बलिवैश्वदेव यज्ञ के भाग वाले भोजन का (अन्वहम्) प्रतिदिन (आभ्यः देवताभ्यः होमं कुर्यात्) इन देवताओं=ईश्वरीय दिव्यगुणों के चिन्तन-पूर्वक आहुति देकर हवन करे ॥ ८४ ॥

"चौथा वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़के घृत, मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से विनयपूर्वक होम नित्य करे (सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

अनुशीलन : यज्ञ में लवणान्न की आहुति नहीं—यज्ञ में लवण-युक्त पदार्थ की आहुति डालने का विधान नहीं है। लवणयुक्त भोजन को स्वयं के लिए प्रयोग करना चाहिए और लवणरहित अन्न, पदार्थ, मिष्टान्न आदि की यज्ञ में आहुति देनी चाहिए। मनु ने ६। १२ में यह मान्यता स्पष्ट की है।

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥ (६०)

(आदौ) प्रथम (अग्नेः सोमस्य च एव) अग्नि=पूज्य परमेश्वर और सोम=सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करके सुख देने वाले 'सोमरूप' पर-मात्मदेव के लिए ['ओम् अग्नये स्वाहा' 'ओं सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रों द्वारा] (च) और (तयोः समस्तयोः) उन्हीं देवों के सर्वत्र व्याप्त रूपों के लिए संयुक्त रूप में ['ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' इस मन्त्र के द्वारा] अग्नि =जो प्राण अर्थात् सब प्राणियों के जीवन का हेतु है और सोम=जो अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है (च) और (विश्वेभ्यः देवेभ्यः एव) विश्वदेवों=संसार को प्रकाशित या संचालित करनेवाले ईश्वरीय गुणों के लिए ['ओं विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा] (च) तथा (धन्व-न्तरये एव) धन्वन्तरि=जन्म-मरण आदि के अवसर पर आने वाले रोगों का नाश करने वाले ईश्वर के गुण के लिए ['ओं धन्वन्तरये स्वाहा' इस मन्त्र से] बलिवैश्वदेव यज्ञ में आहुति देवे ॥ ८५ ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥ (६१)

(च) और (कुह्वै) अमावस्या की अधिष्ठात्री ईश्वरीय शक्ति अर्थात् कृष्णपक्ष को रचनेवाली परमेश्वर की शक्ति के लिए ['ओं कुह्वै स्वाहा' मन्त्र से] (च) तथा (अनुमत्यै) पूर्णिमा की अधिष्ठात्री ईश्वरीय शक्ति

अर्थात् शुक्लपक्ष का निर्माण करने वाली परमेश्वर की शक्ति के लिए या परमेश्वर की चितिशक्ति के लिए [ओं अनुमत्यै स्वाहा' मन्त्र से] (प्रजापतये एव) सब जगत् को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के सामर्थ्य गुण के लिए ['ओं प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से] (सहद्यावापृथिव्योः) ईश्वर द्वारा उत्पादित द्युलोक और पृथिवी लोक की पुष्टि के लिए [ओं सहद्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' मन्त्र से] (तथा अन्ततः) और अन्त में (स्विष्टकृते) अभीष्ट सुख देने वाले ईश्वर गुण के लिए ['ओं स्विष्टकृते स्वाहा' मन्त्र से] आहुति देवे ॥ ८६ ॥

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥ (६२)

(एवम्) इस प्रकार (सम्यक् हविः हुत्वा) अच्छी तरह उपर्युक्त आहुतियाँ देकर (सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्) सब दिशाओं में घूमकर (सानुगेभ्यः इन्द्र+अन्तक+अप्पति+इन्दुभ्यः) परमेश्वर के सहचारी गुणों इन्द्र=सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त होना, अन्तक=यम अर्थात् न्यायकारी होना, या प्राणियों के जन्म-मरण का नियन्त्रण रखने वाला गुण, अप्पति=वरुण अर्थात् सबके द्वारा वरणीय सबसे श्रेष्ठ परमात्मा, इन्द्र=सोम अर्थात् आनंददायक होना इनके लिए स्मरणपूर्वक [क्रमशः 'ओं सानुगायेन्द्राय नमः' मन्त्र से पूर्व दिशा में, ओं सानुगाय यमाय नमः' से दक्षिण दिशा में, 'ओं सानुगाय वरुणाय नमः' से पश्चिम दिशा में, 'ओं सानुगाय सोमाय नमः' से उत्तर दिशा में] (बलिं हरेत्) भोजन के भाग अर्थात् बलि को रखे ॥ ८७ ॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥ (६३)

(मरुद्भ्यः इति तु द्वारि) मरुत्=जीवन के संचालक प्राणरूप परमात्मा के स्मरणपूर्वक ['ओं मरुद्भ्यो नमः' मन्त्र से] द्वार पर (अद्भ्यः इति+अपि अप्सु) सर्वत्र व्याप्त और सम्पूर्ण जगत् के आश्रय रूप परमात्मा के स्मरणपूर्वक ['ओम् अद्भ्यो नमः से], जलों में (क्षिपेत्) बलि भाग को डाले (एवम्) इसी प्रकार (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियों के समीप ओं वनस्पतिभ्यो नमः' से], (मुसल+उलूखले) मूसल और ऊखल के समीप (हरेत्) बलि रखे ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥ (६४)

(श्रियै उच्छीर्षके) सबके द्वारा सेव्य परमात्मा की सेवा से राज्यश्री

अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये ['ओं श्रियै नमः' से] ईशान कोण की ओर (च) और (भद्रकाल्यै पादतः) परमात्मा की कल्याणकारी शक्ति की प्राप्ति के लिए ['ओं भद्रकाल्यै नमः' से] पृष्ठभाग अर्थात् नैर्ऋत्य कोण की ओर (कुर्यात्) बलिभाग रखे (तु) और (ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्याम्) ब्रह्म—वेदविद्या की प्राप्ति के लिए वेदविद्या के दाता परमात्मा के लिए वास्तोष्पति=गृहसम्बन्धी पदार्थों के दाता ईश्वर की सहायता के लिए ['ओं ब्रह्मपतये नमः' 'ओं वास्तुपतये नमः' इन से] (वास्तुमध्ये बलिं हरेत्) घर के मध्य-भाग में बलिभाग रखे ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥ (६५)

(च) और (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) संसार के साधक गुणों की प्राप्ति के लिए संसार के संचालक परमात्मा या विद्वानों के दिव्य गुणों की प्राप्ति लिए (आकाशे बलिम् उत्क्षिपेत्) ['ओ विश्वेभ्यः देवेभ्यः नमः' से] आकाश की ओर या घर के ऊपर बलिभाग रखे (च) तथा (दिवाचरेभ्यः भूतेभ्यः) दिन में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए ['ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यः नमः'] (नक्तंचारिभ्यः एव) और रात्रि में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए ['ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः' मन्त्र से] बलि रखे ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥ (६६)

(सर्वात्मभूतये) सब प्राणियों में व्याप्त या आश्रयरूप परमात्मा की सत्ता का स्मरण करने के लिए ['ओं सर्वात्मभूतये नमः' से] (पृष्ठवास्तुनि बलिं कुर्वीत) घर के पृष्ठभाग में बलिभाग रखे (सर्वं बलिशेषं तु) शेष बलिभाग को (पितृभ्यः) माता-पिता, आचार्य, अतिथि, भृत्य आदिकों को सम्मानपूर्वक भोजन कराने की भावना को स्मरण करने के लिए [ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इस मन्त्र से] (दक्षिणतः हरेत्) घर के दक्षिण भाग में रखे ॥ ९१ ॥❀

❀ महर्षि-दयानन्द ने ८५ से ९१ श्लोकों का भाव ग्रहण करके स० प्र० १०० से १०२, पञ्चमहायज्ञविधि द० ल० ग्र० २५८—२६३ तथा सं० वि० १६२—१६४ पर बलिवैश्वदेव यज्ञ का वर्णन किया है, इन सभी श्लोकों में दिये गये मन्त्र तथा उनका भाव वहीं से ले लिया गया है, विधियां भी वहीं हैं। विस्तृत होने के कारण उस वर्णन को यहां उद्धृत नहीं किया जा रहा है। विशेष अध्ययन के लिए पाठक उक्त पुस्तकों में देख सकते हैं।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ ९२ ॥ (६७)

(च) और (शुनां पतितानां श्वपचां पापरोगिणां वायसानां च कृमीणां) कुत्ता, पतित, चांडाल, पापरोगी, काक और कृमी इन छः नामों के छः भाग (भुवि शनकैः निर्वपेत्) पृथिवी में धरे ॥ ९२ ॥ (सं० वि० १६४)

इस प्रकार 'श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपचेभ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः' से बलि धरकर पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे । यहां नमः शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति आदि की विधि है—

(सत्यार्थ० चतुर्थ समु०)

अतिथियज्ञ का विधान—

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥ (६८)

(एतत् बलिकर्म कृत्वा) उपर्युक्त [३ । ८४—९२] बलिवैश्वदेव यज्ञ करके (पूर्वम् अतिथिम् आशयेत्) पहले अतिथि को भोजन खिलाये (च) तथा (भिक्षवे ब्रह्मचारिणे विधिवत् भिक्षां दद्यात्) भिक्षा के लिए आये हुए ब्रह्मचारी के लिए विधिपूर्वक भिक्षा देवे ॥ ९४ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥ (६९)

(तु) और (संप्राप्ताय अतिथये) आये हुए अतिथि के लिए (विधिपूर्वकं सत्कृत्य) व्यवहारोचित विधि के अनुसार सत्कार करके (यथाशक्ति) शक्ति के अनुसार (आसन+उदके च अन्नम् एव) आसन और जल तथा अन्न भी (प्रदद्यात्) प्रदान करे ॥ ९९ ॥

सज्जनों के घर में सत्कारार्थ सदा उपलब्ध वस्तुएं—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥ (७०)

(तृणानि) बैठने के लिए आसन (भूमिः) बैठने या सोने के लिए स्थान (उदकम्) पानी (च) और (सूनृता वाक्) सत्कारयुक्त मीठी वाणी (एतानि+अपि) सत्कार करने की ये बातें या वस्तुएं तो (सतां गेहे) श्रेष्ठ सभ्य व्यक्तियों के घर में (कदाचन न+उच्छिद्यन्ते) कभी भी नष्ट नहीं

होतीं अर्थात् श्रेष्ठ-सभ्य व्यक्ति इनके द्वारा तो अवश्य ही सत्कार करते हैं ॥ १०१ ॥

अतिथि का लक्षण—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥(७१)

(ब्राह्मणः) विद्वान् व्यक्ति (एकरात्रं तु निवसन्) जो एक ही रात्रि तक पराये घर में रहे तो उसे (अतिथिः स्मृतः) अतिथि कहा गया है (यस्मात् हि अनित्यं स्थितः) क्योंकि जिस कारण से वह नित्य नहीं ठहरता है अथवा जिसका आना अनिश्चित होता है, इसी कारण से उसे (अतिथिः उच्यते) अतिथि कहा जाता है ॥ १०२ ॥

"जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिस की अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है । अतिथियज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो उसकी सेवा करना यह एक श्रेष्ठ कर्म है ।"

(पू० प्र० १४३)

अतिथि कौन नहीं होते—

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥ (७२)

(यत्र भार्या अपि वा अग्नयः) जिसके घर में पत्नी हो और पंचयज्ञों की अग्नि जहां प्रज्वलित रहती हो अथवा जहां पाकाग्नि प्रज्वलित होती हो ऐसे (एकग्रामीणं तथा साङ्गतिकं विप्रं गृहे उपस्थितम्) एक गांव में रहने वाला तथा मित्र विद्वान् यदि घर में आया हुआ हो तो (अतिथिं न विद्यात्) उसे अतिथि के रूप में न समझे ॥ १०३ ॥

दूसरों के यहां खाने की भावना से पाप—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥ (७३)

(ये गृहस्थाः) यदि गृहस्थ होके (परपाकम् उपासते) पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो (ते अबुद्धयः तेन) वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रह रूप पाप करके (प्रेत्य) जन्मान्तर में (अन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति) अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं क्योंकि अन्य से अन्न आदि का

ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥ १०४ ॥

(सं० वि० १५०)

अनुशीलन : लोभ-लालच के वशीभूत होकर जो यह सोचते रहते हैं कि अपना बचत हो जाये और दूसरों के यहां खाते रहें' उनके लिए यह कथन है। क्योंकि, उनमें आयु भर पशुत्व के संस्कार प्रभावी एवं प्रबल हो जाते हैं।

घर से अतिथि को न लौटाये—

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥(७४)

(गृहमेधिना) गृहस्थी को चाहिए कि (सूर्योढः अतिथिः अप्रणोद्यः) सायंकाल सूर्य अस्त होते देख आये हुए अतिथि को वापिस न लौटाये और (काले प्राप्तः वा अकाले) चाहे समय पर आये अथवा असमय पर (अस्य गृहे अनश्नन् न वसेत्) इस गृहस्थी के घर में कोई अतिथि बिना भोजन के नहीं रहे ॥ १०५ ॥

अतिथिपूजन सुख-आयु-यशोदायक—

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥(७५)

(यत् अतिथिं न भोजयेत्) जिस पदार्थ को अतिथि को नहीं खिलावे (तत् वै स्वयं न अश्नीयात्) उसे गृहस्थी स्वयं भी न खावे, अभिप्राय यह है कि जैसा स्वयं भोजन करे वैसा ही अतिथि को भी दे (अतिथिपूजनम्) अतिथि का सत्कार करना (धन्यं यशस्यम् आयुष्यं वा स्वर्ग्यम्) सौभाग्य, यश, आयु और सुख को देने और बढ़ाने वाला है ॥ १०६ ॥

अनुशीलन : अतिथिसेवा यश-आयु-सुख-सौभाग्यवर्धक—जिस प्रकार अभिवादनशील और वृद्धसेवी व्यक्तियों के यश, विद्या, आयु, बल बढ़ते हैं, उसी प्रकार मनु द्वारा विहित [४। १०६] विद्वान्, धार्मिक, सद्गुण सम्पन्न अतिथियों की सेवा करने से यश मिलता है। उनके सान्निध्य से अच्छे आचरण की, धर्म की, श्रेष्ठ गुणों की शिक्षा से आयु, सौभाग्य और सुख बढ़ते हैं, [२। ९६ (२। १२१) की अनुशीलन समीक्षा भी द्रष्टव्य]।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥ (७६)

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब (आसन+आवसथौ) आसन, निवास (शय्याम्+अनुव्रज्याम्+उपासनाम्) शय्या, पश्चात् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् (उत्तमेषु+उत्तमं, समे समं, हीने हीनं कुर्यात्) उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट

का निकृष्ट करे, ऐसा न हो कि कभी न समझें ॥ १०७ ॥ (सं० वि० १५०)

दोबारा भोजन पकाने पर बलियज्ञ नहीं—

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥ (७७)

(वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते) वैश्वदेव यज्ञ के समाप्त होने पर अर्थात् भोजन बनने और उसकी यज्ञ में आहुतियां दे देने के पश्चात् भी (यदि+अन्यः+अतिथिः+आव्रजेत्) यदि कोई और अतिथि आ जाये तो (तस्य+अपि यथाशक्ति अन्नं प्रदद्यात्) उसको भी यथाशक्ति भोजन कराये (बलिं न हरेत्) दुबारा भोजन बनाने के बाद बलिभाग नहीं निकाले ॥ १०८ ॥

अनुशीलन : श्लोक ९४ से १०८ तक के विषय में सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास में निम्न प्रकार लिखा है–"अब पांचवीं अतिथिसेवा—अतिथि उसको कहते हैं कि जिस की कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला पूर्ण विद्वान् परमयोगि-संन्यासी गृहस्थ के यहां आवे तो उसको प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनादि तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठालकर खान, पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवाशुश्रूषा करके, प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग करे। उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चाल-चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे"।

संस्कार विधि गृहाश्रम के अतिथियज्ञ प्रकरण में निम्न प्रकार लिखा है—

"पांचवां जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपात रहित, शान्त, सर्व हितकारक विद्वानों की अन्नादि से उनसे प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना 'अतिथियज्ञ' कहाता है, उसको नित्य किया करें।"

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञान्तर्गत अतिथियज्ञ-विधान में निम्न प्रकार लिखा है—"अब पांचवां अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेव करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा सत्यवादी, छल-कपट रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको अतिथि कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं।"

अतिथियों से भिन्न व्यक्तियों को भोजन—

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान् ।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ (११३)(७८)

(संप्रीत्या) प्रीतिपूर्वक (भार्यया सह गृहम्+आगतान् इतरान् सख्यादीन् अपि) पत्नी के साथ घर में आये अन्य मित्र आदि को भी

(सत्कृत्य) सत्कारपूर्वक (यथाशक्ति अन्नं भोजयेत्) शक्ति के अनुसार भोजन करावे ॥ ११३ ॥

अतिथियों से पहले किन को भोजन दें—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥११४॥(७९)

(सुवासिनीः च कुमारीः) नव विवाहिता और अल्पवयस्क कन्याओं (रोगिणः) रोगियों को (गर्भिणीः स्त्रियः) गर्भवती स्त्रियों को (एतान्) इन्हें (अतिथिभ्यः+अग्रे+एव) अतिथियों से पहले ही (अविचारयन्) बिना किसी संदेह के अर्थात् बड़े-छोटे को पहले-पीछे भोजन कराने का विचार किये बिना (भोजयेत्) खिला दे ॥ ११४ ॥

गृहस्थ दम्पती को सबके बाद भोजन करना और यज्ञशेष भोजन करना—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥ (८०)

(अथ विप्रेषु भुक्तवत्सु) विद्वान् अतिथियों द्वारा भोजन कर लेने पर (च) और (स्वेषु भृत्येषु एव हि) अपने सेवकों आदि के खा लेने पर (ततः पश्चात्) उसके बाद (अवशिष्टम् तु) शेष बचे भोजन को (दम्पती भुञ्जीयाताम्) पति-पत्नी खायें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥ (८१)

(देवान्) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानों को, (ऋषीन्) विद्या के प्रत्यक्ष-कर्त्ता मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों को, (मनुष्यान्) साधारण मनुष्यों को (च) और (पितॄन्) जीवित माता-पिता आदि पालक व्यक्तियों को (च) तथा (गृह्याः देवताः) ईश्वरीय दिव्यगुणों [३ । ८४—९०] के चिन्तनपूर्वक यज्ञ में आहुति देकर और गृहस्थ द्वारा भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले असहाय, अनाथ, कुष्ठी, भृत्य [३ । ९१—९२] आदि को (पूजयित्वा) भोजन-दान द्वारा सत्कृत करके और उनका भाग निकालकर (गृहस्थः) गृहस्थ (ततः पश्चात्) उसके बाद (शेषभुक् भवेत्) इनसे शेष बचे भोजन को खाने वाला हो अर्थात् उस शेष भोजन को खाया करे ॥ ११७ ॥ ❀

❀[**प्रचलित अर्थ**—देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों, गृहस्थित शालिग्राम आदि प्रतिमाओं की पूजा (देवर्षिपितृतर्पण, अतिथ्यादि भोजन, प्रतिमादि पूजन) कर गृहस्थ शेष बचे हुए अन्न का भोजन करे ॥ ११७ ॥]

अनुशीलन : गृह्यदेवता – (१) यहां 'गृह्यदेवता' से अभिप्राय श्लोक ३।८४—९१ में वर्णित ईश्वरीय दिव्य गुणों से है, जिनके स्मरण-आहुतिपूर्वक गृहस्थ के आश्रय की अपेक्षा रखने वाले प्राणियों के लिए भोजन का भाग निकाला जाता है। इसी अभिप्राय को मनु ने "**भूतानि बलिकर्मणा**" [३।८१] पदों से तथा ३।७२ में 'भृत्यानाम्' पद से स्पष्ट किया है।

(२) देवता, ऋषि, पितर शब्दों के विस्तृत अर्थज्ञान के लिए ३।८२ की समीक्षा तथा भूमिका देखिए।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥ (८२)

(यः केवलम् आत्मकारणात् पचति) जो व्यक्ति केवल अपना पेट भरने के लिए ही भोजन पकाता है (सः) वह (अघं भुङ्क्ते) केवल पाप को खाता है अर्थात् इस प्रवृत्ति से स्वार्थ आदि की पाप भावना ही बढ़ती है (हि) क्योंकि (एतत्) यह उपर्युक्त [११७] (यज्ञशिष्ट+अशनम्) यज्ञों से शेष भोजन ही (सताम्+अन्नं विधीयते) सज्जनों का अन्न माना गया है। इसके विपरीत बिना यज्ञ का भोजन असत्पुरुषों का भोजन है ॥ ११८ ॥

गृहस्थ के लिए दो ही प्रकार के भोजनों का विधान—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥ (८३)

गृहस्थी को चाहिए कि वह (नित्यं विघसाशी भवेत्) प्रतिदिन 'विघस' भोजन को खाने वाला होवे (वा) अथवा (अमृतभोजनः) 'अमृत' भोजन को खाने वाला होवे (भुक्तशेषं तु 'विघसः') अतिथि, मित्रों आदि सभी व्यक्तियों के खा लेने पर बचे भोजन को 'विघस' कहा जाता है [३।११६] (तथा) तथा (यज्ञशेषम् 'अमृतम्') यज्ञ में आहुति देने के बाद बचा भोजन 'अमृत' कहलाता है। [३।११७-११८] ॥ २८५ ॥

अनुशीलन : यज्ञशेष और शेषभुक् भोजन में अन्तर—यज्ञशेष और भुक्तशेष भोजन में एक अन्तर यह है कि 'भुक्तशेष' अन्न मीठे और लवण से युक्त कोई भी भोजन हो सकता है किन्तु 'यज्ञशेष' भोजन लवणरहित ही होता है। लवणयुक्त पक्वान्न की आहुति अग्निहोत्र में नहीं डाली जाती। यज्ञ में लवणयुक्त भोजन का मनु ने निषेध किया है [६।१२]। गृहस्थ लवणयुक्त भोजन को बलिभाग निकालने पर और अतिथियों आदि के खाने के पश्चात् खाये। यही भुक्तशेष है। यही विघस है। यज्ञाहुति से अवशिष्ट लवणरहित भोजन यज्ञशेष और अमृत है।

उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ।। २८६ ।।(८४)

(एतत् वः) यह तुम्हें (सर्वं पाञ्चयज्ञिकं विधानम् अभिहितम्) सम्पूर्ण पञ्चयज्ञसम्बन्धी विधान कहा है । अब आगे (द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयताम्) द्विजातियों की मुख्य आजीविका और जीवनचर्या के विधान को सुनो—।। २८६ ।।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम्
'अनुशीलन'समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्ध मनुस्मृतौ गृहस्थाश्रमे
समावर्त्तनविवाह-पञ्चयज्ञविधानात्मकस्तृतीयोऽध्यायः ।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[हिन्दी-भाष्य-'अनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

[गृहस्थान्तर्गत आजीविका एवं व्रत विषय]

[आजीविका ४ । १ से ४ । ५ तक]

आयु के द्वितीय भाग में गृहस्थी बनें—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥ (१)

(द्विजः) द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (आद्यम्) पहले (आयुषः चतुर्थं भागम्) आयु के चौथाई भाग तक [कम से कम पच्चीस वर्ष पर्यन्त] (गुरौ उषित्वा) गुरु के समीप रहकर अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए अध्ययन और ब्रह्मचर्यपालन करके (आयुषः द्वितीयं भागम्) आयु के दूसरे भाग में (कृतदारः) विवाह करके (गृहे वसेत्) घर में निवास करे ॥ १ ॥

अनुशीलन : विवाह की आयु के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन ३ । ४ की समीक्षा में द्रष्टव्य है ।

गृहस्थी की परपीड़ारहित जीविका हो—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥ (२)

(विप्रः) द्विज व्यक्ति (अनापदि) आपत्तिरहितकाल में (भूतानाम् अद्रोहेण+एव) दूसरे प्राणियों को जिससे किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे (वा) अथवा (पुनः) ऐसी वृत्ति न मिलने पर बाद में (अल्पद्रोहेण) जिसमें प्राणियों को कम से कम पीड़ा हो ऐसी (या वृत्तिः) जो वृत्ति=आजीविका हो (तां समास्थाय जीवेत्) उसको अपनाकर जीवननिर्वाह करे ॥ २ ॥

धनसंग्रह जीवनयात्रा चलाने मात्र के लिए हो—

यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥ (३)

(स्वैः अगर्हितैः कर्मभिः) अपने अनिन्दित अर्थात् श्रेष्ठकर्मों से

(शरीरस्य अक्लेशेन) शरीर को अधिक कष्ट न देते हुए (यात्रामात्र-प्रसिद्धयर्थम्) केवल जीवनयात्रा को चलाने के उद्देश्य से ही [अर्थात् जिससे जीवन कष्टरहित रूप में चलता-रहे और उसमें अधिक ऐश्वर्य भोग की कामना न हो] (धन-संचयं कुर्वीत) धन का संचय करे ।। ३ ।।

शास्त्रविरुद्ध जीविका न हो—

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥ (४)

गृहस्थ (वृत्तिहेतोः) जीविका के लिये भी (लोकवृत्तं न वर्तेत) कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्ताव न वर्त्ते, किन्तु जिसमें (अजिह्माम्+अशठां शुद्धाम्) किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो (ब्राह्मणजीविकां जीवेत्) उस वेदोक्त कर्मसम्बन्धी जीविका को करे ।। ११ ।। (सं० वि० १५१)

सन्तोष सुख का मूल है, असन्तोष दुःख का—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ।। १२ ।। (५)

(सुखार्थी) सुख चाहने वाला व्यक्ति (परमं सन्तोषम् आस्थाय) अत्यन्त संतोष को धारण करके (संयतः भवेत्) संयत=अधिक धन के संग्रह की इच्छा न रखने वाला बने (हि) क्योंकि (संतोषमूलं सुखम्) संतोष सुख का आधार है (विपर्ययः) उससे उल्टा अर्थात् असंतोष (दुःखमूलम्) दुःख का आधार है ।। १२ ।।

(स्नातक गृहस्थियों के व्रत) [४ । ६ से ४ । ६० तक]

गृहस्थों के लिए सतोगुणवर्धक व्रत—

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ।। १३ ।। (६)

(अतः) इसलिए (स्नातकः द्विजः) स्नातक गृहस्थी द्विज (अन्यतमया) निर्धारित [१ । ८७-६१] वृत्तियों में से अपेक्षाकृत किसी श्रेष्ठ (वृत्त्या) आजीविका से (जीवन्) जीवननिर्वाह करते हुए (स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि इमानि व्रतानि धारयेत्) सुख, आयु और यश देने वाले इन व्रतों को धारण करे—।। १३ ।।

अनुशीलन : मनु स्वर्ग को सुख का पर्यायवाची मानते हैं। द्रष्टव्य ३। ७६ पर समीक्षा।

गृहस्थों के लिये सतोगुणवर्धक व्रत—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १४॥ (७)

ब्राह्मणादि द्विज (वेदोदितं स्वकं कर्म) वेदोक्त अपने कर्म को (अतन्द्रितः नित्यं कुर्यात्) आलस्य छोड़के नित्य किया करें (तत् हि यथा-शक्ति कुर्वन्) उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए (परमां गतिं प्राप्नोति) मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं॥ १४॥ (सं० वि० १७७)

अधर्म से धनसंग्रह न करें—

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ १५॥ (८)

गृहस्थ (प्रसंगेन अर्थान् न ईहेत) कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्य-संचित न करे (न विरुद्धेन कर्मणा) न विरुद्ध कर्म से (न विद्यमानेषु+अर्थेषु यतस्ततः) न विद्यमान पदार्थ होते हुए उनको गुप्त रखके अथवा दूसरे से छल करके और (न+आर्त्याम्+अपि) चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि अधर्म से द्रव्यसंचय कभी न करे॥ १५॥ (सं० वि० १७७)

इन्द्रियासक्ति-निषेध—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥ १६॥ (९)

(सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु कामतः न प्रसज्येत) इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे (च) और (एतेषाम् अतिप्रसक्तिम्) विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को (मनसा संनिवर्तयेत्) मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे॥ १६॥ (सं० वि० १७७)

स्वाध्याय से कृतकृत्यता—

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ १७॥ (१०)

(स्वाध्यायस्य विरोधिनः सर्वान् अर्थान् परित्यजेत्) जो स्वाध्याय और धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं उन सब को छोड़ देवे (यथा तथा अध्यापयन् तु) जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही (सा हि+

अस्य कृतकृत्यता) गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ॥ १७ ॥ (सं० वि० १७८)

अनुशीलन : स्वाध्याय के विस्तृत अर्थ के लिए देखिए २ । ८२ [२ । १०७] पर अनुशीलन।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ (११)

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम (धन्यानि आशु बुद्धिवृद्धिकराणि च हितानि शास्त्राणि) जो धर्म-धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ाने हारे हितकारी शास्त्र हैं उनको (च) और (वैदिकान् निगमान्) वेद के भागों की विद्याओं को (नित्यम् अवेक्षेत) नित्य देखा करो ॥ १९ ॥ (सं० वि० १७८)

"जो शीघ्र बुद्धि, धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें और सुनावें, ब्रह्मचर्याश्रम में जो पढ़े हों उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें।" (स० प्र० ९८)

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥ (१२)

(पुरुषः) मनुष्य (यथा-यथा शास्त्रं समधिगच्छति) जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है (तथा-तथा विजानाति) वैसे-वैसे अधिक जानता जाता है (च) और (अस्य विज्ञानं रोचते) इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ॥ २० ॥ (सं० वि० १७८)

"क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता, उसी में रुचि बढ़ती रहती है।"
(स० प्र० ९८)

पंचयज्ञों के पालन का निर्देश—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥ (१३)

(ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं नृयज्ञं च पितृयज्ञम्) ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ इनको (सर्वदा यथाशक्ति न हापयेत्) सदा ही जहां तक हो कभी न छोड़े ॥ २१ ॥

अग्निहोत्र का विधान—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥ (१४)

गृहस्थ (सदा) प्रतिदिन (द्यु-निशोः आद्यन्ते) रात-दिन के आदि और अंत में अर्थात् सायं प्रातः सन्धिवेलाओं में (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र (जुहु-

यात्) (च) और (अर्धमासान्ते दर्शेन) आधे मास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावस्या का यज्ञ करे (च) तथा (एव हि पौर्णमासेन) इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे ॥ २५ ॥

अनुशीलन : "अल्पाच्तरम्" [अष्टा० २।२।३४] सूत्र के नियम से 'द्यु निशे' पद में 'द्यु' पूर्वपठित है। अर्थ में 'सायं-प्रातः' ग्रहण होगा। द्र० २।१८६ श्लोक।

अतिथिसत्कार का विधान—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥२६॥ (१५)

(अस्य गेहे) इस गृहस्थी के घर में (कश्चित् अतिथिः) कोई भी अतिथि (शक्तितः) शक्ति के अनुसार (आसन+अशन शय्याभिः) आसन, भोजन, बिछौना आदि से (वा) अथवा (अद्भिः-मूल-फलेन) जल, कन्दमूल और फल आदि से (अनर्चितः न वसेत्) बिना सत्कार किये न रहे अर्थात् यथाशक्ति सब का सत्कार करना चाहिये ॥ २६ ॥

सत्कार के अयोग्य व्यक्ति—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥(१६)

(पाखण्डिनः) पाखण्डी (विकर्मस्थान्) वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले (बैडालव्रतिकान्) बिडालवृत्ति वाले [४ । १९५] (शठान्) हठी (हैतुकान्) बकवादी (च) और (बकवृत्तीन्) बगुलाभक्त मनुष्यों का [४ । १९६] (वाङ्मात्रेण+अपि न अर्चयेत्) वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥ (पू० प्र० १४३)

"किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक, ईश्वर वेद और धर्म को न मानें अधर्माचरण करने हारे हिंसक, शठ मिथ्याभिमानी, कुतर्की और बकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथि वेषधारी बनके आवें उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे।" (सं० वि० १५०)

'(पाखंडी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करने हारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्याभाषणादियुक्त, जैसे बिड़ाल छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम बैडालवृत्ति (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी आप जाने नहीं, औरों का कहा माने नहीं (हैतुक)

कुतर्की, व्यर्थ बकने वाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं, हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि गपोड़ी हांकने वाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा, ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और साखो आदि हठी दुराग्रही, वेदविरोधी हैं; ऐसों का सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिए।" (स० प्र० १०३)

सत्कार के योग्य व्यक्ति—

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ (१७)

(वेदविद्याव्रतस्नातान्) वेदों के विद्वान्, ज्ञानी और जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके स्नातक बने हैं उनका, तथा (श्रोत्रियान् गृहमेधिनः) वेद-पाठी=वेदज्ञाता गृहस्थियों का (हव्यकव्येन) भोज्य पदार्थों और वस्त्रदान आदि से (पूजयेत्) सत्कार करे (विपरीतान् च वर्जयेत्) और जो इनसे विपरीत हैं उन्हें छोड़दे ॥ ३१ ॥

अनुशीलन : **हव्य-कव्य शब्दों का विवेचन**—हव्य-कव्य के सम्बन्ध में परवर्त्ती टीकाकारों—भाष्यकारों को पर्याप्त भ्रान्ति रही है। वे परवर्ती पौराणिक रूढ़ार्थों के आधार पर इन्हें मृतक पितृश्राद्ध आदि के साथ जोड़ते हैं, मनुस्मृति में इनका अर्थ मृतकश्राद्ध आदि से सम्बन्धित नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि मनु मृतकश्राद्ध को मानते ही नहीं। यह इस श्लोक से भी सिद्ध है। यहां स्पष्टतः जीवित विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन कर रहे हैं [अन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं ३ । ८१-८२ और ३।२८४ की समीक्षा में] मनुस्मृति में इनके धात्वनुसारी अर्थ हैं—

(क) '**हु दानादानयोः**' (जुहो०) धातु से 'यत्' प्रत्यय के योग से हव्य शब्द बनता है। यज्ञप्रसंग में हव्य का अर्थ हवींषि=आहुतियां [निरु० ८ । ७] होता है, किन्तु व्यवहार में '**हव्यम्=अत्तव्यम् द्रव्यम्**' '**दातव्यं दानादिकं वा**'=धार्मिक विद्वानों [४ । ३०-३१] को भोज्य पदार्थों का भोजन आदि का दान 'हव्य' कहलाता है।

(ख) कव्य शब्द 'कवि' प्रातिपदिक से साध्वर्थ या हितार्थ में 'यत्' के योग से बनता है। कवि शब्द का अर्थ भी क्रान्तदर्शी=सूक्ष्मद्रष्टा विद्वान् होता है [द्रष्टव्य २। १२६ (२ । १५१) पर अनुशीलन]। '**कवयः=क्रान्तप्रज्ञाश्च विद्वांसः, तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि**" [ऋ० द० यजु० २ । २९]। '**कव्यः=हितार्थं प्रदत्तं द्रव्यम्**'=विद्वानों के हित के लिए दिये जाने वाले धन, वस्त्र आदि दान 'कव्य' कहलाते हैं।

(ग) किन्तु जहां 'हव्य-कव्य' का युग्म शब्द के रूप में प्रयोग होता है, वहां

इसका समन्वित और विस्तृत अर्थ होता है—'विद्वानों को दान में दिये जाने वाले भोजन-छादन, उपहार आदि सम्बन्धी सभी पदार्थ।'

भिक्षा एवं बलिवैश्वदेव का विधान—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥ (१८)

(गृहमेधिना) गृहस्थी को (शक्तितः+अपचमानेभ्यः) अपने हाथ से जो पका नहीं सकते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि को (दातव्यम्) अन्न देना चाहिए (च) और (अनुपरोधतः) जिससे परिवार के भरण-पोषण में बाधा न पड़े इस प्रकार (भूतेभ्यः सविभागः कर्त्तव्यः) प्राणियों—असहाय, विकलांगादि मनुष्यों तथा कुत्ता, पक्षी आदि के लिये भोजन का भाग भी निकालना चाहिए ॥ ३२ ॥

स्वाध्याय में तत्पर रहना—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥ (१९)

(क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः) केश, नाखून और दाढ़ी कटवाता रहे (दान्तः) संयमी रहे (शुक्लाम्बरः) स्वच्छ वस्त्र धारण करे (शुचिः) शुद्धता रखे (च) और (नित्यं स्वाध्याये च आत्महितेषु युक्तः स्यात्) प्रतिदिन वेदों के स्वाध्याय और अपनी आत्मा की उन्नति में लगा रहे ॥ ३५ ॥

रजस्वलागमन-निषेध एवं उससे हानि—

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥ (२०)

(प्रमत्तः+अपि) कामातुर होता हुआ भी (आर्तवदर्शने) मासिक धर्म के दिनों में (स्त्रियं न+उपगच्छेत्) स्त्री से सम्भोग न करे (च) और (तया सह समानशयने न शयीत) उसके साथ एक बिस्तर पर न सोये ॥ ४० ॥

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ (२१)

(हि) क्योंकि (रजसा+अभिप्लुतां नारीं) रजस्वला स्त्री के (उपगच्छतः नरस्य) पास जाने वाले=संभोग करने वाले मनुष्य के (प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च आयुः एव प्रहीयते) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति और आयु, ये सब घटते हैं ॥ ४१ ॥

रजस्वलागमन-त्याग से लाभ—

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥ (२२)

(रजसा समभिप्लुतां तां विवर्जयतः) रज निकलती हुई अर्थात् उस रजस्वला स्त्री से संभोग न करने वाले (तस्य) उस मनुष्य के (प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च आयुः एव प्रवर्धंते) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति और आयु ये सब बढ़ते हैं ॥ ४२ ॥

सवारी किन पशुओं से न करे या करे—

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ (२३)

(अविनीतैः) बिना सिखाये हुए (क्षुद्-व्याधि-पीडितैः) भूख और रोग से पीड़ित (भिन्न-शृंग-अक्षि-खुरैः) जिनके सींग, नेत्र और खुर टूट गये हैं (वाल+अधिविरूपितैः) जिनकी पूंछ कटी या घायल हो, ऐसे (धुर्यैः न व्रजेत्) जूए में जुतने वाले, घोड़े, बैल आदि पशुओं पर चढ़कर न जाये ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥ (२४)

(विनीतैः) सिखाये हुए (लक्षण+अन्वितैः) सुन्दर लक्षणों से युक्त (वर्ण-रूप+उपसंपन्नैः) सुन्दर रंग-रूप से युक्त (आशुगैः) शीघ्रगामी पशुओं से (प्रतोदेन भृशम् अनुदन्) चाबुक की मार से बहुत पीड़ा न देता हुआ (व्रजेत्) सवारी करे ॥ ६८ ॥

दुष्टों का संग न करे—

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥ (२५)

सज्जनगृहस्थ लोगों को योग्य है कि (न पतितैः, न अन्त्यैः, न चांडालैः, न पुल्कसैः) जो पतित, दुष्टकर्म करने हारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर (न मूर्खैः अवलिप्तैः च न अन्त्य+अवसायिभिः संवसेत्) न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी, और न नीच निश्चय वाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ॥ ७९ ॥ (सं० वि० १७८)

ब्राह्ममुहूर्त्त में जागरण—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥ (२६)

(ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत) रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे (धर्मार्थौ) आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ (कायक्लेशान् च तन्मूलान्) शरीर के रोगों और उनके कारणों को (च) और (वेदातत्त्वार्थम्+एव अनुचिन्तयेत्) परमात्मा का ध्यान करे, कभी अधर्म का आचरण न करे ॥ ९२ ॥ (स० प्र० १०४)

संध्योपासन आदि नित्यचर्या का पालन एवं उससे दीर्घायु की प्राप्ति—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥ (२७)

(उत्थाय) उठकर (आवश्यकं कृत्वा) दिनचर्या के आवश्यक शौच आदि कार्य सम्पन्न करके (कृतशौचः) स्नान आदि से स्वच्छ-पवित्र होकर (समाहितः) एकाग्रचित्त होकर (पूर्वां संध्यां जपन् चिरं तिष्ठेत्) प्रातःकालीन संध्योपासना करता हुआ देर तक बैठे (च) और (स्वकाले) उपयुक्त समय पर (अपराम्) सायंकालीन संध्या में भी चिरकाल तक उपासना करे ॥९३॥

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥ (२८)

(ऋषयः) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों ने (दीर्घसंध्यत्वात्) देर तक संध्योपासना करने के कारण (दीर्घम्+आयुः, प्रज्ञां, यशः, कीर्तिं, च ब्रह्मवर्चसम् अवाप्नुयुः) लम्बी आयु, बुद्धि, यश, प्रसिद्धि और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है ॥ ९४ ॥

अनुशीलन : दीर्घसन्ध्या से दीर्घ-आयु आदि की प्राप्ति—(१) गायत्री आदि वेदमन्त्रों का जप संध्या है [२ । ७९ (१०४)] और यह नैत्यिक यज्ञों एवं स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। स्वाध्याय से आयु, तेज-बल आदि की प्राप्ति २ । ८२ (१९७) में भी वर्णित है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है।

(२) गायत्री आदि वेदमन्त्रों के मननपूर्वक दीर्घसन्ध्या=उपासना एवं ईश्वर से बुद्धि की प्रार्थना करने से बुद्धि की प्राप्ति होती है। वेदमन्त्रों के अनुसार आचरण से आयु की प्राप्ति, फिर श्रेष्ठआचरण से प्रसिद्धि एवं यश की प्राप्ति होती है। वेदमन्त्र पूर्वक मनन-चिन्तन, आचरण से ब्रह्मतेज बढ़ता है। मनुष्य वेद और ईश्वर के ज्ञान में समर्थ होता जाता है [२ । ५३ (७८)]। इस प्रकार दीर्घ सन्ध्या से श्लोकोक्त लाभ मिलते हैं।

(३) 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ २ । ७७-७९ [१०३-१०५] श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिए।

स्त्रीगमन में पर्वदिनों का त्याग करे—

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।

ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥ (२९)

(स्नातकः द्विजः) गृहस्थ द्विज को चाहिये कि वह (ऋतौ अपि) ऋतु-काल होते हुए भी (अमावस्याम्+अष्टमीं पौर्णमासीं च चतुर्दशीम्) अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी के दिन (ब्रह्मचारी भवेत्) ब्रह्मचारी रहे ॥ १२८ ॥

"जब ऋतुदान देना हो तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान १६ दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उस को छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें।"

(संस्कारविधि गर्भाधान संस्कार प्रकरण।)

अनुशीलन : तुलनार्थ द्रष्टव्य है ३। ४५ श्लोक। वहाँ भी मनु ने पर्व दिनों में ऋतुदान का निषेध किया है।

परस्त्री-सेवन का निषेध एवं त्याज्य व्यक्ति—

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ (३०)

गृहस्थ द्विज (वैरिणम्) शत्रु (च) और (वैरिणः सहायं) शत्रु के सहायक (अधार्मिकं तस्करं च परस्य योषितम्) अधार्मिक, चोर, पराई स्त्री से (न सेवेत) मेलजोल न रखे अर्थात् परस्त्री-गमन न करे ॥ १३३ ॥

परस्त्री-सेवन से हानियाँ—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥ (३१)

गृहस्थ द्विज का (इह लोके) इस संसार में (पुरुषस्य अनायुष्यं ईदृशं किंचन न हि विद्यते) पुरुष की आयु को घटाने वाला ऐसा कोई काम नहीं है (यादृशम्) जैसा कि (परदारा-उपसेवनम्) परस्त्रीगमन करना है ॥१३४॥

आत्महीनता की भावना मन में न लाये—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥ (३२)

गृहस्थ द्विज कभी (पूर्वाभिः+असमृद्धिभिः) प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उससे (आत्मानं न+अवमन्येत) अपने आत्मा का अपमान न करे कि 'हाय हम निर्धन हो गये' इत्यादि विलाप भी न करे, किन्तु (आमृत्योः) मृत्युपर्यन्त (श्रियम्+अन्विच्छेत्) लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें, और (एनां दुर्लभां न मन्येत) लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ॥ १३७ ॥ (सं० वि० १७८)

अनुशीलन : अभिप्राय यह है कि धन आदि के अभाव की स्थिति आने पर या आपत्तिकाल में मनुष्य को कभी अपने मन में आत्महीनता, निराशा, हताशा की भावना नहीं आने देनी चाहिए। अपितु इन बातों को त्यागकर सतत पुरुषार्थ में प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही मनुष्य जीवन की सफलता समृद्धि और उन्नति का आधार है।

सत्य तथा प्रियभाषण करे—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥ (३३)

(सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्) सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले (अप्रियं सत्यं न ब्रूयात्) अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले (अनृतं च प्रियं न ब्रूयात्) अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ❀ ॥ १३८ ॥ (सं० प्र० ६७)

❀ (एषः सनातनः धर्मः) यह सनातन धर्म है। (सं० वि० १७८)

"मनुष्य सदैव सत्य बोले और दूसरे का कल्याणकारक उपदेश कर, काणे को काणा, मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोले और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोले यह सनातन धर्म है ॥" (स० वि० १७८)

भद्र व्यवहार करे—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ (३४)

(भद्रं भद्रम्+इति ब्रूयात्) सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे (शुष्कवैरं विवादं च केनचित् सह न कुर्यात्) शुष्कवैर अर्थात् बिना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे (भद्रम्+इत्येव वा वदेत्) जो-जो दूसरे का हितकारी हो और बुरा भी माने तथापि कहे बिना न रहे ॥ १३९ ॥ (स० प्र० ६७)

हीन, विकलांग आदि पर व्यंग्य न करे—

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ (३५)

(हीन+अङ्गान्) कम अंगों वालों या अपंगों पर (अतिरिक्त+अङ्गान्) अधिक अंगों वाले (विद्याहीनान्) मूर्ख (वय+अधिकान्) आयु में बड़े (च)

और (रूप-द्रव्य-विहीनान्) रूप और धन से रहित (च) और (जातिहीनान्) अपने से निम्न वर्ण वाले इन पर (न आक्षिपेत्) कभी आक्षेप [=व्यंग्य या मजाक] न करे ॥ १४१ ॥

कल्याणकारी यज्ञ-संध्या आदि कार्य करे—

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥(३६)

(मंगल+आचार+युक्तः) कल्याणकारी कार्यों में लगा रहने वाला या श्रेष्ठ आचरणवाला (प्रयतात्मा) उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील (जितेन्द्रियः) जितेन्द्रिय (स्यात्) रहे (च) और (नित्यम्) प्रतिदिन (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (जपेत्) जपोपासना करे (च एव) तथा (अग्निं जुहुयात्) अग्नि में हवन करे ॥ १४५ ॥

यज्ञ-संध्या आदि कल्याणकारी कार्यों से लाभ—

मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥ (३७)

(मंगल+आचार+युक्तानाम्) जो सदाकल्याणकारी कार्यों में लगे रहते हैं अथवा जो श्रेष्ठ आचारण का पालन करते हैं (च) और (नित्यं प्रयतात्मनाम्) जो सदा आत्मा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं (च) तथा (जपताम्) जो परमात्मा का जाप करते हैं (जुह्वताम्) जो हवन करते हैं, उनकी (विनिपातः) अवनति (न विद्यते) नहीं होती अर्थात् उनका जीवन पतन की ओर नहीं जाता ॥ १४६ ॥

वेदाभ्यास परमधर्म है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ (३८)

द्विज (नित्यम्) सदा (यथाकालम्) जितना भी अधिक समय लगा सके उसके अनुसार (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (वेदम्+एव+अभ्यसेत्) वेद का ही अभ्यास करे (हि) क्योंकि (तम् अस्य परं धर्मम् आहुः) उस वेदाभ्यास को इस द्विज का सर्वोत्तम कर्त्तव्य कहा है (अन्यः उपधर्मः उच्यते) अन्य सब कर्त्तव्य गौण हैं ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यास का कथन और उसका फल—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥ (३९)

मनुष्य (सततं वेदाभ्यासेन) निरन्तर वेद का अभ्यास करने से (शौचेन) आत्मिक तथा शारीरिक पवित्रता से (च) तथा (तपसा) तपस्या से (च) और (भूतानाम् अद्रोहेण) प्राणियों के साथ द्रोहभावना न रखते हुए अर्थात् अहिंसाभावना रखते हुए (पौर्विकीं जातिं स्मरति) पूर्वजन्म की अवस्था को स्मरण कर लेता है ॥ १४८ ॥

अनुशीलन : योगदर्शन से जन्मज्ञान की पुष्टि—योगदर्शनकार ने भी इस मान्यता को २।३९ सूत्र में वर्णित किया है। मनु ने वेदाभ्यास, अहिंसा, शौच = अशुद्धिभाव से असंसर्ग, आदि द्वारा पूर्वजन्म एवं जन्मकारणों का बोध होना कहा है। इसी प्रकार योगदर्शन में भी है—

"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता संबोधः ॥"

अपरिग्रह में अहिंसा, वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों तथा श्रेष्ठों की संगति, विषयों में अनासक्ति आदि बातें होती हैं। इन अपरिग्रह की बातों में स्थिरता होने से भूत-भावी-वर्तमान जन्मों एवं जन्मकारणों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ (४०)

(पौर्विकीं जातिं संस्मरन्) पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण करते हुए (पुनः ब्रह्म+एव+अभ्यसते) फिर भी यदि वेद के अभ्यास में लगा रहता है तो (अजस्रं ब्रह्माभ्यासेन) निरन्तर वेद का अभ्यास करने से (अनन्तं सुखम्+अश्नुते) मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है ॥ १४९ ॥

अनुशीलन : इन्हीं भावों की तुलना के लिए द्रष्टव्य है १२। १०२ श्लोक।

वृद्धों का अभिवादन एवं स्वागत—

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥१५४॥ (४१)

(वृद्धान्) सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को (अभिवादयेत्) नमस्ते अर्थात् उनका मान्य किया करे (स्वकम् आसनं च एव दद्यात्) जब वे अपने समीप आवें तब उठकर, मान्यपूर्वक अपने आसन पर बैठावे (च) और (कृत+अञ्जलिः+उपासीत) हाथ जोड़के आप समीप बैठे, पूछे वह उत्तर देवे (गच्छतः पृष्ठतः+अन्वियात्) और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर, विदा करे ॥ १५४ ॥ (सं० वि० १७९)

सदाचार की प्रशंसा एवं फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ।। १५५ ।। (४२)

गृहस्थ सदा (अतन्द्रितः) आलस्य को छोड़कर (श्रुति-स्मृति+उदितम्) वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए (स्वेषु कर्मसु सम्यङ् निबद्धम्) अपने कर्मों में निबद्ध (धर्ममूलं सदाचारं निषेवेत) धर्म का मूल सदाचार अर्थात् जो सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का आचरण है, उसका सेवन सदा किया करें ।। १५५ ।। (सं० वि० १७९)

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।१५६।।(४३)

(आचारात् हि आयुः) धर्माचरण से दीर्घायु (आचारात्+ईप्सिताः प्रजाः) आचार से उत्तम सन्तान (आचारात् अक्षय्यं धनम्) आचार से अक्षय धन (लभते) प्राप्त होता है (आचारः अलक्षणं हन्ति) धर्माचरण बुरे अधर्म-युक्त लक्षणों का नाश कर देता है ।। १५६ ।।

"धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन मनुष्य को प्राप्त होता है और धर्माचरण बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ।" (सं० वि० १७९)

"इसलिये मिथ्याभाषणादि रूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है उसके आचरण को सदा किया करे ।" (स० प्र० १०७)

दुराचार से हानि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।। १५७ ।।(४४)

(दुराचारः हि पुरुषः) जो दुष्टाचारी पुरुष है वह (लोके निन्दितः) संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त (दुःखभागी) दुःखभागी (च) और (सततं व्याधितः) निरन्तर व्याधियुक्त होकर (अल्पायुः+एव भवति) अल्पायु का भी भोगने हारा होता है ।। १५७ ।। (स० प्र० १०८)

"और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है ।" (सं० वि० १७९)

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ।। १५८ ।। (४५)

(यः) जो (सर्वलक्षणहीनः+अपि सदाचारवान्) सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त (श्रद्दधानः) सत्य में श्रद्धा (च) और (अनसूयः) निन्दा आदि दोषरहित होता है (शतं वर्षाणि जीवति) वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ।। १५८ ।। (सं० वि० १७६)

परवश कर्मों का त्याग—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ।। १५९ ।। (४६)

मनुष्य (यत्-यत् परवशं कर्म) जो पराधीन कर्म हो (तत्-तत् यत्नेन वर्जयेत्) उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े (तु) और (यत्-यत् आत्मवशं स्यात्) जो-जो स्वाधीन कर्म हो (तत्-तत् यत्नतः सेवेत) उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ।। १५९ ।। (सं० वि० १७६)

"जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न से त्याग और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे ।" (स० प्र० १०८)

सुख-दुःख का लक्षण—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।। १६० ।। (४७)

क्योंकि (परवशं सर्वं दुःखम्) जितना परवश होना है वह सब दुःख, और (आत्मवशं सर्वं सुखम्) जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है (एतत् समासेन सुखदुःखयोः लक्षणं विद्यात्) यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ।। १६० ।। (सं० वि० १८०)

"क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख, यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिए ।" (स० प्र० १०८)

आत्मा के प्रसन्नताकारक कार्य ही करे—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ।। १६१ ।। (४८)

(यत् कर्म कुर्वतः) जिस कर्म के करने से (अस्य अन्तरात्मनः परितोषः स्यात्) मनुष्य की आत्मा को संतुष्टि एवं प्रसन्नता का अनुभव हो

अर्थात् भय, शंका, लज्जा का अनुभव न हो (तत्-तत् प्रयत्नेन कुर्वीत) उस-उस कर्म को प्रयत्नपूर्वक करे (विपरीतं तु वर्जयेत्) जिससे संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो उस कर्म को न करे ॥ १६१ ॥

अनुशीलन : आत्मा के प्रसन्नताकारक कार्य किस प्रकार के होते हैं, इसके लिए विस्तृत विवेचन १। १२५ [२ । ६] पर 'आत्मनस्तुष्टि' शीर्षक अनुशीलन देखिए।

माता-पिता-आचार्यादि की हिंसा न करे—

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥१६२॥(४६)

(आचार्यं प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुं ब्राह्मणान् गाः च सर्वान् तपस्विनः) वेद को पढ़ाने वाला, वेद का प्रवचन करने वाला, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गाय और सभी तपस्वी इनको (न हिंस्यात्) प्रताड़ित न करे अर्थात् इनके प्रतिकूल आचरण न करे ॥ १६२ ॥

नास्तिकता, वेदनिन्दा आदि निषिद्ध कर्म—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥१६३॥ (५०)

(नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां कुत्सनम्) नास्तिकता, वेद की निन्दा और विद्वानों की निन्दा (द्वेषं दम्भं मानं क्रोधं च तैक्ष्ण्यं वर्जयेत्) द्वेष, पाखण्ड, अभिमान, क्रोध, उग्रता=तेजी, इनको छोड़देवे ॥ १६३ ॥

शिष्य को केवल शिक्षार्थ ताड़ना करे—

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥१६४॥ (५१)

(पुत्रात् वा शिष्यात् अन्यत्र) पुत्र और शिष्य से भिन्न (परस्य दण्डं न+उद्यच्छेत्) अन्य किसी व्यक्ति पर दण्डा न उठाये अर्थात् दण्डे से न मारे (क्रुद्धः एव न निपातयेत्) और क्रोधित होकर भी किसी को न मारे, वध न करे, (तौ तु शिष्ट्यर्थं ताडयेत्) उन पुत्र और शिष्य को भी केवल शिक्षा देने के लिये ही ताड़ना करे ॥ १६४ ॥

"परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें"।

(स० प्र० द्वितीय समु०)

अधर्म-निन्दा एवं अधर्म से दुःखप्राप्ति—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।। १७० ।। (५२)

(यः अधार्मिकः नरः) जो अधार्मिक मनुष्य है (च) और (यस्य हि अनृतं धनम्) जिसका अधर्म से संचित किया हुआ धन है (च) और (यः नित्यं हिंसारतः) जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है (असौ) वह (इह) इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में (सुखं न एधते) सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ।। १७० ।। (सं० वि० १८०)

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ।। १७१ ।। (५३)

(अधार्मिकाणां पापानां आशु विपर्ययम्) अधार्मिक पापियों का [१७४ में वर्णित रूप में यदि पापों से उनकी उन्नति और समृद्धि हो गई है तो भी] शीघ्र ही उलटा विनाश होता है, (पश्यन्) यह समझते हुए (धर्मेण सीदन्+अपि) धर्माचरण से कष्ट उठाता हुआ भी (अधर्मे मनः न निवेशयेत्) अधर्म में मन को न लगावे अर्थात् धर्म का ही पालन करता रहे ।। १७१ ।।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।। १७२ ।। (५४)

मनुष्य निश्चय करके जाने कि (लोके) इस संसार में (गौः+इव) जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र प्राप्त नहीं होता वैसे ही (चरितः अधर्मः सद्यः न फलति) किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता (तु) किन्तु (शनैः कर्त्तुः आवर्त्तमानः) धीरे-धीरे अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ (मूलानि कृन्तति) सुख के मूलों को काट देता है पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ।। १७२ ।। (सं० वि० १८०)

"किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता; इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।" (स० प्र० १०४)

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ।। १७३ ।। (५५)

(यदि न+आत्मनि) यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में

न हो तो (पुत्रेषु) पुत्रों (पुत्रेषु न चेत् नप्तृषु) यदि पुत्रों के समय में न हो तो नातियों=पोतों के समय में अवश्य प्राप्त होता है (तु) किन्तु (न एव तु) यह कभी नहीं हो सकता कि (कर्त्तु: अधर्मः निष्फलः भवति) कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ।। १७३ ।। (सं० वि० १८०)

अनुशीलन : कर्मफल का भोक्ता कौन ? ४ । २४० में कर्त्ता को ही सुकृत-दुष्कृत का भोक्ता माना है जबकि यहाँ किये हुए अधर्म का फल पुत्र-पौत्रों तक प्राप्त होना कहा । इस प्रकार विरोध-सा प्रतीत है । किन्तु इनमें परस्पर विरोध नहीं है । वहां व्यक्तिगत स्तर पर किये जाने वाले सुकृत-दुष्कृत का कर्त्ता को व्यक्तिगत रूप में ही भोक्ता माना है, जबकि यहाँ प्रसंग अधर्म पूर्वक भोगों के संग्रह का है ४।१७०—१७४] । व्यक्ति हिंसा, अधर्म आदि से [४।१७०] यदि धनसंग्रह करता है और वह एकाएक समृद्ध होता हुआ भी दृष्टिगत होता है, किन्तु अन्ततः समूल विनाश के रूप में उसे फल भोगना पड़ता है [४।१७०] । अधर्म, हिंसा आदि से प्राप्त किये धन-भोगों के सेवन में जो-जो भी पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक जन सम्मिलित होते हैं, वे भी उस अधर्म में भागीदार होने के कारण उसके फल को भोगते हैं । इसकी पुष्टि के लिए हिंसा के प्रसंग में मनु की मान्यता ५।५१ में देखिए । वहां हिंसा में किसी भी प्रकार भाग लेने वाले प्रत्येक आठ प्रकार के व्यक्तियों को अधर्मी=पापी माना है । इसी प्रकार सभी अधर्मों के कामों में समझना चाहिए । जब वह अधर्मी है तो उसके दुःखरूप फल का भी भागी होगा । किन्तु कर्त्ता के भोगने योग्य निजी फल को कोई नहीं बाँट सकता है । [४।२४०] । सब अपने-अपने फल भोक्ता स्वयं होते हैं ।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।। १७४ ।। (५६)

(तावत् अधर्मेण+एधते) जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसा तालाब के बंध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन, और विश्वासघात आदि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर, प्रथम बढ़ता है (ततः) पश्चात् (भद्राणि पश्यति) धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है (सपत्नान् जयति) अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है (ततः) पश्चात् (समूलः तु विनश्यति) शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट हो जाता है ।। १७४ ।। (स० प्र० १०४)

अनुशीलन : अधर्म दुःख का कारण है और धर्म सुख का कारण है । इस मान्यता की पुष्टि के लिए ६ । ६४ श्लोक द्रष्टव्य है ।

सत्यधर्म का पालन करे—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥ (५७)

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि (सत्यधर्म+आर्य-वृत्तेषु) सत्यधर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों (च) और (शौचे) भीतर-बाहर की पवित्रता में (सदा आरमेत्) सदा रमण करें (वाक्+बाहु+उदर+संयतः च धर्मेण) अपनी वाणी, बाहू उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके (शिष्यान्-शिष्यात्) शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ॥ १७५ ॥ (सं० वि० १८०)

"जो वेदोक्त सत्यधर्म अर्थात् पक्षपातरहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग, न्यायरूप, वेदोक्त धर्मादि आर्य अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करें ।" (स० प्र० १०४)

"सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी भोजनादि के लोभ रहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ।" (सं० वि० १५१)

धर्मवर्जित अर्थ-काम का त्याग—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥ (५८)

(अर्थकामौ यौ धर्मवर्जितौ स्यातां परित्यजेत्) यदि बहुत-सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होते हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें (च) और (धर्मम् अपि+असुखोदर्कम्) वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तरकाल में दुःख (च) और (लोकविक्रुष्टम् एव) संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ॥ १७६ ॥ (सं० वि० १५१)

"जो धर्म से वर्जित धनादिपदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र छोड़देवे और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहें ।" (सं० वि० १८१)

अनुशीलन : (१) श्लोक में उक्त बातों को उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया जाता है—

(क) **धर्मवर्जित अर्थ**=जैसे—चोरी, डकैती, छल-कपट, हिंसा आदि से प्राप्त धन। ऐसा धन धर्मवर्जित है [द्रष्टव्य ४।२, ३, ११, १५ ॥ ८। ३०-३६]।

(ख) **धर्मवर्जितकाम**=जैसे—अतिविषयासक्ति [४।१६], परस्त्रीगमन [४।१३३—१३४], बाल्यकाल में विवाह [३।१—४], पर्वदिनों में या ऋतुकाल के बिना स्त्रीसमागम [३।४५।४।१२८] विधिरहित नियोग [९।५९—६३] आदि कार्य धर्मविरुद्ध कामभावना के अन्तर्गत आते हैं।

(ग) **उत्तरकाल में असुखकारक धर्म**= जैसे— स्त्री-पुत्रों के रहते हुए सर्वस्व दान कर देना या अतितपस्या से शरीर को क्षीण करना [२।७५ (२।१००)] आदि बातें धर्माभास हैं, जिनसे उत्तरकाल में दुःखप्राप्ति होती है।

(घ) **लोकविक्रुष्ट धर्म**= काणे को काणा कहना, हीन को हीन कहना; आदि बातें सत्य होते हुए भी लोकनिन्दित एवं शिष्टधर्म के विरुद्ध हैं। मनु ने कहा है—'सत्य बोले किन्तु प्रिय सत्य बोले' [४।१३८]। अप्रिय बातें नहीं कहनी चाहिए [४।१४१]।

(२) **धर्म, अर्थ, काम का स्वरूप**— धर्म, अर्थ, काम के स्वरूप को समझने के लिए ७।२६ की समीक्षा देखिए।

चपलता का त्याग—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ (५९)

(पाणि-पाद-चपलः न) हाथ-पैरों से चंचलता के कार्य न करे (नेत्र-चपलः न) आंखों से चंचलतायुक्त काम न करे (अनृजुः) कुटिलता न करे (वाक्-चपलः एव न) वाणी से चपलता न करे (च) और (परद्रोह-कर्मधीः न स्यात्) दूसरों की हानि या द्वेष के कर्मों में मन लगाने वाला न बने ॥ १७७ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥(६०)

(येन+अस्य पितरः) जिस मार्ग से इसके पिता (पितामहाः याताः) पितामह चले हों (तेन यायात्) उस मार्ग में सन्तान भी चले, परन्तु (सतां मार्गम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता-पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें (तेन गच्छन् न रिष्यते) क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता ॥ १७८ ॥

विवाद न करने योग्य व्यक्ति—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।

बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥ (६१)

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।

दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥ (६२)

"(ऋत्विक्) यज्ञ का करने हारा (पुरोहित) सदा उत्तम चाल-चलन का शिक्षाकारक (आचार्य) विद्या पढ़ाने हारा (मातुल) मामा (अतिथि) अर्थात् जिसकी कोई आने की निश्चित तिथि न हो (संश्रित) अपने आश्रित (बाल) बालक (वृद्ध) बुड्ढे (आतुर) पीड़ित (वैद्य) आयुर्वेद का ज्ञाता (ज्ञाति) स्वगोत्रस्थ वा स्ववर्णस्थ (सम्बन्धी) श्वसुर आदि (बान्धव) मित्र (माता) माता (पिता) पिता (जामी) बहन (भ्राता) भाई (भार्या) स्त्री (दुहित्रा) पुत्री ꕥ (दासवर्गेण) और सेवक लोगों से (विवादं न समाचरेत्) विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करें ॥ १७९, १८० ॥

(स० प्र० १०४—१०५)

प्रतिग्रह का लालच न रखे—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥१८६॥ (६३)

ब्राह्मण (प्रतिग्रहः समर्थः+अपि) दान लेने का अधिकारी होते हुए भी (तत्र प्रसंगं वर्जयेत्) दान-प्राप्ति में आसक्तिभाव अर्थात् उसीसे धनसंग्रह का लालच रखने की भावना को छोड़ देवे (हि) क्योंकि (प्रतिग्रहेण) दान लेने में आसक्ति रखने से (अस्य ब्राह्मं तेजः) इसका ब्राह्मतेज (आशु-प्रशाम्यति) शीघ्र शान्त होने लगता है ॥ १८६ ॥

प्रतिग्रह की विधियाँ—

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।

प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥ (६४)

(प्राज्ञः) बुद्धिमान् ब्राह्मण को चाहिए कि (द्रव्याणां प्रतिग्रहे धर्म्यं विधिम् अविज्ञाय) द्रव्यों के दान लेने में धर्म की विधि को बिना जाने (क्षुधा अवसीदन्+अपि) भूख से पीड़ित होता हुआ भी (प्रतिग्रहं न कुर्यात्) दानग्रहण न करे ॥ १८७ ॥ ꕥ

अनुशीलन : दानग्रहण की धर्मविधि—इस श्लोक में प्रतिग्रहरूप

ꕥ [**प्रचलित अर्थ—** द्रव्यों के दान लेने में उनकी धर्मयुक्त विधि (ग्राह्य देवता, प्रतिग्रहमन्त्र आदि) को बिना जाने भूख से पीड़ित होता हुआ भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दान को न ले ॥ १८७ ॥]

में द्रव्यों को दान लेने की धर्मविधि क्या है, इसको समझने के लिए मनु की निम्न मान्यताएँ व प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) १। ८८ में वेदाध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन में निरन्तर रत व्यक्ति को ही दान लेने का अधिकार दिया है। दान लेने के वे ही अधिकारी हैं जो इन कार्यों को धर्म मानकर निरन्तर करते हैं इस बात का निर्देश मनु ने स्थान-स्थान पर किया है [२। ७९-८१ (२। १०४—१०७), २। १४०—१४३ (२। १६५—१६८); ४। १७—२०, ३१, १४७, १४९, ११। २४५॥]। इस प्रकार धर्मविधि का एक भाग यह है कि अधिकारी ही दान लें।

(२) उपर्युक्त कार्यों में तल्लीन न रहने वाले व्यक्ति, वेद को एकबार पढ़कर उसका अभ्यास-मनन न करने वाले व्यक्ति, अतपस्वी, स्वभाव से छली-कपटी आदि दान लेने के अनधिकारी हैं [४। ३०, १९०—१९६ आदि]। अनधिकारियों को दिया गया दान निष्फल होता है और लेने वाले पापी होते हैं।

(३) अधर्मी और वेद, यज्ञ आदि से हीन व्यक्तियों से दान नहीं लेना चाहिए [२। १५८, १६० (२। १८३, १८५)।

(४) मनु द्वारा भक्ष्यरूप में विहित पदार्थ दान में ग्राह्य हैं। निषिद्ध अभक्ष्य मांस तामसिक आदि पदार्थ अग्राह्य हैं [५। ५—९, ४५—५१; ६। १४ आदि] और सांसारिक विषयों में फंसाने वाले पदार्थ भी अग्राह्य हैं [६।५८, ५७, ५५, २६ आदि]। इन बातों को जानना 'प्रतिग्रह की धर्मविधि' का ज्ञान करना है।

दान लेने के अनधिकारी तीन प्रकार के व्यक्ति—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥ १९०॥(६५)

एक—(अतपाः) ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि तपरहित, दूसरा—(अनधीयानः) बिना पढ़ा हुआ—तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेने वाला, ये तीनों (अश्मप्लवेन अम्भसि इव) पत्थर की नौका से समुद्र में तैरने के समान (तेन सह एव मज्जति) अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं॥ १९०॥ (स० प्र० १०५)

अनुशीलन : 'अनधीयानः' की व्याख्या के लिए देखिए ४। १९२ की समीक्षा।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्॥ १९२॥ (६६)

(धर्मवित्) धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि (बैडालव्रतिके द्विजे) 'बैडालव्रतिक' [=बिल्ली जैसे स्वभाव वाला ४। १९५] को

(बकव्रतिके) 'बकव्रतिक' [=बगुले जैसे स्वभाव वाला ४। १९६] (विप्रे) ब्राह्मण को (अवेदविदि) वेद को न जानने-पढ़ने वाले ब्राह्मण को (वारि+अपि न प्रयच्छेत्) जल भी न दे ॥ १९२ ॥

अनुशीलन : तीन प्रकार के असम्मान्य व्यक्ति—इस श्लोक में १९० में वर्णित व्यक्तियों को सादृश्यपरक दूसरी संज्ञाओं से वर्णित किया है, जैसे—अनधीयानः=अवेदवित्, अतपाः=सत्याचरण से रहित किन्तु द्विजनामधारी अर्थात् बकव्रतिक (ढोंगी), प्रतिग्रहरुचिः (प्रतिग्रह का लालची)=बैडालव्रतिक। आगे ४।१९५—१९६ आखिरी दो के लक्षण भी स्पष्ट कर दिये हैं। ये वेदानुसार आचरण के त्याग करने वाले हैं। इस प्रकार इस श्लोक में पुनरुक्ति न होकर उनके स्पष्ट गुणों के आधार पर पर्यायवाची संज्ञाएं दी हैं।

(२) 'अनधीयानः या अवेदवित्' का यहां अर्थ अविद्वान् नहीं है, अपितु उन व्यक्तियों से अभिप्राय है जो एक बार वेद पढ़कर उसका निरन्तर अध्ययन-अभ्यास, मनन-चिन्तन छोड़ देते हैं। ऐसे लोग वेदों के विद्वान् नहीं होते। मनु ने ब्राह्मणों को सदैव वेदों का स्वाध्याय-अभ्यास करते रहने का निर्देश दिया है [२। ७९—८१ (२१। १०४—१०७), २। १४०—१४३ (२। १६५—१६८), ४। १७—२०, १४७, १४९, ११। २४५ आदि] निरन्तर वेदाभ्यासी यजन-याजनशील, वेदाध्ययन-अध्यापन कराने वाले को ही मनु दान लेने का अधिकार देते हैं [१। ८८, ४। ३१]। अन्य शूद्रवत् होते हैं [२। १४३]।

(३) ४। ३० में भी इन व्यक्तियों और इस प्रकार के अन्य व्यक्तियों को भी दान-सम्मान न देने का कथन है।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥ (६७)

(विधिना अर्जितं धनम् एतेषु त्रिषु दत्तं हि) जो धर्म मे प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह दान (दातुः अनर्थाय भवति) दाता का नाश इसी जन्म (च) और (आदातुः परत्र एव) लेने वाले का नाश परजन्म में करता है ॥ १९३ ॥ (स० प्र० १०५)

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥ (६८)

(यथा उपलेन प्लवेन) जैसे पत्थर की नौका में बैठकर (उदके तरन् निमज्जति) जल में तैरने वाला डूब जाता है (तथा) वैसे (अज्ञौ दातृ-प्रति+इच्छकौ) अज्ञानी दाता और गृहीता दोनों (अधस्तात् निमज्जतः) अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥ १९४ ॥ (स० प्र० १०५)

(तैजसानाम्) तैजस पदार्थ अर्थात् चमकीले सोना आदि की (च) और (मणीनाम्) मणियों के पात्रों की (च) और (सर्वस्य+अश्ममयस्य) सब प्रकार के पत्थरों के पात्रों की (शुद्धिः) शुद्धि (मनीषिभिः) विद्वानों ने (भस्मना+अद्भिः च मृदा एव उक्ता) भस्म=राख, जल और मिट्टी से कही है ।। १११ ।।

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ।।११२।। (२०)

(निर्लेपम्) जिसमें किसी चिकनाई, जूठन आदि का लेप न लगा हो ऐसा (काञ्चनम्) सोने का (भाण्डम्) पात्र, (अब्जम्) जल में उत्पन्न होने वाले मोती शंख आदि से बना पात्र (च) और (अश्ममयम्) पत्थरों के पात्र (अनुपस्कृतं राजतम्) चित्रकारी की खुदाई से रहित चांदी का पात्र (अद्भिः +एव विशुद्ध्यति) केवल जल से ही शुद्ध हो जाता है ।। ११२ ।।

अनुशीलन : यहां 'निर्लेपम्' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक प्रकार के पात्र से है।

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ।। ११४ ।।(२१)

(ताम्र+अयः-कांस्य-रैत्यानां त्रपुणः च सीसकस्य शौचम्) तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांगा और सीसा, इनके बर्तनों की शुद्धि (यथार्हम्) यथाआवश्यक (क्षार+अम्ल+उदक वारिभिः) राख, खट्टा पानी और जल से (कर्त्तव्यम्) करनी चाहिए ।। ११४ ।।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ।। ११५ ।। (२२)

(सर्वेषां द्रवाणाम्) सब घी, तेल आदि द्रव पदार्थों की (शुद्धिः) शुद्धि उत्पवनम्) छान लेने से (च) और (संहतानां प्रोक्षणम्) ठोस वस्तु जैसे लकड़ी की चौकी आदि की पोंछने से (च) तथा (दारवाणाम् तक्षणम्) लकड़ी के पात्रों की शुद्धि छीलने से (स्मृतम्) मानी है ।। ११५ ।।

यज्ञ पात्रों की शुद्धि का प्रकार—

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ।। ११६ ।। (२३)

(यज्ञकर्मणि) यज्ञ करते समय प्रयुक्त (यज्ञपात्राणाम्) यज्ञ के पात्रों (चमसानां च ग्रहाणां शुद्धिः) चमचों और कटोरों की शुद्धि (पाणिना मार्जनं तु प्रक्षालनेन) हाथ से रगड़कर मांजने और धोने से होती है ॥ ११६ ॥

अनुशीलन : यह शुद्धि चिकनाईरहित पात्रों की कही है।

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥ (२४)

[घृत आदि की चिकनाई लगे पात्रों की शुद्धि की विधि है—] (चरूणाम्) यज्ञ के लिए पाक बनाने के पात्र चरुस्थाली आदि (स्रुक्स्रुवाणाम्) स्रुक् और स्रुव नामक चम्मचविशेष पात्रों की (स्फ्य-शूर्प-शकटाम्) स्फ्य= तलवार की आकृति का खदिर वृक्ष का बना खड्ग, शूर्प=छाज, शकट= यज्ञीयपदार्थ ढोने की गाड़ी (च) और (मुसल+उलूखलस्य च) मूसल और ऊखल आदि यज्ञीय पदार्थों की (शुद्धिः) शुद्धि (उष्णेन वारिणा) गर्म जल से धोने से होती है ॥ ११७ ॥

अनुशीलन : यज्ञपात्रों का परिचय एवं विवरण—मनु ने यहां संकेतरूप में कुछ ही पात्रों का उल्लेख किया है। ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्र ग्रन्थों में अनेक यज्ञीय साधनों और यज्ञपात्रों का वर्णन आता है। श्लोकोक्त पात्रों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—(१) स्रुक्—यद्यपि स्रुक् और स्रुवों के अनेक प्रकार हैं, किन्तु प्रमुखतः चार स्रुक् हैं—जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा और अग्निहोत्रहवनी। (२) स्रुव—वैकङ्कत स्रुव और खादिर स्रुव दो प्रमुख हैं। (३) स्फ्य--खदिर वृक्ष की लकड़ी का बना २२ अंगुल लम्बा खड्ग। (४) शूर्प=पदार्थों की सफाई के लिए छाज। (५) शकट=यज्ञ का सामान ढोने की गाड़ी। (६) मुसल-उलूखल—ऊखल सामान्यतः पलाश का बना होता है और नाभि तक ऊंचाई वाला होता है। मूसल सामान्यतः शिर तक लम्बा खदिर का बना होता है। ये इच्छाप्रमाण में और अन्य वृक्ष के भी हो सकते हैं।

अन्य प्रमुख यज्ञपात्र और यज्ञोपयोगी पदार्थ हैं—(७) आज्यस्थाली, (८) पुरोडाशपात्री, (९) प्रणीता, (१०) शम्या, (११) शृतावदानम्, (१२) उपवेषः, (१३) मकराकारकूर्चः, (१४) दृषत्, (१५) उपलः, (१६) षडवत्तम्, (१७) अभ्रिः, (१८) अधरारणिः, (१९) उत्तरारणिः, (२०) चात्रम्, (२१) प्रमन्थः, (२२) नेत्रम् अथवा रज्जुः, (२३) ओविली, (२४) इडापात्री, (२५) हविर्धानपात्री, (२६) यजमानपात्री, (२७) पत्नीपात्री, (२८) अन्तर्धानकटः, (२९) प्राशित्रहरणम्, (३०) कृष्णाजिनम्, (३१) यजमानासनम्, (३२) पत्न्यासनम्, (३३) ब्रह्मासनम्, (३४) होत्रासनम्, (३५) चमस, (३६) ग्रह, आदि-आदि।

अन्य वस्त्रादि पदार्थों की शुद्धि—

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥(२५)

(बहूनां धान्यवाससां शौचम् अद्भिः प्रोक्षणम्) बहुत-से अन्नों और वस्त्रों की शुद्धि जल से पोंछने अर्थात् डुबाने मात्र से हो जाती है (तु) किन्तु (अल्पानाम्) कुछ अन्न एवं वस्त्रों की (शौचम्) शुद्धि (अद्भिः प्रक्षालनेन विधीयते) जल से मलकर धोने से होती है ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥ (२६)

(चर्मणां शुद्धिः चैलवत्) चमड़े के बर्तनों की शुद्धि वस्त्रों के समान होती है (वैदलानां तथैव) बांस के पात्रों की शुद्धि भी उसी प्रकार होती है (च) और (शाक-मूल-फलानां शुद्धिः धान्यवत् इष्यते) शाक, कन्दमूल और फलों की शुद्धि अन्नों के समान [५ । ११८] जल में धोने से होती है ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥ (२७)

(कौशेय+आविकयोः) रेशमी और ऊनी वस्त्रों की शुद्धि (ऊषैः) क्षारमिश्रित पदार्थों से (कुतपानाम्) कम्बलों की शुद्धि (अरिष्टकैः) रीठों से (अंशुपट्टानां श्रीफलैः) सन आदि से बने कपड़ों की शुद्धि बेलफलों से (क्षौमाणां गौरसर्षपैः) छाल से बने वस्त्रों की शुद्धि सफेद सरसों से होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥ (२८)

(शंख-शृङ्गाणां अस्थि-दन्तमयस्य शुद्धिः) शंख, सींग, हड्डी, दांत, इनसे बने पदार्थों की शुद्धि (विजानता) बुद्धिमान् व्यक्ति को (क्षौमवत्) छाल के वस्त्रों के समान (वा) अथवा (गोमूत्रेण+उदकेन) गोमूत्र और पानी से (कार्या) करनी चाहिए ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥ (२९)

(तृण-काष्ठं च पलालम्) घास, काष्ठ और पुआल से बना पदार्थ (प्रोक्षणात् शुद्धयति) जल में डुबाकर पोंछने से शुद्ध होता है (वेश्म) घर

की शुद्धि (मार्जन+उपाञ्जनैः) धोने-बुहारने और लीपने से होती है (मृद्+मयं पुनः पाकेन) मिट्टी का पात्र या पदार्थ फिर आग में पकाने से शुद्ध होता है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥ (३०)

(मद्यैः मूत्रैः पुरीषैः ष्ठीवनैः पूयशोणितैः) शराब, मूत्र, मल, थूक, राद, खून इनसे (संस्पृष्टं मृन्मयम्) लिपा हुआ मिट्टी का बर्तन (पुनः पाकेन नैव शुद्ध्येत) फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होता ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥ (३१)

(संमार्जन+उपाञ्जनेन सेकेन+उल्लेखनेन च गवां परिवासेन पञ्चभिः) बुहारना, लीपना, छिड़काव करना या धोना, खुरचना और गौओं का निवास—इन पांच कामों से (भूमिः शुद्ध्यति) भूमि शुद्ध होती है ॥१२४॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥ (३२)

(यावत्) जब तक (अमेध्य+अक्तात्) अशुद्ध वस्तु से (तत्कृतः गन्धः च लेपः) उस अशुद्ध वस्तु की गन्ध और लेप [=लगा होना] (न अपैति) नहीं दूर हो जाता है (सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु) मिट्टी और जल से धोये जाने वाले सब पदार्थों की शुद्धि के लिए उन्हें (तावत्) तबतक (मृद्+वारि आदेयम्) मिट्टी और जल से धोते रहना चाहिए ॥ १२६ ॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥ (३३)

(एषः) यह (सर्ववर्णानां कृत्स्नः शौचविधिः) सब वर्णों के लिए सम्पूर्ण-शरीर-शुद्धि (च) और (तथा+एव) उसी प्रकार (द्रव्यशुद्धिः) पदार्थों की शुद्धि (वः उक्तः) तुम्हें कही (स्त्रीणां धर्मान् निबोधत) अब स्त्रियों के धर्मों=कर्त्तव्यों को सुनो—॥१४६ ॥

(गृहस्थान्तर्गत पत्नीधर्म विषय)

[५ । ३४ से ५ । ३९ तक]

अनुशीलन : मनु की स्त्री-सम्बन्धी मान्यताएं—(१) मनुस्मृति के विषय

और प्रसङ्ग की शृङ्खला से आबद्ध—दूसरे शब्दों में इन्हें मौलिक श्लोक कह सकते हैं—श्लोकों से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि वे स्त्री और पुरुष में न तो कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं न स्त्री को पुरुष की दासी या अधीनता में बंधी रहने वाली मानते हैं। वे दोनों को ही एक-दूसरे की भावनाओं का समान रूप से आदर करने वाली बातें कहते हैं, अपितु स्त्रियों को अधिक आदरपूर्वक रखने की बातें कहते हैं। नीचे कुछ श्लोक प्रमाणरूप में दिये जा रहे हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि (अ) मनु की,स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण, दमनात्मक, अस्वतन्त्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, अपितु समानता की भावना है। यथा—

(क) पितृभिः भ्रातृभिश्चैता········पूज्या भूषयितव्याश्च (३।५५)

(ख) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः। (३।५६)

(ग) तस्मादेताः सदा पूज्याः भूषणाच्छादनाशनैः। (३।५९)

(घ) संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ (३।६०)

(आ) स्त्रियों पर बन्धन डालकर रखने की प्रवृत्ति की व्यर्थता का कथन और स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से ही अपने आचरण को बनाने का समर्थन—

(ङ) न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्। (९।१०)

(च) अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।
आत्मानमात्मनायास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः॥ (९।१२)

(इ) बिना किसी पक्षपात के, स्त्री-पुरुष दोनों को समानस्तर का मानते हुए मनु के स्त्री-पुरुषों को सुझाव, जिनसे स्त्री की पुरुष के पूर्ण अधीन रहने की मान्यता स्वतः खण्डित हो जाती है—

(छ) अन्योन्यस्य अव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एषः धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ (९।१०१)

(ज) तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम्॥ (९।१०२)

(झ) प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥ (९।९६)

इन मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि १४७-१४८ श्लोकों में जो दमनात्मक आग्रह से प्रेरित होकर आज्ञा दी है, यह मनु की मान्यता नहीं हो सकती। यह मनु की व्यवस्थाओं से विरुद्ध है। (२) उन श्लोकों की अभिव्यक्तिशैली का ठीक अगले श्लोक १४९ से ही विरोध स्पष्ट दीखता है। १४९ वें श्लोक में मनु कोई आदेश

या आज्ञा नहीं थोप रहे, अपितु स्त्रियों के लिए हितकारी बात को सुझाव रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इस श्लोक में 'न इच्छेत्' अर्थात् 'स्वयं ही न चाहे' पद ध्यान देने योग्य है। 'न इच्छेत्' के कथन में और "न स्वातन्त्र्येण कर्त्तव्यं किंचित् कार्यम्" "न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्" में कितना अन्तर और विरोध है! ८।२८ से यह संकेत मिलता है कि स्त्रियों को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। अभिव्यक्ति की शैली ही इन दो मान्यताओं को भिन्न कर देती है। इस प्रकार इन मान्यताओं के आधार पर भी ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

(ई) मनु ने स्त्रियों को कहीं भी हीनभावना से नहीं देखा है अपितु कहीं-कहीं तो पुरुषों से बढ़कर उन्हें सम्मान दिया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(ञ) स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए—
"स्त्रियः ... पंथा देयः" [२। ११३ (२।१३८)]।

(ट) पत्नी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए—
"भार्यया...विवादं न समाचरेत्" [४। १८०]।

(ठ) पत्नी आदि पर झूठा दोषारोपण नहीं करना चाहिए और न अपशब्द कहने चाहिएँ। यदि कोई ऐसा करे तो वह दण्डनीय है—मातरं पितरं जायाम्...... आक्षारयन् शतं दण्ड्यः [८। १८०]।

स्त्री के पिता, पति, पुत्र से अलग रहने से हानि की आशंका—

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥ (३४)

(स्त्री) कोई भी स्त्री (पित्रा भर्त्रा वा सुतैः अपि) पिता, पति अथवा पुत्रों से (आत्मनः विरहं न इच्छेत्) अपना बिछोह=अलग रहने की इच्छा न करे (हि) क्योंकि (एषां विरहेण) इनसे अलग रहने से (उभे कुले गर्ह्ये कुर्यात्) यह आशंका रहती है कि कभी कोई ऐसी बात न हो जाये जिससे दोनों—पिता तथा पति के कुलों की निन्दा या बदनामी हो जाये। अभिप्राय यह है कि स्त्री को सर्वदा पुरुष की सहायता अपेक्षित रखनी चाहिए, उसके बिना उसकी असुरक्षा की आशंका बनी रहती है॥ १४९ ॥

पत्नी में कौन से गुण होने चाहिएं—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥ (३५)

स्त्री को योग्य है कि (सदा प्रहृष्टया) अतिप्रसन्नता से (गृहकार्येषु दक्षया) घर के कामों में चतुराई युक्त (सुसंस्कृत+उपस्करया) सब पदार्थों

के उत्तम संस्कार, घर की शुद्धि (च) और (व्यये अमुक्तहस्तया भाव्यम्) व्यय में अत्यन्त उदार रहे। अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो औषधरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे॥ १५० ॥ (सं० प्र० ६६)

"स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भाजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे उस के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे॥" (स० वि० १४८)

पति की सेवा-सुश्रूषा करे—

> यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमतेः पितुः।
> तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥१५१॥(३६)

(पिता तु एनां यस्मै दद्यात्) पिता इस स्त्री को जिसे दे दे अर्थात् जिसके साथ विवाह करे (वा) अथवा (पितुः अनुमतेः भ्राता) पिता की सहमति से भाई जिससे विवाह कर दे (तं जीवन्तं शुश्रूषेत) जीवित रहते उसकी सेवा करे (च) और(संस्थितं न लङ्घयेत्) पति रूप में साथ स्थित रहते हुए अवमानना, व्यभिचार आदि से उसका उल्लंघन न करे। अन्यार्थ में—मर जाने पर व्यभिचार से पतिव्रत धर्म का उल्लंघन न करे॥ * १५१ ॥

अनुशीलन : 'संस्थित' शब्द का विवेचन—'सम्' पूर्वक 'स्था' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से संस्थित शब्द बनता है। अन्य टीकाकारों ने इसका 'मरने पर' अर्थ किया है किन्तु वह प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि—(१) यहां जीवित अवस्था में साथ-साथ रहते हुए स्त्री के कर्त्तव्यों के विधान का प्रसंग है। [५। १४६]। इस श्लोक में भी जीवित अवस्था का ही प्रसंग है। (२) और पति के मरने पर आवश्यकता पड़ने पर मनु ने नियोग का विधान किया है [६। ५६–६३]। (३) ६।७६, ८१ श्लोकों में विशेष कारणों से और विदेशवास में अधिक समय बीतने पर जीते जी स्त्री-पुरुष दोनों के लिए नियोग अथवा विवाह का विधान है। इस प्रकार प्रथम अर्थ अधिक मनुसम्मत प्रतीत होता है। यद्यपि 'पति के मर जाने पर पत्नी व्यभिचार से पति-

---

* [प्रचलित अर्थ—पिता या पिता की अनुमति से भाई इस (स्त्री को) जिसके लिए दे अर्थात् जिसके साथ विवाह कर दे, (स्त्री) जीते हुए उस (पति) की सेवा करे, उसके मरने पर (भी व्यभिचार, उसके श्राद्ध आदि का त्याग तथा पारलौकिक कार्य के खण्डन से) उस पति का उल्लंघन न करे॥ १५१ ॥]

व्रत धर्म का उल्लंघन न करें' यह अर्थ भी स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु इसको नियोग या पुनर्विवाह के साथ लागू नहीं करना चाहिये ।

स्त्री पर विवाह के बाद पति का स्वामित्व—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥ (३७)

(विवाहेषु) विवाहों में (स्वस्त्ययनं च प्रजापतेः यज्ञः) जो स्वस्ति-पाठ [=शुभकामना के लिए मन्त्रपाठ] और प्रजापति-यज्ञ किया जाता है वह (आसां मङ्गलार्थं प्रयुज्यते) इनके कल्याण की भावना से ही किया जाता है (प्रदानं स्वाम्यकारणम्) विवाह में स्त्रियों को पति के लिए सौंप देना ही इन पर पति का अधिकार होने का कारण है अर्थात् जो विवाह संस्कारपूर्वक स्त्री को पति के लिए दे दिया जाता है। इस दान के पश्चात् ही उन पर पति का अधिकार होता है, उससे पूर्व नहीं ॥ १५२ ॥

पूर्वपति को छोड़कर दूसरे श्रेष्ठ पति को अपनाने की निन्दा—

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥ (३८)

[विवाह होने के बाद तुलनात्मक रूप में] किसी अच्छे व्यक्ति के मिलने की संभावना होने पर (या स्वम् अपकृष्टं पतिं हित्वा उत्कृष्टं पतिं निषेवते) जो स्त्री अपने निम्न कुल या गुणों वाले पति को छोड़कर उत्तम कुल या गुणों वाले पति का सेवन करती है (सा) वह (लोके निन्द्या+एव भवेत्) लोगों में निन्दा प्राप्त करती है (च) और (परपूर्वा+इति उच्यते) 'पहले यह दूसरे की पत्नी थी' यह उसके विषय में व्यंग्य किया जाता है ॥ १६३ ॥

पति के अनुकूल आचरण से पत्नी अधिक सम्मान्य होती है—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥(३९)

(या) जो स्त्री (मनः-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (पतिं न+अभिचरति) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृलोकम्+आप्नोति) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (च) और (सद्भिः 'साध्वी'+इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसको 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते

हैं ॥ १६५ ॥ ❀

अनुशीलन : 'लोक' शब्द का विवेचन—'लोकम्' शब्द 'लोकृ दर्शने' धातु से सिद्ध होता है। इस प्रकार इसका अर्थ 'दृष्टि', 'दर्शन' 'स्थान' भी है। यहां 'भर्तृ-लोकम् आप्नोति' मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है – 'पतिव्रता स्त्री पति के हृदय स्थान में बस जाती है या पति की दृष्टि में प्रिय, आदरणीय बन जाती है। यहां परलोक आदि का कोई प्रसंग नहीं है।

स्त्री की मृत्यु पर यज्ञ से अग्निसंस्कार—

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥ (४०)

(एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीम्) इस पूर्वोक्त आचरण का पालन करने वाली स्त्री को (पूर्वमारिणीम्) यदि वह पति से पहले ही मर जाये तो (धर्मवित्) धर्म का जानने वाला व्यक्ति (यज्ञपात्रैः) यज्ञपात्रों का प्रयोग करके (अग्निहोत्रेण दाहयेत्) अग्निहोत्र विधि से उसका दाहसंस्कार करे ॥ १६७ ॥

अनुशीलन : यज्ञपात्रों का परिचय एवं विवरण ५। ११७ की समीक्षा में देखिए।

उपसंहार—

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥ (४१)

(अनेन विधिना) इस [४।१ से ५।१६८ तक] पूर्वोक्त विधि से रहते हुए (पञ्चयज्ञान् न हापयेत्) पंचयज्ञों को कभी न छोड़े और (आयुषः द्वितीयं भागम्) आयु के दूसरे भाग तक (कृतदारः) विवाह करके अर्थात् विवाहोपरान्त स्त्री-सहित (गृहे वसेत्) घर में निवास करे ॥ १६९ ॥

❀ प्रचलित अर्थ—मन, वचन तथा काम से संयत रहती हुई जो स्त्री पति के विरुद्ध कोई कार्य (व्यभिचार आदि) नहीं करती है, वह पतिलोक को प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन 'पतिव्रता' कहते हैं ॥ १६५ ॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाष्य-समन्वितायाम्, 'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-देहशुद्धिद्रव्यशुद्धि-स्त्रीधर्मविषयात्मकः पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(वानप्रस्थ-संन्यास-धर्म विषय)

(वानप्रस्थ-विषय)

[६ । १ से ६ । ३२ तक]

वानप्रस्थ धारण करे—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ (१)

(एवम्) पूर्वोक्त प्रकार (विधिवत् स्नातकः द्विजः) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्त्तन के समय स्नानविधि करने हारा द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (विजितेन्द्रियः नियतः यथावत् गृहाश्रमे स्थित्वा) जितेन्द्रिय, जितात्मा होके, यथावत् गृहाश्रम करके (वने वसेत्) वन में बसे ॥ १ ॥

(सं० वि० १६०)

"इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वनमें वसे" । (स० प्र० १२४)

अनुशीलन : (१) 'जितेन्द्रिय' का लक्षण २ । ७३ [२ । ९८] में वर्णित है । वहां द्रष्टव्य है ।

(२) **वानप्रस्थ धारण में ब्राह्मणों के प्रमाण**—वानप्रस्थ का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में और वेदों में विहित है । यहाँ तुलनार्थ शत० का० १४ का वचन प्रस्तुत है—

"**ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।**" =ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके गृहस्थ बने, गृहस्थाश्रम को पूर्ण करके वानप्रस्थ बने, वानप्रस्थ आश्रम को पूर्ण करके संन्यासी बने ।

(३) वेद का प्रमाण ६ । २ पर उल्लिखित है ।

वानप्रस्थ धारण का समय—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥ (२)

(गृहस्थः तु) गृहस्थ लोग (यदा) जब (आत्मनः वली-पलितं पश्येत्) अपनी देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें (च) और (अपत्यस्य+एव अपत्यम्) पुत्र का भी पुत्र हो जाये (तदा) तब (अरण्यं समाश्रयेत्) वन का आश्रय लेवें ॥ २ ॥ (सं० वि० १९०)

"परन्तु जब गृहस्थ शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाये और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे'।

(स० प्र० १२४)

अनुशीलन : वानप्रस्थ धारण में वेद के प्रमाण—मनु ने ६ । २—४ श्लोकों में वेद के आधार पर विधान किये हैं। तुलनार्थ द्रष्टव्य है ऋग्वेद १० । ४ । ५ का वेदमन्त्र—

"कूचित् जायते सनयासु नव्यो,
वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः ।"

अर्थात्—(कूचित्) जब किसी भी घर में (सनयासु नव्यः जायते) प्राचीन सन्ततियों अर्थात् अवस्थावृद्ध गृहस्थों में नवीन सन्तति पैदा हो जाये अर्थात् अपने पुत्र का भी पुत्र=पौत्र हो जाये, या (पलितः) पके केशों वाला हो जाये [६ । २ में वर्णित] तब (धूमकेतुः) धूमकेतुः=अग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि सामग्री लेकर (वने तस्थौ) वन में प्रस्थान करे—वानप्रस्थ बन जाये [६ । ४ में वर्णित] "**वनर्गू=वनगामिनौ**" [निरु० ३ । १४] अकेला अथवा पति और पत्नी दोनों वनगामी=वानप्रस्थ बनें ॥

वानप्रस्थ धारण की विधि—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ (३)

जब वानप्रस्थ-आश्रम की दीक्षा लेवें तब (ग्राम्यम्+आहारम्) गांव में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार (च) और (सर्वम् एव परिच्छदम्) घर के सब पदार्थों को (संत्यज्य) छोड़के (पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य) पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ (वा सह+एवं) अथवा सङ्ग में लेके (वनं गच्छेत्) वन को जावे ॥ ३ ॥ (सं० वि० १९१)

"सब ग्राम के आहार और वस्त्र आदि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को

छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ लेके वन में निवास करे"।
(स० प्र० १२४)

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ (४)

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब (अग्निहोत्रं च गृह्यम् अग्निपरिच्छदं समादाय) अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके (ग्रामात् निःसृत्य) गांव से निकल (अरण्यं जितेन्द्रियः निवसेत्) जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ॥ ४ ॥ (सं० वि० १६१)

"साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेकर ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाकर बसे"। (स० प्र० १२४)

वानप्रस्थ के लिए पञ्चयज्ञों का विधान—

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ (५)

(विविधैः मुन्यन्नैः) नाना प्रकार के सामा [=नीवार] आदि अन्न (मेध्यैः शाक-मूल-फलेन) सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कंदादि से (एतान्+एव महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत्) पूर्वोक्त [३।७०॥६।७-१२ में वर्णित] महायज्ञों को* करे ॥ ५ ॥ (स० प्र० १२४)

* (विधिपूर्वकम्) पूर्वोक्त विहित विधि [३।६९-१०८ के] अनुसार...

अतिथि-यज्ञ एवं पितृ-यज्ञ का विधान—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥ (६)

(यत् भक्ष्यं स्यात्) जो भी खाने का पदार्थ हो [६।५] (ततः) उससे ही (बलिं दद्यात्) बलिवैश्वदेव यज्ञ करे (च शक्तितः भिक्षाम्) और यथाशक्ति भिक्षा भी दे (आश्रम+आगतान्) आश्रम में आये अतिथियों को (अप्+मूल-फल-भिक्षाभिः) जल, कन्दमूल, फल आदि प्रदान करके (अर्चयेत्) उनका सत्कार करे ॥ ७ ॥

ब्रह्मयज्ञ का विधान—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥ (७)

(स्वाध्याये) स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में (नित्ययुक्तः) नियुक्त

(समाहितः) जितात्मा (मैत्रः) सब का मित्र (दान्तः) इन्द्रियों का दमनशील (दाता) विद्या आदि का दान देने हारा (सर्वभूत+अनुकंपकः) सब पर दयालु (अनादाता) किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे (नित्यं स्यात्) इस प्रकार सदा वर्तमान रहे ॥ ८ ॥ (स० प्र० १२५)

"वहां जङ्गल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्व-स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देने हारा और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकंपा=कृपा रखने हारा होवे।" (सं० वि० १६१)

अग्निहोत्र का विधान—

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः॥ ६ ॥ (८)

वानप्रस्थ (यथाविधि) पूर्वोक्त विधि के अनुसार (अग्निहोत्रम्) दैनिक यज्ञ-पञ्चमहायज्ञों को (च) और (वैतानिकम्) विशेष अवसरों पर किये जाने वाले (दर्शं च पौर्णमासं पर्व अस्कन्दयन्) अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जाने पर्वयज्ञों को भी न छोड़ते हुए (योगतः जुहुयात्) निष्ठापूर्वक किया करे ॥ ६ ॥

अनुशीलन : 'वैतानिक' से अभिप्राय—'वैतानिक शब्द से विस्तृत अर्थात् विशेष अवसरों पर आयोजित होने वाले यज्ञों से अभिप्राय है। यज्ञों के साथ 'वैतानिक' शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है। ६।१० का वर्णन उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है। द्रष्टव्य है ७।७८–७६ और २।११८ (२।१४३) श्लोकों के प्रयोग। २।३ [२।२८] में भी ऐसे महायज्ञों का विधान है।

विशेष यज्ञों का आयोजन करे—

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च॥ १० ॥ (६)

(ऋक्षेष्टि) नक्षत्रयज्ञ (आग्रयणम्) नये अन्न का यज्ञ (च) और (चातुर्मास्यानि) चातुर्मास्य का यज्ञ (च) तथा (क्रमशः तुरायणं च दक्षस्यायनं एव आहरेत्) क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन, इन अवसरों पर भी विशेष यज्ञों का आयोजन करे ॥ १० ॥

अनुशीलन : नक्षत्रों की गणना—(१) नक्षत्र परिवर्तन के समय भी विशेष या बृहत् यज्ञ का अनुष्ठान करे। नक्षत्र २७ हैं—'१. अश्विनी, २. भरणी, ३.

कृत्तिका, ४. रोहिणी, ५. मृगशीर्ष, ६. आर्द्रा, ७. पुनर्वसु, ८. पुष्य, ९. आश्लेषा, १०. मघा, ११. पूर्वाफाल्गुनी, १२. उत्तराफाल्गुनी, १३ हस्त, १४. चित्रा, १५. स्वाति, १६. विशाखा, १७. अनुराधा, १८. ज्येष्ठा, १९. मूल, २०. पूर्वाषाढ़ा, २१. उत्तराषाढा २२. श्रवण, २३. धनिष्ठा, २४. शतभिषज्, २५. पूर्वाभाद्रपदा, २६. उत्तराभाद्रपदा, २७. रेवती।

(२) चातुर्मास्य यज्ञ—प्रत्येक चार महीने के पश्चात् अनुष्ठेय यज्ञ अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन, और आषाढ़ के प्रारम्भ में।

(३) सूर्य की भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर स्थिति, जो मकर से कर्क संक्रान्ति तक का काल है, उसे उत्तरायण कहते हैं।

(४) सूर्य की भूमध्यरेखा से दक्षिण की ओर स्थिति का समय दक्षिणायन कहलाता है। (अयन विषयक विस्तृत विवेचन १। ६७ की समीक्षा में द्रष्टव्य है)।

इन अवसरों पर विशेष यज्ञों का अनुष्ठान करे।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ (१०)

(वासन्त-शारदैः मेध्यैः स्वयम्+आहृतः अन्नैः) वसन्त और शरद् ऋतु में प्राप्त होने वाले पवित्र और स्वयं लाये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों से (पुरोडाशान् च चरून् विधिवत् पृथक् निर्वपेत्) पुरोडाश और चरु नामक यज्ञीय हव्यों को विधि अनुसार अलग-अलग तैयार करे ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥ (११)

(तत् मेध्यतरं वन्यं हविः देवताभ्यः हुत्वा) उस पवित्र, वन के अन्नों से निर्मित हवि को देवताओं [३। ८४-९४] के लिये होम कर=आहुति देकर (शेषम्) शेष भोजन को (च) और (स्वयं कृतं लवणम्) अपने लिए बनाये गये लवणयुक्त पदार्थों को (आत्मनि युञ्जीत) अपने खाने के लिए प्रयोग में लाये ॥ १२ ॥

अनुशीलन : 'लवणशब्द-विवेचन'—यहां 'लवण' शब्द का अर्थ 'प्रत्येक लवणयुक्त भोजन' है। व्याकरणानुसार संसृष्ट अर्थ में लवण शब्द से "लवणाल्लुक्" [अ० ४। ४। २४] सूत्र द्वारा पूर्वप्राप्त ठक् प्रत्यय का लुक् हो जाता है, अतः 'लवण' शब्द ही रह जाता है, किन्तु उपर्युक्त रूप में अर्थ व्यापक रहता है।

पवित्र भोजन करे—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्चफलसम्भवान्॥ १३ ॥ (१२)

(स्थलज+औदक-शाकानि) भूमि और जल में उत्पन्न शाकों को (मेध्यवृक्ष+उद्भवानि पुष्प-मूल-फलानि) पवित्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फूल, कन्दमूल और फलों को (च) और (फलसंभवान् स्नेहान्) फलों से प्राप्त होने वाले रसों, तैलों या अर्कों को (अद्यात्) खाये ॥ १३ ॥

अनुशीलन : भक्ष्य पदार्थों का विधान ५।८-१०, २४-२५ में भी द्रष्टव्य है।

अभक्ष्य पदार्थ—

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च॥ १४॥ (१३)

(मधु) मदकारी मदिरा, भांग आदि पदार्थ (मांसम्) सब प्रकार के मांस (च) और (भौमानि कवकानि) भूमि में उत्पन्न होने वाले कवक=छत्राक=कुकुरमुत्ता (च) और (भूस्तृणम्) भूतृण नामक [=शरवाण] शाकविशेष, (शिग्रुकम्) सफेद सहिजन (च) और (श्लेष्मातकफलानि) लिसौड़े के फल (वर्जयेत्) इन्हें भोजन में वर्जित रखे अर्थात् न खाये॥ १४॥

अनुशीलन : (१) यहां मधु का अर्थ 'मद्य अर्थात् नशा करने वाले मदिरा, भांग आदि पदार्थ' है। मांस के साथ पठित 'मधु' शब्द का अर्थ 'मदिरा' होता है। यहां 'शहद' अर्थ इस लिए ग्राह्य नहीं है क्योंकि २।४ में मनु ने उसे भक्ष्य माना है। प्रमाणयुक्त अर्थविवेचन २।१५२ [२।१७७] में देखिए।

(२) अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन ५।५ तथा २।१७७ में भी है। इन पदार्थों को सभी आश्रमवासियों के लिए अभक्ष्य माना है।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च॥ १५॥ (१४)

(पूर्वसंचितं मुन्यन्नम्) पहले इकट्ठे किये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों को (च) और (जीर्णानि वासांसि) पुराने वस्त्रों को (च) और (शाक-मूल-फलानि) पूर्वसंचित शाक, कन्दमूल, फलों को (आश्वयुजे मासि त्यजेत्) आश्विन के महीने में छोड़ देवे अर्थात् नये ग्रहण करे॥ १५॥

वानप्रस्थ ग्रामोत्पन्न पदार्थ न खाये—

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥ १६॥ (१५)

(फालकृष्टम्) हल से जोती हुई भूमि में उत्पन्न पदार्थों को (केनचित् उत्सृष्टम्+अपि) किसी के द्वारा दिये जाने पर भी (च) और (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि) ग्राम में उत्पन्न किये गये मूल और फलों को (आर्त्तः+अपि न अश्नीयात्) भूख से पीड़ित होते हुए भी न खाये ॥ १६ ॥

अनुशीलन : वानप्रस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं के निषेध में कारण—वनस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं का निषेध इसलिए है कि उसकी गृहस्थ सदृश सुखासक्ति में प्रवृत्ति न हो। इस श्लोक का सम्बन्ध २६ वें से है, जो इस श्लोक के निषेध का कारणरूप वर्णन है। विशेष समीक्षा २६ वें श्लोक के अनु शीलन में देखिए। सांसारिक सुखों में आसक्ति न रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करे—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥ (१६)

(सुखार्थेषु अप्रयत्नः) शरीर के सुख के लिए अतिप्रयत्न न करे, किन्तु (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे (धराशय) भूमि में सोवे (शरणेषु+अममः+च+एव) अपने वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे (वृक्षमूलनिकेतनः) वृक्ष के मूल में बसे ॥ ॥ २६ ॥ (स० प्र० १२५)

अनुशीलन : २६ वें श्लोक की संगति का विवेचन—इस श्लोक की संगति १६ वें से है। उसमें सभी ग्रामोत्पन्न पदार्थों का ग्रहण न करने का आदेश है चाहे कोई भेंट के रूप में भी लाया हो। इस श्लोक में उसका कारण प्रदर्शित है कि वनस्थ को सुख-सुविधाओं में ध्यान नहीं लगाना चाहिए। तभी वह मोह-ममता से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। ऐसा न करने पर विषयों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। संन्यासी के प्रसंग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है—**भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति** (६ । ५५)

अर्थात्—भिक्षा के लालच में मन रखने वाला संन्यासी विषयों में भी फंस जाता है। यही धारणा १६ और २६ वें श्लोकों के मूल में है।

तपस्वियों के घरों से भिक्षा का ग्रहण—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥ (१७)

[अथवा] (तापसेषु+एव विप्रेषु) जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी, धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों (अन्येषु गृहमेधिषु द्विजेषु वनवासिषु) जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से ही ❀ (भैक्ष्यम्+आहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे ॥ २७ ॥ (सं० वि० १९१)

❀ (यात्रिकम्) जीवनयात्रा चलाने योग्य…………

आत्मशुद्धि के लिए वेदमन्त्रों का मनन-चिन्तन—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ (१८)

(वने वसन्) इस प्रकार वन में बसता हुआ (एताः च+अन्याः दीक्षाः सेवेत) इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे (च) और (आत्मसंसिद्धये) आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए (विविधाः औपनिषदीः श्रुतीः) नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार कियाकरे ॥ २९ ॥ (सं० वि० १९१)

अनुशीलन : यहां उपनिषद् से 'पुस्तकविशेष' अर्थ अभिप्रेत नहीं अपितु 'उपनिषद् विद्या' से अभिप्राय है।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥ (१९)

(ऋषिभिः ब्राह्मणैः गृहस्थैः एव) ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थों ने भी (विद्या+तपः विवृद्ध्यर्थम्) विद्या और तप की वृद्धि के लिए (च) और (शरीरस्य शुद्धये) शरीर की शुद्धि के लिए (सेविताः) इन दीक्षाओं और श्रुतियों [६ । २९] का सेवन किया है ॥ ३० ॥

(संन्यासधर्म विषय)

[६ । २० से ६ । ५६ तक]

संन्यास ग्रहण का विधान—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥ (२०)

(एवं वनेषु आयुषः तृतीयं भागं विहृत्य) इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक पच्चीस वर्ष अथवा न्यून से न्यून बारह वर्ष तक विहार करके (आयुषः चतुर्थं भागम्) आयु के चौथे भाग अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् (संगान् त्यक्त्वा) सब मोह आदि संगों को छोड़ कर (परिव्रजेत्) परिव्राजक अर्थात् संन्यासी हो जावे ॥ ३३ ॥
(सं० वि० १९८)

"इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से

पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भागमें संगों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी होजावे"। (स० प्र० १२६)

अनुशीलन : 'परिव्राजक' की व्युत्पत्ति— परिव्रजन करने से अभिप्राय परिव्राजक अर्थात् संन्यासी होने से है। 'परिव्रजति—इति परिव्राजकः'=जो सांसारिक एषणाओं को त्यागकर लोकोपकार के लिए विचरण करे, वह परिव्राजक अर्थात् संन्यासी होता है। संन्यासी की परिभाषा ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार दी है—

"संन्यास-संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के, विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात् "**सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्ते उपविशति स्थिरीभवति येन स, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी।**" (सं० वि० संन्यास प्रकरण)

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥ (२१)

(विधिवत् वेदान् अधीत्य) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़कर (धर्मतः पुत्रान् च उत्पाद्य) और गृहाश्रमी होकर, धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर (शक्तितः यज्ञैः इष्ट्वा) वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके (मोक्षे मनः निवेशयेत्) मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥३६॥ (सं० वि० १६८)

परमात्मा-प्राप्ति हेतु गृहाश्रम से भी संन्यास ले सकता है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ३८ ॥ (२२)

(प्राजापत्यां सर्ववेदसदक्षिणाम् इष्टिं निरूप्य) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है (अग्नीन् आत्मनि समारोप्य) आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके (ब्राह्मणः गृहात् प्रव्रजेत्) ब्राह्मण गृहाश्रम से ही सन्यास लेवे ॥ ३८ ॥ (सं० वि० १६८)

"प्रजापति अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञादि शिखाचिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पांच अग्नियों को, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर संन्यासी हो जावे ॥ ३८ ॥"
(स० प्र० १२८)

अनुशीलन : संन्यास वानप्रस्थ से और सीधे गृहस्थ से भी—यद्यपि

संन्यासाश्रम में जाने का सामान्य क्रम वानप्रस्थ के पश्चात् ही है, जिसका विधान क्रमानुसार ६ । ३३ में किया गया है। इस क्रम को अपनाकर मनुष्य सांसारिक निःसारता एवं उसके कष्टों को अनुभव कर लेता है और उसके 'काम' आदि विकार शान्त हो जाते हैं। उसमें वैराग्य के संस्कार उत्पन्न होने लगते हैं।

किन्तु विशेष स्थिति में सीधे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ से भी संन्यास लेने का विधान ३८-४१ श्लोकों में किया है। जब व्यक्ति 'काम' आदि विकारों पर नियंत्रण कर लेता है और पूर्ण वैरागी बन जाता है तो उस स्थिति में वानप्रस्थ से पूर्व भी संन्यास ग्रहण कर सकता है, अन्यथा नहीं [देखिए ६ । ४१ पर अनुशीलन]। इन सभी श्लोकों में ये भाव स्पष्ट किये गये हैं।

इस प्रकार ३८-४१ श्लोक वैकल्पिक विशेष विधान हैं, इस कारण ६ । ३३ से इनका विरोध नहीं आता।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
यस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥ (२३)

(यः सर्वभूतेभ्यः अभयं दत्त्वा) जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर (गृहात् प्रव्रजति) गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है (तस्य ब्रह्मवादिनः तेजोमया लोकाः भवन्ति) उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्ष-लोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं ॥ ३९ ॥ (सं० वि० १९९)

"जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर, घर से निकलके संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्म आदि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूपलोक प्राप्त होता है।" (स० प्र० १२९)

अनुशीलन : संन्यासी द्वारा अभयदान—संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, इस कारण वह सबको अभयदान देता है। यह अभयदान की प्रतिज्ञा ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार विहित है—

"पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु।"
(शत० १४ । ६ । ४ । १)

संसार में सन्तान-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, प्रसिद्धि-प्राप्ति की ये तीन इच्छाएं ही प्रधान हैं। जिनके वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष आदि में फंसता है। इनसे मुक्त होकर ही व्यक्ति वास्तव में संन्यासी बनता है। तब उनसे सब प्राणियों को अभय होता है।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥ (२४)

(यस्मात् द्विजात्) जिस द्विज से (भूतानाम् अणु+अपि भयं न+

उत्पद्यते) प्राणियों को थोड़ा-सा भी भय नहीं होता (तस्य) उसको (देहात् विमुक्तस्य) देह से मुक्त होने पर (कुतश्चन भयं न अस्ति) कहीं भी भय नहीं रहता ॥ ४० ॥

वैराग्य होने पर गृहस्थ या ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यासग्रहण—

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ (२५)

(कामेषु समुपोढेषु निरपेक्षः) जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे (पवित्र+उपचितः) पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण (मुनिः) मननशील हो जावे (आगारात्+अभिनिष्क्रान्तः) तभी गृहाश्रम से निकलकर (परिव्रजेत्) संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य से ही संन्यास का ग्रहण करलेवे ॥ ४१ ॥ (सं० वि० १९९)

अनुशीलन : गृहस्थ से संन्यास—३८–४१ श्लोकों में गृहस्थ से भी संन्यास लेने का वैकल्पिक विधान है। ब्रह्मचर्य या गृहस्थ या वानप्रस्थ से सीधा संन्यास लेने का विधान ब्राह्मणग्रन्थों में इसी प्रकार पाया जाता है, किन्तु वह विशेष अवस्था में है। इसे ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार उद्धृत किया है—

"द्वितीय प्रकार—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा ।' यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य है।

अर्थ—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।'

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर, विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूंगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।" (सं० वि० संन्यास प्रकरण)

संन्यासी एकाकी विचरण करे—

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥ (२६)

(एकस्य सिद्धिम् संपश्यन्) अकेले की ही मुक्ति होती है, इस बात को देखते हुए (सिद्धयर्थम्) मोक्षसिद्धि के लिए (असहायवान्) किसी के सहारे या आश्रय की इच्छा से रहित होकर (नित्यम्) सर्वदा (एकः+एव चरेत्) एकाकी ही विचरण करे अर्थात् किसी पुत्र-पौत्र, सम्बन्धी, मित्र आदि का आश्रय न ले और न उनका साथ करे, इस प्रकार रहने से (न जहाति न हीयते) न वह किसी को छोड़ता है, न उसे कोई छोड़ता है अर्थात् वह मोहरहित हो जाता है और मृत्यु के समय बिछुड़ने के दुःख की भावना समाप्त हो जाती है ॥ ४२ ॥

निर्लिप्त भाव से गांवों में भिक्षा ग्रहण करे—

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ (२७)

वह संन्यासी (अनग्निः) आहवनीयादि अग्नियों से रहित (अनिकेतः) और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे (अन्नार्थं ग्रामम् आश्रयेत्) और अन्न-वस्त्र आदि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे (उपेक्षकः) बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता (असंकुसुकः) और स्थिरबुद्धि (मुनिः) मननशील होकर (भावसमाहितः) परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ (स्यात्) विचरे ॥ ४३ ॥ (सं० वि० १९९) ❀

अनुशीलन : 'अनग्निः' का अभिप्राय—अनग्नि पद के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने जो विशिष्ट टिप्पणी दी है, वह उल्लेखनीय है—

"इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीय आदि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है।" (सं० वि० १९९, संन्यास प्रकरण)

(२) प्रचलित टीकाओं में 'उपेक्षकः' का अव्यावहारिक अयुक्तियुक्त अर्थ प्रचलित है।

❀[**प्रचलित अर्थ**—लौकिक अग्नियों से रहित, गृह से रहित, शरीर में रोगादि होने पर भी चिकित्सा आदि का प्रबन्ध न करने वाला, स्थिर बुद्धि वाला, ब्रह्म का मनन करने वाला, और ब्रह्म में भी भाव रखने वाला संन्यासी भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे ॥ ४३ ॥]

जीवन-मरण के प्रति समदृष्टि—

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥ (२८)

(न जीवितम् अभिनन्देत) न तो अपने जीवन में आनन्द और (न मरणम् अभिनन्देत) न मृत्यु में दु:ख माने, किन्तु (यथा) जैसे (भृतक: निर्देशम्) क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही (कालम्+एव प्रतीक्षेत) काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ४५ ॥
(स० वि० १९९)

अनुशीलन : काल की प्रतीक्षा कैसे ?—यहां स्वामी-भृत्य के उदाहरणपूर्वक काल की प्रतीक्षा से अभिप्राय यह है कि संन्यासी मृत्यु का भय अपने मन में न रखे, अपितु सृष्टिक्रम की व्यवस्थानुसार प्राप्त होने वाली मृत्यु को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार रहे। योगदर्शन साधन पाद सूत्र ९ में मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहा है और उसे पंचक्लेशों में माना है—'**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ।**" संन्यासी को यह भय या क्लेश नहीं होना चाहिए अपितु स्वामी की आज्ञा को सुनकर प्रसन्नता अनुभव करने वाले भृत्य के समान मृत्युरूपी ईश्वरीय नियम को अनुभव करके भयरहित प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए।

पवित्र एवं सत्य आचरण करे—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मन:पूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥ (२९)

(दृष्टिपूतं पादं न्यसेत्) जब संन्यासी मार्ग में चले तब इधर-उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले (वस्त्रपूतं जल पिबेत्) सदा वस्त्र से छानके जल पिये (सत्यपूतां वाच वदेत्) निरन्तर सत्य ही बोले (मन:पूतं समाचरेत्) सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ ४६ ॥ (स० प्र० १२९)

"चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे, सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे, सबसे सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे।" (सं० वि० १९९)

अपमान को सहन करे—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ (३०)

(अतिवादान् तितिक्षेत) अपमानजनक वचनों को सहन करले (कंचन न+अवमन्येत) कभी किसी का अपमान न करे (च) और (इमं देहम्+आश्रित्य) इस शरीर का आश्रय लेकर अर्थात् अपने शरीर—मन, वाणी, कर्म से (केनचित् वैरं न कुर्वीत) किसी से वैर न करे ॥ ४७ ॥

क्रोध आदि न करे—

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥ (३१)

(क्रुद्ध्यन्तं) जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा (आक्रुष्टः) निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि (न प्रतिक्रुद्ध्येत्) उस पर आप क्रोध न करे (कुशलं वदेत्) किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे (च) और (सप्तद्वार+अवकीर्णां वाचम्+अनृतां न वदेत्) एक मुख के, दो नासिका के, दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी मिथ्या कारण से कभी न बोले ॥ ४८ ॥ (स० प्र० १२६)

अनुशीलन : ४७-४८ श्लोकों के भावों की पुष्टि और तुलना के लिए २। १३६-१३७ [२। १६१-१६२] श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। मनु ने वहां यही विचार प्रकट किये हैं। ६। ५८ में भी इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है।

आध्यात्मिक आचरण में स्थित रहे—

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥ (३२)

(इह अध्यात्मरतिः+आसीनः) इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित (निरपेक्षः) सर्वथा अपेक्षारहित (निरामिषः) मांस, मद्य आदि का त्यागी (आत्मनः+एव सहायेन) आत्मा के सहाय से ही (सुखार्थी) सुखार्थी होकर (विचरेत्) विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे ॥ ४९ ॥

(सं० वि० १९९)

"अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्य-मांसादि-वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे" (स० प्र० १२६)

मुण्डनपूर्वक गेरुवे वस्त्र धारण करके रहे—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥ (३३)

(क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः) केश, नख, दाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे (पात्री दण्डी कुसुम्भवान्) पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके (नियतः) निश्चितात्मा (सर्वभूतानि+अपीडयन्) सब भूतों को पीड़ा न देकर (विचरेत्) सर्वत्र विचरे ।। ५२ ।।(स० प्र० १२६)

"सब शिर के बाल, दाढ़ी, मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए* वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणिमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे"। (सं० वि० १६६)

एक समय ही भिक्षा मांगे—

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ।। ५५ ।। (३४)

संन्यासी (एककालं भैक्षं चरेत्) एक ही समय भिक्षा मांगे (विस्तरे न प्रसज्जेत) भिक्षा के अधिक विस्तार अर्थात् लालच में न पड़े (हि) क्योंकि (भैक्षे प्रसक्तः यतिः) भिक्षा के लालच में या स्वाद में मन लगाने वाला संन्यासी (विषयेषु+अपि सज्जति) विषयों में भी फंस जाता है ।। ५५ ।।

भिक्षा न प्राप्त होने पर दुःख का अनुभव न करे—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ।। ५७ ।। (३५)

(अलाभे विषादी न स्यात्) भिक्षा के न मिलने पर दुःखी न हो (च) और (लाभे न हर्षयेत्) मिलने पर प्रसन्नता अनुभव न करे (मात्रासंगात् विनिर्गतः) अधिक-कम, अच्छी-बुरी भिक्षा की मात्रा का मोह न करके अर्थात् जैसी भी भिक्षा मिल जाये उसे ग्रहण करके (प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्) केवल अपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त करता रहे ।। ५७ ।।

प्रशंसा-लाभ आदि से बचे—

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ।। ५८ ।। (३६)

(तु) और (अभिपूजितलाभान्) बहुत अधिक आदर-सत्कार से मिलने वाली भिक्षा या अन्य सभी लाभों से (सर्वशः एव जुगुप्सेत) सर्वथा उपेक्षा बरते, क्योंकि (अभिपूजितलाभैः मुक्तः+अपि यतिः बद्धयते) बहुत अधिक आदर-सत्कार से प्राप्त होने वाली भिक्षा से अथवा लाभों से मुक्त संन्यासी भी विषयों के बन्धन में फंस जाता है ।। ५८ ।।

---

* "अथवा गेरू से रंगे वस्त्रों को पहने"। (सं० वि० २०१ पर टिप्पणी)

इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाए—

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥ (३७)

(विषयैःह्रियमाणानि इन्द्रियाणि) विषयों से खिंचने वाली इन्द्रियों को (अल्प+अन्न+अभ्यवहारेण) थोड़ा भोजन करके (च) और (रहः स्थान+आसनेन) एकान्त स्थान में निवास करके (निवर्तयेत्) वश में करे ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥ (३८)

(इन्द्रियाणां निरोधेन) इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक (रागद्वेष-क्षयेण) राग, द्वेष को छोड़ (च) और (भूतानाम् अहिंसया) सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर (अमृतत्वाय कल्पते) मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ६० ॥ (स० प्र० १२९)

"जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।" (सं० वि० १९९)

अनुशीलन : 'इन्द्रियनिरोध' में योग के प्रमाण—योगदर्शन के सूत्रों द्वारा इस श्लोक की व्याख्या को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। **"योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः"** [१ । २] अर्थात् योग से इन्द्रियों के विषयों का निरोध होता है और यह निरोध **"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** [१ । १२] अभ्यास-वैराग्य से सिद्ध होता है। **"सुखानुशयी रागः"** **"दुःखानुशयी द्वेषः"** [२ । ७, ८] = सुख की तृष्णा राग है, दुःख-विषय में क्रोध भावना द्वेष है। इनके त्याग से और **"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"** [२ । ३५], अहिंसा सिद्धि से निर्वैरता प्राप्त करके व्यक्ति मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाने में सफल होता है।

मनुष्य-जीवन की दुःखमय गति-स्थितियाँ और उनका चिन्तन—

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥ (३९)

(कर्मदोषसमुद्भवाः नृणां गतीः) कर्मों के दोष से होने वाली मनुष्यों की कष्टयुक्त बुरी गतियों (च) और (निरये पतनम्) कष्टों का भोगना (च) तथा (यमक्षये यातनाः) प्राणक्षय में मृत्यु के समय होने वाली पीड़ाओं को (अवेक्षेत) विचारे और विचारकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करे ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥ (४०)

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ (४१)

(च) और (प्रियैः विप्रयोगम्) प्रियजनों से वियोग हो जाना (तथा अप्रियैः संयोगम्) तथा शत्रुओं से संपर्क होना और उससे फिर कष्टप्राप्ति होना (च) और (जरया अभिभवनम्) बुढ़ापे से आक्रान्त होना (च) तथा (व्याधिभिः उपपीडनम्) रोगों से पीड़ित होना (च) और (अस्मात् देहात्+उत्क्रमणम्) फिर इस शरीर से जीव का निकल जाना (गर्भे पुनः संभवम्) गर्भ में पुनः जन्म लेना (च) और इस प्रकार (अस्य+अन्तरात्मनः) इस जीव का (योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः) सहस्रों प्रकार की अर्थात् अनेकविध योनियों में आवागमन होना—इनको विचारे और इनके कष्टों को देखकर मुक्ति में मन लगावे ॥ ६२, ६३ ॥

अधर्म से दुःख और धर्म से सुख-प्राप्ति—

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥ (४२)

(शरीरिणां दुःखयोगं अधर्मप्रभवम् एव) यह निश्चित है कि प्राणियों को सभी प्रकार के दुःख अधर्म से ही मिलते हैं (च) और (अक्षयं सुखसंयोगं धर्मार्थप्रभवम् एव) अक्षयसुखों मोक्ष को अवधि तक रहने वाले सुखों की प्राप्ति केवल धर्म से ही होती है । इसको भी विचारे और तदनुसार धर्माचरण करे ॥ ६४ ॥

अनुशीलन : अधर्म से दुःख की प्राप्ति कैसे होती है इसका वर्णन ४ । १७०-१७६ में द्रष्टव्य है ।

योग से परमात्मा का प्रत्यक्ष करे—

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ (४३)

(च) और (योगेन परमात्मनः सूक्ष्मताम्) योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता को (च) तथा (उत्तमेषु च अधमेषु देहेषु समुत्पत्तिम्) उत्तम तथा अधम शरीरों में जन्मप्राप्ति के विषय में (अवेक्षेत) विचार किया करे ॥६५॥

अनुशीलन : योग की परिभाषा एवं योग से ईश्वर प्राप्ति—योग-दर्शन में योग की परिभाषा और उससे परमात्मा की प्राप्ति इस प्रकार बतलायी है—

(क) "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**"=चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। [१।२]।

(ख) पुनः चित्तवृत्तियों के निरोध से समाधिसिद्धि होने पर "**तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्**" [१।३]=तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। इसमें वेद का प्रमाण भी उल्लेखनीय है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ ऋ० १।४।२ ॥

अर्थ—"(युञ्जानः) योग करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेः ज्योति०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही लक्षण है।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)।

दूषित आदि प्रत्येक अवस्था में धर्म का पालन आवश्यक—

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥ (४४)

(दूषितः+अपि धर्मं चरेत्) यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें तथापि धर्म ही का आचरण करे (यत्र तत्र+आश्रमे रतः) ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है (सर्वेषु भूतेषु समः) सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखे, इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिए संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु (लिङ्गं धर्मकारणं न) केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥ ६६ ॥ (सं० वि० १९९)

"कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्नधारण धर्म का कारण नहीं है, सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है" ॥

(स० प्र० १२९)

धर्माचरण के बिना बाहरी दिखावे से श्रेष्ठ फल नहीं—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ (४५)

(यद्यपि कतकवृक्षस्य फलम्) यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल (अम्बु-प्रसादकम्) पीसके गदले जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि (तस्य नामग्रहणात्+एव) बिना डाले उसके नाम कथन वा श्रवणमात्र से (वारि न प्रसीदति) उसका जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ६७ ॥

(स० प्र० १२६)

"यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उसके नामग्रहण मात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है; वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं।" (सं० वि० १६६)

अनुशीलन : कतक वृक्ष के फल को हिन्दी में 'रीठा' कहते हैं।

प्राणायाम अवश्य करे—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥ (४६)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् व्यक्ति या संन्यासी के द्वारा जो (विधिवत्) विधि के अनुसार (व्याहृति-प्रणवैः युक्ताः) प्रणव अर्थात् ओङ्कारपूर्वक और 'भूः, भुवः, स्वः' आदि सप्तव्याहृतियों के जप सहित [अनुशीलन में प्रदर्शित] (त्रयः+अपि) तीनों प्रकार के बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भक, प्राणायाम अथवा न्यून से न्यून तीन प्राणायाम (कृताः) किये जाते हैं, (परमं तपः विज्ञेयम्) वह इसका परम=उत्तम तप होता है ॥ ७० ॥

"ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे। यही संन्यासी का परम तप है।"

(स० प्र० १२६)

अनुशीलन : (१) प्राणायाम की विधि योगदर्शन में विहित है। १। २७-२८ में ओंकारपूर्वक ईश्वर जप का भी विधान है। यहां वही विधि व्यासभाष्य पर आधारित ऋषि दयानन्द के भाष्यसहित प्रस्तुत की जाती है। इस विधि को अपना कर उपासक अशुद्धिक्षय, ईश्वर-सिद्धि और बलपराक्रम की वृद्धि करे—

प्राणायाम का लक्षण—

(क) तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ २। ४६ ॥

'जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर

जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने के विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को प्राणायाम कहते हैं।"

(ख) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ १ । ३४ ॥

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोके। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप, अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए" (ऋ० भू० उपासना विषय)

(२) **प्राणायाम के भेद**—प्राणायाम के भेदों का वर्णन करते हुए योगदर्शन में प्रमुखरूप से प्रणायाम के तीन भेद माने हैं—

(ग) स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २ । ५० ॥

(घ) बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्थः ॥ २ । ५१ ॥

वे मुख्य तीन भेद हैं बाह्य विषय = रेचक, आभ्यन्तर = पूरक और स्तम्भवृत्ति। ये देशकाल संख्यानुसार दीर्घ, सूक्ष्म होते हैं। चौथा गौण भेद 'बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी' है। इनकी विधि निम्न प्रकार है—

(१) **रेचक**=श्वास को भीतर से वमन के समान बाहर निकालना और उसे उसी स्थिति में रोकना = नियन्त्रण करना।

(२) **पूरक**=श्वास को बाहर से भीतर धारण करके उसी स्थिति में रोकना = नियन्त्रण करना।

(३) **स्तम्भक**=आते, जाते, जहां के तहां श्वास को रोकना या अन्दर रोके श्वास को बाहर निकलते समय पुनः पुनः रोकना, बाहर रोके श्वास को अन्दर आते समय पुनः पुनः रोकना आदि स्तम्भक प्राणायाम है।

जैसा कि योगसूत्र में ही कहा गया है '**बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी**' अर्थात् जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, यह गौण भेद है। अतः इसकी पृथक् गणना है और बाह्याभ्यन्तर पर आधारित है। अतः ये तथा अन्य भेद उक्त प्रमुख तीनों में अन्तर्भूत हो जाने से उन्हीं के अवान्तर भेद हैं।

कोई-कोई बाह्य = रेचक और आभ्यन्तर = पूरक के साथ रोकना प्रक्रिया को नहीं मानते। यह विचार ठीक नहीं। इस प्रकार तो वे मात्र उच्छ्वास, निःश्वास, प्रश्वास

ही कहलायेंगे। प्राणायाम शब्द का अर्थ ही उनकी इस मान्यता को गलत सिद्ध कर देता है। आयाम का अर्थ है='प्रसार, विस्तार, फैलाव या नियन्त्रण' इस प्रकार प्राणायाम शब्द का अर्थ हुआ 'प्राण का विस्तार या नियन्त्रण' करना। प्राणायाम शब्द सभी भेदों के साथ संयुक्त है। अतः उनका अर्थ भी प्राणायाम शब्द के अर्थ को साथ जोड़कर करना चाहिए। जैसे=बाह्यप्राणायाम, आभ्यन्तरप्राणायाम, स्तम्भकप्राणायाम।

(३) **प्राणायाम मन्त्र—**

शास्त्रों में व्याहृतियों की गणना तीन और सात के रूप में मिलती है। ऋषि दयानन्द ने सात व्याहृतियों की गणना स्वीकार करके प्राणायाम की विधि प्रदर्शित की है, क्योंकि तीन व्याहृतियां उनके अन्तर्गत ही हो जाती हैं। उन्होंने व्याहृति और मन्त्र निम्न प्रकार दिये हैं—

"इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके जैसा कि प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है।" (सं० वि० १९९)

वह प्राणायाम मन्त्र इस प्रकार है—

"ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्।"

इस रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करे।"

(सं० वि० १५९)

प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का क्षय—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१॥ (४७)

(हि) क्योंकि (यथा ध्मायमानानां धातूनां मलाः दह्यन्ते) जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं (तथा प्राणस्य निग्रहात्) वैसे ही प्राणों के निग्रह से (इन्द्रियाणां दोषाः दह्यन्ते) मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ (स० प्र० १२९)

अनुशीलन : प्राणायाम से दोषों का निवारण—इसमें योगदर्शन का प्रमाण भी है—

(क) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २ । २८ ॥
प्राणायाम भी योग का एक प्रमुख अंग है।

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।" (स० प्र० तृ० समु०)

"इसी प्रकार बारंबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और

प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है।"
(ऋ० भू० उपासना विषय)

(ख) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ २ । ५२ ॥

प्राणायाम सिद्धि और प्राणायामपूर्वक उपासना के पश्चात् आत्मा के ज्ञान को ढांपने वाला इन्द्रियों का दोष—अज्ञानरूपी जो आवरण है, वह नष्ट हो जाता है। और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। महर्षि दयानन्द ने इस विषय में लिखा है—

"प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा।"
(स० प्र० तृ० समु०)

प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार से दोषों का क्षय—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥ (४८)

इसलिए संन्यासी लोग (प्राणायामैः दोषान्) प्राणायामों से दोषों को (धारणाभिः किल्बिषम्) धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को (प्रत्याहारेण संसर्गान्) प्रत्याहार से संग से हुए दोषों (च) और (ध्यानेन+अनीश्वरान् गुणान्) ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर (दहेत्) सब दोषों को भस्म करदेवे ॥ ७२ ॥ (सं० वि० २००)

"इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वरता के गुणों अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें। (स० प्र० १३०)

अनुशीलन : **धारणा और प्रत्याहार-विवेचन में योग के प्रमाण**—श्लोक में उक्त बातों का सप्रमाण विवेचन योगदर्शन के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है—

१. प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का दहन किस प्रकार होता है, यह ६ । ७१ की समीक्षा में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

२. धारणाओं से अन्तःकरण के किल्विष अर्थात् बुराई को दूर करे। "**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**" (योग ३ । १)="धारणा उसको कहते हैं कि मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना।" (ऋ० भू०

उपासनाविषय) अथवा बुराइयों को, दोषों को समझकर उनको छोड़ने के लिए व्रतों को धारण करना भी धारणा है।

"किंच धारणासु च योग्यता मनसः।" (योग० २। ५३)=धारणाओं से मन में ज्ञान की योग्यता और विवेक बढ़ता है। जिससे बुराइयों का त्याग होता है। ['किल्विषम्' के अर्थ पर विशेष अनुशीलन ८। ३१६ पर भी द्रष्टव्य है]।

३. प्रत्याहार के द्वारा संसर्गजन्य दोष को छोड़ें। **"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"**। योग० २। ५४॥

"प्रत्याहार उसका नाम कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है।" (ऋ० भू० उपासनाविषय) परिणामस्वरूप इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के संगों, अभिमान आदि दोषों से निवृत्त हो जाती हैं। प्रत्याहार से मन स्ववश में हो जाता है और इन्द्रियों पर दृढ़ वशीभूतता हो जाती है—

"ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।", योग २। ५५॥

"तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं।" (ऋ० भू० उपासना-विषय)

योगदर्शन के व्यासभाष्य मे भी अपरिग्रह को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"विषयाणामर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसादोषदर्शनात् अस्वीकरणम् अपरिग्रहः।" (योग २। २०)=विषयों में अर्जनदोष, रक्षणदोष, क्षयदोष, संगदोष तथा हिंसादोष देखने से उनका जो अस्वीकार अर्थात् त्याग है, वह अपरिग्रह कहा जाता है।

४. ध्यान से अनीश्वर गुणों अर्थात् अविद्या, अज्ञान आदि का त्याग करके ईश्वरीय गुणों को धारण करना। **"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"** (योग० ३। २)= "धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम ध्यान है।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)

५. 'किल्विषनाश' के लिए द्रष्टव्य ११। २२७ पर अनुशीलन और शब्दार्थ के लिए ८। ३१६ का अनुशीलन।

ध्यान से पदार्थ-ज्ञान—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः॥ ७३॥ (४९)

(उच्च+अवचेषु भूतेषु) बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में (अकृतात्मभिः दुर्ज्ञेयाम् अस्य+अन्तरात्मनः गतिम्) जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को (ध्यानयोगेन संपश्येत्) ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे ॥ ७३ ॥

(सं० वि० २००)

अनुशीलन : 'ध्यानयोग' के लिए ६ । ७२ पर अनुशीलन संख्या ४ द्रष्टव्य है ।

यथार्थ ज्ञान से कर्मबन्धन का विनाश—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥ (५०)

(सम्यक् दर्शनसंपन्नः) जो संन्यासी यथार्थज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है (कर्मभिः न निबद्धयते) वह दुष्टकर्मों से बद्ध नहीं होता (तु) और (दर्शनेन विहीनः) जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यास-पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर (संसारं प्रतिपद्यते) जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥ (सं० वि० २००)

अनुशीलन : **दर्शन एवं ध्यानयोग विवेचन**—(१) उपर्युक्त ७२-७३ श्लोकों में उक्त यथार्थ ज्ञान से ध्यानयोग की सिद्धि होने पर परमात्मा के दर्शन होते हैं और वह—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ योग० ४ । ६ ॥

जो ध्यानयोग से सिद्ध चित्त है वह यथार्थ ज्ञान से अनाशयम्=कर्मवासना और क्लेशवासना से रहित होता है । कर्मों से बद्ध नहीं होता । उसके कर्म दग्धबीज के समान होने से फिर फलोन्मुख नहीं होते । वही फिर मोक्ष की स्थिति में पहुंचता है ।

(२) दर्शनों से यहां पुस्तकविशेष दर्शन-ग्रन्थों से अभिप्राय नहीं है, अपितु 'दर्शन विद्याओं' से अभिप्राय है । ईश्वर आदि तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाली विद्या को 'दर्शनविद्या' कहा जाता है ।

अहिंसा आदि वैदिक कर्मों से परमात्मा पद की प्राप्ति—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥ (५१)

(अहिंसया) सब भूतों से निर्वैर (इन्द्रिय+असंगैः) इन्द्रियों के विषयों

का त्याग (वैदिकैः कर्मभिः) वेदोक्त कर्म (च) और (उग्रैः तपश्चरणैः) अत्युग्र तपश्चरण से (इह) इस संसार में (तत्पदं साधयन्ति) मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं ॥ ७५ ॥
(स० प्र० १३०)

"और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बंधन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम, सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है"। (स० प्र० २००)

निःस्पृहता से सुख एवं मोक्षप्राप्ति—

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥ (५२)

(यदा) जब संन्यासी (सर्वभावेषु भावेन निःस्पृहः भवति) सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है (तदा) तभी (इह च प्रेत्य शाश्वतं सुखम्+अवाप्नोति) इस लोक=इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥
(सं० वि० २००)

"जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निस्पृह, कांक्षारहित और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।" (स० प्र० १३०)

परमात्मा में अधिष्ठान—

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥ (५३)

(अनेन विधिना) इस विधि से (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (सर्वान् संगान् त्यक्त्वा) सब संग से हुए दोषों को छोड़के (सर्व-द्वन्द्व-विनिर्मुक्तः) सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके (ब्रह्मणि+एव+अवतिष्ठते) विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ॥ ८१ ॥ (सं० वि० २००)

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥ (५४)

---

* "निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता।" (सं० वि० २०२, टिप्पणी)

(यत्+एतत्+अभिशब्दितम्) यह जो कुछ पहले कहा गया है (एतत् सर्वम्+एव ध्यानिकम्) यह सब ही ध्यानयोग के द्वारा सिद्ध होने वाला है (अन्+अध्यात्मवित् कश्चित्) अध्यात्मज्ञान से रहित कोई भी व्यक्ति (क्रियाफलं न हि उपाश्नुते) उपयुक्त कर्मों के फल को नहीं पा सकता ॥८३॥

परमात्मा ही सुख का स्थान है—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥ (५५)

(इदम् अज्ञानां शरणम्) यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौण-संन्यासियों और (इदम्+एव विजानताम्) यही विद्वान् संन्यासियों का (इदं स्वर्गम् इच्छताम्) यही सुख की खोज करने हारे, और (इदम्+आनन्त्यम्+इच्छताम्) यही अनन्त[1] सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का आश्रय है" ॥ ८४ ॥ (सं० वि० २००)

"जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे ।" (सं० वि० २००)

अनुशीलन : मोक्षसुख का आश्रय परमात्मा—(१) परमेश्वर मोक्ष सुख और अन्य सुख का आश्रय है, इसका विधायक एक वेदमन्त्र तुलनार्थ द्रष्टव्य है—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ य० ११ । २ ॥

अर्थ—"(वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिए (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ।" (ऋ० भू० उपा० विषय)

(२) इसकी संगति वेद से नहीं अपितु परमात्मा से है। परमात्मा ही मोक्षसुख आदि के लिए शरण हो सकता है। टीकाकारों ने इसका जो वेदपरक अर्थ किया है वह

---

1. "अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे ।" (सं० वि० २०२, टिप्पणी)

(५५) [प्रचलित अर्थ—वेदार्थ को नहीं जानने वालों के लिए यही वेद शरण (गति) है, (क्योंकि अर्थज्ञान के बिना भी वेदपाठ करने से पापक्षय होता है) और वेदार्थ जानने वालों के लिए स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहने वालों के लिए भी यही वेद शरण (गति) है ॥ ८४ ॥]

प्रसंगानुकूल नहीं है। यहां प्रसंग परमात्मा की प्राप्ति का है।

उपसंहार—

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥ (५६)

(अनेन क्रमयोगेन) इस क्रमानुसार संन्यास-योग से (यः द्विजः परिव्रजति) जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यास ग्रहण करता है (सः इह) वह इस संसार और शरीर में (पाप्मानं विधूय) सब पापों को छोड़-छुड़ाके (परं ब्रह्म+अधिगच्छति) परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥
(सं० वि० २००)

आश्रम-धर्मों की समाप्ति पर उपसंहार—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ (५७)

(ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थः तथा यतिः) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास (एते चत्वारः पृथक् आश्रमाः) ये चारों अलग-अलग आश्रम (गृहस्थप्रभवाः) गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥

आश्रमधर्मों के पालन से मोक्ष की ओर प्रगति—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥ (५८)

(एते सर्वे+अपि क्रमशः यथाशास्त्रं निषेविताः) ये सब क्रमानुसार शास्त्रोक्त विधानों के अनुसार पालन करने पर (यथा+उक्तकारिणं विप्रम्) कर्त्तव्यों का यथोक्त विधि से पालन करने वाले द्विज को (परमां गतिं नयन्ति) उत्तम गति को प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

गृहस्थ की श्रेष्ठता—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥ (५९)

(वेद-स्मृतिविधानतः) वेदों और स्मृतियों में कहे अनुसार (एषां सर्वेषाम्+अपि) इन सब आश्रमों में (गृहस्थः श्रेष्ठः उच्यते) गृहस्थ सबसे दायित्वपूर्ण होने से श्रेष्ठ है (हि) क्योंकि (सः) वह (एतान् त्रीन् बिभर्ति) इन तीनों का ही भरण-पोषण करता है अर्थात् उत्पत्ति और जीवनयापन की दृष्टि से ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं ॥ ८९ ॥

अनुशीलन : गृहस्थ कैसे तीन आश्रमों और सबका भरण-पोषण

करता है, इसका कारणपूर्वक वर्णन ३।७८, ८० में वर्णित है। ३।७७ में इसको आधार बताया है।

गृहस्थ समुद्रवत् है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ ९०॥ (९०)

(यथा सर्वे नदी-नदाः सागरे संस्थितिं यान्ति) जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं (तथैव) वैसे ही (सर्वे आश्रमिणः) सब आश्रमी (गृहस्थे संस्थितिं यान्ति) गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं॥ ९०॥ (सं० वि० १५०)

"जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते। वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।" (स० प्र० १२२)

अनुशीलन : तुलना के लिए देखिए ३।७७ वां श्लोक।

चतुर्भिरपि चैवतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ९१॥ (९१)

(एतैः चतुर्भिः आश्रमिभिः द्विजैः) इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि (प्रयत्नतः) प्रयत्न से (दशलक्षणकः धर्मः सेवितव्यः) दश लक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नित्य करें॥ ९१॥ (स० प्र० १३०)

धर्म के दश लक्षण—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९२॥ (९२)

पहिला लक्षण–(धृति) सदा धैर्य रखना, दूसरा–(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति मान-अपमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना; तीसरा–(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे, चौथा--(अस्तेय) चोरी त्याग अर्थात् बिना आज्ञा वा छल-कपट, विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से पर-पदार्थ का ग्रहण करना चोरी, और इसको छोड़ देना साहुकारी कहाती है, पांचवां—(शौच) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर और जल, मृत्तिका, मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी, छठा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना,

सातवां—(धीः) मादक द्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास से बुद्धि बढ़ाना; आठवां—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना; सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्तना इससे विपरीत अविद्या है, नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना, वैसा ही करना भी; तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना (धर्मलक्षणम्) धर्म का लक्षण है ॥ ६२ ॥ (स० प्र० १३१)

अनुशीलन : धर्म के लक्षणों की विशेष व्याख्या—संस्कार विधि में भी महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को उद्धृत करके इसका भाष्य किया है। वहां उन्होंने 'अहिंसा' को भी धर्म का लक्षण मानकर धर्म के ग्यारह लक्षण माने हैं। यहां वे उद्धृत किये जाते हैं—

"धर्म न्याय नाम, पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना, इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं—(अहिंसा) किसी से वैर बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्त्तना, (धृतिः) सुख-दुःख, हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म में ही स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म में ही प्रवृत्त रखना, (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना, (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म ही में चलाना, (धीः) वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्मचर्य, सत्संग करने और कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना, (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है. इसका ग्रहण और अन्याय पक्षपात सहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा, वैरबुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतकर अधर्म में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उसमें फंसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिए।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

दश लक्षणात्मक धर्मपालन से उत्तम गति—

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥ (६३)

(धर्मस्य दशलक्षणानि) धर्म के दश लक्षणों का (ये विप्राः) जो द्विज (सम्+अधीयते) अध्ययन-मनन करते हैं (च) और (अधीत्य) पढ़कर-मनन करके (अनुवर्तन्ते) इनका पालन करते हैं (ते) वे (परमां गतिं यान्ति) उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ।। ९३ ।।

आश्रमधर्मों एवं ब्राह्मण धर्मों का उपसंहार—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ।। ९७ ।। (९४)

मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! (एषः चतुर्विधः ब्राह्मणस्य धर्मः) यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है (पुण्यः प्रेत्य अक्षयफलः) यहां वर्तमान में पुण्य-स्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यासधर्म है ❀ (राज्ञां धर्मं निबोधत) इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो—।। ९७ ।। (स० प्र० १३२)

❀ (अभिहितः) वह कह दिया है·······

अनुशीलन : **ब्राह्मण शब्द का उपलक्षणात्मक प्रयोग**—इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द का 'ब्राह्मण' अर्थ के साथ-साथ उपलक्षण रूप में प्रयोग है । १ । १४४ [२ । २५] श्लोक से वर्णाश्रम धर्मों का प्रारम्भ किया है । तदनुसार यहां तक ब्राह्मण वर्ण के सम्पूर्ण धर्म=धार्मिक तथा लौकिक कर्त्तव्य पूर्ण हो गये हैं और साथ-साथ द्विजों के चारों आश्रमों (द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पंचम में गृहस्थ और षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यास) के धर्म भी [६ । ९१] पूर्ण हो गये हैं । इस प्रकार ब्राह्मण शब्द से क्षत्रिय और वैश्य भी ग्रहण होते हैं ।

ब्राह्मण शब्द ग्रहण करने का एक विशेष अभिप्राय यह भी है कि सभी द्विज संन्यासाश्रम में आकर संन्यास के धर्मों को धारण करके ब्रह्मत्व प्राप्त करते हैं । ब्रह्म-प्राप्ति का एक ही उद्देश्य होने से उनके कर्त्तव्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाता । अतः ब्राह्मण शब्द से ही उनका ग्रहण किया है । इन अध्यायों में विभिन्न स्थानों पर द्विज, विप्र शब्दों को ब्राह्मण के पर्यायवाची रूप में भी ग्रहण किया है, यथा २ । १५, ६ । ९१, ९३, ९७ के भाव और शब्दों में प्रयोग है ।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दी-भाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ वानप्रस्थसंन्यास-धर्मविषयकः षष्ठोऽध्यायः ।।

अथ सप्तमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्म विषय)

[७ । १ से ९ । ९९ तक]

राजा की उत्पत्ति एवं सिद्धि (७ । १ से ७ । २३ तक)—

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥ (१)

अब मनु जी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् (राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि) राजधर्मों को कहेंगे कि (यथावृत्तः नृपः भवेत्) जिस प्रकार का राजा होना चाहिए [७ । ३६ - ९ । ३२५] (च) और (तस्य यथा संभवः) जैसे उसका संभव= बनना (च) तथा (यथा परमा सिद्धिः) जैसे उसको परमसिद्धि प्राप्त होवे [७ । १—३५] उसको सब प्रकार कहते हैं ॥ १ ॥ (स० प्र० १३८)

राजा बनने का अधिकारी कौन ?

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥ (२)

(ब्राह्मं संस्कारं प्राप्तेन क्षत्रियेण) जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान्❀ सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि (अस्य सर्वस्य) इस सब राज्य की (परिरक्षणम्) रक्षा (यथान्यायं कर्तव्यम्) न्याय से यथावत् करे ॥ २ ॥ (स० प्र० १३८)

❀ (यथाविधि) पूर्ण विधि के अनुसार अर्थात् उपनयन में दीक्षित होकर समावर्तनकाल तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए............

राजा बनने की आवश्यकता—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (अराजके अस्मिन् लोके) राजा के बिना इस जगत् में (सर्वतः भयात् विद्रुते) सब ओर भय के कारण व्याकुलता फैल जाने पर (अस्य सर्वस्य रक्षार्थम्) इस सब समाज और राज्य की सुरक्षा के लिए (प्रभुः राजानम्+असृजत्) प्रभु ने 'राजा' पद को बनाया है अर्थात् राजा बनाने की प्रेरणा मानवों के मस्तिष्क में दी है ॥ ३ ॥

राजा के आठ विशिष्ट गुण—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥ (४)

यह सभेश राजा (इन्द्र) इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता (अनिल) वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा (यम) यम-पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तने वाला (अर्काणाम्) सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, अंधकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक (अग्नेः) अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने हारा (वरुणस्य) वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला (चन्द्र-वित्तेशयोः) चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति होवे ॥ ४ ॥ (स० प्र० १४०)

❀ (शाश्वतीः मात्रा निर्हृत्य च) इनकी स्वाभाविक मात्राओं=गुणों के अंशों का सार लेकर ईश्वर ने 'राजा' के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। ('च' से पूर्वश्लोक के 'राजानम् असृजत्' क्रिया की अनुवृत्ति है)।

अनुशीलन : राजा के आठ विशिष्ट गुणों की व्याख्या—

(क) महर्षि मनु ने इस श्लोक में कहा है कि राजा को आठ विशिष्ट गुणों से युक्त होना चाहिए। जैसे निम्न आठ ईश्वरीय दिव्यशक्तियों का कार्य या स्वभाव है, वैसा ही राजा का स्वभाव और आचरण होना चाहिए। मनु ने ९। ३०३ से ३११ श्लोकों में स्वयं इन गुणों की व्याख्या की है, जो निम्न प्रकार है—

(१) इन्द्र [=वृष्टिकारक शक्ति] जैसे भरपूर जल बरसाकर जगत् को तृप्त करता है, वैसे राजा अपनी प्रजाओं को सुख-सुविधाएं, ऐश्वर्य प्रदान करे। उनकी कामनाओं को पूर्ण कर संतुष्ट रखे [९। ३०४]। 'इदि-परमैश्वर्ये' भ्वादि धातु से 'ऋजेन्द्राग्नवज्र' (उणादि २।२८) सूत्र से 'रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। ' इन्दते वा ऐश्वर्यकर्मणः" (निरुक्त १०।८]=ऐश्वर्यप्रदाता होने से इन्द्र कहलाता है। ७। ७ में इसके पर्यायवाची रूप में 'महेन्द्र' का प्रयोग है।

(२) **वायु**—जैसे सब प्राणियों, स्थानों में प्रविष्ट होकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट होकर सब स्थानों की, अपनी तथा शत्रु की प्रजाओं की बातों की जानकारी रखनी चाहिए [९।३०६]। [वायुः=वा गतिगन्धनयोः अदादि धातु '**कृवापाजि०**' (उणादि १।१) सूत्र से 'उः' 'प्रत्यय। '**वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः**' [निरु० १०।१)]। ९।३०६ में 'मारुत' का प्रयोग है।

(३) **यम** [= ईश्वर की मारक या नियन्त्रक शक्ति] जैसे कर्मफल का समय आने पर प्रिय और शत्रु सबको धर्मपूर्वक अर्थात् न्यायानुसार दण्डित करता है या मारता है, उसी प्रकार राजा को भी अपराध करने पर प्रिय, शत्रु सभी प्रजाओं को न्यायपूर्वक दण्ड देना चाहिए और उनको अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए [९।३०७]। ७।७ में मनु ने यम का 'धर्मराट्' पर्यायवाची ग्रहण किया है। धर्म अर्थात् न्यायपूर्वक शासन करने वाला 'धर्मराट्' होता है। ['यमु उपरमे' भ्वादि धातु से कर्त्तरि पचाद्यच्। "**यमः यच्छतीति सतः**" (निरु० १०। १९)]।

(४) **अर्क**=सूर्य जैसे अपनी किरणों द्वारा बिना संतप्त किये जलग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट और हानि पहुंचाये बिना [७। १२८-१२९] कर ग्रहण करे [९। ३०५]। ['अर्च - पूजायाम्' भ्वादि धातु से '**कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः**' (उणादि ३। ४०) सूत्र से 'कः' प्रत्यय]। ९।३०५ में पर्यायवाची रूप में 'आदित्य' का प्रयोग है।

(५) **अग्नि**—जैसे अग्नि अशुद्धि का नाश करके शुद्धि करने वाली होती है और तेजयुक्त होती है, उसी प्रकार राजा अपराध, हानि एवं दुष्टता करने तथा प्रजा को पीड़ित करने वालों को प्रभावशाली ढंग से संतापित करने वाला एवं दण्ड से सुधारने वाला होवे [९। ३१०]। ['अगि-गतौ' धातु से "**अङ्गेर्नलोपश्च**' (उणादि ४। ५०) सूत्र से 'निः' प्रत्यय, नि लोप।]

(६) **वरुण**=जल जैसे अपने तरंग या भंवररूपी पाश में प्राणियों को फंसा लेता है, उसी प्रकार राजा अपराधियों और शत्रुओं को बन्धन या कारागार में डाले [९। ३०८]। ['वृञ्-वरणे' स्वादि धातु से **कृवृदारिभ्य उनन्**' (उणादि ३। ५३) सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय]।

(७) **चन्द्र**—जैसे चन्द्र शीतलता प्रदान करता और पूर्णिमा के चांद को देखकर जैसे हृदय में प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार राजा प्रजाओं को शान्ति तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला होवे। उसे राजा के रूप में पाकर प्रजा को हर्ष का अनुभव हो [९। ३०९]। [चदि-आह्लादने दीप्तौ च' भ्वादिधातु से '**स्फायितञ्चिवञ्चि०**' (उणादि २। १३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय।] ७। ७ में 'सोम' पर्यायवाची है।

(८) वित्तेश अर्थात् धनाढ्य। ७।७ में कुबेर और ९। ३११ में इसके पर्याय-

वाची के रूप में 'धरा' 'पृथ्वी' शब्दों का ग्रहण है। जैसे धरती या धनस्वामी परमेश्वर समान भाव से सब प्राणियों का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा पक्षपातरहित होकर समानभाव से प्रजाओं का पुत्रवत् पालन करे [६। ३११]

(ख) वेद में राजा के आठ गुणों का वर्णन—

मनु के इस विधान का आधार वेद है। राजा के ये गुण भी वेदमन्त्रों के आधार पर ही वर्णित किये हैं। द्रष्टव्य है एक मंत्र—

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशां अभक्षयन्॥
(ऋ० १० । १६७ । ३)

अर्थ—(राज्ञः सोमस्य वरुणस्यधर्मणि) राजा=अग्नि, सोम=चन्द्रमा, और वरुणस्य=जल के धर्म में (उ) तथा (बृहस्पतेः अनुमत्या शर्मणि) बृहस्पति=सूर्य, अनुमत्या=लक्ष्मी अर्थात् वित्तेश या धरा के आश्रय में (मघवन्! धात! विधात!) और हे इन्द्र! हे वायु! हे यम! (अहम् अद्य तव उपस्तुतौ) मैंने तुम्हारी उपस्तुति= सान्निध्य में रहकर, तुम्हारे गुणों का धारण करके (सोमकलशान् अभक्ष्यम्) ऐश्वर्य कलशों अर्थात् राज्यैश्वर्यों का सेवन किया है। अभिप्राय यह है कि इन गुणों के अंशों को धारण करके तदनुसार आचरण से राज्यसंचालन में सफलता प्राप्त की है।

राजा दिव्यगुणों के कारण प्रभावशाली—

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥ ५॥ (५)

(यस्मात्) क्योंकि (एषां सुरेन्द्राणाम्) इन [७।४] शक्तिशाली इन्द्र आदि दिव्यशक्तियों के (मात्राभ्यः) सारभूत गुणरूपी अंश से (नृपः निर्मितः) 'राजा' पद को बनाया है (तस्मात्) इसीलिए (एषः) यह राजा (तेजसा) अपने तेज=शक्ति-प्रभाव से (सर्वभूतानि अभिभवति) सब प्राणियों को वशीभूत एवं पराजित रखता है॥ ५॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥ ६॥ (६)

(एषः) जो (आदित्यवत्) सूर्यवत् प्रतापी (मनांसि) सबके बाहर और भीतर मनों को❀ (तपति) अपने तेज से तपाने हारा है (एनं भुवि) जिसको पृथिवी में (अभिवीक्षितुम्) कड़ी दृष्टि से देखने को (कश्चित्+अपि न शक्नोति) कोई भी समर्थ नहीं होता॥ ६॥ (स० प्र० १४१)

❀(च चक्षूंषि) और देखने वालों की आंखों को·········

अनुशीलन : राजा में तेजस्विता, प्रभावशालिता आदि गुण होने चाहिएं। इन गुणों से युक्त होकर राजा सफल एवं प्रजाओं पर प्रभावी रहता है।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ ७॥ (७)

(सः) वह राजा (प्रभावतः) अपने प्रभाव=सामर्थ्य के कारण (अग्निः) अग्नि के समान दुष्टों=अपराधियों का विनाश करने वाला (च) और (वायुः) वायु के समान गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र गतिशील होकर प्रत्येक स्थिति की जानकारी रखने वाला (अर्कः) सूर्य द्वारा किरणों से जलग्रहण करने के समान कष्टरहित कर=टैक्स ग्रहण करने वाला (सोमः) चन्द्रमा के समान शान्ति—प्रसन्नता देने वाला (धर्मराट्) न्यायानुसार दण्ड देने वाला (कुबेरः) ऐश्वर्यप्रद परमेश्वर के समान समभाव से प्रजा का पालन करने वाला (वरुण.) जलीय तरंगों या भंवरों के समान अपराधियों और शत्रुओं को बन्धनों या कारागार में डालने वाला और (सः) वही (महेन्द्रः) वर्षाकारक शक्ति इन्द्र के समान सुख-सुविधा का वर्षक=प्रदाता (भवति) है॥ ७॥

"और जो अपने से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्म, प्रकाशक, धन-वर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला हो वही सभाध्यक्ष सभेश होने योग्य होवे।" (स० प्र० १४१)

अनुशीलन : इन शब्दों की व्याख्या मनु ने स्वयं की है। देखिए ७। ४ की समीक्षा तथा ६। ३०३—३११ श्लोक॥

राजा की अवमानना न करें—

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥ १३॥ (८)

(तस्मात्) इसलिए (सः नराधिपः) वह राजा (यं धर्मम्) जिस धर्म अर्थात् कानून का (इष्टेषु व्यवस्येत्) पालनीय विषयों में निर्धारण करे (च) और (अनिष्टेषु अपि अनिष्टम्) अपालनीय विषयों में जिसका निषेध करे (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म अर्थात् कानून का उल्लंघन न करे॥ १३॥

दण्ड की सृष्टि और उपयोग विधि—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ १४॥ (९)

(तस्य+अर्थे) उस राजा के लिए (पूर्वम्) सृष्टि के प्रारम्भ में ही (ईश्वरः) ईश्वर ने (सर्वभूतानां गोप्तारम्) सब प्राणियों की सुरक्षा करने वाले (ब्रह्मतेजोमयम्) ब्रह्मतेजोमय अर्थात् शिक्षाप्रद और अपराधनाशक गुण वाले (धर्ममात्मजम्) धर्मस्वरूपात्मक (दण्डम्+असृजत्) दण्ड [=सजा] को रचा अर्थात् दण्ड देने की व्यवस्था का विधान किया ॥ १४ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥ (१०)

(देशकालौ शक्तिं च विद्याम्) देश, समय, शक्ति और विद्या अर्थात् अपराध के अनुसार उचित दण्ड का ज्ञान, इन बातों को (तत्त्वतः अवेक्ष्य) ठीक-ठीक विचार कर (अन्यायवर्तिषु) अन्याय का आचरण करने वाले (नरेषु) लोगों में (तम्) उस दण्ड को (यथार्हतः संप्रणयेत्) यथायोग्य रूप में प्रयुक्त करे ॥ १६ ॥

दण्ड का महत्त्व—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥ (११)

(सः दण्डः पुरुषः राजा) जो दण्ड है वही पुरुष, राजा (सः नेता) वही न्याय का प्रचारकर्त्ता (च) और (शासिता) सब का शासनकर्त्ता (सः) वही (चतुर्णाम्+आश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः) चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन् [=जिम्मेदार] है ॥ १७ ॥ (स० प्र० १४१)

"दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥ (१२)

वास्तव में (दण्डः सर्वाः प्रजाः शास्ति) दण्ड=दण्डविधान ही सब प्रजाओं पर शासन रखता है, (दण्डः+एव) दण्ड ही (अभिरक्षति) प्रजाओं की सब ओर से [दुष्टों आदि से] रक्षा करता है (सुप्तेषु) सोती हुई प्रजाओं में (दण्डः जागर्ति) दण्ड ही जागता रहता है अर्थात् प्रमाद और एकान्त में होने वाले अपराधों के समय दण्ड का ध्यान ही उन्हें भयभीत करके उनसे रोकता है, दण्ड का भय एक ऐसा भय है जो सोते हुए भी बना रहता है, इसीलिए (बुधाः) बुद्धिमान् लोग (दण्डं धर्मं विदुः) दण्ड= दण्डविधान को राजा का प्रमुख धर्म मानते हैं ॥ १८ ॥

"वही दण्ड प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक है । सोते हुए

प्रजास्थ जनों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं।" (स० प्र० १४१)

"और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें। क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक, और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है। चोरादि दुष्ट भी दंड ही के भय से पाप कर्म नहीं कर सकते" ॥

(सं० वि० १५२)

न्यायानुसार दण्ड ही हितकारी—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥ (१३)

(सम्यक् समीक्ष्य धृतः) जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाये तो (सः) वह (सर्वाः प्रजाः रञ्जयति) सब प्रजा को आनन्दित कर देता (असमीक्ष्य प्रणीतः तु) और जो बिना विचारे चलाया जाये तो (सर्वतः विनाशयति) सब ओर से राजा का विनाश कर देता है॥ १९॥

(स० प्र० १४१)

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥ २४॥ (१४)

(सर्ववर्णाः दुष्येयुः) बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित (च) और (सर्व-सेतवः भिद्येरन्) सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जायें (दण्डस्य विभ्रमात्) दण्ड के यथावत् न होने से (सर्वलोकप्रकोपः भवेत्) सब लोगों का प्रकोप [=आक्रोश] हो जावे॥ २४॥ (स० प्र० १४१)

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥ २५॥ (१५)

(यत्र) जहां (श्यामः लोहिताक्षः पापहा) कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा (दण्डः चरति) दण्ड विचरता है (तत्र प्रजाः न मुह्यन्ति) वहां प्रजा मोह को प्राप्त न हो के आनन्दित होती हैं (नेता साधु पश्यति चेत्) परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो॥ २५॥ (स० प्र० १४१)

अनुशीलन : दण्ड का आलंकारिक चित्र—दण्ड का इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन के आधार पर रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे कोई काले रंग का और क्रोधयुक्त लाल आंखों वाला व्यक्ति भयकारी प्रतीत होता है, उसी प्रकार दण्ड

भी भयकारक है, और अपराधियों-पापियों को क्रोधाग्नि में जला देने वाला होता है। उसके भयंकर रूप का ध्यान करके ही प्रजाएं अपने कर्त्तव्योंमें प्रमाद नहीं करतीं। किन्तु वह तब है जब राजा पक्षपातरहित होकर अपराधियों को न्यायानुसार और अवश्य दण्डित करे।

दण्ड देने का अधिकारी राजा कौन—

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥ (१९)

(तस्य संप्रणेतारं राजानम् आहुः) उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलाने हारे उस राजा को कहते हैं कि (सत्यवादिनं समीक्ष्यकारिणम्) जो सत्य-वादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् विद्वान् (धर्म-काम-अर्थ-कोविदम्) धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जानने हारा हो ॥२६॥ (सं० वि० १५२)

"जो उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी, विचार के करने हारा, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है, उसी को उस दण्ड का चलाने हारा विद्वान् लोग कहते हैं"। (स० प्र० १४२)

अनुशीलन : धर्म, अर्थ और काम का स्वरूप—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का शास्त्रों में बहुशः वर्णन आता है। यहां इन्हें कुछ विस्तार से स्पष्ट करना लाभप्रद रहेगा। इन्हें 'पुरुषार्थचतुष्टय' के नाम से भी जाना जाता है। धर्म-अर्थ-काम के वर्ग को 'त्रिवर्ग' कहते हैं।

(१) **धर्म का स्वरूप—'धारणात् धर्मः' 'ध्रियते अनेन लोकः इति'** व्युत्पत्तियों के अनुसार प्रत्येक धारण किया जाने वाले सदाचरण, श्रेष्ठ विधान या समाज-व्यवस्था को धर्म कहा जाता है। मनुस्मृतिकार मुख्यरूप से **"यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"** (वैशे० १।१।२) अर्थात् जिसके आचरण करने से उत्तम सुख, आत्मिक-मानसिक-शारीरिक त्रिविध उन्नति और मोक्षसुख की प्राप्ति हो, उसको धर्म मानते हैं। विभिन्न श्लोकों में मनु ने इन मान्यताओं को स्पष्ट किया है [४।२३८, २३९, १५६, २४२, १७५, २२७ ॥६।९२॥ २।९ (१।१२८)] आदि। इस सम्बन्धी विस्तृत विवेचन १।२ की समीक्षा में देखिए।

(२) **काम**—कामनाओं की पूर्ति, कामविकारों की शान्ति।

(३) **अर्थ**—धन और सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति।

(४) **मोक्ष**—जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाकर मुक्ति की स्थिति में रहना।

धर्म प्रत्येक स्थिति में स्वीकार्य और पालनीय होता है और मोक्षप्राप्ति भी सबका

परम उद्देश्य है किन्तु काम और अर्थ के विषय में छूट नहीं है, अपितु मनु ने उन्हें सीमित और विहितरूप में ही ग्राह्य माना है। वे ही अर्थ और काम ग्राह्य हैं जो धर्मानुकूल हैं, अन्य त्याज्य हैं—

(क) **"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ"** । ४ । १७६ ॥

=धर्म से रहित अर्थ और काम असेवनीय हैं।

(ख) **"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।"** [१ । १३२ (२ । १३)]

=अर्थ और काम में आसक्ति न रखने वाले व्यक्ति को ही धर्म का ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त होती है।

(ग) अर्थसिद्धि के नियम—

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ ४ । १५ ॥

(घ) कामसिद्धि की सीमाएं—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ ४ । १६ ॥

धर्मानुकूल काम और अर्थ कौनसे हैं, इसकी मनु ने विभिन्न स्थानों पर चर्चा भी की है। अन्यत्र भी इस प्रकार की सीमाएं विहित हैं—

(ङ) काम-संतुष्टि के विषय में मनु ने प्रत्येक मनुष्य और राजा को जितेन्द्रिय रहते हुए कामसेवन का विधान किया है [७ । ४४]। ऋतुकालाभिगामी होने का निर्देश है। ऐसे नियम का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है [३ । ४५, ५०]। अति-कामासक्ति का निषेध है, क्योंकि वह हानिकारक है [७ । २७, ४८]। एक सीमा में ही कामसिद्धि होनी चाहिए।

(च) इसी प्रकार धन-ऐश्वर्य की प्राप्ति भी धर्मपूर्वक ही रखनी चाहिए। इस विषय में लालची न होने का निर्देश है [७ । ४९], क्योंकि अर्थलालची व्यक्ति के धर्म आदि सब समूल नष्ट हो जाते हैं। अर्थ-शुचिता को मनु ने जीवन में आवश्यक माना है [५ । १०६]। इसीलिए अर्थप्राप्ति के लिए साधारण व्यक्तियों की भी सीमा बांधी है, और कहा है कि वह संतोषपूर्वक दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचाते हुए अर्थप्राप्ति करें [४ । २, ३, ११, १२]। राजाओं के लिए भी अर्थसंग्रह के लिए समुचित निर्देश ७ । १२७-१२९, १३९; ९ । ३०५ में दिये हैं।

इन धर्मादि की सिद्धि के आवश्यक नियमों-विधानों के ज्ञाता को और तदनुसार आचरण करने वाले को 'धर्मकामार्थकोविद' कहा जाता है। इनकी प्राप्ति करना मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है, और इनकी सिद्धि होना मनुष्य जीवन की सफलता और सुख का प्रतीक माना जाता है।

अन्यायपूर्वक दण्डप्रयोग राजा का विनाशक—

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ (१७)

(तं सम्यक् राजा प्रणयन्) जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है (त्रिवर्गेण+अभिवर्द्धते) वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो (कामात्मा) विषय में लंपट (विषमः) टेढ़ा, ईर्ष्या करने हारा (क्षुद्रः) क्षुद्र नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है (दण्डेन+एव निहन्यते) वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥ २७ ॥ स० प्र० १४२)

अनुशीलन : **'विषमः' का अभिप्राय**—'विषमः' से इस श्लोक में 'न्याय में ईर्ष्या आदि के कारण असमान बर्ताव अर्थात् पक्षपात' करने से अभिप्राय है। पक्षपातयुक्त दण्डव्यवस्था होने से राजा का विनाश हो जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥ (१८)

(दण्डः हि सुमहत् तेजः) दण्ड बड़ा तेजोमय है (अकृतात्मभिः दुर्धरः) उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता (धर्मात् विचलितं नृपम्+एव) तब वह दण्ड धर्म से रहित राजा ही का ❀ (हन्ति) नाश कर देता है ॥ २८ ॥ (स० प्र० १४२)

❀ (सबान्धवम्) कुलसहित......................

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥ (१९)

(असहायेन मूढेन) जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़ (लुब्धेन) लोभी (अकृतबुद्धिना) जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की (विषयेषु सक्तेन) जो विषयों में फंसा हुआ है (सः) उससे वह दण्ड (न्यायतः नेतुं न शक्यः) कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥३०॥
(सं० वि० १५३)

"क्योंकि जो आप्तपुरुषों के सहाय, विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।" (स० प्र० १४२)

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥ (२०)

और (शुचिना) जो पवित्र (सत्यसन्धेन) सत्याचार और सत्पुरुषों का संगी (यथाशास्त्र+अनुसारिणा) यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा (सुसहायेन) श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त (धीमता) बुद्धिमान् है (दण्डः प्रणेतुं शक्यते) वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥ ३१ ॥ (स० प्र० १३२)

"इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् राजा हो वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है।" (सं० वि० १५३)

न्यायानुसार दण्डादि देने से राजा की यशवृद्धि—

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ (२१)

(एवं वृत्तस्य नृपतेः) इस प्रकार न्यायपूर्वक [१३-३१] दण्ड का व्यवहार करने वाले राजा का (शिलोञ्छेन अपि+जीवतः) शिल-उञ्छ से निर्वाह करने वाले अर्थात् धनहीन राजा का भी (यशः) यश (अम्भसि तैलबिन्दुः इव) जैसे पानी पर डालने से तैल की बूंद चारों ओर फैल जाती है ऐसे (लोके विस्तीर्यते) सम्पूर्ण जगत् में फैल जाता है ॥ ३३ ॥

अनुशीलन : काटने के बाद खेत में पड़ी बालियों को 'शिल' कहते हैं और पड़े रह गये दानों को 'उञ्छ' कहते हैं। 'शिल-उञ्छ से जीना' यह एक मुहावरा है, जिसका अभिप्राय धन या ऐश्वर्यहीन होना है। न्यायानुसार चलने वाला स्वल्प धन-सम्पत्ति वाला राजा भी यश पाता है। ७। १४८ में भी इसी भाव को एक मुहावरे के द्वारा व्यक्त किया है।

न्यायविरुद्ध आचरण से यशनाश—

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥ (२२)

(अतः तु विपरीतस्य) इस व्यवहार से विपरीत चलने वाले अर्थात् न्याय और सावधानीपूर्वक दण्ड का व्यवहार न करने वाले (अजितात्मनः नृपतेः) अजितेन्द्रिय राजा का (यशः) यश (अम्भसि घृतबिन्दुः+इव) जल में पड़े घी के समान (लोके संक्षिप्यते) लोक में कम होता जाता है ॥ ३४ ॥

राजा की उत्पत्ति नामक विषय का उपसंहार—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥ (२३)

(स्वे स्वे धर्मे निविष्टानाम्) अपने-अपने धर्मों में संलग्न (अनुपूर्वशः सर्वेषां वर्णानां च आश्रमाणाम्) क्रमशः सब वर्णों और आश्रमों का (राजा अभिरक्षिता सृष्टः) राजा को 'सुरक्षा करने वाले के रूप में' बनाया है अर्थात् राजा के पद पर आसीन व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सब वर्णस्थ और आश्रमस्थ व्यक्तियों को उनके धर्मों में प्रवृत्त रखे। समाज को धर्म अर्थात् नियम-व्यवस्था में चलाने के लिए ही राजा और राज्य की सृष्टि होती है ॥ ३५ ॥

अनुशीलन : राजा वर्णाश्रम धर्मों का रक्षक होना चाहिये—मनु के श्लोक में वर्णित मान्यता को यथावत् ग्रहण करते हुए कौटिल्य ने भी 'वर्ण-आश्रम-धर्मों और मर्यादाओं की रक्षा करना' राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बतलाया है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्मप्रवर्त्तकः ॥ [अ० ५६-५७। अ० १]

राजा की जीवनचर्या और भृत्यों आदि की नियुक्ति सम्बन्धी विधान—

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥ (२४)

(तेन) उस राजा को (सभृत्येन) अपने अमात्य, मन्त्री आदि सहायकों सहित (प्रजाः रक्षता) प्रजाओं की रक्षा करते हुए (यत्-यत् कर्त्तव्यम्) जो-जो जैसा करना चाहिए (तत्-तत्) उस उसको (अनुपूर्वशः) क्रमशः (यथावत् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहूंगा— ॥ ३६ ॥

अनुशीलन : भृत्य से अभिप्राय—राजा की ओर से भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले सभी व्यक्ति भृत्य होते हैं। **'भृत्यः=बिभर्तेः भृ-धातोः क्यप् तक् च'**। इस प्रकार अमात्यों, मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवक तक सभी कर्मचारी भृत्यवर्ग में आते हैं, द्रष्टव्य ७। २२६ श्लोक। अग्रिम सम्पूर्ण प्रसंग, जिसमें अमात्यों-मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवकादि की नियुक्ति का विधान है, भी इसी अर्थ का द्योतक है। इस विषय में ७। २२६ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

राजा वेदवेत्ता आचार्यों की मर्यादा में रहे—

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥ (२५)

(पार्थिवः) राजा (प्रातः+उत्थाय) सवेरे उठकर [७। १४५ में वर्णित दिनचर्या को सम्पन्न करने के बाद] (त्रैविद्यवृद्धान् विदुषः ब्राह्मणान्) ऋक्, साम, यजु रूप त्रयीविद्या [१। २३ ॥ ११। २६४ ॥] में बढ़े-चढ़े

अर्थात् पारंगत आचार्य, ऋत्विज् आदि [७।४३॥७।७८] विद्वान् ब्राह्मणों की (परि+उपासीत) अभिवादन आदि से सत्कार एवं शिक्षा के लिए संगति करे (च) और (तेषाम्) उन शिक्षक विद्वानों के (शासने तिष्ठेत्) निर्देशन और मर्यादा में अपना जीवन रखे ॥ ३७ ॥

अनुशीलन : **राजा की जीवनचर्या और दिनचर्या**—(१) राजा के सम्पूर्ण जीवन के लिए जो विधान हैं वे जीवनचर्या के अन्तर्गत आते हैं। ये विधान दैनन्दिन न होकर जीवन में आवश्यकतानुसार पालन किये जाते हैं। इस ७।३७ श्लोक से लेकर ६।३२५ तक इनका वर्णन है। ७।१४५-२२६ तक राजा की दैनिकचर्या का वर्णन है, जो विषय की दृष्टि से जीवनचर्या के अन्तर्गत आ जाती है [द्रष्टव्य ७।१४५ की समीक्षा]। वहां प्रतिदिन पालनीय कर्त्तव्य विहित हैं।

(२) **श्लोकार्थ पर विचार**—यहां यह विधान जीवनचर्या की दृष्टि से किया गया है। अतः इसी दृष्टि से प्रातः विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करने का कथन है। किन्तु इसकी व्याख्या ७।१४५ की सहायता से पूर्ण होगी। वहां प्रथम पहर में उठकर पहले राजा को सन्ध्या, अग्निहोत्रादि आवश्यक दिनचर्या करने का विधान है, पुनः विद्वानों की सङ्गति का कथन है। इस प्रकार यहां उस श्लोक के अनुसार अर्थ लगाया गया है, जो मनुसम्मत है।

(३) **राजा की जीवनचर्या और कौटिलीय अर्थशास्त्र**—यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र में अन्य शास्त्रों के सार ग्रहण के साथ-साथ स्वतन्त्र चिन्तन भी है, किन्तु उसमें वर्णित राजा की जीवनचर्या और वर्णनक्रम का प्रमुख आधार मनु का शास्त्र रहा है। उसमें प्रथम प्रकरण के प्रथम तीन अध्यायों में वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन और दण्ड की महिमा का कथन है। पुनः राजा की जीवनचर्या आदि का मनुस्मृति क्रम से उल्लेख है। वहां राजा की जीवनचर्या का कथन करते हुए कौटिल्य ने इन बातों पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—"**वृद्धसंयोगेन प्रज्ञाम्**" [प्र० ३। अ० ६]।

"**मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः।**

[प्र० ३। अ० ६]

"**पुरोहितम्……कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः, पितरं पुत्रो, भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत**" [प्र० ४। अ० ८]।

अर्थात् विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। आचार्य आदि गुरुजन और अमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को गलत कामों से रोकते रहें। जैसे आचार्य के निर्देशन में शिष्य, पिता के निर्देशन में पुत्र, स्वामी के निर्देशन में भृत्य चलता है, उसी प्रकार अपने ऋत्विक् के निर्देशन में राजा चले।

राजा शिक्षक वेदवेत्ताओं का आदर-सत्कार करे—

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।

वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥ (२६)

(च) और उन (शुचीन्) शुद्ध हृदयवाले (वेदविदः) वेद के ज्ञाता (वृद्धान् विप्रान्) ज्ञानतपस्या में बढ़े-चढ़े ब्राह्मणों की (नित्यं सेवेत) प्रतिदिन सेवा अर्थात् आदर-सत्कार करे (हि) क्योंकि (सततं वृद्धसेवी) सदैव ज्ञान आदि से बढ़े-चढ़े विद्वानों को सेवा करने वाला राजा (रक्षोभिः+अपि पूज्यते) राक्षसों द्वारा भी पूजा जाता है। अर्थात् मर्यादाओं-व्यवस्थाओं को भंग करने वाले पापकर्मकारी राक्षस भी उस राजा से भयभीत होकर वश में रहते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है! वे तो स्वतः वशीभूत रहेंगे । ३८ ॥

राजा वेदवेत्ताओं से अनुशासन की शिक्षा ले—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥ (२७)

(विनीत+आत्मा+अपि) विनयी अर्थात् अनुशासन-मर्यादाओं में रहने के स्वभाव वाला होते हुए भी राजा (तेभ्यः) उन [७ । ३७-३८] वेदवेत्ता गुरुजनों से (नित्यशः) प्रतिदिन (विनयम् अधिगच्छेत्) अनुशासन और मर्यादा की शिक्षा ग्रहण करे (हि) क्योंकि (विनीत+आत्मा नृपतिः) अनुशासन में रहने के स्वभाव वाला राजा (कर्हिचित् न विनश्यति) [स्वच्छन्द या उद्धत होकर अनर्थकारी कार्य न करने के कारण] कभी विनाश को प्राप्त नहीं करता ॥ ३९ ॥

अनुशीलन : राजा के अनुशासन-विषय में कौटिल्य का मत—
आचार्य कौटिल्य ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

(क) **"विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः ।**
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः ॥" [प्र० २ । अ० ४]

अर्थात्-विद्यावान् और अनुशासन-मर्यादा में रहने वाला तथा प्रजाओं के हित में तत्पर राजा ही सम्पूर्ण पृथिवी का उपभोग करता है।

(ख) **"इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः । विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ।**
वृद्धोपसेवाया विज्ञानम् ।" [चाण० सू० ५-७]

=इन्द्रियजय का मूल विनय अर्थात् अनुशासनबद्ध रहना है। अनुशासन का मूल वृद्धों की संगति और सेवा है और वृद्ध=पारंगत विद्वानों की संगति का मूल विशिष्ट ज्ञानार्जन करना है।

(ग) "अविनीतस्वामिलाभात् अस्वामिलाभः श्रेयान् ।" [चा० सू० १४]

=विनयहीन=अनुशासन या मर्यादा में न रहने के स्वभाव वाले राजा की प्राप्ति की अपेक्षा राजा का न होना ही श्रेयस्कर है।

राजा विद्वानों से विद्याएं ग्रहण करे—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥४३॥(२८)

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे (त्रैविद्येभ्यः) चारों वेदों की कर्म, उपासना, ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से (त्रयीविद्याम्) तीनों विद्या (शाश्वतीं दण्डनीतिम्) सनातन दण्डनीति (आन्वीक्षिकीम्) न्यायविद्या (आत्मविद्याम्) आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या (च) और (लोकतः वार्त्तारम्भान्) लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (कहना और सुनना) सीख-कर—सभासद् या सभापति हो सकें ॥ ४३ ॥ (स० प्र० १४४)

अनुशीलन : (१) **विद्याग्रहण के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार—** कौटिल्य ने इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

(क) "**वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यः, वार्त्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञाया योगो, योगादात्मवत्तेति विद्या-सामर्थ्यम् ।**" [कौ० अर्थ० प्र० २ । अ० ४]

=उपनयन के पश्चात् राजा शिष्ट [मनु० १२ । १०९] अर्थात् सदाचारी वेद-वेत्ताओं से त्रयीविद्या और न्यायविद्या को सीखे। विविध विभागीय अध्यक्षों से व्यापार और वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों से दण्डनीति सीखे। क्योंकि शास्त्रादि श्रवण से बुद्धि का विकास होता है। उससे योग में रुचि और योग से आत्मबल प्राप्त होता है। यही विद्या का सुपरिणाम है।

(ख) "**वृद्धसेवाया विज्ञानम् । विज्ञानेन आत्मानं सम्पादयेत् । सम्पादितात्मा जितात्मा भवति ।**" [चाण० सू० ८-९]

=वेदवेत्ता विद्वानों से विशेष विद्याज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करे। आत्मोन्नति से सम्पन्न ही जितेन्द्रिय हो सकता है।

(२) त्रयीविद्या सम्बन्धी विशेष विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य हैं १ । २३ ॥ ११ । २६४ श्लोक और उनकी समीक्षा।

जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में रख सकता है—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४४॥ (२६)

जब सभासद् और सभापति (इन्द्रियाणां जये समातिष्ठेत्) इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटें-हटाए रहें, इसलिए (दिवानिशं योगम्) रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें (हि) क्योंकि (जितेन्द्रियः) जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों—जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इसको जीते बिना (प्रजाः वशे स्थापयितुं शक्नोति) बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥ (स० प्र० १४४)

अनुशीलन : **कौटिल्य द्वारा इन्द्रियजय पर प्रकाश**=मनु ने इन्द्रिय-जय अर्थात् जितेन्द्रियता को ही प्रधान रूप से राज्यवशीकरण का गुण माना है। राजा की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासनाभ्यास आदि सभी बातों का उद्देश्य इन्द्रियजय होता ही है। इन सबका परस्पर सम्बन्ध है, जैसा कि श्लोक ३७, ३९, ४३ में और उनकी समीक्षा में दिखाया जा चुका है। कौटिल्य ने भी मनु के अनुसार इन्द्रियजय को सर्व-प्रमुख महत्त्व दिया है और अपने अर्थशास्त्र तथा सूत्र ग्रन्थ में प्रकाश डाला है—

(क) "**विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः। कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः। शास्त्रानुष्ठानं वा कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।**" [कौ० अर्थ० प्र० ३। अ० ५]

"**जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते।**" [चा० सू० १०]

अर्थात्—विद्या और विनय का हेतु=उद्देश्य इन्द्रियजय है। अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका को उनके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है। अथवा संक्षेप में शास्त्रों में प्रतिपादित कर्त्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं। सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्रविहित कर्त्तव्यों के विपरीत आचरण करने वाला इन्द्रियलोलुप राजा सारी पृथिवी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र विनष्ट हो जाता है। जितेन्द्रिय राजा ही समस्त समृद्धियों को प्राप्त करता है।

(२) इन्द्रियजय का मनुप्रोक्त लक्षण २।७३ [२। ९८] में देखिए।

वेद में भी स्पष्ट कहा है कि राजा जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर ही

तपस्या से राष्ट्र की रक्षा कर सकता है—प्रजाओं को वश में कर सकता है। मनु ने उसी भाव को इस श्लोक में ग्रहण किया है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति॥" अथर्व० ११।५।४॥

व्यसनों की गणना—

दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ ४५॥ (३०)

दृढ़ोत्साही होकर (दश कामसमुत्थानि च अष्टौ क्रोधजानि) जो काम से दश [७।४७] और क्रोध से आठ [७।४८] (व्यसनानि) दुष्ट व्यसन (दुरन्तानि) कि जिनमें फंसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके उनको (यत्नेन विवर्जयेत्) प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे॥ ४५॥
(स० प्र० १४४)

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥ ४६॥ (३१)

(हि) क्योंकि (महीपतिः) जो राजा (कामजेषु प्रसक्तः) काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फंसता है (अर्थ-धर्माभ्यां वियुज्यते) वह अर्थ अर्थात् राज्य-धन-आदि और धर्म से रहित हो जाता है। (तु) और (क्रोधजेषु) जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फंसता है (आत्मना एव) वह शरीर से भी रहित हो जाता है॥ ४६॥ (स० प्र० १४४)

दश कामज व्यसन—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ ४७॥ (३२)

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं········(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (अक्षः) अक्ष अर्थात् चोपड़ खेलना, जूआ खेलना आदि (दिवास्वप्नः) दिन में सोना (परिवादः) काम कथा वा दूसरों की निंदा किया करना (स्त्रियः) स्त्रियों का अतिसंग (मदः) मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन (तौर्य-त्रिकम्) गाना, बजाना, नाचना व नाच कराना सुनना और देखना [ये तीन बातें] (वृथाट्या) वृथा इधर-उधर घूमते रहना (दशक कामजः गणः) ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं॥ ४७॥ (स० प्र० १४४)

अनुशीलन : 'तौर्यत्रिकम्', 'मृगया', 'स्त्रियः' शब्दों पर विशेष

विचार—(१) तूर्य=तुरही या वाद्य को कहते हैं, त्रिकम्—नाचना, गाना, बजाना इन तीन क्रियाओं के समूह को कहा जाता है। इस प्रकार तौर्यत्रिकम् का अर्थ 'वाद्यों के साथ नाचना, गाना, बजाना' होता है। (२) 'स्त्रियाः' बहुवचन [७।५० में भी] के प्रयोग से मनु अपनी उस मान्यता की ओर संकेत तथा उसकी पुष्टि कररहे हैं कि राजा को भी एक से अधिक स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए। एक ही स्त्री से विवाह करना चाहिए। (३) (**"मृगं याति अनया सा मृगया, घञर्थे कः"**) पशुओं का पीछा करना अर्थात् शिकार करने की क्रिया।

क्रोधज आठ व्यसन—

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ४८॥ (३३)

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं—(पैशुन्यम्) पैशुन्य अर्थात् चुगली करना (साहसम्) बिना विचारे बलात्कार से किसी स्त्री से बुरा काम करना (द्रोहः) द्रोह रखना (ईर्ष्या) ईर्ष्या अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना (असूया) असूया—दोषों में गुण गुणों में दोषारोपण करना (अर्थदूषणम्) अर्थदूषण अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धन आदि का व्यय करना (वाग् दण्डजम्) कठोर वचन बोलना और विना अपराध का कड़ा वचन (च) वा (पारुष्यम्) विशेष दण्ड देना (अष्टकः-क्रोधजः+अपि गणः) ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं॥ ४८॥

(स० प्र० १४४)

सभी व्यसनों का मूल लोभ—

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥४९॥ (३४)

और (एतयोः द्वयोः+अपि मूलं यं लोभम्) जो इन कामज और क्रोधज अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को (सर्वे कवयः विदुः) सब विद्वान् लोग जानते हैं (तं यत्नेन जयेत्) उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि (तत्+जौ+एतौ+उभौ गणौ) लोभ हीं से पूर्वोक्त अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं॥४९॥ (सं०वि०१५३)

"जो सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े"। (स० प्र० १४५)

कामज और क्रोधज व्यसनों में अधिक कष्टदायक व्यसन—

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥ (३५)

(कामजे गणे) काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण, एक (पानम्) मद्य आदि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा—(अक्षाः) पासों आदि से जूआ खेलना, तीसरा—(स्त्रियः एव) स्त्रियों का विशेष सङ्ग, चौथा—(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (एतत्) ये ꙮ(चतुष्कं कष्टतमं विद्यात्) चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥ ५० ॥ (स० प्र० १४५)

ꙮ (यथाक्रमम्) क्रम से पूर्व-पूर्व के अधिकाधिक·········

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥ (३६)

(च) और (क्रोधजे+अपि गणे) क्रोधजों में (दण्डस्य पातनम्) बिना अपराध दण्ड देना (वाक् पारुष्य+अर्थदूषणे) कठोर वचन बोलना और धन आदि का अन्याय में खर्च करना (एतत्-त्रिकं सदा कष्टं) ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं+॥ ५१ ॥ (स० प्र० १४५)
+ (विद्यात्) ऐसा जाने ।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥ (३७)

(अस्य सप्तकस्य वर्गस्य) इस [५०-५१ में वर्णित] सात प्रकार के दुर्गुणों के वर्ग में (सर्वत्र+एव+अनुषङ्गिणः) जो सब स्थानों पर सब मनुष्यों में पाये जाते हैं (आत्मवान्) आत्मा की उन्नति चाहने वाला राजा (पूर्वं पूर्वं व्यसनं गुरुतरं विद्यात्) पहले-पहले व्यसन को अधिक कष्टप्रद समझे ॥ ५२ ॥

"जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दंड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जूआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है" ॥ (स० प्र० १४५)

व्यसन मृत्यु से भी अधिक कष्टदायी—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥ (३८)

(व्यसनस्य च मृत्योः च) व्यसन और मृत्यु में (व्यसनं कष्टम्+उच्यते) व्यसन को ही अधिक कष्टदायक कहा गया है, क्योंकि (व्यसनी) व्यसन में फंसा रहने वाला व्यक्ति (अधः अधः याति) दिन-प्रतिदिन दुर्गुणों और कष्टों में गिरता ही जाता है या अवनति को ही प्राप्त होता जाता है, किन्तु (अव्यसनी) व्यसन से रहित व्यक्ति (मृतः) मरकर भी (स्वर्याति) स्वर्ग=सुख को प्राप्त करता है अर्थात् उसे परजन्म में सुख मिलता है ।।५३।।

"इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फंसने से मर जाना अच्छा है क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायेगा और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा वह मर भी जायेगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा । इसलिए विशेष राजा को और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपान आदि दुष्टकामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त, गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें" (स० प्र० १४६)

मन्त्रियों की नियुक्ति—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।।५४।।(३९)

(मौलान्) स्वराज्य-स्वदेश में उत्पन्न हुए (शास्त्रविदः) वेदादि शास्त्रों के जानने वाले (शूरान्) शूरवीर (लब्धलक्षान्) जिनके लक्ष्य और विचार निष्फल न हों, और (कुलोद्गतान्) कुलीन (परीक्षितान्) अच्छे प्रकार सुपरीक्षित (सप्त वा अष्टौ) सात वा आठ (सचिवान्) उत्तम, धार्मिक, चतुर मन्त्री (प्रकुर्वीत) करे ।। ५४ ।। (स० प्र० १४६)

"और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने हारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों, उन सात या आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे; और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो । ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें" । (सं० वि० १५४)

"अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए, वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता, सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखने चाहिएँ" । (पू० प्र० १११)

अनुशीलन : नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की परीक्षा विधि—नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की दृढ़ परीक्षा करनी चाहिए। अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने परीक्षा की प्रकट और गुप्त विधियां बतायी हैं—

(क) **प्रकटविधि**—नियुक्ति से पूर्व राजा प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्तपुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान और उनकी आर्थिक स्थिति की जानकारी करे। सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रीय प्रतिभा की; नये-नये कार्य सौंपकर उनकी बुद्धि, स्मृति और चतुरता की, व्याख्यानों एवं सभाओं द्वारा उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता और प्रतिभा की; आपत्ति प्रस्तुत करके उनके उत्साह, प्रभाव और सहनशक्ति की; व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति की; सहवासियों एवं पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति की जानकारी करे। उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित स्वभाव की परीक्षा राजा स्वयं करे।

[कौ० अर्थ० प्र० ४। अ०८]꙳

(ख) **गुप्तविधि**—(१) धर्मोपधा—गुप्त धार्मिक उपायों से अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करना। (२) अर्थोपधा—गुप्त आर्थिक लोभ की बातों से, (३) कामोपधा—गुप्त कामसम्बन्धी आकर्षणों से, (४) भयोपधा—गुप्त भय आदि प्रदर्शित करके अमात्यों के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करे।

गुप्तचरों द्वारा इतनी परीक्षाएं करने के पश्चात् ही उस व्यक्ति को यथायोग्य अमात्य कार्य पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि धर्मपरीक्षा में पवित्र सिद्ध अमात्यों को न्यायालय में, अर्थपरीक्षा में पवित्र को करसंग्रह और कोषसंरक्षण में, कामपरीक्षा में पवित्र को अन्तः-पुर और विलासस्थानों में, तथा भयपरीक्षा में पवित्र को अङ्गरक्षक के रूप में नियुक्त करना चाहिए [कौ० अर्थ० प्र० ५। अ० ६]। ꙳

꙳ "तेषां जनपदमवग्रहं चाप्यतः परीक्षेत। समानविद्येभ्यः शिल्पं, शास्त्र-चक्षुष्मत्तां च, कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च, कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं च, आपद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहत्वं च, संव्यवहाराच्छौचं मैत्रतां दृढ-भक्तित्वं च, संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्त्वयोगम्–अस्तम्भम्–अचापल्यं च, प्रत्यक्षतः संप्रियत्वम्-अवैरित्वं च।" [प्र० ४। अ० ८]

꙳ "मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वा अमात्यानुपधाभिः शोधयेत्। ·········तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधा-शुद्धान् समाहर्तृ-सन्निधातृ-निचयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धान् आसन्नकार्येषु राज्ञः। सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्। सर्वत्राशुचीन् खनिद्रव्यहस्तिवनकर्मान्तेषूपयोजयेत्।"

राजा को सहायकों की आवश्यकता में कारण—

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ (४०)

(अपि) क्योंकि (विशेषतः+असहायेन) विशेष सहाय के बिना (यत् सुकरं कर्म) जो सुगम कर्म है (तत्+अपि) वह भी (एकेन दुष्करम्) एक के करने में कठिन हो जाता है (किन्तु) जब ऐसा है तो (महोदयं राज्यम्) महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य को निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥ ५५ ॥ (स० प्र० १४६)

"क्योंकि सहायता बिना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता हैं ? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमत्ता नहीं है"। (पू० प्र० १११)

मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे—

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥ (४१)

इससे सभापति को उचित है कि (नित्यम्) नित्यप्रति (तैः सार्धम्) उन [७ । ५४] राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ (सामान्यम्) सामान्य करके किसी से (सन्धि-विग्रहम्) सन्धि=मित्रता, किसी से विग्रह= विरोध, (स्थानम्) स्थित समय को देखकर के चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना (गुप्तिम्) मूल राज, सेना, कोश आदि की रक्षा (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हों उस-उस में शान्ति-स्थापना, उपद्रव-रहित करना (चिन्तयेत्) इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ॥ ५६ ॥ (स० प्र० १४६)

"महाराजा को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करे—१. मित्र, २. शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किये हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना"।

(पू० प्र० १११)

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥ (४२)

(तेषाम्) उन सभासदों का (पृथक्-पृथक् स्वं स्वम्+अभिप्रायम् उपलभ्य) पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर (समस्तानां कार्येषु) सभी के द्वारा कथित कार्यों में (आत्मनः हितम्) जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो (विदध्यात्) वह करने लगना* ॥ ५७ ॥ (स० प्र० १४७) (पूना० प्र १११ पर भी)

* अर्थात्—वही कार्य करे ।

आवश्यकतानुसार अन्य अमात्यों की नियुक्ति—

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥ (४३)

[आवश्यकता पड़ने पर] (अन्यान् अपि) अन्य भी (शुचीन्) पवित्रात्मा (प्राज्ञान्) बुद्धिमान् (अवस्थितान्) निश्चित बुद्धि (सम्यक्-अर्थ-समाहर्तॄन्) पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर (सुपरीक्षितान्) सुपरीक्षित (अमात्यान् प्रकुर्वीत) मन्त्री करे ॥ ६० ॥ (स० प्र० १४७)

"इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके उतने ही पवित्र, धार्मिक विद्वान् चतुर, स्थिर बुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे ।" (सं० वि० १५४)

निवर्ततास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ (४४)

* (यावद्भिः नृभिः इतिकर्त्तव्यता निवर्तेत) जितने मनुष्यों से कार्य्य सिद्ध हो सके (तावतः) उतने (अतन्द्रितान्) आलस्यरहित (दक्षान्) वलवान् और (विचक्षणान्) बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को (प्रकुर्वीत) अधिकारी अर्थात् नौकर करे ॥ ६१ ॥ (स० प्र० १४७)

* (अस्य) इस राजा का············

अनुशीलन : **'इतिकर्त्तव्यता' का अभिप्राय**—यहां 'इति' शब्द 'अथ' का विपरीतार्थक है । इसका अर्थ है 'पूर्णता' या 'समाप्ति' । इस प्रकार 'इतिकर्त्तव्यता' का अर्थ हुआ—'सभी राज्यकार्यों की पूर्णता' । जितने भी अमात्यों या अधिकारियों से राज्यसंचालन के कार्य पूर्णरूप से सम्पन्न हो सकें, उतनों की राजा नियुक्ति करले । पुनः उनके अधीन अन्य सहयोगी अधिकारियों, भृत्यों की नियुक्ति करें । यह अगले श्लोक में **'तेषामर्थे'** पद से उक्त है । अगले श्लोक की इससे वाक्यगत संगति है ।

अमात्यों के सहयोगी अधिकारियों की नियुक्ति—

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥ (४५)

[५४-६१ में वर्णित] (तेषाम्+अर्थे) इनके अधीन (शूरान्) शूरवीर (दक्षान्) बलवान् (कुलोद्गतान्) कुलोत्पन्न (शुचीन्) पवित्र भृत्यों को (आकरकर्मान्ते) बड़े-बड़े कर्मों में, और (भीरून्+अन्तर्निवेशने) भीरू= डरने वालों को भीतर के कर्मों में (नियुञ्जीत) नियुक्त करे ॥ ६२ ॥
(स० प्र० १४७)

प्रधान दूत की नियुक्ति—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥ (४६)

(कुलोद्गतम्) जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न (दक्षम्) चतुर (शुचिम्) पवित्र (इङ्गित+आकार+चेष्टज्ञम्) हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा (सर्वशास्त्रविशारदम्) सब शास्त्रों में विशारद चतुर है (दूतम् एव प्रकुर्वीत) उस दूत को रक्खे ॥ ६३ ॥
(स० प्र० १४७)

"तथा जो सब शास्त्र में निपुण नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जानने हारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश, काल जाननेहारा, सुन्दर, जिसका स्वरूप बड़ा, वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देने हारे अन्य दूतों को भी नियत करे।" (सं० वि० १५४)

श्रेष्ठ दूत के लक्षण—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥ (४७)

वह ऐसा हो कि (अनुरक्तः) राज-काम में अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त (शुचिः) निष्कपटी, पवित्रात्मा (दक्षः) चतुर (स्मृतिमान्) बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला (देशकालवित्) देश और कालानुकूल वर्तमान का कर्त्ता (वपुष्मान्) सुन्दररूपयुक्त (वीतभीः) निर्भय, और (वाग्मी) बड़ा वक्ता (राज्ञः दूतः प्रशस्यते) वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥ ६४ ॥
(स० प्र० १४७)

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥ (४८)

(अमात्ये दण्डः) अमात्य को दण्डाधिकार (दण्डे वैनयिकी क्रिया) दण्ड में विनय=अनुशासित क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे (नृपतौ कोशराष्ट्रे) राजा के अधीन कोश और राष्ट्र (च) तथा सभा के अधीन सब कार्य, और (दूते संधिविपर्ययौ) दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करना (आयत्तः) अधिकार देवे ॥ ६५ ॥ (स० प्र० १४८)

अनुशीलन : राजा और अमात्यों के कार्यों का विभाजन—राजा को राष्ट्र और राष्ट्रीय स्तर के कार्यविभाग सेना तथा कोश=खजाना आदि अपने सीधे नियन्त्रण में रखने चाहिएं। अमात्यों को दण्ड-न्याय आदि का अधिकार सौंप देवे और दण्डाधिकारियों को अनुशासन बनाये रखने या शिक्षा व्यवस्था आदि का अधिकार सौंपे। दूत के अधीन संधि और विरोध आदि की नीतियों का निर्धारण होना चाहिए। ये प्रधान अमात्य अपने-अपने विभागों का संचालन करें और राजा से सम्पर्क रखें। इस प्रकार कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है।

दूत के कार्य—

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥ (४९)

(हि) क्योंकि (दूतः एव) दूत ही ऐसा व्यक्ति होता है जो (संधत्ते) शत्रु और अपने राजा का मेल करा देता है (च) और (संहतान् भिनत्ति+एव) मिले हुए शत्रुओं में फूट भी डाल देता है (दूतः तत् कर्म कुरुते) दूत वह काम कर देता है (येन मानवाः भिद्यन्ते) जिससे शत्रुओं के लोगो में भी फूट पड़ जाती है ॥ ६६ ॥

"दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे, दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े।" (स० प्र० १४८)

अनुशीलन : कौटिल्य के अनुसार दूत के कार्य—आचार्य कौटिल्य ने विस्तार से दूत के कार्यों का वर्णन किया है—

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।
समाधिमोक्षः दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥ [प्र० ११ । अ० १५]

अर्थात्—अपने राजा का संदेश दूसरे राजा के पास ले जाना और उसको

लाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, अपने राजा के प्रताप को बनाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के पक्ष के पुरुषों को फोड़ना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख करना, कार्यरत अपने गुप्तचरों अथवा सैनिकों को आपत्ति से पूर्व निकाल लाना, शत्रु के बांधवों और रत्न आदि का अपहरण, शत्रुदेश में कार्यरत अपने गुप्तचरों के कार्य का निरीक्षण, समय पड़ने पर पराक्रम दिखाना, बन्धक रखे शत्रुबान्धवों को शर्त के आधार पर छोड़ना, दोनों राजाओं की भेंट आदि कराना, दूत के कार्य हैं ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥ (५०)

(सः) वह दूत (अस्य) शत्रु-राजा के (कृत्येषु) असंतुष्ट या विरोधी लोगों में (च) और (भृत्येषु) राजकर्मचारियों में (निगूढ+इङ्गित+चेष्टितैः) गुप्त संकेतों एवं चेष्टाओं से (आकारम्) शत्रु राजा के आकार=भाव (इङ्गितम्) संकेत=हाव (चेष्टाम्) चेष्टा=प्रयत्न को तथा (चिकीर्षितम्) उसके अभिलषित कार्य, उसकी इच्छाओं को (विद्यात्) जाने ॥ ६७ ॥

अनुशीलन : (१) **कृत्य शब्द का राजनीतिपरक अर्थ**—यहां 'कृत्य' शब्द राजनैतिक योगरूढ़ि है। 'कृत्य' उन लोगों को कहते हैं जो, धन, स्त्री, सम्पत्ति आदि के लोभ से अपने पक्ष में किये जा सकते हैं। कौटिल्य अर्थ शास्त्र में इनके चार भेद बतलाये हैं—

क्रुद्धलुब्धभीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः । [कौ० अर्थ० प्र० ८।अ० १२]

शत्रु-राज्य के जो व्यक्ति अपने राजा पर क्रोध रखते हैं वे 'क्रुद्धकृत्य', जो लालची स्वभाव के हैं वे 'लुब्धकृत्य', जो डर के कारण दबे रहते हैं वे 'भीतकृत्य', और जो राजा से अपमानित किये गये हैं वे 'अपमानितकृत्य' कहलाते हैं। दूत का यह कर्म है कि उपर्युक्त लुब्ध और क्षुब्ध व्यक्तियों और कर्मचारियों से शत्रु राजा के गुप्त रहस्यों को जाने।

(२) **इङ्गित और आकार का अर्थ—'इंगितमन्यथावृत्तिः । आकृतिग्रहणमाकारः ।''** [कौ० अर्थ० प्र० १० । अ० १४]=स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएं 'इगित' कहलाती हैं। चेष्टाओं को प्रकट करने वाले अंगों की आकृति 'आकार' कहलाती है।

बुद्ध्वा सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥ (५१)

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि (तत्त्वेन) यथार्थ से (परराजचिकिर्षितम्) दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय (बुद्ध्वा)

जानकर (तथा प्रयत्नम्+आतिष्ठेत्) वैसा यत्न करे (यथा) कि जिससे (आत्मानं न पीडयेत्) अपने को पीड़ा न हो ॥ ६८ ॥ (स० प्र० १४८)

राजा के निवास-योग्य देश—

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥ (५२)

राजा (जाङ्गलम्) जांगल प्रदेश=जहां उपयुक्त पानी बरसता हो, बाढ़ न आती हो, खुली हवा और सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, धान्य आदि बहुत उत्पन्न होता हो (सस्यसंपन्नम्) हरा-भरा (आर्यप्रायम्) श्रेष्ठ लोगों का बाहुल्य (अनाविलम्) रोगरहित (रम्यम्) रमणीय (आनतसामन्तम्) विनम्रता का व्यवहार करने वाले निवासी (सु+आजीव्यम्) अच्छी आजीविकाओं से जो सम्पन्न हो (देशम्+आवसेत्) ऐसे देश में निवासस्थान करे ॥ ६९ ॥

छः प्रकार के दुर्ग—

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥ (५३)

(धन्वदुर्गम्) धन्वदुर्ग—मरुस्थल में बना किला जहां मरुभूमि के कारण जाना दुर्गम हो (महीदुर्गम्) महीदुर्ग—पृथिवी के अन्दर तहखाने या गुफा के रूप में बना किला या मिट्टी की बड़ी-बड़ी मेढों से घिरा हुआ (अप्+दुर्गम्) जलदुर्ग—जिसके चारों ओर पानी हो (वा) अथवा (वार्क्षम्) वृक्षदुर्ग—जो घने वृक्षों के वन से घिरा हो (नृदुर्गम्) नृदुर्ग—जो सेना से घिरा रहे, जिसके चारों ओर सेना का निवास हो (वा) अथवा (गिरिदुर्गम्) गिरिदुर्ग—पहाड़ के ऊपर बनाया पहाड़ों से घिरा किला (समाश्रित्य) बनाकर और उसका आश्रय करके (पुरं वसेत्) अपने निवास में रहे ॥७०॥

महर्षि दयानन्द ने 'धन्वदुर्गम्' के स्थान पर 'धनुर्दुर्गम्' पाठ लेकर इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

"इस लिए सुन्दर जंगल धन-धान्य युक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन (महीदुर्गम्) मट्टी से किया हुआ (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इस के मध्य में नगर बनावे ।" (स० प्र० १४८)

अनुशीलन **कौटिलीय अर्थशास्त्र में चार प्रकार के दुर्ग**—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र [illegible] केवल चार दुर्गों का ही उल्लेख किया है—

(१) औदक=जलदुर्ग, (२) पार्वत=गिरिदुर्ग, (३) धान्वन=धन्वदुर्ग, (४) वनदुर्ग=वृक्षदुर्ग।

पर्वतदुर्ग की श्रेष्ठता—

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ (५४)

राजा (सर्वेण तु प्रयत्नेन) सब प्रकार से प्रयत्न करके (गिरिदुर्गं समाश्रयेत्) 'पर्वतदुर्ग' का ही आश्रय करे—बनाकर रहे (हि) क्योंकि (बाहुगुण्येन) सब दुर्गों में अधिक विशेषताओं के कारण (गिरिदुर्गं विशिष्यते) पर्वतदुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः यह यत्न रखना चाहिए कि 'पर्वतदुर्ग' ही बन सके ॥ ७१ ॥

दुर्ग का महत्त्व—

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥ (५५)

(प्राकारास्थः) नगर के चारों ओर प्राकार=प्रकोटा बनावे क्योंकि उस में स्थित हुआ (एकः धनुर्धरः) एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष (शतम्) सौ के साथ, और (शतं दशसहस्राणि) सौ दश हजार के साथ (योधयति) युद्ध कर सकते हैं (तस्मात् दुर्गं विधीयते) इसलिए अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥ ७४ ॥ (स० प्र० १४८)

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ (५६)

(तत्) वह दुर्ग (आयुधः) शस्त्रास्त्र (धन-धान्येन वाहनैः) धन, धान्य, वाहन (ब्राह्मणैः) ब्राह्मण, जो पढ़ाने उपदेश करने हारे हों (शिल्पिभिः) कारीगर (यन्त्रैः) यन्त्र—नाना प्रकार की कला (यवसेन) चारा-घास (वा) और (उदकेन) जल आदि से (सम्पन्नं स्यात्) सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥ ७५ ॥ (स० प्र० १४८)

राजा का निवास-गृह—

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥ (५७)

(तस्य मध्ये) उसके मध्य में (जल-वृक्ष-समन्वितम्) जल, वृक्ष,-पुष्पादिक युक्त (गुप्तम्) सब प्रकार से रक्षित (सर्व+ऋतुकम्) सब ऋतुओं में सुखकारक (शुभ्रम्) श्वेतवर्ण (आत्मनः गृहम्) अपने लिए घर (सुपर्याप्तम्) जिसमें सब राजकार्य का निर्वाह हो वैसा (कारयेत्) बनवावे ॥ ७६ ॥ (स० प्र० १४८)

राजा के विवाहयोग्य भार्या—

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ (५८)

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के यहां तक राज-काम करके पश्चात्* (रूपगुण+अन्विताम्) सौन्दर्यरूप गुणयुक्त (हृद्याम्) हृदय को अति-प्रिय (महति कुले संभूताम्) बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न (लक्षण+अन्विताम्) सुन्दर लक्षणयुक्त (सवर्णां भार्याम् उद्वहेत्) अपने क्षत्रिय कुल की कन्या जो कि अपने सदृश विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे ॥ ७७ ॥ (स० प्र० १४६)

* (तत्+अध्यास्य) पूर्वोक्त राजभवन में निवास करके ......

पुरोहित का वरण एवं उसके कर्त्तव्य—

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥ (५९)

(पुरोहितं च ऋत्विजं वृणुयात् एव प्रकुर्वीत) पुरोहित और ऋत्विक् का स्वीकार इसलिए करे कि (ते) वे (गृह्याणि च वैतानिकानि अस्य कर्माणि कुर्युः) अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्मों को करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे ॥ ७८ ॥ (स० प्र० १४९)

अनुशीलन : वैतानिक और गृह्य कर्म—यहां 'वैतानिक' शब्द का अर्थ विस्तृत अर्थात् लम्बे समय तक चलने वाले 'यज्ञों' से और 'गृह्य कर्मों' से घर के धार्मिक अनुष्ठानों और दैनिक पञ्चमहायज्ञों से अभिप्राय है। ७९ में श्लोक में वैतानिक यज्ञों को स्पष्ट कर दिया है। राजा को समयानुसार पञ्चमहायज्ञों के अतिरिक्त बृहत् यज्ञों का आयोजन भी करते रहना चाहिए। इन कार्यों के लिए पुरोहित या ऋत्विक् का वरण किया जाता है। २। ११८ [२। १४३] में ऋत्विक् का लक्षण करते हुए भी इन सभी यज्ञों की गणना की है, वही भाव इस श्लोक में है।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥ (६०)

(राजा) राजा (आप्तदक्षिणैः विविधैः क्रतुभिः) बहुत दक्षिणा वाले अनेक यज्ञों को (यजेत) किया करे (च) तथा (धर्मार्थम्) धर्म के लिए (विप्रेभ्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (भोगान् च धनानि दद्यात्) भोग्य वस्तुओं एवं धनों का दान करे ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥ (६१)

+ (सांवत्सरिकं बलिम्) वार्षिक कर (आप्तैः आहारयेत्) आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे (च) और जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब (आम्नायपरः) सभा-वेदानुकूल होकर ❀ (नृषु पितृवत् वर्तेत) प्रजा के साथ पिता के समान वर्त्तें ॥ ८० ॥ (स० प्र० १५०)

+ (राष्ट्रात्) राष्ट्र अर्थात् राज्यवासियों से...............

❀ (लोके) राज्य में...............

अनुशीलन : आप्त और बलि का विशेष अर्थ—'आप्त' और 'बलि' परम्परागत शास्त्रीय शब्द हैं। शास्त्रों में बहुप्रयोग के आधार पर इनके अपने विशेष अर्थ रूढ़ हो गये हैं—

(१) 'आप्तः' शब्द 'आप्लृ व्याप्तौ' (स्वादि) धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। अपने विषय में पूर्णतः व्याप्त अर्थात् व्यापक और प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले धार्मिक व्यक्ति को 'आप्त' कहते हैं। राजा को प्रत्येक विभाग में मुख्य अधिकारी ऐसे आप्तपुरुष रखने चाहिएं।

(२) बलि का अर्थ होता है—अन्न या भोजन आदि से यज्ञार्थ निकाला गया शेष भाग=अंश। जैसे बलिवैश्वदेव यज्ञ में भोजन का कुछ अंश प्राणियों के लिए निकाल कर रखा जाता है। यहां, राजा जो अन्न के छठे भाग के रूप में प्रजाओं से कर लेता है उसे 'बलि' कहा गया है। कर के विभिन्न रूपों और उनके अन्तर को समझने के लिए देखिए ८। ३०७ पर अनुशीलन।

विविध विभागाध्यक्षों की नियुक्ति—

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥ (६२)

राजा (विविधान्) अनेक (विपश्चितः अध्यक्षान्) मेधावी, प्रतिभाशाली, योग्य विद्वान् अध्यक्षों को (तत्र तत्र) आवश्यकतानुसार विभिन्न विभागों में (कुर्यात्) नियुक्त करे (ते) वे विभागाध्यक्ष (अस्य) इस राजा के द्वारा नियुक्त (सर्वाणि) अन्य सब (कार्याणि कुर्वताम्) अपने अधीन कार्य करने वाले (नृणाम्) कर्मचारी लोगों का (अवेक्षेरन्) निरीक्षण किया करें ॥ ८१ ॥

"उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है—जितने-जितने, जिस-जिस काम के राजपुरुष होवें,

नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड दिया करे।"

(स० प्र० १५०)

अनुशीलन : (१) **कौटिल्य के अनुसार विभागाध्यक्ष—आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र प्र० २२। अ० ६ से ५२। ३४** तक अध्यक्षप्रचार नामक अधिकरण में योग्यता, शक्ति, और परीक्षानुसार अनेक विभागाध्यक्षों और उपविभागाध्यक्षों का विधान किया है। अध्यक्षों के पदों का विभाजन; विभाग और कार्यानुसार होना चाहिए। कौटिल्य द्वारा परिगणित कुछ अध्यक्ष निम्न हैं—

१. सेनाध्यक्ष = सम्पूर्ण सेनाओं का निरीक्षक, २. कोषाध्यक्ष = खजाने का अध्यक्ष, ३. आकराध्यक्ष = खानों का अध्यक्ष, ४. अक्षपटलाध्यक्ष = आय-व्यय का महा-निरीक्षक, ५. कोष्ठगाराध्यक्ष = कोठारी, ६. आयुधगाराध्यक्ष = युद्ध-सामग्री का अधिकारी, ७. पण्याध्यक्ष = बाजार का नियन्त्रक अधिकारी, ८. कुप्याध्यक्ष = वन की वस्तुओं का अध्यक्ष, ९. स्वर्णाध्यक्ष = सोने-चांदी का अध्यक्ष, १०. लोहाध्यक्ष = लोहा आदि धातुओं का अध्यक्ष, ११. सीताध्यक्ष = कृषि विभाग या कर के रूप में एकत्रित धान्य का अध्यक्ष, १२. शुल्काध्यक्ष = चुंगी का अधिकारी, १३. पौतवाध्यक्ष = तोल-माप का नियन्त्रक अधिकारी, १४. मानाध्यक्ष = देश-काल के मानों का नियन्त्रक, १५. सूत्राध्यक्ष = वस्त्र या सूत व्यवसाय का अध्यक्ष, १६. सूनाध्यक्ष = वधस्थान का अधिकारी, १७. नगराध्यक्ष = नगर का प्रमुख अधिकारी, १८. नावध्यक्ष = नौका परिवहन का अधिकारी, १९. गो-अध्यक्ष = गौ आदि दुधारू पशुओं का व्यवस्थापक अधिकारी, २०. अश्वाध्यक्ष = अश्वशाला का अधिकारी, २१. हस्ति-अध्यक्ष = हस्तिशाला का अधिकारी, २२. रथाध्यक्ष = रथसेना का अधिकारी, २३. पत्त्यध्यक्ष = पैदल सेना का अधिकारी २४. मुद्राध्यक्ष = मुद्रा-व्यवस्था का अधिकारी, २५. विविताध्यक्ष = चरागाह का अध्यक्ष २६. लवणाध्यक्ष = टकसाल का अधिकारी, २७. धर्माध्यक्ष = धर्म-निर्णायक अधिकारी।

(२) **विपश्चित का अर्थ**—'विपश्चित्' 'प्रतिभाशाली मेधावी विद्वान्' को कहते हैं। निरुक्त ३।१५ में कहा है—"**विपश्चित् मेधावी-नाम।**" राजा योग्य प्रतिभाशाली, मेधावी, विद्वानों को ही विविध विभागों में अध्यक्ष नियुक्त करे।

राजा स्नातक विद्वानों का सत्कार करे—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥ (६३)

(नृपाणां ब्राह्मः एषः अक्षयः निधिः विधीयते) सदा जो राजाओं को वेदप्रचाररूप अक्षय कोश है (गुरुकुलात् आवृत्तानां पूजकः भवेत्) इसके प्रचार के लिए कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल

से आवे, उसका सत्कार, राजा और सभा यथावत् करें (विप्राणाम्) तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है ॥ ८२ ॥ (स० प्र० १५०)

युद्ध के लिए गमन तथा युद्धसम्बन्धी व्यवस्थाएँ—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ (६४)

(प्रजाः पालयन् राजा) जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को (सम-उत्तम-अधमैः आहूतः तु) अपने से तुल्य, उत्तम और छोटा संग्राम में आह्वान करे तो (क्षात्रं धर्मम्+अनुस्मरन्) क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके (संग्रामात न निवर्तेत) संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपनी ही विजय हो ॥ ८७ ॥ (स० प्र० १५०)

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥ (६५)

(आहवेषु) जो संग्रामों में+(अन्यः+अन्यं जिघांसन्तः) एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए (महीक्षितः) राजा लोग (परं शक्त्या अपराङ्मुखाः) जितना सामर्थ्य हो बिना डरे, पीठ न दिखा (युध्यमानाः) युद्ध करते हैं, वे (स्वर्गं यान्ति) सुख को प्राप्त होते हैं ॥

इससे विमुख कभी न हो किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने छिप जाना उचित है। क्योंकि, जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें। जैसे सिंह क्रोधाग्नि में सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ॥ ८९ ॥ (स० प्र० १५०)

+(मिथः) परस्पर......................

युद्ध में किन को न मारे —

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥ (६६)

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥ (६७)

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥(६८)

(न स्थल+आरूढम्) युद्ध समय में, न इधर-उधर खड़े, (न क्लीवम्) न नपुंसक, (न कृत+अञ्जलिम्) न हाथ जोड़े हुए, (न मुक्तकेशम्) न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, (न आसीनम्) न बैठे हुए, (न "तव अस्मि" इति वादिनम्) न "मैं तेरे शरण हूं" ऐसे+को, (न सुप्तम्) न सोते हुए, (न विसन्नाहम्) न मूर्छा को प्राप्त हुए, (न नग्नम्) न नग्न हुए (न निरायुधम्) न आयुध से रहित, (न+अयुध्यमानम्) न युद्ध न करते हुए देखने वाले को, (न परेण समागतम्) न शत्रु के साथी, (न+आयुध-व्यसन-प्राप्तम्) न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, (न आर्त्तम्) न दुःखी (न+अतिपरिक्षतम्) न अत्यन्त घायल, (न भीतम्) न डरे हुए और (न परावृत्तम्) न पलायन करते हुए पुरुष को (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए (हन्यात्) योद्धा लोग कभी मारें ॥
+(वादिनम्) कहते हुए—

"किन्तु उनको पकड़के, जो अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रखदे और भोजन आच्छादन यथावत् देवे। और जो घायल हुए हों उनको औषध आदि विधिपूर्वक करे। न उनको चिढ़ावे, न दुःख देवे, जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रखे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनमें लड़कों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले, उनको अपनी बहन और कन्या के समान समझे कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाये और जिनसे पुनः-पुनः युद्ध करने की शंका न हो उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेजदेवे। और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना संभव हो उनको सदा कारागार में रखे ॥ ९१, ९२, ९३ ॥" (स० प्र० १५०)

युद्ध से पलायन करने वाला अपराधी होता है—

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥ (९९)

(यः तु) और जो (संग्राम) युद्धक्षेत्र में (परावृत्तः) पीठ दिखाकर भाग जाये, अथवा (भीतः परैः हन्यते) डरकर भागता हुआ शत्रुओं के द्वारा मारा जाये, उसे (भर्त्तुः) राजा की ओर से प्राप्त होने वाला (यत् किंचित् दुष्कृतम्) जो भी कुछ दण्ड, अपराधीभाव व बुराई है (तत् सर्वं प्रतिपद्यते) उस सब का पात्र बनकर वह दण्डनीय होता है अर्थात् राजा के मन से उसकी श्रेष्ठता का प्रभाव समाप्त हो जाता है [९५] और राजा उसकी

सुख-सुविधा को छीनकर दण्ड देता है ॥ ६४ ॥ॐ

"और जो पलायन अर्थात् भागे और डराहुआ भृत्य शत्रुओं द्वारा मारा जाये वह उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे।"

(स० प्र० १५०)

अनुशीलन : 'दुष्कृत' आदि पाप के पर्यायवाची शब्दों का अर्थ समझने के लिए द्रष्टव्य ८।३१६ पर अनुशीलन।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥ (७०)

(च) और (यत् किंचित् अस्य सुकृतम्) जो उसकी प्रतिष्ठा है (अमुत्रार्थम्+उपार्जितम्) जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था [९६, ९७ आदि] (तत् सर्वं भर्त्ता आदत्ते) उसको उसका स्वामी ले लेता है (परावृत्तहतस्य तु) जो भागा हुआ मारा जाये उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त होता है जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो ॥ ९५ ॥

(स० प्र० १५०)

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥ (७१)

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि (यः यत्) लड़ाई में जिस-जिस अमात्य वा अध्यक्ष ने (रथ+अश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः) रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियां (च) तथा (सर्वद्रव्याणि) अन्य प्रकार के सब द्रव्य (कुप्यम्) और घी, तेल आदि के कुप्पे (जयति) जीते हों (तत् तस्य) वही उस-उस का ग्रहण करे ॥ ९६ ॥

(स० प्र० १५०)

जीते हुए धन से राजा को 'उद्धार' देना—

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥ (७२)

(च) परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से (उद्धार राज्ञः दद्युः) सोलहवां भाग राजा को देवें (च) और (राज्ञा) राजा भी

ॐ [प्रचलित अर्थ]—युद्ध में डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है; वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

(सर्वयोधेभ्यः) सेनास्थ योद्धाओं को (अपृथक्जितम्) उस धन में जो सब ने मिलकर जीता हो (दातव्यम्) सोलहवां भाग देवे ।।

"और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसको स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जावें तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे" ।। ९७ ।।
(स० प्र० १५०)

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ।। ९८ ।। (७३)

(एषः) यह [८७-९७] (अनुपस्कृतः) अनिन्दित (सनातनः) सर्वदा मान्य (योधधर्मः प्रोक्तः) योद्धाओं का धर्म कहा, (क्षत्रियः) क्षत्रिय व्यक्ति (रणे रिपून् घ्नन्) युद्ध में शत्रुओं को मारते हुए (अस्मात् धर्मात् न च्यवेत) इस धर्म से विचलित न होवे ।। ९८ ।।

राजा द्वारा चिन्तनीय बातें—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।। ९९ ।। (७४)

राजा और राजसभा (अलब्धं च+एव लिप्सेत) अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा (लब्धं प्रयत्नतः रक्षेत्) प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे (रक्षितं वर्धयेत्) रक्षित को बढ़ावें (च) और (वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्) बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे ।। ९९ ।। (स० प्र० १५२)

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ।। १०० ।। (७५)

(एतत् चतुर्विधम्) यह चार प्रकार का (पुरुषार्थप्रयोजनम्) राज्य के लिए पुरुषार्थ करने का उद्देश्य (विद्यात्) समझना चाहिए, राजा (अतन्द्रितः) आलस्य रहित होकर (अस्य नित्यं सम्यक् अनुष्ठानं कुर्यात्) इस उद्देश्य का सदैव पालन करता रहे ।। १०० ।।

"इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने, आलस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य अनुष्ठान करे।" (स० प्र० १५४)

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत ॥ १०१ ॥ (७६)

(दण्डेन अलब्धम्+इच्छेत्) दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा (अवेक्षया) नित्य देखने से (लब्धं रक्षेत्) प्राप्त की रक्षा (रक्षितं वृद्ध्या वर्धयेत्) रक्षित की वृद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे (वृद्धम्) और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त [६६] मार्ग में नित्य व्यय करे॥ ॥ १०१ ॥

(स० प्र० १५२)

॥ अर्थात् (पात्रेषु निःक्षिपेत्) सुपात्रों एवं योग्य कर्मों में व्यय करे।

"राजाधिराज पुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा देखभाल करके, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें ॥ (सं० वि० १५५)

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥ (७७)

राजा (नित्यम्+उद्यतदण्डः स्यात्) सदैव न्यायानुसार दण्ड का प्रयोग करने में तत्पर रहे, (नित्यं विवृतपौरुषः) सदैव पराक्रम दिखलाने के लिए तैयार रहे, (नित्यं संवृतसंवार्यः) सदैव राज्य के गोपनीय कार्यों को गुप्त रखे, (नित्यम् अरेः छिद्रानुसारी) सदैव शत्रु के छिद्रों=कमियों को खोजता रहे और उन त्रुटियों को पाकर अवसर मिलते ही अपने हित को चतुराई से पूर्ण कर ले ॥ १०२ ॥

अनुशीलन : 'छिद्र' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ ७ । १०५ के अनुशीलन में द्रष्टव्य है ।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥ (७८)

(नित्यम्+उद्यतदण्डस्य) जिस राजा के राज्य में सर्वदा दण्ड के प्रयोग का निश्चय रहता है तो उससे (कृत्स्नं जगत् उद्विजते) सारा जगत् भयभीत रहता है (तस्मात्) इसीलिए (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (दण्डेनैव प्रसाधयेत्) दण्ड से साधे अर्थात् दण्ड के भय से अनुशासन में रखे ॥ १०३ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥ (७९)

(कथंचन) कदापि (मायया न वर्तेत) किसी के साथ छल से न वर्ते (अमायया+एव) किन्तु निष्कपट होकर सबसे बर्ताव रखे (च) और (नित्यं स्वसंवृत:) नित्यप्रति अपनी रक्षा करके (अरिप्रयुक्तां मायां बुध्येत) शत्रु के किये हुए छल को जान के निवृत्त करे ॥ १०४ ॥ (स० प्र० १५२)

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥ (८०)

(परः अस्य छिद्रं न विद्यात्) कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके (तु) और (परस्य छिद्रं विद्यात्) स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे (कूर्म+इव+अङ्गानि) जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे (आत्मनः विवरं गूहेत् रक्षेत्) शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रखे ॥ १०५ ॥ (स० प्र० १५२)

अनुशीलन : (१) **छिद्र का अर्थ**—त्रुटि, कमजोरी, निर्बलता आदि ऐसी कमी जिससे शत्रु लाभ उठाकर स्वयं को हानि पहुँचा सके । **'छिनत्ति यत् तत् छिद्रम्=यूनत्वम्'** । **'छिधिर् द्वैधीकरणे'** धातु से **'स्फायितञ्चि'**···'(उणादि २.१३) सूत्र से रक् प्रत्यय के योग से छिद्र शब्द सिद्ध होता है ।

(२) **कौटिल्य द्वारा उद्धृत श्लोक**—मनु का यह श्लोक कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र प्रक० १० । अ० १४ में सामान्य पाठभेद के साथ उद्धृत किया है ।

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥ (८१)

(बकवत् अर्थान् चिन्तयेत्) जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए (सिंहवत् पराक्रमेत्) सिंह के समान पराक्रम करे (वृकवत् अवलुम्पेत) चीते के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े (च) और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से (शशवत् विनिष्पतेत्) सुस्से [=खरगोश] के समान दूर भाग जाये और पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥ १०६ ॥ (स० प्र० १५२)

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ॥ १०७ ॥ (८२)

(एवं विजयमानस्य) इस प्रकार विजय करने वाले सभापति के राज्य में (ये परिपन्थिनः स्युः) जो परिपंथी अर्थात् डाकू-लुटेरे हों (तान्) उनको (साम+आदिभिः) साम=मिला लेना, दाम=कुछ देकर, भेद=तोड़-फोड़ करके * (वशम् आनयेत्) वश में करे ॥ १०७ ॥ (स० प्र० १५३)

ॐ (उपक्रमैः) इन उपायों से...............

अनुशीलन : परिपन्थिन् का व्याकरण—'परिपन्थिन्,' शब्द 'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि' (अ० ५। २। ८६) सूत्र के अनुसार वेद में निपातन रूप है। पाणिनि के अनुसार वेद में ही निपातन है किन्तु साथ-साथ संस्कृत-साहित्य में भी यह प्रयोग इसी रूप में प्रचलित है। इसके 'शत्रु', 'चोर', 'डाकू', 'लुटेरा', 'कार्यों में रुकावट डालने वाला' आदि अर्थ हैं।

१०७, ११० श्लोकों में उक्त 'परिपंथी' शब्द का व्यापक अर्थ है। इससे उन डाकू, चोर, लुटेरों का भी ग्रहण है जो प्रजाओं के अतिरिक्त, राज्य के विकास में रोड़ा अटका कर बाधा डालने वाले, विरोध करके अराजकता फैलाने वाले और राज्यापहरण के लिए षड्यन्त्र करके शत्रु की सहायता करने वाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्ति को राजा कठोरता से वश में करे।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥ (८३)

(यदि) यदि (ते) वे शत्रु डाकू, चोर आदि (प्रथमैः त्रिभिः उपायैः न तिष्ठेयुः तु) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद इन तीन उपायों से शान्त न हों या वश में न आयें तो राजा (एतान्) इन्हें (दण्डेन+एव) दण्ड के द्वारा ही (प्रसह्य) बलपूर्वक (शनकैः वशम्+आनयेत्) सावधानीपूर्वक वश में लाये ॥ १०८ ॥

"और जो इनसे वश में न हों तो अतिकठिन दण्ड से वश में करे।"
(स० प्र० १५३)

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥ (८४)

(यथा) जैसे (निर्दाता) धान्य का निकालने वाला (कक्षम् उद्धरति धान्यं च रक्षति) छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करना अर्थात् टूटने नहीं देता है (तथा) वैसे (नृपः) राजा (परिपन्थिनः हन्यात्) डाकू-चोरों को मारे (च) और (राष्ट्रं रक्षेत्) राज्य की रक्षा करे ॥ ११० ॥
(स० प्र० १५३)

राजा प्रजा का शोषण न होने दे—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१११॥(८५)

(यः राजा) जो राजा (मोहात् अनवेक्षया) मोह से, अविचार से

(स्वराष्ट्रं कर्षयति) अपने राज्य को दुर्बल करता है (सः) वह (राज्यात्) राज्य से (च) और (सबान्धवः जीवितात्) बन्धुसहित जीने से पूर्व ही (अचिरात्) शीघ्र (भ्रश्यते) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥

(स० प्र० १५३)

प्रजा के शोषण से हानि—

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥ (८६)

(यथा) जैसे (प्राणिनां प्राणाः) प्राणियों के प्राण (शरीरकर्षणात् क्षीयन्ते) शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं (तथा) वैसे ही (राष्ट्रकर्षणात्) प्रजाओं को दुर्बल करने से (राज्ञाम्+अपि प्राणाः) राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं ॥ ११२ ॥

(स० प्र० १५३)

अनुशीलन : राष्ट्रकर्षण से अभिप्राय—श्लोक १११-११२ में राष्ट्र-कर्षण से अभिप्राय यह है कि डाकू-लुटेरों द्वारा या स्वयं राजा द्वारा, अन्य प्रजाजनों अथवा राजपुरुषों द्वारा किसी भी प्रकार से प्रजा का शोषण-उत्पीड़न होना । जिस प्रजा में शोषण-उत्पीड़न बढ़ जाता है, उस राजा का राज्य रूपी शरीर भी नष्ट हो जाता है ।

राष्ट्र के नियन्त्रण के उपाय—

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ (८७)

इसलिए राजा (राष्ट्रस्य संग्रहे) राष्ट्र की सुव्यवस्था, नियन्त्रण एवं अभिवृद्धि के लिए (नित्यम्) सदैव (इदं विधानम् आचरेत्) इस निम्न वर्णित व्यवस्था [११४-१४४] को लागू करे (हि) क्योंकि (सुसंगृहीत-राष्ट्रः पार्थिवः) सुरक्षित, नियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित राष्ट्र वाला राजा ही (सुखम्+एधते) सुखपूर्वक रहते हुए बढ़ता है—उन्नति करता है ॥ ११३ ॥

"इसलिए राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हो । जो राजा राज्य पालन में सब प्रकार तत्पर रहता है उसको सदा सुख बढ़ता है ।"

(स० प्र० १५३)

नियन्त्रण केन्द्रों और राजकार्यालयों का निर्माण—

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥ (८८)

इसलिए (द्वयोः त्रयाणां पञ्चानां मध्ये) दो, तीन और पांच गांवों के बीच में (गुल्मम्+अधिष्ठितम्) एक-एक नियन्त्रण केन्द्र या उन्नत राजकार्यालय बनाये (तथा ग्रामशतानाम्) इसी प्रकार सौ गांव तक कार्यालयों का निर्माण करे [जैसा कि ७।११५-११७ में वर्णन है, उसके अनुसार] (च) और इस व्यवस्था के अनुसार (राष्ट्रस्य संग्रहं कुर्यात्) राष्ट्र को सुव्यवस्थित, सुरक्षित एवं वशीभूत रखे ॥ ११४ ॥

"इसलिए दो, तीन, पांच और सौ गांव के बीच में एक राज-स्थान रखके जिसमें यथायोग्य भृत्य और कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्यों के कार्यों को पूर्ण करे।" (स० प्र० १५३)

अवर अधिकारियों आदि की नियुक्ति—

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ (८९)

(ग्रामस्य+अधिपतिं कुर्यात्) एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे (तथा दशग्रामपतिम्) उन्हीं दश के ऊपर दूसरा (विंशति+ईशम्) उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा (शत+ईशम्) उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा (च) और (सहस्रपतिम्+एव) उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रखे।

अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दशग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है" ॥ ११५ ॥
(स० प्र० १५३)

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥ (९०)

इसी प्रकार प्रबंध करे और आज्ञा देवे कि (ग्रामिकः) वह एक-एक ग्रामों के पति (ग्रामदोषान् समुत्पन्नान्) ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन-उनको (शनकैः स्वयम्) गुप्तता से (ग्रामदशेशाय) दशग्राम के पति को (शंसेत्) विदित कर दे, और (दशेशः) वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार (विंशति+ईशिने) बीस ग्राम के स्वामी को दशग्रामों का वर्तमान [=की स्थिति] नित्यप्रति जनादेवे ॥ ११६ ॥ (स० प्र० १५३)

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ (६१)

(तु) और (विंशतीशः) बीस ग्रामों का अधिपति (तत् सर्वम्) बीस ग्रामों के वर्तमान को [=बीस ग्रामों की स्थिति को] (शतेशाय निवेदयेत्) शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे (शतेशः तु) वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति (स्वयम्) आप (सहस्राधिपतिं) अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को (शंसेत्) सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें ॥ ११७ ॥
(स० प्र० १५३)

अनुशीलन :

राज्यसंरक्षण के लिए मनुप्रोक्त नियन्त्रणकेन्द्र-कार्यालय-व्यवस्था-तालिका

१—केन्द्रीय कार्यालय राजधानी अर्थात् राजा का किला	(७।६६-७६)
२—प्रत्येक नगर में एक सचिवालय	(७।१२१)
३—सौ गांवों पर मुख्य कार्यालय	(७।११४-११७)
४—बीस गांवों पर कार्यालय	(,, ,,)
५—दश गांवों पर कार्यालय	(,, ,,)
६—पांच गांवों पर कार्यालय	(,, ,,)
७—दो गांवों पर फिर एक कार्यालय	(,, ,,)

[अपने से ऊपर-ऊपर के कार्यालयों को प्रतिदिन की गतिविधियों से सूचित करें, (७ । ११५–११७)]

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥(६२)

(तेषाम्) उन पूर्वोक्त अध्यक्षों [११६–११७] के (ग्राम्याणि कार्याणि) गांवों से सम्बद्ध राजकार्यों को (च) और (पृथक् कार्याणि एव हि) अन्य भिन्न-भिन्न कार्यों को भी (राज्ञः+अन्यः स्निग्धः सचिवः) राजा का एक विश्वासपात्र प्रमुख मन्त्री [७ । ५४] (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (पश्येत्) देखे ॥ १२० ॥

"और एक-एक, दश दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीश राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें"। (स० प्र० १५३)

अनुशीलन : मनु ने विभिन्न श्लोकों में समुचित राज्य-संचालन के लिए तीन सभाओं की संरचना का तथा उनमें काम करने वाले अधिकारियों का कथन किया है। सुगमता के लिए उन्हें एकत्र स्थान पर अग्रिम तालिका के रूप में दिखाया जा रहा है। आजकल भी भारत में इसी प्रणाली का अनुसरण किया जा रहा है। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्हें सभा न कहकर 'पालिका' कहा जाता है। आजकल तीन पालिकाएं राज्यसम्बन्धी व्यवस्थाओं को निपटाती हैं,

(१) विधानपालिका (विधान बनाने वाली परिषद्),

(२) कार्यपालिका (विधानों एवं नियमों को क्रियात्मक रूप देने वाले अधिकारी/कर्मचारियों का वर्ग),

(३) न्यायपालिका (न्याय करने वाले अधिकारी गण)। तालिका इस प्रकार है— (पृष्ठ ३३० पर देखिये)

नगरों में सचिवालय का निर्माण—

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ (९३)

राजा (नगरे नगरे) बड़े-बड़े प्रत्येक नगर में (एकम्) एक-एक (नक्षत्राणां ग्रहम् इव) जैसे नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा है इस प्रकार विशाल और देखने में प्रभावकारी (घोररूपम्) भयकारी अर्थात् जिसे देखकर या जिसका ध्यान करके प्रजाओं में नियमों के विरुद्ध चलने में भय का अनुभव हो (सर्व +अर्थचिन्तकम्) जिसमें सब राजकार्यों के चिन्तन और प्रजाओं की व्यवस्था और कार्यों के संचालन का प्रबन्ध हो ऐसा (उच्चैः स्थानम्) ऊंचा भवन अर्थात् सचिवालय (कुर्यात्) बनावे ॥ १२१ ॥

"बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावें। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें"। (स० प्र० १५५)

राजकर्मचारियों के आचरण का निरीक्षण—

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥ (९४)

(सः) वह [७ । १२० में वर्णित] सचिव=प्रमुख मन्त्री (तान् सर्वान् सदा स्वयम् अनुपरिक्रामेत्) उन निर्मित [७ । १२१] सब सचिवालयों का सदा स्वयं घूम-फिरकर निरीक्षण करता रहे (च) और (राष्ट्रे) देश में

मनुप्रोक्त, राज्यसंचालन के लिए सभा/मन्त्री/अधिकारी/कर्मचारी-प्रणाली (तालिका)

राजा [मुख्य राजसभाध्यक्ष, कोई भी विद्वान्, जितेन्द्रिय क्षत्रिय ७ । २—७]

(१)

राजसभा

[राज्य संचालन का कार्य, नीति निर्धारण]

१. ७-८ प्रमुख मन्त्री, आवश्यकतानुसार अधिक भी । (७ । ५४-५७, ६०-६१)
२ अवर सचिव (७ । ६०, ६१)
३. सहयोगी अधिकारी एवं दूताधिकारी (७ । ६२, ६३, ६८)
४. विभागों के अध्यक्ष (७ । ८१)
५. सहस्रग्रामप्रधान (७ । ११५-११७)
६. शतग्रामप्रधान (,, ,,)
७. बीसग्रामप्रधान (,, ,,)
८. दशग्रामप्रधान (,, ,,)
९. एकग्रामप्रधान (,, ,,)
१० कर्मचारी गण (७।८१,१२०,१२२-१२५)

[ये सब एक प्रमुख मन्त्री के अधीन होंगे और प्रत्येक प्रमुख मन्त्री अपने-अपने विभागों तथा कर्मचारियों का निरीक्षणकरे,(७।१२०)]

(२)

ब्रह्मसभा या न्यायसभा

[न्याय करने का कार्य ८ । १, ११-२६]

१. राजा या राजा का अधिकृत विद्वान् मुख्य न्यायाधीश (८ । १, ११)
२. वेदविद्याओं के ज्ञाता तीन विद्वान्
३. मुकद्दमों के अनुसार उस-उस विषय के सलाहकार (८ । १)

(३)

धर्मनिर्णय सभा या विधानपरिषद्

[धर्म का निश्चय, धर्मसंशय में निर्णय देना १२ । १०८, ११०, ११२, जिसमें दश और कम से कम तीन विद्वान् होते हैं]

क—दश सदस्यों की परिषद् व उसके सदस्य
१. ऋक्विद्या का ज्ञाता (१२ । १११)
२. यजुर्विद्या का ज्ञाता (,,)
३. सामविद्या का ज्ञाता (,,)
४. कारण-अकारण का ज्ञाता विद्वान् = हेतुक (,,)
५. निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता (,,)
६. धर्मशास्त्र का ज्ञाता (,,)
७. ब्रह्मचर्याश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान् (,,)
८. गृहस्थाश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान्
९. वानप्रस्थ आश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान् (,,)
१०. न्यायशास्त्र का ज्ञाता, तर्क करने वाला विद्वान् (,,)

ख—तीन सदस्यों की परिषद्
१. ऋक्विद्या का ज्ञाता (१२ । ११२)
२. यजुर्विद्या का ज्ञाता (,,)
३. सामविद्या का ज्ञाता (,,)

(तत्+चरैः) अपने दूतों के द्वारा (तेषां वृत्तं परिणयेत्) वहां नियुक्त राज-पुरुषों के आचरण की गुप्तरीति से जानकारी प्राप्त करता रहे ॥ १२२ ॥

"जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके अधीन सब गुप्तचर और दूतों को रखे, जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें, उन से सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दंड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे"। (स० प्र० १५५—१५६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों पर दृष्टि रखे—

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥ (६५)

(हि) क्योंकि (प्रायेण) प्रायः (राज्ञः रक्षाधिकृताः भृत्याः) राजा के द्वारा प्रजा की सुरक्षा के लिए नियुक्त राजसेवक (परस्वादायिनः) दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतखोर और (शठाः) ठग या धोखा करने वाले (भवन्ति) हो जाते हैं (तेभ्यः) ऐसे राजपुरुषों से (इमाः प्रजाः रक्षेत्) अपनी प्रजाओं की रक्षा करे अर्थात् ऐसे प्रयत्न करे कि वे प्रजाओं के साथ या राज्य के साथ ऐसा बर्ताव न करपायें ॥ १२३ ॥

"राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे वे धार्मिक, सुपरी-क्षित विद्वान्, कुलीन हों। उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके, उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके, उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे"। (स० प्र० १५६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों को दण्ड—

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥ (६६)

(पापचेतसः) पापी मन वाले (ये) जो रिश्वतखोर और ठग राजपुरुष (कार्यिकेभ्यः) यदि काम कराने वालों और मुकद्दमे वालों से (अर्थं गृह्णीयुः एव) फिर भी धन अर्थात् रिश्वत ले ही लें तो (तेषां सर्वस्वम्+आदाय) उनका सब कुछ अपहरण करके (राजा) राजा (प्रवासनम् कुर्यात्) उन्हें देश निकाला दे दे ॥ १२४ ॥

"जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रखे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सकें। क्योंकि यदि उसको दण्ड न

दिया जाये तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करेंगे और दण्ड दिया जाये तो बचे रहेंगे।" (स० प्र० १५६)

कर्मचारियों के वेतन का निर्धारण—

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥ १२५॥ (६७)

(राजा) राजा (कर्मसु युक्तानाम्) राजकार्यों में नियुक्त राजपुरुषों (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च) और (प्रेष्यजनस्य) सेवकवर्ग की (कर्म+अनुरूपतः) पद और काम के अनुसार (प्रत्यहम्) प्रतिदिन की (स्थानं वृत्तिं कल्पयेत्) कर्मस्थान और जीविका निश्चित कर दे॥ १२५॥

"जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभांति हो और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक बार मिला करे। और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रखे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सब के निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रखे"। (स० प्र० १५६)

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः॥१२६॥(६८)

(अवकृष्टस्य पणः) निम्नस्तर के भृत्य को कम से कम एक पण और (उत्कृष्टस्य षट्) ऊंचे स्तर के भृत्य को छः पण (वेतनं देयः) वेतन प्रतिदिन देना चाहिए (तथा) तथा उन्हें (षाण्मासिकः आच्छादः) प्रति छः महीने पर ओढ़ने पहरने के वस्त्र [=वेशभूषा] (तु) और (मासिकः धान्यद्रोणः) एक महीने में एक द्रोण [६४ सेर] धान्य=अन्न, देना चाहिए॥ १२६॥

अनुशीलन : कौटिल्य के अनुसार मन्त्रियों से सेवकों तक का **भरण-पोषण व्यय**—आचार्य कौटिल्य ने अपने समय के मूल्यस्तर के अनुसार राजा के परिजनों से लेकर, मन्त्रियों, अमात्यों, अध्यक्षों, निम्नस्तरीय कर्मचारियों तक की भृति=भरण-पोषण व्यय या वेतन का निर्धारण किया है। कौटिल्य के अनुसार धन और भूमि दोनों ही भृति के रूप में प्रदान करनी चाहिएँ। भूमि के सम्बन्ध में यह शर्त रखी है कि उसे कोई बेच नहीं सकता, न गिरवी रख सकता है [प्रक० १७। अ० १]। उन्होंने भृति या वेतन का निर्धारण प्रमुखरूप से निम्न प्रकार किया है—

१. ऋत्विक्, आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, और रानी, इनको प्रतिवर्ष अड़तालीस हजार पण दिये जायें।

२. द्वारपाल, अन्तःपुर का अधिकारी, आयुधाध्यक्ष, समाहर्त्ता=कर संग्रह का अधिकारी, कोष्ठागाराध्यक्ष, इनको चौबीस हजार पण प्रतिवर्ष।

३. राजकुमार के भाई, उपसेनापति, व्यापाराध्यक्ष, नगराध्यक्ष, कृषि-अध्यक्ष आदि को एक हजार पण प्रतिवर्ष।

४. प्रथम श्रेणी के वास्तुकर्मविशेषज्ञ, हस्ति-अश्व-रथ-अध्यक्ष, दण्डाधिकारी आठ सौ पण वेतन प्रतिवर्ष।

इसी प्रकार सेना के विविध विभागीय अध्यक्षों को, सैन्य-शिक्षकों को दो-दो हजार पण से आठ सौ पण प्रतिवर्ष। शिल्पी, आय-विभाग के कर्मचारी, क्लर्क, गुप्त-चर, वैद्य, गायक, वादक, आदि को एक हजार पण से एक सौ बीस पण तक प्रतिवर्ष वेतन का विधान किया है [प्र० ६१। अ० ३]।

कर-ग्रहण सम्बधी व्यवस्थाएं—

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ (९९)

(क्रय-विक्रयम्) खरीद और विक्री (भक्तम्) भोजन (च) तथा (अध्वानम्) मार्ग की दूरी आदि, (सपरिव्ययम्) भरण-पोषण का व्यय (च) और (योगक्षेमम्) लाभ, वस्तु की प्राप्ति एवं सुरक्षा और जनकल्याण (संप्रेक्ष्य) इन सब बातों पर विचार करके (वणिजः करान् दापयेत्) राजा को व्यापारी से कर लेने चाहिएं ॥ १२७ ॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥ (१००)

(यथा) जैसे (राजा) राजा (च) और (कर्मणां कर्त्ता) कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष व प्रजाजन (फलेन युज्येत) सुखरूप फल से युक्त होवे (तथा) वैसे (अवेक्ष्य) विचार करके (नृपः) राजा तथा राज्यसभा (राष्ट्रे करान् सततं कल्पयेत्) राज्य में कर-स्थापन करे ॥ १२८ ॥ (स० प्र० १५६)

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥१२९॥ (१०१)

(यथा) जैसे (वार्योकः-वत्स-षट्पदाः) जोंक, बछड़ा और भंवरा (अल्प+अल्पम् आद्यम् अदन्ति) थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं (तथा) वैसे (राज्ञा राष्ट्रात्) राजा प्रजा से (अल्पः+अल्पः) थोड़ा-थोड़ा (आब्दिकः करः गृहीतव्यः) वार्षिक कर लेवे ॥ १२९ ॥

(स० प्र० १५६

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ १३० ॥ (१०२)

(राजा) राजा को (पशु-हिरण्ययोः) पशुओं और सोने के लाभ में से (पञ्चाशत् भागः) पचासवां भाग, और (धान्यानां षष्ठः, अष्टमः वा द्वादशः एव आदेयः) अन्नों का छठा, आठवां या अधिक से अधिक बारहवां भाग ही लेना चाहिए ॥ १३० ॥

"जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में छठा आठवां वा बारहवां भाग लिया करे और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।" (स० प्र० १६५)

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥ (१०३)

(अथ) और (द्रुमांस-सर्पिषाम्) गोंद, मधु, घी (च) और (गन्ध-औषधि-रसानाम्) गंध, औषधि, रस (च) तथा (पुष्प-मूल-फलस्य) फूल, मूल और फल, इनका (षड्भागम् आददीत) छठा भाग कर में लेवे ॥१३१॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥ (१०४)

(च) और (पत्र-शाक-तृणानाम्) वृक्षपत्र, शाक, तृण (चर्मणां वैदलस्य) चमड़ा, बांसनिर्मित वस्तुएं (मृण्मयानां भाण्डानाम्) मिट्टी के बने बर्तन (च) और (सर्वस्य अश्ममयस्य) सब प्रकार के पत्थर से निर्मित पदार्थ, इनका भी छठा भाग कर ले ॥ १३२ ॥

अनुशीलन : **मनुप्रोक्त कर-व्यवस्थाएं सर्वप्राचीन एवं सर्वाधिक मान्य**—मनु सर्वप्रथम समाजव्यवस्थाओं के प्रवर्तक थे। एक राजा के रूप में उन्होंने इन व्यवस्थाओं को लागू कर समाज को व्यवस्थित एवं संगठित किया। अन्य व्यवस्थाओं की तरह जिस कर व्यवस्था का उन्होंने निर्धारण किया था, लगभग वैसी ही आज तक चलती आ रही है। इससे ज्ञात होता है कि मनु की व्यवस्थाओं और मनुस्मृति की समाज में सर्वोच्च मान्यता थी। इसकी पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र के निम्न वचनों से होती है—

"मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्य-षड्भागं पण्य-दशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृताः राजानः प्रजानां योग-क्षेमवहाः। तेषां किल्बिषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्।"

[प्रक० ८। अ० १२]

अर्थात्—'जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया। इस अन्याय से पीड़ित हुई प्रजाओं ने अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया। और तभी से प्रजाओं ने अपनी खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा कुछ सुवर्ण राजा को 'कर' के रूप में देना निश्चित कर दिया। इस कर को पाकर राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा और कल्याण की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर स्वीकार की। इस प्रकार ये निर्धारित 'कर' और 'दण्ड'-व्यवस्थाएं प्रजाओं के कष्टों को निवारण करने और उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्॥ १३७॥ (१०५)

(राष्ट्रे) राज्य में (व्यवहारेण जीवन्तं पृथक्जनम्) व्यापार से जोविका करने वाले प्रत्येक व्यक्ति से (राजा) राजा (यत् किंचित्+अपि) जो कुछ भी (वर्षस्य करसंज्ञितम्) वार्षिक करके रूप में निर्धारित होता हो वह भाग (दापयेत्) राज्य के लिए दिलवाये अर्थात् ग्रहण करे॥ १३७॥

करग्रहण में अतितृष्णा हानिकारक—

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥१३९॥(१०६)

(अतितृष्णया) अतिलोभ से (आत्मनः) अपने ❀ (परेषां मूलम्) दूसरों के सुख के मूल को (न उच्छिन्द्यात्) उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे (हि) क्योंकि जो+(मूलम् उच्छिन्दन्) व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है वह (आत्मानं च तान् पीडयेत्) अपने और उन को पीड़ा ही देता है॥ १३९॥ (स० प्र० १५६)

❀ (च) और·········

+ (आत्मनः) अपने······

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः॥ १४०॥ (१०७)

(महीपतिः) जो महीपति (कार्यं वीक्ष्य) कार्य को देखकर (तीक्ष्णः च मृदुः एव स्यात्) तीक्ष्ण और कोमल भी होवे (तीक्ष्णः च एव) वह दुष्टों पर तीक्ष्ण (च) और (मृदुः एव) श्रेष्ठों पर कोमल रहने से (राजा संमतः भवति) अतिमाननीय होता है॥ १४०॥ (स० प्र० १५६)

रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को राजसभा का कार्य सौंपना—

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥ १४१॥ (१०८)

(नृणां कार्येक्षणे खिन्नः) प्रजा के कार्यों की देखभाल करने में रुग्णता आदि के कारण अशक्त होने पर (तस्मिन् आसने) उस अपने आसन पर (धर्मज्ञम्) न्यायकारी धर्मज्ञाता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (दान्तम्) जितेन्द्रिय (कुलोद्गतम्) कुलीन (अमात्यमुख्यम्) सबसे प्रधान अमात्य=मन्त्री को (स्थापयेत्) बिठा देवे अर्थात् रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को अपने स्थान पर राजकार्य संपादन के लिए नियुक्त करे ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥ (१०९)

(एवम्) इस प्रकार (सर्वम् इतिकर्त्तव्यं विधाय) सब राज्य का प्रबन्ध करके (युक्तः) सदा इसमें युक्त (च) और (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित होकर (आत्मनः इमाः प्रजाः परिरक्षेत्) अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ॥ १४२ ॥ (स० प्र० १५७)

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥(११०)

(यस्य सभृत्यस्य संपश्यतः) जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के (राष्ट्रात्) राज्य में से (दस्युभिः विक्रोशन्त्यः प्रजाः ह्रियन्ते) डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं (सः मृतः) वह जानो भृत्य-अमात्यसहित मृतक है (न तु जीवति) जीता नहीं है और महादुःख पाने वाला है ॥ १४३ ॥ (स० प्र० १५७)

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥ (१११)

इसलिए (क्षत्रियस्य) राजाओं का (प्रजानाम्+एव पालनम्) प्रजा-पालन ही करना (परः धर्मः) परम धर्म है (निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा) और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है [७ । १२७-१३२] और जैसा सभा नियत करे उसका भोक्ता राजा (धर्मेण युज्यते) धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है। [७ । ३०८-३०९] ॥ १४४ ॥ (स० प्र० १५७)

राजा के दैनिक कर्त्तव्य—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभांसभाम् ॥१४५॥(११२)

(पश्चिमे यामे उत्थाय) जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ (कृत-शौचः) शौच और (समाहितः) सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान (हुताग्निः) अग्निहोत्र (ब्राह्मणान् अर्च्य) विद्वानों का सत्कार (च) और

भोजन करके (शुभां सभां प्रविशेत्) भीतर सभा में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥
(स० प्र० १५७)*

अनुशीलन : (१) **'ब्राह्मणान् अर्च्य' का सही अभिप्राय**—प्रस्तुत श्लोक में राजा की नैत्यिकचर्या का वर्णन करते हुए 'ब्राह्मणान् च अर्च्य' शब्दों का प्रयोग है। यहां कुछ टीका एवं भाष्यकार—'राजा प्रातःकाल ब्राह्मणों की पूजा करे'—यह अर्थ करते हैं, जो मनुसम्मत नहीं है। ब्राह्मण, वेदविद्याओं के विद्वानों को कहते हैं। इसके लिए सप्रमाण विवेचन १। ८८ पर द्रष्टव्य है। 'अर्च्-पूजायाम्' से 'अर्च्य' प्रयोग सिद्ध हुआ है! यहां अर्चा या पूजा का अर्थ 'सत्कार-सम्मान या अभिवादन' ही मनु को अभिप्रेत है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ—'राजा प्रातःकाल उठकर विद्वानों का अभिवादन करे। इस प्रकार उनसे सम्मान-सत्कार का भाव रखे।' इस अर्थ की पुष्टि में इस धातु का मनु द्वारा अन्यत्र किया गया प्रयोग प्रमाण रूप में उल्लेखनीय है—

(क) गुरु के अभिवादन के लिए विधान करते हुए कहा है—
"दूरस्थो न अर्चयेत् एनम्" २। १७७ (२। २०२)

(ख) इसके पर्यायवाची रूप में अभिवादयेत् का प्रयोग है—
"स्वान् गुरून् अभिवादयेत्" २। १८० (२। २०५)

(ग) अभिवादन, सत्कार और सम्मान के अर्थ में निम्न प्रयोग भी द्रष्टव्य है—
"आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजकः भवेत्।" ७। ८२

(घ) अन्यत्र भी राजा द्वारा विद्वानों को अभिवादन आदि से सम्मान दिये जाने का निर्देश है—

"राजास्नातकयोः चैव स्नातको नृपमानभाक्।" २। ११४ (२। १३९)

अब प्रश्न उठता है कि प्रातःकाल राजा के समीप अभिवादनीय विद्वान् कौन हो सकते हैं? उत्तर है—ऋत्विज्, वेदविद्या आदि के प्रदाता विद्वान् जिनसे राजा को मनु ने दैनिक अग्निहोत्र आदि कराने का तथा विद्या ग्रहण करने का विधान किया है [७। ४३, ७८ आदि]। इस प्रकार इस भाष्य में किया गया श्लोकार्थ मनुसंगत है। [द्रष्टव्य ७। ४३, ७८ की समीक्षा भी।]

(२) **राजा की सामान्य दिनचर्या**—इस श्लोक से लेकर ७। २२५ तक मनु ने राजा की सामान्य दिनचर्या का दिग्दर्शन कराया है। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ ऐसी ही दिनचर्या कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रदर्शित की है। इसमें राजा सुविधा व देश-काल आदि के अनुसार परिवर्तन भी कर सकता है। तुलनात्मक रूप में दिनचर्या की तालिका इस प्रकार है—

* [**प्रचलित अर्थ**—राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर शौच (शौच, दन्तधावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्नि में हवन और ब्राह्मणों की पूजा कर शुभ सभा (मन्त्रणागृह) में प्रवेश करे॥ १४५॥]

मनु-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

	कालविशेष	कालावधि	दिन के कार्य	श्लोक
१	रात्रि का अन्तिम याम (तीन घण्टे का समय) अष्टम याम	प्रात ४-७ तक	जागरण, नैत्यिक कार्य, संध्या-अग्निहोत्र, भोजन, आचार्य ऋत्विज् आदि विद्वानों की संगति, उनसे अध्ययन एवं स्वाध्याय।	७।३७, १४५।।
२	दिन का प्रथम याम	७—१०	प्रजासभा (दरबार) का आयोजन, उसमें प्रजा के कष्टों का श्रवण एवं समाधान। धर्मार्थकामों, राज्यमण्डल की प्रकृतियों, पञ्चवर्गों, षड्गुणों, दूतों और गुप्तचरों के करणीय कार्यों, युद्ध-सम्बन्धी योजनाओं पर मन्त्रियों—अमात्यों से गुप्त मन्त्रणा।	७।१४७—२१५।।
३	द्वितीय याम (मध्याह्न)	१०—१	शस्त्रास्त्रों का अभ्यास, तत्पश्चात् स्नान, भोजन विश्राम।	७।२१६—२२१।।
४	तृतीय याम	१—४	मुकद्दमों एवं राज्यसम्बन्धी कार्यों का चिन्तन।	७।२२१
५	चतुर्थ याम	४—७	सेनाओं, शस्त्रास्त्रों, युद्धवाहनों और तैयारियों का निरीक्षण।	७।२२२
६	पंचम याम (रात्रि संध्या काल)	७—१०	सायंकालीन नैत्यिक कार्य, संध्योपासना। गुप्तचरों, दूतों आदि के समाचार सुनना। और उन्हें अग्रिम कर्त्तव्य समझाना। भोजन।	७।२२३ ७।२२४
७	षष्ठ याम (रात्रि)	१०—१	शयन	७।२२५
८	सप्तमयाम (रात्रि)	१—४	शयन	७।२२५

कौटिल्य-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

याम (पहर)	दिन के कार्य और उनकी निश्चित कालावधि
(रात्रि) अष्टम याम	जागरण, नैत्यिक, एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य, गुप्तमन्त्रणापूर्वक गुप्तचरों को प्रेषित करना।
प्रथम याम	ऋत्विक्, आचार्य आदि की संगति, वैद्य से भेंट, रक्षाव्यवस्था और आय-व्यय-व्यवस्था की जानकारी।
द्वितीय याम (दिन)	पुरवासियों एवं जनपदवासियों के कार्यों पर विचार (राजदरबार), स्नान, भोजन, स्वाध्याय।
तृतीय याम	आय-व्यय की संभाल, विविध अधिकारियों की नियुक्ति आदि, मन्त्रिपरिषद् से परामर्श, गुप्तचरों के कार्यों का निश्चय।
चतुर्थ याम	स्वतन्त्रतापूर्वक विहार या मन्त्रणा, सेना तथा सैन्यसामग्री-निरीक्षण।
पंचम याम (संध्या)	सेनापति के साथ युद्धसम्बन्धी मन्त्रणा। संध्योपासना, गुप्तचरों के समाचार जानना, स्नान, भोजन।
षष्ठ, सप्तम याम (रात्रि)	शयन

[अर्थशास्त्र, प्रकरण १४। अ० २८]

सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने—

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।

विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥ (११३)

(तत्र) उस [१४५ में वर्णित] सभा में जाकर (स्थितः) बैठकर या खड़े होकर (सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य) वहाँ आई हुई सब प्रजाओं को

समस्याओं, कष्टों का संतुष्टिकारक समाधान कर उन्हें प्रसन्न करके (विसर्जयेत्) भेज दे (च) और फिर (सर्वाः प्रजाः विसृज्य) सब प्रजाओं को विसर्जित करने के बाद (मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्) मन्त्रियों (७।४५) के साथ राज्यव्यवस्था पर विचार-विमर्श करे ॥ १४६ ॥

"वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे।"

(स० प्र० १५७)

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणाओं के स्थान—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥ (११४)

(गतः) पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाये (गिरिपृष्ठं वा रहः प्रासादम्) पर्वत की शिखर अथवा एकान्त घर (वा) वा (अरण्ये निःशलाके) जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान में (समारुह्य) बैठकर (अविभावितः) विरुद्ध भावना को छोड़ (मन्त्रयेत्) मन्त्री के साथ विचार करे ॥ १४७ ॥ (स० प्र० १५७)

अनुशीलन : (१) **'निःशलाके अरण्ये' का अभिप्राय**—यहां 'निःशलाके अरण्ये' का प्रयोग लाक्षणिक या मुहावरे के रूप में किया गया है जिसका अभिप्राय है—'ऐसा स्थान जहां तिनके के सदृश छोटे से छोटे प्राणी की या गुप्तमन्त्रणा-भेदक वस्तु की उपस्थिति कीसंभावना न हो।

(२) **मन्त्रणास्थल के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निःशलाकापन के भाव को प्रकारान्तर से सकारण व्यक्त करते हुए मन्त्रणास्थल के विषय में लिखा है—

"तदुद्देशः संवृतः कथानामनिःस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुकसारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः।" [अ० २०। १४]

=मन्त्रणास्थल अत्यन्त सुरक्षित और गोपनीय होना चाहिए। ऐसा जहां पक्षी तक भी न झांक सके (फिर मनुष्यों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि, सुना जाता है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्तों तथा अन्य पशु-पक्षियों के विषय में भी सुना जाता है।

मन्त्रणा की गोपनीयता का महत्त्व—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥१४८॥(११५)

(यस्य) जिस राजा के (मन्त्रम्) गूढ़ विचार (पृथक् जनाः समागम्य न जानन्ति) अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध, परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे (सः कोशहीनः+अपि पार्थिवः) वह धनहीन भी राजा (कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते) सब पृथिवी का राज्य करने में समर्थ होता है॥ १४८॥ (स० प्र० १५८)

अनुशीलन : (१) **मन्त्र शब्द का राजनीतिपरक अर्थ**—'मन्त्र' शब्द के अर्थ पर यहां विशेष विचार अपेक्षित है। राजनीति के प्रसंग में 'मन्त्र' गोपनीय विचार-विमर्श को कहा जाता है। जिसमें गुप्त बातों पर रहस्यमय विचार किया जाये वह मन्त्रणा कहलाती है। मन्त्र शब्द 'मत्रि-गुप्तभाषणे'=गुप्त विचार करना अर्थ में, इस धातु से घञ् प्रत्यय के योग से सिद्ध हुआ है। निरुक्त में **'मन्त्राः—मननात्'** कहकर निरुक्ति दी है। मनन करने के कारण राजनीति के रहस्यों को और वेदमन्त्रों को मन्त्र कहते हैं।

(२) **"कोशहीनोऽपि पार्थिवः"** का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है। इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति ७। ३३ में द्रष्टव्य है।

धर्म, काम, अर्थ-सम्बन्धी बातों पर चिन्तन करे—

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा॥ १५१॥ (११६)

(मध्यंदिने) दोपहर के समय (वा) अथवा (विश्रान्तः विगतक्लमः) विश्राम करके थकान-आलस्यरहित होकर स्वस्थ व प्रसन्न शरीर और मन से (अर्धरात्रे) रात के किसी समय (धर्म-काम-अर्थान्) धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी बातों को (तैः सार्धम्) उन मन्त्रियों के साथ मिलकर (वा) अथवा परिस्थिति विशेष में (एक एव) अकेले ही (चिन्तयेत्) विचारे॥ [चिन्तयेत् क्रिया का अन्वय १५८ तक चलता है]॥ १५१॥

अनुशीलन : (१) **राजा द्वारा धर्म-काम-अर्थ पर चिन्तन**—राजा को प्रसन्न मन से धर्म-काम-अर्थ सम्बन्धी बातों पर देश-काल-कार्य को देखकर अकेले अथवा अन्य मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन विचार करना चाहिए। कौटिल्य ने भी कहा—

"देश-काल-कार्यवशेन त्वेकेन सह, द्वाभ्याम्, एको वा यथासामर्थ्यं मन्त्रयेत।"
[अ० १०। अ० १४]

(२) धर्म, काम, अर्थ के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन ७। २६ पर द्रष्टव्य है।

(३) 'अर्ध' शब्द का यहाँ 'एक भाग' अर्थ में प्रयोग है। संप्रविभाग अर्थ में

नहीं। जैसे 'नगरार्ध' का 'नगर का एक भाग' अर्थ है उसी प्रकार यहां 'रात्रि के किसी भाग में' अर्थ है।

धर्म, अर्थ, काम में विरोध को दूर करे--

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥ (११७)

(च) और (तेषां परस्परविरुद्धानां समुपार्जनम्) उस धर्म-अर्थ-काम में परस्पर विरोध आ पड़ने पर उसे दूर करना और उनमें अभिवृद्धि करना (च) और (कन्यानां कुमाराणां सम्प्रदानं च रक्षणम्) कन्याओं और कुमारों का गुरुकुलों में भेजना और उनकी सुरक्षा तथा विवाह व्यवस्था का भी विचार करे ॥ १५२ ॥

"राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें। किन्तु आचार्यकुल में रहते हैं जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावें"। (स० प्र० ७६)

दूतसंप्रेषण और गुप्तचरों के आचरण पर दृष्टि—

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ (११८)

(च) और (दूतसंप्रेषणम्) दूतों को इधर-उधर भेजना (तथैव कार्यशेषम्) उसी प्रकार अन्य शेष रहे कार्यों को पूर्ण करना (च) तथा (अन्तःपुर-प्रचारम्) अन्तःपुर=महल के आन्तरिक आचरणों-गतिविधियों एवं स्थितियों (च) और (प्रणिधीनां चेष्टितम्) नियुक्त गुप्तचरों के आचरणों एवं गतिविधियों पर भी ध्यान रखे, विचार करे ॥ १५३ ॥

अष्टविध कर्म आदि पर चिन्तन—

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥ (११९)

(च) और (कृत्स्नम् अष्टविधं कर्म) सम्पूर्ण अष्टविध कर्म (च) तथा (पञ्चवर्गम्) पञ्चवर्ग की व्यवस्था (अनुरागौ) अनुराग=लगाव और अपराग=स्नेह का अभाव=द्वेष (च) तथा (मण्डलस्य प्रचारम्)

मण्डल की गतिविधि एवं आचरण [७ । १५५-१५७ में वक्ष्यमाण] (तत्त्वतः) इन बातों पर ठीक ठीक चिन्तन करे ।। १५४ ।।

अनुशीलन : (१) **अष्टविध कर्मों के विवाद का समाधान**—मनु ने इस श्लोक में राजा के अष्टविध कर्मों की गणना न करके केवल "**कृत्स्नं च अष्टविध कर्म**' कहकर संकेतमात्र दिया है। भाष्यकारों ने इसकी व्याख्या में अपने-अपने मत देकर राजा के अष्टविध कर्म गिनाये हैं। इन कर्मों में मतभेद होने से यह बात विवादास्पद-सी बनगयी है और परवर्ती व्याख्याकार केवल अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मत देकर इस श्लोक की व्याख्या करके आगे चल देते हैं।

यहां विचारणीय बात यह है कि श्लोक ७ ।१४५-२२६ तक मनु ने राजा की दिनचर्या के अन्तर्गत गुप्तमन्त्रणा या मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करने योग्य विषयों का उल्लेख किया है [७ । १४७-२१५]। इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्टतः कह दी हैं, इस श्लोक में केवल संख्या का उल्लेख कर दिया है। इसका अर्थ करते समय हम दो बातों पर ध्यान देंगे—(१) मन्त्रणा में परिगणित बातों से भिन्न अष्टविध बातें होनी चाहिएं, क्योंकि एक ही स्थान पर पुनरुक्ति का होना बुद्धिसंगत नहीं। (२) 'कृत्स्नम्' विशेषण अपना विशेष अर्थ देकर यह संकेत करता है कि ये अष्टविध कर्म राजा के समग्र कर्त्तव्य हैं। इनके आधार पर मनन से मनुस्मृति में ही अष्टविध कर्मों का उल्लेख पाया जाता है

७ । ३६ से १४४ तक श्लोकों में मनु ने 'भृत्यों सहित राजा के समग्र कर्त्तव्यों' का वर्णन किया है। दूसरे शब्दों में,निष्कर्ष रूप में वह राजा की जीवनचर्या है; अतः कहा जा सकता है कि वही राजा के सम्पूर्ण अष्टविध कर्म हैं। जीवनचर्या के प्रसंग में पहले परिगणित होने के कारण यहां दिनचर्या के प्रसंग में उनका परिगणन नहीं किया। इस प्रकार राजा के अष्टविध कर्मों को मनुस्मृति से बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं रहती। वे निम्न प्रकार हैं—

(क) **मनुप्रोक्त राजा के अष्टविध कर्म**—

(१) आचार्य ऋत्विक् आदि वेदों के विद्वानों की संगति और उनसे शिक्षाग्रहण [७ । ३७, ३९, ४३], (२) इन्द्रियजय और उससे व्यसनों से बचाव [७ ४४-५३], (३) मन्त्रियों, अमात्यों, दूतों, अध्यक्षों आदि की नियुक्ति और उनसे कार्यसम्पादन [७।५४-६८], (४) दुर्गनिर्माण [७ । ६९-७७], (५) युद्ध के लिए प्रशिक्षित तथा सन्नद्ध रहना [७ । ८७-१०६], (६) अपराधियों आदि को न्यायपूर्वक दण्डित करना और इस प्रकार प्रजा को शान्ति, समृद्धि, सुरक्षा प्रदान करना [७।१०७-१२४], (७) वेतन आदि देना [७ । १२५-१२६], (८) करसंग्रह [७ । १२७-१४२]।

(ख) 'उशनस् स्मृति' में राजा के अष्टविध कर्म ये गिनाये हैं—

"आदाने च विसर्गे च प्रैषनिषेधयोः।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे॥
दण्डशुद्ध्योस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः।"

अर्थात्—राजा के अष्टविध कर्म ये हैं—१. आदान=करों का लेना, २. विसर्ग=कर्मचारियों को वेतन देना, ३. प्रैष=मन्त्री, राजदूत आदि को कार्यों पर भेजना, ४. निषेध=विरुद्ध कार्यों को न करना, ५. अर्थवचन =राजाज्ञा का पालन कराना, ६. व्यवहार का देखना—मुकद्दमों को निपटाना, ७. दण्ड=दण्डदेना, ८. शुद्धि—पापियों-अपराधियों को प्रायश्चित्त आदि से सुधारना।

(ग) मेधातिथि ने अष्टविध कर्म निम्न माने हैं—

१. नहीं किये कार्य का आरम्भ, २. आरम्भ किये कार्यों की समाप्ति, ३. पूर्ण किये कार्य का प्रसार, ४. कर्म के फलों का संग्रह करना, ५. साम, ६. दाम, ७. दण्ड, ८. भेद। अथवा—१. व्यापार का मार्ग, २. जल में सेतु बांधना, ३. दुर्ग बनाना, ४. किये हुए कार्य के संस्कारों का निर्णय, ५. हाथी पकड़ना, ६. खानों की प्राप्ति करना, ७. शून्यस्थान में प्रवेश, ८. काष्ठ के वनों को कटवाना।

(२) **'पञ्चवर्ग' से अभिप्राय** - (क) अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रणा के प्रसंग में 'पञ्चाङ्गमन्त्र' के नाम से पांच विचारणीय बातों का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में परम्परा से प्रचलित यही व्याख्यान पञ्चवर्ग से अभीष्ट है। यहां मनु ने भी मन्त्रणा प्रसंग में ही पञ्चवर्ग का उल्लेख किया है। पञ्च-अंग ये हैं—(१) कार्यों को आरम्भ करने का उपाय, (२) पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, (३) देश-काल का विभाग, (४) विघ्नों का प्रतीकार करना, (५) कार्यसिद्धि, [**"कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिः-इति पञ्चाङ्गो मन्त्रः"** प्रक० १०। अ० १४]।

(ख) कुल्लूकभट्ट ने निम्न पांच प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था को 'पञ्चवर्ग' कहा है। किन्तु इस मान्यता में एक-दो आपत्तियां आती हैं—(१) १५३ वें श्लोक में समग्र रूप में गुप्तचरों के कार्यों की व्यवस्था का कथन हो चुका है, (२) परम्परागत रूप में शास्त्रों में केवल पांच ही नहीं, अपितु प्रमुख गुप्तचरों के अन्य वर्ग भी हैं। अतः कौटिल्यप्रोक्त 'पंचांग' इस प्रसंग में अधिक संगत लगता है। कुल्लूक द्वारा वर्णित पांच प्रकार के गुप्तचर निम्न हैं—

१. कापटिक (छल, कपट के व्यवहार से भेदों को जानने वाला), २. उदास्थित (संन्यासी या साधु के वेश में महान् व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध करके बैठाना और इस प्रकार गुप्त भेदों की जानकारी देने वाला), ३. कृषक (नकली किसान बनकर गुप्तचरी करने वाला), ४. वाणिजक (नकली व्यापारी के रूप वाला), ५. तापस व्यंजक (नकली तपस्वी के रूप वाला)।

(३) **अनुराग और अपराग**—अपनी और शत्रुराजा की प्रजाओं में तथा अन्य

राजाओं में अनुराग=कौन राजा से स्नेह रखने वाला है, और कौन अपराग=द्वेष रखने वाला है; इन पर विचार करना। इन्हीं दो तत्त्वों को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में [प्रक० ८-९ में] कृत्य और अकृत्य पक्ष के रूप में वर्णित किया है। कृत्य जिनको किसी लालचवश राजा से फोड़ा-तोड़ा जा सके अर्थात् असंतुष्ट, अपरागी। ये प्रमुखरूप से क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अवमानित चार प्रकार के होते हैं [देखिए ७। ६७ की समीक्षा]। अकृत्य=जिनको फोड़ा न जा सके, संतुष्ट प्रजाजन, अनुरागी। स्वप्रजाजनों और शत्रुप्रजाजनों की भांति अन्य राजाओं के स्नेह और द्वेष पर भी राजा विचार करे।

(४) **मण्डल**—१५५ से १५७ श्लोकों में वर्णित प्रकृतियों को 'मण्डल' कहा जाता है। राजा इन सबकी गतिविधियों, स्थितियों, आचरणों पर गम्भीर रूप से विचार करे। अर्थशास्त्र [प्र० ९७। अ० २] में आचार्य कौटिल्य ने इन बहत्तर प्रकृतियों के मण्डल को चार प्रकृतिमण्डलों में बांटा है। उसका विवरण १५७ पर प्रदर्शित है।

राज्यमण्डल की विचारणीय चार मूल प्रकृतियां—

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥ १५५॥ (१२०)

(च) और (मध्यमस्य प्रचारम्) 'मध्यम' राजा के आचरण और गतिविधि तथा (विजिगीषोः चेष्टितम्) 'विजिगीषु' राजा के प्रयत्नों का (च) तथा (उदासीनप्रचारम्) 'उदासीन' राजा की स्थिति-गतिविधि [७। १५८] का (च) (शत्रोः एव) शत्रु [७। १५८] राजा के आचरण एवं स्थिति गतिविधि आदि का भी (प्रयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक विचार करे अर्थात् विचार करके तदनुसार प्रयत्न भी करे=आचरण में लाये॥ १५५॥

अनुशीलन : मध्यम आदि चार मूल प्रकृतिरूप राजाओं के लक्षण—आचार्य कौटिल्य ने 'मण्डल' की प्रकृतियों की व्याख्या अपने अर्थशास्त्र [प्र० ९७] में करते हुए इन राजाओं के निम्न लक्षण बतलाये हैं—

(१) **मध्यम**—"**अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः।**"=अरि और विजिगीषु राजाओं से भिन्न वह राजा जो उनकी संधि में संधि का समर्थक रहे और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक रहे, वह 'मध्यम' कहलाता है।

(२) विजिगीषु—"**राजा आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः।**"=जो राजा आत्मसम्पन्न हो, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृतियों से सम्पन्न [७। १५७] हो, नीति का आश्रय लेने वाला हो, ऐसा विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला राजा 'विजिगीषु' कहाता है।

(३) उदासीन—"अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानाम्, उदासीनः।"= अरि, विजिगीषु और मध्यम इनसे भिन्न राजा, जो शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान् हो, तथा अरि, विजिगीषु और मध्यम की संधि में संधि का समर्थक एवं उन तीनों के विग्रह में निग्रह का समर्थक 'उदासीन' आचरण वाला राजा कहलाता है। मनु के अनुसार विजिगीषु और शत्रु से परला=बाद की सीमा वाला राजा 'उदासीन' है [७।१५८]।

(४) शत्रु—मनु के अनुसार विजिगीषु राजा की सीमा से लगता हुआ [अनन्तरमरिं विद्यात् ७। १५८] राजा शत्रु होता है। कौटिल्य शत्रुओं के भेदोपभेद प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं—"भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः। विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः।" विजिगीषु राजा की सीमा से लगा हुआ राजा और विजिगीषु के में वंश उत्पन्न समान दायभाग चाहने वाला राजा, ये दोनों 'सहजशत्रु' हैं। किसी कारण से विरोधी हो जाने वाला या किसी दूसरे को विरोधी बना देने वाला 'कृत्रिम शत्रु' कहलाता है।

राज्यमण्डल की विचारणीय आठ और मूलप्रकृतियां—

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥ (१२१)

(समासतः) संक्षेप में (एताः मण्डलस्य मूलं प्रकृतयः) ये चार [मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु] राज्यमण्डल की मूल प्रकृतियां=मूल रूप से विचारणीय स्थितियां या विषय हैं (च) और (अष्टौ अन्याः समाख्याताः) आठ मूल प्रकृतियां और कही गई हैं (ताः तु द्वादश एव स्मृताः) इस प्रकार वे कुल मिलाकर [४+८=१२] बारह होती हैं ॥ १५६ ॥

अनुशीलन : शेष आठ मूलप्रकृतिरूप राजाओं के लक्षण—'मण्डल' में मूलप्रकृतियां बारह हैं। इनमें से चार—मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु नामक प्रकृतियों का वर्णन १५५ वें श्लोक में हो चुका है। शेष आठ प्रकृति और हैं जिनकी गणना शायद अतिप्रसिद्धि के कारण मनु ने इस श्लोक में नहीं की है। कौटिल्य ने मनु के क्रम और विधानानुसार इन पर अपने अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार आठ प्रकृति निम्न हैं—

मित्रराजा—मनु के अनुसार शत्रु राजा की सीमा से लगता हुआ उसके बाद वाला राजा विजिगीषु का 'मित्र' होता है ["अरेरनन्तरं मित्रम्" ७। १५८]। कौटिल्य ने भी यही कहा है—"भूम्येकान्तरा मित्रप्रकृतिः।" [प्रक० ९७। अ० २]। (२) शत्रु का मित्र राजा, (३) मित्र का मित्र राजा, (४) शत्रुमित्र का भी मित्र राजा (५) पार्ष्णिग्राह (वह पृष्ठवर्ती राजा जो विजिगीषु द्वारा कहीं आक्रमण के लिए अपने राज्य

से जाने के बाद पीछे से उसके राज्य पर आक्रमण कर देता है), (६) आक्रन्द (जो अपने मित्र राजा को किसी की सहायता करने से रोकता है या जिसकी राजधानी अपने राज्य के निकट लगती हो), (७) पार्ष्णिग्राहासार—'पार्ष्णिग्राह' को घेरकर रखने वाला या उस पर आक्रमण करने वाला राजा, (८) आक्रन्दासार— 'आक्रन्द' राजा को घेर-कर रखने वाला या उसपर आक्रमण करने वाला राजा। इन सभी राजाओं तथा इनकी स्थितियों पर राजा को हर समय ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने इनकी गणना निम्न प्रकार की है—

"तस्मात् मित्रम्, अरिमित्रम्, मित्रमित्रम्, अरिमित्रमित्रम्, चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्। पश्चात् पार्ष्णिग्राहः, आक्रन्दः, पार्णिग्राहासारः, आक्रन्दा-सारः, इति।" [प्रक० ९७। अ० २]

राज्यमण्डल की प्रकृतियों के बहत्तर भेद—

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥(१२२)

(अमात्य-राष्ट्र-दुर्ग-अर्थ-दण्ड-आख्याः) मन्त्री, राष्ट्र, किला, कोष, दण्ड नामक (अपराः पञ्च) और पांच प्रकृतियां हैं (प्रत्येकं कथिता हि एताः) पूर्वोक्त [१५५-१५६] बारह प्रकृतियों के साथ ये मिलकर अर्थात् पूर्वोक्त प्रत्येक बारहों प्रकृतियों के पांच-पांच भेद होकर इस प्रकार (संक्षेपेण द्विसप्ततिः) संक्षेप से कुल ७२ प्रकृतियां [=विचारणीय स्थितियां या विषय] हो जाती हैं। १२ पूर्व की और १२ के ५-५ भेद से ६० इस प्रकार १२×५= ६०+१२=७२ हैं॥ १५७॥

अनुशीलन : बहत्तर प्रकृतियां—इन श्लोकों के अनुसार बारह मूल-प्रकृतियां हैं—१. विजिगीषु, २. मध्यम, ३. उदासीन, ४. शत्रु, ५. मित्रराजा, ६. मित्र का मित्रराजा, ७. शत्रु का मित्रराजा, ८. शत्रु के मित्र का मित्रराजा, ९. पार्ष्णिग्राह, १०. आक्रन्द, ११. पार्ष्णिग्राहासार, १२. आक्रन्दासार। पांच द्रव्य प्रकृतियां—१. मंत्री, २. राष्ट्र, ३. किला, ४. कोष, ५. दण्ड हैं। एक-एक मूल प्रकृति के पांच प्रकृतियों के साथ मिलकर पांच भेद हो जाते हैं अर्थात् एक मूलप्रकृति और पांच उसके भेद इस प्रकार एक मूलप्रकृति के छः भेद हुए। यथा, प्रथम मूलप्रकृति 'विजिगीषु' है। उसके छह भेद बनेंगे—१. विजिगीषु राजा, २. विजिगीषु मंत्री, ३. विजिगीषु राष्ट्र, ४. विजिगीषु किला, ५. विजिगीषु कोष, ६. विजिगीषु दण्ड। इसी प्रकार मिलकर अन्य मूल प्रकृतियों के भेद बनेंगे। इस प्रकार बारह प्रकृतियों के १२×६=७२ बहत्तर भेद होते हैं। कौटिल्य ने मूलप्रकृतियों में तीन-तीन का एक वर्ग बनाकर उनके साथ पांच प्रकृतियों को मिलाकर ३×५=१५+३=१८ का एक प्रकृतिमण्डल माना है। इस प्रकार चार प्रकृतिमण्डल का एक 'मण्डल' वर्णित किया है [अर्थशास्त्र प्रक० ९७]।

इस प्रकार राजा प्रत्येक मूलप्रकृति पर और फिर उनकी प्रत्येक द्रव्यप्रकृति (अमात्य आदि पांच) पर पूर्ण ज्ञान सहित विचार करे। विचार करके यथोचित उपाय करे और विघ्न आदि को दूर करे। पुनः विजयार्थ यात्रा करे।

शत्रु, मित्र और उदासीन की परिभाषा—

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥१५८॥ (१२३)

(अनन्तरम्) अपने राज्य के समीपवर्ती राजा को (च) और (अरिसेविनम्) शत्रुराजा की सेवा-सहायता करने वाले राजा को (अरिं विद्यात्) 'शत्रु' ही समझे (अरेः+अनन्तरं मित्रम्) अरि से भिन्न अर्थात् शत्रु से विपरीत आचरण करने वाले अर्थात् सेवा-सहायता करने वाले राजा को और शत्रुराजा को सीमा से लगे अगले राजा को 'मित्र' और (तयोः परम्) इन दोनों से भिन्न परवर्ती राजा को (उदासीनम्) जो न सहायता करे न विरोध करे, उसे 'उदासीन' राजा (विद्यात्) समझना चाहिए ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ (१२४)

(तान् सर्वान्) उन सब प्रकार के राजाओं को (साम+आदिभिः+उपक्रमैः) 'साम' आदि [साम, दाम, दण्ड, भेद] उपायों से (व्यस्तैः) एक-एक उपाय से (च) अथवा (समस्तैः) सब उपायों का एकसाथ प्रयोग करके (पौरुषेण) वीरता से (च) तथा (नयेन) नीति से (अभिसंदध्यात्) वश में रखे ॥ १५९ ॥

सन्धि, विग्रह आदि षड्गुणों का वर्णन—

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥ (१२५)

(सन्धिम्) सन्धि (विग्रहं यानं आसनं द्वैधीभावं च संश्रयं) विग्रह यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन (षड्गुणान् एव) छः गुणों का भी (सदा चिन्तयेत्) राजा सदा विचार-मनन करे ॥ १६० ॥

अनुशीलन : (१) सुखपूर्वक रहने के लिए शत्रुराजा से कुछ लेदेकर मिलाप कर लेना या किसी राजा से मिलकर आक्रमण करने के लिए तैयार कर लेना 'सन्धि' है। (२) युद्ध, विरोध, तोड़फोड़ आदि पैदा करना 'विग्रह' है। (३) युद्ध के लिए चढ़ाई करना 'यान' कहलाता है। (४) शत्रु को घेरकर पड़े रहना या अपनी शक्ति की क्षीणता के कारण शत्रु राजाओं से छेड़छाड़ किये बिना चुपचाप भावी आक्रमण की ताक में पड़े रहना 'आसन' है। (५) अपनी विजय के लिए अपनी सेना को दो

भागों में विभक्त कर देना या शत्रु-सेना में विभाजन कर देना 'द्वैधीभाव' है। (६) किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना 'संश्रय' है।

आसनं चैव यानं च संधि विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥ (१२६)

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है जो (आसनम्) आसन=स्थिरता (यानम्) यान=शत्रु से लड़ने के लिए जाना (सन्धिम्) संधि=उनसे मेल कर लेना (विग्रहम्) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना (द्वैधम्) द्वैध=दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना (च) और (संश्रयम्) संश्रय=निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म (कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत) यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए ॥ १६१ ॥ (स० प्र० १५८)

संधि और उसके भेद—

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६२॥ (१२७)

(राजा) राजा, (सन्धि विग्रहं यान+आसने द्विविधः च संश्रयः) संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय (द्विविधं तु) दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको (विद्यात्) यथावत् जाने ॥ १६२ ॥ (स० प्र० १५८)

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥ (१२८)

(तदा तु आयतिसंयुक्तः) तात्कालिक फल देने वाली और भविष्य में भी फल देने वाली (सन्धि) सन्धि [७। १६९] (द्विलक्षणः ज्ञेयः) दो प्रकार की समझनी चाहिए—१. (समानयानकर्मा) शत्रु राजा पर आक्रमण करने के लिए किसी अन्य राजा से मेल करके उसके साथ आक्रमण करना, (तथैव) उसी प्रकार २. (विपरीतः) पहले से विपरीत अर्थात् शत्रुराजा से आक्रमण न करने के लिए मेल करके कोई समझौता कर लेना [यह अपनी बल-स्थिति को देखकर उचित अवसर तक होता है ७। १६९] ॥ १६३ ॥ ☆

☆ [प्रचलित अर्थ—सन्धि के दो भेद हैं—(१) समानयानकर्मा सन्धि और (२) असमानयानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक सन्धि है। तथा (२) तात्कालिक या भविष्य मे लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइये, मैं इधर जाता हूं' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'असमानधर्मा' नामक सन्धि है ॥ १६३ ॥]

"(सन्धिः) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाये; यह दो प्रकार का मेल कहाता है।" (स० प्र० १५८)

अनुशीलन : इस श्लोक में किया हुआ 'विपरीत' का अर्थ मनुसम्मत है, जो ७। १६९ से सिद्ध होता है। प्रचलित टीकाओं में किया गया अर्थ 'सन्धि' ही नहीं कहला सकता।

विग्रह और उसके भेद—

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥ (१२९)

(विग्रहः द्विविधः स्मृतः) विग्रह [७। १७०] दो प्रकार का होता है—(काले) चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में (वा) अथवा (अकाले एव) अनिश्चित किसी भी समय में (१) (कार्यार्थम्) कार्य की सिद्धि के लिए (स्वयंकृतः) स्वयं किया गया विग्रह (च) और [२] (मित्रस्य अपकृते) किसी के द्वारा मित्रराजा पर आक्रमण या हानि पहुंचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए किया गया विग्रह ॥ १६४ ॥

"(विग्रह) कार्यसिद्धि के लिए उचित समय या अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिये।" (स० प्र० १५८)

यान और उसके भेद—

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥ (१३०)

(आत्ययिके कार्ये प्राप्ते) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में + (एकाकिनः) एकाकी (च) वा (मित्रेण संहतस्य) मित्र राजा के साथ मिलके शत्रु की ओर जाना [=चढ़ाई करना ७। १७१] (द्विविधं यानम्+उच्यते) यह दो प्रकार का गमन [=यान] कहाता है ॥ १६५ ॥ (स० प्र० १५८)

+ (यदृच्छया) स्वतन्त्रतापूर्वक..................

आसन और उसके भेद—

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥ (१३१)

❀ (क्रमशः) स्वयं किसी प्रकार क्रम से (क्षीणस्य एव) क्षीण हो जाये अर्थात् निर्बल हो जाये (च) अथवा (मित्रस्य अनुरोधेन) मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना (द्विविधम् आसनं स्मृतम्) यह दो प्रकार का आसन [७ । १७२] कहाता है ॥ १६६ ॥ (स० प्र० १५८)

❀ (दैवात् वा पूर्वकृतेन) संयोग से अथवा पूर्वजन्म के पाप के कारण...............

द्वैधीभाव और उसके भेद—

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥ (१३२)

(षाड्गुण्य-गुणवेदिभिः) षड्गुणों के महत्त्व को जानने वालों ने (द्वैधं द्विविधं कीर्त्यते) द्वैधीभाव [७ । १७३] दो प्रकार का कहा है–(कार्यार्थसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए १—(बलस्य स्थितिः) सेना के दो भाग करके एक भाग सेना को सेनापति के आधीन करना (च) और २—(स्वामिनः) सेना का एक भाग राजा द्वारा अपने आधीन रखना ॥ १६७ ॥

"कार्यसिद्धि के लिए सेना के दो विभाग करके विजय करना दो प्रकार का 'द्वैध' कहाता है।" (स० प्र० १५६)

संश्रय और उसके भेद—

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥ (१३३)

(शत्रुभिः पीड्यमानस्य) शत्रुओं द्वारा पीड़ित होकर (अर्थसम्पादनार्थम्) अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा आत्मरक्षा के लिए किसी राजा का आश्रय लेना (च) और (व्यपदेशार्थं साधुषु) भावी हार या दुःख से बचने के लिए किसी श्रेष्ठ राजा का आश्रय लेना ये (द्विविधः संश्रयः स्मृतः) दो प्रकार का 'संश्रय' [७ । १७४] कहलाता है ॥ १६८ ॥

"एक—किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो; दो प्रकार का आश्रय लेना कहाता है।" (स० प्र० १५६)

सन्धि का समय—

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥१६९॥(१३४)

(यदा+अवगच्छेत्) जब यह जान ले कि (तदात्वे) इस समय युद्ध

करने से (अल्पिकां पीडाम्) थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी (च) और (आयत्याम्) पश्चात् [=भविष्य] में करने से (आत्मनः ध्रुवम् आधिक्यम्) अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी (तदा संधिं समाश्रयेत्) तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज रखे ॥ १६९ ॥ (स० प्र० १५९)

विग्रह का समय—

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥ (१३५)

(यदा सर्वाः प्रकृतीः) जब अपनी सब प्रजा वा सेना (भृशम्) अत्यन्त (प्रहृष्टाः) प्रसन्न (अत्युच्छ्रितम्) उन्नतिशील और श्रेष्ठ (मन्येत) जाने (तथा) वैसे (आत्मानम्) अपने को भी समझे (तदा विग्रहं कुर्वीत) तभी शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे ॥ १७० ॥ (स० प्र० १५९)

यान का समय—

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥ (१३६)

(यदा स्वकं बलम्) जब अपने बल अर्थात् सेना को (हृष्टं पुष्टं भावेन मन्येत) हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने (च) और (परस्य) शत्रु का बल (विपरीतम्) अपने से विपरीत निर्बल हो जावे (तदा रिपुं प्रति यायात्) तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे ॥ १७१ ॥
(स० प्र० १५९)

आसन का समय—

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥ (१३७)

(यदा) जब (बलेन वाहनेन) सेना, बल, वाहन से (परिक्षीणः स्यात्) क्षीण हो जाये (तदा) तब (अरीन् शनकैः प्रयत्नेन सान्त्वयन्) शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ (आसीत) अपने स्थान में बैठा रहे ॥ १७२ ॥ (स० प्र० १५९)

द्वैधीभाव का समय—

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥ (१३८)

(यदा राजा) जब राजा (अरिं सर्वथा बलवत्तरं मन्येत) शत्रु को

अत्यन्त बलवान् जाने (तदा) तब (द्विधा बलं कृत्वा) द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके (आत्मनः कार्यं साधयेत्) अपना कार्य सिद्ध करे ॥ १७३ ॥ (स० प्र० १५६)

संश्रय का समय—

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥ (१३९)

(यदा) जब आप समझ लेवे कि अब (परबलानां तु गमनीयतमः भवेत्) शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी (तदा तु) तभी (धार्मिकं बलिनं नृपं क्षिप्रं संश्रयेत्) किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥ १७४ ॥ (स० प्र० १५६)

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥ (१४०)

(यः) जो (प्रकृतीनाम्) प्रजा और अपनी सेना (च) और शत्रु के बल का (निग्रहं कुर्यात्) निग्रह करे अर्थात् रोके (तं सर्वयत्नैः) उसकी सब यत्नों से (गुरुं यथा) गुरु के सदृश (नित्यम् उपसेवेत) नित्य सेवा किया करे ॥ १७५ ॥ (स० प्र० १५६)

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥ (१४१)

(संश्रयकारितं यदि तत्र+अपि दोषं संपश्येत्) जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो (तत्र+अपि) वहाँ भी (सुयुद्धम्+एव) अच्छे प्रकार युद्ध ही को (निर्विशङ्कः समाचरेत्) निःशंक होकर करे ॥१७६॥ (स० प्र० १५६)

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥ (१४२)

(नीतिज्ञः पृथिवीपतिः) नीति का जानने वाला पृथिवीपति राजा (यथा) जिस प्रकार (अस्य) इसके (मित्र-उदासीन-शत्रवः) मित्र, उदासीन =तटस्थ और शत्रु (अधिकाः न स्युः) अधिक न हों (तथा सर्व+उपायैः कुर्यात्) ऐसे सब उपायों से वर्ते ॥ १७७ ॥ (स० प्र० १६१)

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥ (१४३)

(सर्वकार्याणां तदात्वम्) सब कार्यों का वर्तमान में कर्त्तव्य (च) और (आयतिम्) भविष्यत् में जो-जो करना चाहिए (च) और (अतीतानां सर्वेषाम्) जो-जो काम कर चुके, उन सबके (तत्त्वतः गुणदोषौ विचारयेत्) यथार्थता से गुण-दोषों को विचार करे। पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे ॥ १७८ ॥ (स० प्र० १६१)

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ (१४४)

(आयत्यां गुणदोषज्ञः) जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करने वाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता (तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः) वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्ता, और (अतीते कार्यशेषज्ञः) किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है (शत्रुभिः न+अभिभूयते) वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥ १७९ ॥ (स० प्र० १६१)

राजनीति का निष्कर्ष—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥ (१४५)

(सर्वं तथा विदध्यात्) सब प्रकार के राजपुरुष, विशेषसभापति राजा ऐसा प्रयत्न करें कि (यथा) जिस प्रकार (मित्र-उदासीन-शत्रवः) राजादि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु को वश में करके (न+अभिसंदध्युः) अन्यथा न करपावें, ऐसे मोह में न फंसे (एषः सामासिकः नयः) यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है ॥ १८० ॥ (स० प्र० १६१)

अनुशीलन : मित्र, उदासीन और शत्रु के लक्षण क्रमशः ७। २०६, २१०, २११ में देखिए।

आक्रमण के लिए जाना और व्यूहरचना आदि की व्यवस्था—

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥ (१४६)

(प्रभुः) राजा (यदा) जब भी (अरिराष्ट्रं प्रति) शत्रु के राज्य पर (यानम्+आतिष्ठेत्) चढ़ाई करे (तदा) तब (अनेन विधानेन) इस निम्नलिखित विधि से (शनैः) सावधानीपूर्वक (अरिपुरं यायात्) शत्रु राष्ट्र पर चढ़ाई करे ॥ १८१ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१८४॥ (१४७)

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे तब (मूले विधानं तु) अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध (च) और (यात्रिकम्) यात्रा की सब सामग्री (यथाविधि कृत्वा) यथाविधि करके (आस्पदम् एव उपगुह्य) सब सेना, यान, वाहन, शस्त्र, अस्त्र आदि पूर्ण लेकर (चारान् सम्यक् विधाय) सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे ।। १८४ ।।

(स० प्र० १६१)

त्रिविध मार्ग का संशोधन करे—

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ।।१८५।। (१४८)

(त्रिविधं मार्गं संशोध्य) तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक--स्थल=भूमि में दूसरा-जल=समुद्र वा नदियों में, तीसरा-आकाश मार्गों को शुद्ध बनाकर भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमान आदि यानों से जावे (च) और (षड्विधम्) पैदल, रथ, हाथी, घोड़े शस्त्र और अस्त्र, खान-पान आदि सामग्री को यथावत् साथ ले (बलं स्वकम्) बलयुक्त पूर्ण (सांपरायिककल्पेन) किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके (अरिपुरं शनैः यायात्) शत्रु के नगर के समीप धीरे धीरे जावे ।। १८५ ।। ※

(स० प्र० १६१)

अनुशीलन : **त्रिविध मार्ग का मनुसम्मत अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में त्रिविध मार्ग का अर्थ—'जङ्गल, अनूप और आटविक किया है। यह मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता, और सही भी नहीं है। इस प्रकार अर्थ करने से तीनों केवल भूमि के ही एक मार्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस भाष्य में दिया गया अर्थ मनुसम्मत है। इस की सिद्धि ६। १९२ से होती है। वहां स्थलयुद्ध और जल में जलयान आदि से युद्ध करने का वर्णन है। इस प्रकार त्रिविध मार्गों का 'स्थल, जल, आकाश मार्ग ही प्रासंगिक सिद्ध होता है। अनूप इसी के अन्तर्गत आ जाता है समुद्रीयानों की चर्चा ८।१५७, ४०६, ४०९ में भी आती है। उस काल में ये यान थे।

आक्रमण के समय शत्रु और शत्रुमित्र पर विशेष दृष्टि रखे—

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेद्

※ [**प्रचलित अर्थ**—जङ्गल, अनूप तथा आटविक भेद से तीन प्रकार के मार्गों को पेड़, लता, झाड़ी कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊंची भूमि को बराबर कराने से गमन के योग्य बनाकर और हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सेना एवं कार्यकर्ता रूप छः प्रकार के बल (सेना) उचित भोजन-वस्त्र, मान-सत्कार एवं औषध आदि से शुद्ध कर यात्रा के योग्य विधान से धीरे-धीरे शत्रु के देश को प्रस्थान करे ।। १८५ ।।]

गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥ (१४९)

(शत्रुसेविनि गूढे मित्रे) जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रखे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे (गत-प्रत्यागते एव) उसके आने जाने में, उससे बात करने में (युक्ततरः भवेत्) अत्यन्त सावधानी रखे (हि) क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र को (कष्टतरः रिपुः) बड़ा❀शत्रु समझना चाहिए ॥ १८६ ॥ (स० प्र० १६१)

❀ कष्टदायक..................

व्यूहरचनाएं—

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥ (१५०)

+(दण्डयूहेन) दण्ड के समान सेना को चलावे (शकटेन) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान (वराह-मकराभ्याम्) वराह जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे; जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे (सूच्या वा गरुडेन वा) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को बनावे; नीलकण्ठ [=गरुड़] ऊपर नीचे झपट्टा मारता है इस प्रकार सेना को बनाकर (यायात्) लड़ावे ॥ १८७ ॥
(स० प्र० १६१)

+(तत् मार्गम्) चढ़ाई करते समय मार्ग में...........

अनुशीलन : (१) जिनमें आगे बलाध्यक्ष हो, बीच में राजा, अन्त में सेनापति और उनके अगल-बगल एक-एक पंक्ति हाथी सवारों की, उन पंक्तियों के साथ एक पंक्ति घुड़सवारों की, फिर साथ में पदातियों की पंक्तियाँ; इस प्रकार दण्डे के समान तथा लम्बी पंक्ति के आकार में सेना की मोर्चाबन्दी को 'दण्डव्यूह' कहते हैं।

(२) गाड़ी के समान आगे से पतली और पीछे-पीछे अधिक फैलाववाली सेना की रचना को 'शकटव्यूह' कहा जाता है।

(३) आगे और पीछे के भागों में पतली, मध्यभाग में अधिक फैलाव वाली सेनारचना को 'वराहव्यूह' कहते हैं। इसमें सैनिक एक दल के पीछे एक दल बढ़ते जाते हैं, जैसे ही शत्रु उन्हें कम समझकर मुकाबला करता है तो पिछली सेना झुण्ड बनाकर हमला कर देती है। उनके पीछे रक्षा के लिए तथा सावधानी के लिए हल्की सेनापंक्ति रहती है।

(४) जिसका अग्रभाग मोटा, मध्य का उससे अधिक लम्बाकार होते हुए

भी विस्तृत हो और पृष्ठभाग पतला हो, उस सेना-रचना को 'मकरव्यूह' कहा जाता है।

(५) अग्रभाग से नुकीली और पृष्ठभाग से स्थूल एवं विस्तृत आकार वाली सेनारचना को 'सूचीव्यूह' कहते हैं।

(६) आगे का कुछ भाग नुकीला और उसके पीछे दो भागों में विस्तृतरूप में दूर तक फैली हुई सेना की संरचना को 'गरुडव्यूह' कहते हैं। इसमें अग्रपंक्ति जब शत्रु-सेना से लड़ने लगती है और शत्रुसेना भी जब सामने होकर संघर्ष करने लगती है तो अगल-बगल में फैली सेना शत्रुसेना पर अगल-बगल से झपट्टा मारकर दबाने की कोशिश करती है।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥ (१५१)

(यतः भयम्+आशंकेत्) जिधर भय विदित हो (ततः) उसी ओर (बलं विस्तारयेत्) सेना को फैलावे (पद्मेन एव व्यूहेन) सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके पद्मव्यूह अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रख के (स्वयं निविशेत) मध्य में आप रहे ॥ १८८ ॥ (स० प्र० १६१)

अनुशीलन : कमल के पुष्प की तरह एक दल के पीछे दूसरे दल के रूप में चारों ओर गोलाकार रूप में सेना को खड़ा करना और मध्य में राजा या सेनापति का होना, इस मोर्चाबन्दी को 'पद्मव्यूह' कहा जाता है।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं च कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥ (१५२)

(सेनापति-बलाध्यक्षौ) सेनापति और बलाध्यक्ष आज्ञा को देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ाने वाले वीरों को (सर्वदिक्षु निवेशयेत्) आठों दिशाओं में रखें (यतः भयम्+आशंकेत्) जिस ओर से लड़ाई होती हो (तां प्राचीं दिश कल्पयेत्) उसी ओर सब सेना का मुख रखे।

परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबंध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है ॥ १८९ ॥ (स० प्र० १६२)

अनुशीलन : (क) "तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्" अर्थात् 'उसे ही पूर्वदिशा मान ले' यह एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है उसी दिशा को मुख्य मानकर उसी की ओर मुख कर लेना अर्थात् शक्ति लगाना।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥ (१५३)

(गुल्मान्) जो गुल्म अर्थात् दृढ़स्तम्भों के तुल्य (आप्तान्) युद्धविद्या

में सुशिक्षित, धार्मिक (स्थाने च युद्धे कुशलान्) स्थित होने और युद्ध करने में चतुर (अभीरून्) भयरहित (च) और (अविकारिणः) जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो उनको+(समन्ततः स्थापयेत्) सेना के चारों ओर रखे ॥ १९० ॥ (स० प्र० १९२)

+ (कृतसंज्ञान्) निश्चित संकेतों को समझने वालों को........

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१ (१५४)

(अल्पान् संहतान् योधयेत्) जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे (कामं विस्तारयेत् बहून्) और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे, जब नगर. दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब (सूच्या वज्रेण व्यूह्य) 'सूचीव्यूह' तथा 'वज्र-व्यूह' जैसा दुधारा खड्ग दोनों ओर युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर (योधयेत्) लड़ावे ॥ १९१ ॥ (स० प्र० १९२)

"जो सामने (शतघ्नी) तोप वा (भुशुण्डी) बन्दूक छूट रही हो तो 'सर्पव्यूह' अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जायें, जब तोपों के पास पहुँचे तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें, बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें, एकवार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें ।" (स० प्र० षष्टसमु०)

अनुशीलन : जिस प्रकार दुधारी तलवार शरीर में नोक से घुसकर दोनों ओर से काटती जाती है, उसी प्रकार सेना की इस प्रकार मोर्चाबन्दी करना कि वह सामने लड़ती हुई शत्रु-सेना में प्रविष्ट होती जाये और अगल बगल भागों से दूसरी सेनापंक्तियां लड़ें तथा इस प्रकार रक्षा भी करें कि किसी बगल से घूमकर शत्रु घेर न ले, इस मोर्चाबन्दी को 'वज्रव्यूह' कहते हैं ।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२॥ (१५५)

(समे युध्येत् स्यन्दन+अश्वैः) -जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से (अनूपे नौ-द्विपैः) जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर (वृक्ष-गुल्म+आवृते) वृक्ष और झाड़ी में (चापैः) बाण (तथा) तथा (स्थले) स्थल बालू में (असि-चर्म+आयुधैः) तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें ॥ १९२ ॥ (स० प्र० १९२)

अनुशीलन :

मनुप्रोक्त युद्धनीति एवं उसके अंग-प्रत्यंग (तालिका)

१. युद्धनीति के आधार	२. युद्धार्थ सेना	३. सेना के अधिकारी
१. साम (७।१५६,१६८,२००)	१. पैदल-सेना (७।१८५,१६२)	१. राजा (मुख्य नायक)
२. दाम (,, ,,)	२. रथसवार सेना (,, ,,)	२. सेनापति (७। १८६)
३. भेद (,, ,,)	३. घुड़सवार सेना (,, ,,)	३. बलाध्यक्ष (,,)
४. दण्ड (,, ,,)	४. हाथीसवार सेना (,, ,,)	४. दूत (७।६३-६८)
५. सन्धि (७।१६०,१६२,१६३ १६६)	५. जल सेना (,, ,,)	
६. विग्रह (७ १६०,१६४,१७०।)	६. वायु सेना (,, ,-)	
७. यान (७।१६०,१६५,१७१)		
८. आसन (७।१६०,१६६,१७२)		
९. द्वैधीभाव (७।१६०,१६७, १७३)		
१०. संश्रय (७।१६०·१६८, १७४)		

४. युद्ध में व्यूहरचना	५. शस्त्रास्त्र-संकेत-वर्णन
१. दण्डव्यूह (७।१८७)	१. धनुष (७।१९२)
२. शकटव्यूह (,, ,,)	२. बाण (७।९०,१९२)
३. वराहव्यूह (,, ,,)	३. तलवार (७।१९२)
४. मकरव्यूह (,, ,,)	४. ढाल (७।१९२)
५. सूचीव्यूह (,, ७।१९१)	५. कूटायुध (७।९०)
६. गरुडव्यूह (,, ,,)	६. शक्ति (८।३१५)
७. पद्मव्यूह (७।१८८)	७. वरुणपाश (९।३०८)
८. वज्रव्यूह (७।१९१)	८. लोहदण्ड (८।३१५)

सेना का उत्साहवर्धन—

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥ (१५६)

(व्यूह्य बलं प्रहर्षयेत्) जिस समय युद्ध होता हो तो उस समय लडने वालों को उत्साहित और हर्षित करें, जब युद्ध बंद हो जाये तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों [=वचनों] से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र, सहाय और औषधादि से प्रसन्न रखे, व्यूह के बिना लड़ाई न करे, न करावे+(योधयताम्+अपि चेष्टाः विजानीयात्) लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि (सम्यक् परीक्षयेत्) ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है ॥ १९४ ॥ (स० प्र० १६२)

+ (अरीन्) शत्रुओं से.....................

शत्रुराजा को पीड़ित करने के उपाय—

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ (१५७)

किसी समय उचित समझे तो (अरिम् उपरुध्य आसीत) शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रखे (च) और (अस्य राष्ट्रम् उपपीडयेत्) इसके राज्य को पीडित कर (अस्य) शत्रु के (यवस-अन्न-उदक-इन्धनम्) चारा, अन्न, जल और इन्धन को (सततं दूषयेत्) नष्ट-दूषित कर दे ॥ १९५ ॥
(स० प्र० १६२)

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥ (१५८)

शत्रु के (तडागानि) तालाब (प्राकार) नगर के प्रकोट (तथा परिखाः) और खाई को (भिन्द्यात्) तोड़-फोड़ दे (रात्रौ एनं वित्रासयेत्) रात्रि में उनको भय देवे (च) और (सम्+अवस्कन्दयेत्) जीतने का उपाय करे ॥ १९६ ॥ (स० प्र० १६२)

शत्रुराजा के अमात्यों में फूट—

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ (१५९)

(उपजप्यान्) शत्रु के वर्ग के जिन अमात्य, सेनापति आदि में फूट डाली जा सके, उनमें (उपजपेत्) फूट डाल दे (च) और इस प्रकार (तत् कृतं बुध्येत) शत्रु राजा की योजनाओं की जानकारी ले ले (च) और

(जयप्रेप्सुः) विजय का इच्छुक राजा इस प्रकार (अपेतभीः) भय छोड़कर (युक्ते दैवे) उचित अवसर पर (युध्येत) युद्ध-आक्रमण शुरू कर देवे ॥१६७॥

साम्ना दामेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १६८ ॥ (१६०)

(साम्ना) 'साम' से (दामेन) 'दाम' से (भेदेन) 'भेद' से (समस्तैः) इन सब उपायों मे एकसाथ (अथवा) अथवा (पृथक्) अलग-अलग एक-एक से (अरीन् विजेतुं प्रयतेत) शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करे (कदाचन युद्धेन न) कभी पहले युद्ध से जीतने का यत्न न करे ॥ १६८ ॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥ (१६१)

(पूर्वोक्तानां त्रयाणाम्+अपि+उपायानाम् असंभवे) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद तीनों ही उपायों में से किसी से भी विजय की संभावना न रहने पर (सम्पन्नः) सब प्रकार से तैयारी करके (तथा युध्येत) इस प्रकार युद्ध करे (यथा) जिससे कि (रिपून् विजयेन) शत्रुओं पर विजय कर सके ॥ २०० ॥

राजा के विजयोपरान्त कर्त्तव्य—

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ (१६२)

(जित्वा) विजय प्राप्त करके (धार्मिकान् देवान् ब्राह्मणान् एव) जो धर्माचरणवाले विद्वान् ब्राह्मण हों उनको ही (पूजयेत्) सत्कृत करे अर्थात् उनको अभिवादन करके उनका आशीर्वाद ले (च) और (परिहारान् प्रदद्यात्) जिन प्रजाजनों को युद्ध में हानि हुई है उन्हें क्षतिपूर्ति के लिए सहायता दे (च) तथा (अभयानि ख्यापयेत्) सब प्रकार के अभयों की घोषणा करा दे कि 'प्रजाओं को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं दिया जायेगा अतः वे सब प्रकार से भय-आशंका-रहित होकर रहें' ॥ २०१ ॥

हारे हुए राजा से प्रतिज्ञापत्र आदि लिखवाना—

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥ (१६३)

(एषां सर्वेषाम्) विजित प्रदेश की इन सब प्रजाओं की (चिकीर्षितम्) इच्छा को (समासेन विदित्वा) संक्षेप से अर्थात् सरसरी तौर पर जानकर कि वे किसे अपना राजा बनाना चाहती हैं या कोई और विशेष आकांक्षा हो उसे भी जानकर (तत्र) उस राजसिंहासन पर (तत् वंश्यम्) उस प्रदेश

की प्रजाओं में से उन्हीं के वंश के किसी व्यक्ति को (स्थापयेत्) बिठा देवे (च) और (समय-क्रियाम् कुर्यात्) उससे शर्तनामा लिखा लेवे [कि अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना है, अमुक मेरी इच्छा से। इसी प्रकार अन्य कर, अनुशासन आदि से सम्बद्ध बातें भी उसमें हों] ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ (१६४)

(तेषां यथोदितान् धर्म्यान्) उन विजित प्रदेश की प्रजाओं या नियुक्त राजपुरुषों द्वारा कही हुई उसकी न्यायोचित [=वैध] बातों को (प्रमाणानि कुर्वीत) प्रमाणित कर दे अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार कर ले। अभिप्राय यह है कि उनकी न्यायोचित बातों को मान लेवे और जो अमान्य बातें हों उनको न माने (च) और (प्रधानपुरुषैः सह एनम्) प्रधान राजपुरुषों के साथ बन्दीकृत इस राजा का (रत्नैः पूजयेत्) उत्तम वस्तुयें प्रदान करते हुए यथायोग्य सत्कार रखे ॥ २०३ ॥

"जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञा आदि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे। और ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाये, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्न आदि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसको योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे।" (स० प्र० १६४)

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥ (१६५)

क्योंकि (आदानम्+अप्रियकरम्) संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति (च) और (दानं प्रियकारकम्) देना प्रीति का कारण है, और (काले युक्तम्) समय पर उचित क्रिया करना (अभीप्सितानाम्+अर्थानाम्) उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना (प्रशस्यते) बहुत उत्तम है ॥ २०४ ॥ (स० प्र० १६२)

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६ ॥(१६६)

[यदि पूर्वोक्त कथनानुसार (७ । २०२--२०३) राजा को बन्दी न बनाकर उसके स्थान पर दूसरा राजा न बिठाकर उसे ही राजा रखे तो] (अपि वा) अथवा (सह युक्तः) उसी राजा के साथ मेल करके (प्रयत्नतः सन्धि कृत्वा) बड़ी सावधानी पूर्वक उससे सन्धि करके अर्थात् सन्धिपत्र लिखाकर (मित्रं हिरण्यं वा भूमिं त्रिविधं फलं सम्पश्यन्) मित्रता, सोना अथवा भूमि की प्राप्ति होना, इन तीन प्रकार के फलों को देखकर अर्थात् इनकी उपलब्धि करके (व्रजेत्) वापिस लौट आये ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ (१६७)

(मण्डले) अपने राज्य में (पार्ष्णिग्राहम्) 'पार्ष्णिग्राह' संज्ञक राजा [१५६] (तथा) तथा (आक्रन्दं संप्रेक्ष्य) 'आक्रन्द' संज्ञक राजा का [१५६] ध्यान रखके (मित्रात्+अथापि+अमित्रात्) मित्र अथवा पराजित शत्रु से (यात्राफलम्+अवाप्नुयात्) युद्धयात्रा का फल प्राप्त करे। अभिप्राय यह है कि अपने पड़ोसी राजाओं से, सुरक्षा के लिए या उनको वश में करने के लिए कौन से फल की अधिक उपयोगिता होगी, यह सोचकर शत्रु या मित्र से वही-वही फल मुख्यता से प्राप्त करे ॥ २०७ ॥

सच्चा मित्र सबसे बड़ी शक्ति—

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
तथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥ (१६८)

(पार्थिवः) राजा (हिरण्य-भूमि-सम्प्राप्त्या) सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से (तथा न एधते) वैसा नहीं बढ़ता (यथा) कि जैसे (ध्रुवम्) निश्चल प्रेमयुक्त (आयतिक्षमम्) भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य-सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र (अपि कृशम्) अथवा दुर्बल मित्र को भी (लब्ध्वा) प्राप्त होके बढ़ता है ॥ २०८ ॥ (स० प्र० १६४)

प्रशंसनीय मित्र राजा के लक्षण—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥ (१६९)

(धर्मज्ञम्) धर्म को जानने (च) और (कृतज्ञम्) कृतज्ञ अर्थात् किये हुए उपकार को सदा मानने वाले (तुष्टप्रकृतिम्) प्रसन्नस्वभाव (अनुरक्तम्) अनुरागी (स्थिरारम्भम्) [=स्थिरतापूर्वक मित्रता या कार्य करने वाला] (लघुमित्रम्) लघु=छोटे मित्र को प्राप्त होकर (प्रशस्यते) प्रशंसित होता है ॥ २०९ ॥ (स० प्र० १६४)

कष्टकर शत्रु के लक्षण—

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥ (१७०)

सदा इस बात को दृढ़ रखे कि कभी (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (कुलीनम्) कुलीन (शूरम्) शूरवीर (दक्षम्) चतुर (दातारम्) दाता (कृतज्ञम्) किये हुए को जाननेहारे (च) और (धृतिमन्तम्) धैर्यवान् पुरुष को (अरिम् कष्टम्+आहुः) शत्रु न बनावे क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा वह दुःख पावेगा ❀ ॥ २१० ॥ (स० प्र० १६४)

❀ (बुधा) विचारशील विद्वानों का ऐसा मत है।

उदासीन के लक्षण—

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ (१७१)

उदासीन का लक्षण—(आर्यता पुरुषज्ञानम्) जिसमें प्रशंसितगुण-युक्त अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान (शौर्यम्) शूरवीरता (च) और (करुण-वेदिता) करुणा भी (स्थौललक्ष्यं सततम्) स्थूल लक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे (उदासीनगुणोदयः) वह उदासीन कहाता है ॥ २११॥ (स० प्र० १६५)

राजा द्वारा आत्मरक्षा सबसे आवश्यक—

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥ (१७२)

(नृपः) राजा (आत्मार्थम्) अपनी राज्य की रक्षा के लिए (क्षेम्याम्) आरोग्यता से युक्त (सस्यप्रदाम्) धान्य-घास आदि से उपजाऊ रहने वाली (नित्यं पशुवृद्धिकरीम्) सदैव जहाँ पशुओं की वृद्धि होती हो, ऐसी भूमि को भी (अविचारयन्) बिना विचार किये (परित्यजेत्) छोड़ देवे अर्थात् विजयी राजा को देनी पड़े तो दे दे, उसमें कष्ट अनुभव न करे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ (१७३)

आपत्ति में पड़ने पर (आपत्+अर्थम्) आपत्ति से रक्षा के लिए (धनं रक्षेत्) धन की रक्षा करे, और (धनैः+अपि) धनों की अपेक्षा (दारान् रक्षेत्) स्त्रियों की अर्थात् परिवार की रक्षा करे (दारैः+अपि

धनैः+अपि) स्त्रियों से भी और धनों से भी आत्मरक्षा करना सबसे आवश्यक है। यदि उसकी रक्षा नहीं हो सकेगी तो वह न परिवार की रक्षा कर सकेगा और न धन की न राज्य की ॥ २१३ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥(१७४)

(सर्वाः आपदः भृशं सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य) सब प्रकार की आपत्तियां तीव्र रूप में और एकसाथ उपस्थित हुई देखकर (बुधः) बुद्धिमान् (संयुक्तान्) सम्मिलित रूप से और (वियुक्तान्) पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् जैसे भी उचित समझे (सर्व+उपायान् सृजेत्) सब उपायों को उपयोग में लावे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ (१७५)

(उपेतारम्) उपेता=प्राप्त करनेवाला अर्थात् स्वयं (उपेयम्) उपेय=प्राप्त करने योग्य अर्थात् शत्रु (च) और (सर्व+उपायान्) सब विजय प्राप्त करने के साम, दाम, आदि उपाय (एतत् त्रयम्) इन तीन बातों को (कृत्स्नशः समाश्रित्य) सम्पूर्ण रूप से आश्रय करके अर्थात् विचार करके और अपनी क्षमता देखकर (अर्थसिद्धये प्रयतेत) राजा अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे, इन्हें बिना विचारे नहीं ॥ २१५ ॥

मन्त्रणा एवं शस्त्राभ्यास के बाद भोजनार्थ अन्तःपुर में जाना—

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥(१७६)

(एवम्) इस प्रकार (राजा) राजा (इदं सर्वम्) यह पूर्वोक्त [७। १४६—२१५] सब (मंत्रिभिः सह संमन्त्र्य) मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करके (व्यायम्य) व्यायाम अर्थात् शस्त्रास्त्रों का अभ्यास करके (आप्लुत्य) स्नान करके फिर (मध्याह्ने) दोपहर के समय (भोक्तुम्) भोजन करने के लिए (अन्तःपुरं विशेत्) अन्तःपुर अर्थात् पत्नी आदि के निवास-स्थान में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

राजा सुपरीक्षित भोजन करे—

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ (१७७)

(तत्र) वहां अन्तःपुर में जाकर (आत्मभूतैः) गम्भीर प्रेम रखने वाले

(कालज्ञैः) ऋतु स्वास्थ्य, अवस्था आदि के अनुसार भोज्य पदार्थों के खाने के समय को जानने वाले (अहार्यैः) शत्रुओं द्वारा फूट में न आने वाले (परिचारकैः) सेवकों=पाकशालाध्यक्षों, वैद्यों आदि के द्वारा (विषापहैः मन्त्रैः) विषनाशक युक्तियों या उपायों से (सुपरीक्षितम्) अच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए (अन्नाद्यम्) भोजन को (अद्यात्) खाये ॥ २१७ ॥*

'भोजन सुपरीक्षित, बुद्धिबलपराक्रमवर्धक, रोगविनाशक, अनेक प्रकार के अन्न-व्यंजन-पान आदि सुगन्धित-मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : इस श्लोक में "**कालज्ञैः**" और '**विषापहैः मन्त्रैः**' पदों पर किसी को भ्रान्ति न हो इसलिए इन पर विस्तृत प्रकाश डालना आवश्यक है। क्योंकि, आजकल ये शब्द और वाक्य अन्य अर्थों में रूढ़ हो गये हैं और टीकाकारों ने युक्तिसंगत अर्थ नहीं दिये हैं—

(१) **'कालज्ञ' का प्रासंगिक और मनुसम्मत अर्थ**—कालज्ञ का शब्दार्थ 'काल को जानने वाला' होता है, जो ज्योतिषी अर्थ में भी रूढ़ है, किन्तु यहां इसका यह अर्थ नहीं। शब्दकोशों में कालज्ञ का अर्थ—'किसी कार्य के उचित समय या अवसर को जानने वाला' भी मिलता है। संस्कृत-साहित्य में भी यह अर्थ प्रचलित है। यहां भी यही अर्थ है। फिर यहां प्रसंग भोजन का है, अतः भोजन के प्रसंग में ही उसका अर्थ बनेगा। इस प्रकार इस श्लोक में कालज्ञ का अर्थ—'स्वास्थ्य, अवस्था, ऋतु आदि के अनुसार भोज्य पदार्थों या भोजन के समय को जानने वाला' यह अर्थ है। यही उपयुक्त एवं प्रासंगिक है।

(२) **'विषापहैः मन्त्रैः' पदों के अर्थ पर विचार**—'मन्त्र' का अर्थ भी 'विचार' या 'युक्ति' एवं 'विचारात्मक उपाय' होता है। [देखिए ऋ० १। १५२। २; १। ६७। २ मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य] इस प्रकार "विषापहैः मन्त्रैः" का इस श्लोक में किया गया अर्थ ही उचित एवं युक्तिसंगत है। अन्य टीकाओं का अर्थ बुद्धिगम्य एवं युक्ति-संगत नहीं है। केवल मन्त्रोच्चारण से विष दूर होना असंभव बात है।

(३) **कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा को भोजन-सम्बन्धी निर्देश**—मनु के समान कौटिल्य ने भी राजा को परीक्षित सुरक्षा में निर्मित, विषादि से रहित और सुस्वादु भोजन करने का निर्देश दिया है। कौटिल्य के अनुसार राजा का भोजन एकान्त और सुरक्षित पाकशाला में तैयार होना चाहिए। वहां विष आदि की परीक्षा करने वाले वैद्य

---

* [**प्रचलित अर्थ**—वहां अन्तःपुर में अपने तुल्य, भोजन समय के ज्ञाता, किसी शत्रु आदि से फोड़कर अपने पक्ष में नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि को विषनाशक मन्त्रों से (गारुडादि मन्त्रों को जपकर) भोजन करे॥ २१७।]

हों। वैद्यों एवं पाकशालाध्यक्ष द्वारा राजा के सामने स्वयं खाकर परीक्षित तथा अग्नि और पशु-पक्षियों के आगे डालकर परीक्षित भोजन, जलपान आदि राजा को करना चाहिए। वैद्यों को विभिन्न विषनाशक युक्तियों से भोजन की परीक्षा करनी चाहिए तथा विषमारक उपायों की तैयारी रखनी चाहिए। [प्रक० १६। अ० २०][1] कौटिल्य के इन वचनों से भी इस व्याख्या को किये अर्थों की पुष्टि होती है।

खाद्य पदार्थों के समान अन्य प्रयोज्य साधनों में सावधानी—

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥ (१७८)

राजा (यान-शय्या-आसन-अशने) सवारी, सोने के साधन पलंग आदि, आसन, भोजन (स्नाने च प्रसाधने) स्नान और शृंगार प्रसाधन उबटन आदि (च) और (सर्व+अलंकारकेषु) सब राजचिह्न जैसे अलंकार आदि साधनों में भी (एवं प्रयत्नं कुर्वीत) इसी प्रकार योग्य सेवकों द्वारा परीक्षा कराने की सावधानी बरते [जैसे २१७ श्लोक में उक्त भोजन में बरतने को कहा है] ॥ २२० ॥

अनुशीलन : **कौटिल्य द्वारा यान आदि के प्रयोग में सावधानी का निर्देश**—यतोहि राजा के विरुद्ध शत्रुओं द्वारा प्रतिपल षड्यन्त्र रचे जाते हैं, अतः राजा को प्रत्येक कार्य में सुरक्षार्थ सावधानी रखने का निर्देश है। कौटिल्य ने इस निर्देश को और विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। उनके अनुसार दाढ़ी-मूंछ के उपयोग में आने वाले साधनों, वस्त्रों, राज-अलंकरणों, माल्यार्पण, स्नान, यान, आसन, पशु-वाहन आदि प्रत्येक की पहले विश्वसनीय सेवकों द्वारा राजा के सामने परीक्षा होनी चाहिए। कहीं उनमें विषप्रयोग या धोखा न हो। तत्पश्चात् राजा के प्रयोग में लाने चाहिएं।[2]

भोजन के बाद विश्राम और राज्यकार्यों का चिन्तन—

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ (१७९)

---

१. "तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः। भिषक् भैषज्यागारादास्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत्। पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम्।"

"गुप्ते देशे माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्। तद्राजा तथैव प्रति भुञ्जीत, पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।" [प्रक० १६। अ० २०]

२. "कल्पकप्रसाधकाः स्नानशुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपकरणमन्तर्वंशिकहस्तादादाय परिचरेयुः। आत्मचक्षुषि निवेश्य वस्त्रमाल्यं दद्युः, स्नानानुलेपनप्रघर्षचूर्णवासस्नानीयानि स्ववक्षो बाहुषु च। एतेन परस्मादागतकं व्याख्यातम्।...मौलपुरुषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत् नावं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम्॥" [प्रक० १६। अ० २०]

(च) और [२१०-२१७ में कहे अनुसार] (भुक्तवान्) भोजन करके (अन्तःपुरे) अन्तःपुर=रनिवास में (स्त्रीभिः सह) पत्नी आदि पारिवारिक जन के साथ (विहरेत्) आमोद-प्रमोद या विश्राम करे (तु) और (विहृत्य) विश्राम करके (पुनः) तदनन्तर (यथाकालम्) यथासमय (कार्याणि चिन्तयेत्) कार्यों अर्थात् मुकद्दमों [८ । १-८ में वर्णित] तथा ७ । ५४-२१५ में वर्णित राज्यकार्यों पर विचार करे ।। २२१ ।।ᶜ

अनुशीलन : 'स्त्रीभिः' पद से अभिप्राय—इस श्लोक में 'स्त्रीभिः' शब्द का अर्थ प्रचलित टीकाओं में 'बहुपत्नियां या रानियां' किया है, जो मनुविरुद्ध है। यहां इस श्लोक में इसका अर्थ 'पत्नी आदि पारिवारिक स्त्रियां' या पारिवारिक जन है। इस की पुष्टि में निम्न प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) मनु ने द्विजों के लिए और राजा के लिए स्पष्टतः एक पत्नी का विधान किया है—**उद्वहेतद्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्**" [३ । ४]। **तदध्यास्य उद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्** [७ । ७७] और अन्यत्र यह आदेश दिया है कि पति-पत्नी कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे जीवन भर वियोग का अवसर आये [९ । १०१, १०२]। इससे सिद्ध है कि मनु के मत में एक से अधिक स्त्रियों का विधान नहीं है।

(२) मनु ने एक से अधिक अर्थात् बहुत स्त्रियों का सेवन राजा के लिए स्पष्टतः निषिद्ध किया है। ७ । ४७, ५० श्लोक द्रष्टव्य हैं।

(३) महर्षि दयानन्द ने भी इस श्लोक का भाव ग्रहण करते हुए सत्यार्थ प्रकाश में उपर्युक्त अर्थ ही ग्रहण किया है—"भोजन के लिए अन्तःपुर अर्थात् पत्नी आदि के निवास स्थान में प्रवेश करे (पृ० १६५)

इन प्रमाणों के आधार पर इस भाष्य का अर्थ मनुसम्मत है।

सैनिकों एवं शस्त्रादि का निरीक्षण—

अलंकृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥ (१८०)

(च) और (पुनः) फिर (अलंकृतः) कवच, शस्त्रास्त्रों [७ । २२३ में भी] एवं राजचिह्नों, राजवेशभूषा आदि से सुसज्जित होकर (आयुधीयं जनम्) शस्त्रधारी सैनिकों (च) और (वाहनानि) रथ, हाथी, घोड़े आदि वाहनों (सर्वाणि शस्त्राणि) सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों-शस्त्रभण्डारों (च) और (आभरणानि) आभूषणों [धातु, रत्न आदि] और उनकी सुरक्षा-संभाल आदि का (संपश्येत्) निरीक्षण करे ।। २२२ ।।

ᶜ [प्रचलित अर्थ—भोजन कर राजा रनिवास में रानियों के साथ विहार (क्रीड़ा आदि) करे तथा यथासमय फिर राजकार्यों का चिन्तन करे ॥ २२१ ॥]

अनुशीलन : महर्षि दयानन्द ने ७। १४५, १४६, २१६, २२१ और २२२ श्लोकों का संक्षेप में भाव ग्रहण किया है, जो इस प्रकार है—

"पूर्वोक्त प्रातःकाल समय उठ, शौचादि संन्ध्योपासन, अग्निहोत्र कर व करा, सभा में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल उनको हर्षित कर नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि स्थान; शस्त्र और अस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख सब पर दृष्टि नित्य-प्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके भोजन के लिए 'अन्तःपुर' अर्थात पत्नी आदि के निवास-स्थान में प्रवेश करे।"

(स० प्र० १६५)

संध्योपासना तथा गुप्तचरों और प्रतिनिधियों के सन्देशों को सुनना—

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ।। २२३ ।।(१८१)

(च) और फिर (संध्याम् उपास्य) सायंकालीन संध्योपासना करके (शस्त्रभृत्) शस्त्रास्त्र धारण किया हुआ राजा (अन्तर्वेश्मनि) महल के भीतर गुप्तचर गृह में (रहस्य+आख्यायिनाम्) राज्य के रहस्यमय समाचारों को लाने में नियुक्त गुप्तचरों (च) और (प्रणिधीनाम्) दूतों और गुप्तचराधिकारियों के (चेष्टितम्) कार्यों एवं समाचारों को (शृणुयात्) सुने ।। २२३ ।।

अनुशीलन : यहां ७। १५३ की पुनरुक्ति नहीं है। वहां इन बातों की योजना पर मन्त्रणा का प्रसंग है। यहाँ योजनाबद्धरूप से नियुक्त अधिकारियों-गुप्तचरों की सूचनाएँ (रिपोर्टें) सुनने का कथन तथा राजा की सायंकालीन दिन-चर्या है।

गुप्तचरों को समझाकर सायंकालीन भोजन के लिए अन्तःपुर में जाना—

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ।। २२४ ।।(१८२)

(तु) और फिर (तं जनम्) उन सब लोगों को (अन्यत् सम्+अनुज्ञाप्य) और आगे के लिए जो कुछ समझना-कहना है उस सबका आदेश देकर (पुनः) फिर (अन्तःपुरं गत्वा) अन्तःपुर में जाकर वहां (स्त्रीवृतः) स्त्री के साथ या द्वितीयार्थ में अंगरक्षिका स्त्रियों से सुरक्षित (कक्षान्तरं भोजनार्थं प्रविशेत्) भोजनशाला के कमरे में भोजन करने के लिए प्रवेश करे ।।२२४।।+

+ [**प्रचलित अर्थ**—इसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे ।। २२४ ।।]

अनुशीलन : (१) **'स्त्रीवृतः' का मनुसम्मत अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'दासियों से घिरा' किया गया है जो मनुविरुद्ध है—(१) मनु ने राजधर्म में कहीं भी राजा के लिए दासियों का विधान नहीं किया है। (२) पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का संग निषिद्ध किया है [द्रष्टव्य ७। २२१ की समीक्षा], (३) ७। २०८, २२१ में भी इसी का प्रसंग है। वहां स्त्री का अर्थ पत्नी है। वह इस भाष्य के अर्थ का पोषक है।

यदि 'स्त्रीवृतः' का अर्थ अंगरक्षिका स्त्री-सैनिकों या अंगरक्षिका परिचारिकाओं से सुरक्षित' किया जाये, जैसा कि कौटिल्य का भी मत है; तो मनु से विरोध नहीं आता। किन्तु दासी अर्थ मनुसम्मत नहीं है।

(२) **'स्त्रीवृतः' की कौटिल्य के दृष्टिकोण से व्याख्या**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को आत्मरक्षा के लिए जो निर्देश दिये हैं, उनमें से इस श्लोक के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। (१) कौटिल्य ने अनेक उदाहरण देकर बतलाया है कि रानियों ने षड्यन्त्र की शिकार होकर बहुत-से राजाओं को मार डाला। अतः अपनी रानी के महल में भी राजा को एकाकी नहीं जाना चाहिए। साथ में प्रौढ़ अंगरक्षिका स्त्रियां होनी चाहिएँ। (२) कौटिल्य ने राजा को अन्तःकक्ष के समीप वाले दूसरे कक्षों में धनुर्धारी अंगरक्षिकाओं को रखने का विधान किया है। उसके बाद के कक्षों में पुरुष रक्षकों को रखने का निर्देश है। यह सुरक्षा के दृष्टिकोण से है। इस प्रकार कौटिल्य के वर्णन के अनुसार 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'अंगरक्षिका शस्त्रधारी' स्त्रियों से सुरक्षित' भी हो सकता है।[1]

रात्रिशयनकाल—

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः॥ २२५॥ (१८३)

(तत्र) वहां (भुक्त्वा) भोजन करके (पुनः) उसके पश्चात् (तूर्यघोषैः) प्रहर्षितः) शहनाई-तुरही आदि बाजों के संगीत से मन को प्रसन्न करके (संविशेत्) सो जाये (तु) और (गतक्लमः) विश्राम करके श्रान्तिरहित होकर (यथा- कालम् उत्तिष्ठेत्) निश्चित समय अर्थात् रात्रि के पिछले पहर ब्राह्म-मुहूर्त्त में [७। १४५] उठे॥ २२५॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत्॥ २२६॥ (१८४)

---

१. **"अन्तर्गृहगतः स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पश्येत्। न काञ्चिदभिगच्छेत्।"** [प्रक० १५। अ० १९] **"शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत।"** [प्रक० १६। अ० २०]

(अरोगः) स्वस्थ अवस्था में (पृथिवीपतिः) राजा (एतत् विधानम् +आतिष्ठेत्) इस पूर्वोक्त विधि से कार्यों को करे (अस्वस्थः) अस्वस्थ हो जाने पर (एतत् सर्वं तु) यह सब कार्यभार (भृत्येषु) पृथक्-पृथक् विभागों में नियुक्त प्रमुख मन्त्री आदि [७ । ५४, १२०, १४१, ८।९-११] को(विनियोजयेत्) सौंप देवे ।। २२६ ।।

अनुशीलन : (१) **श्लोकवर्णन पर विचार**—यहां ७ । १४१ आदि श्लोकों की पुनरुक्ति नहीं है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि रुग्णावस्था आदि की स्थिति में अपने-अपने विभाग के प्रमुख अमात्यों या सभाओं के अधिकृत प्रमुखों को अपना कार्य निरीक्षण के लिए सौंप देवे, केवल एक को ही नहीं। यह राजा की संक्षेप में दिनचर्या या कार्यपद्धति है। पृथक्-पृथक् विभागों के प्रसंगानुसार यही पद्धति ७ । ५४, ८१, १२०, १४१ ।। ८ । ९-११ श्लोकों में कही है। उस का इस श्लोक में उपसंहार है।

(२) **भृत्य शब्द के अर्थ पर विचार**—भृत्य शब्द का आजकल अधिक प्रचलित अर्थ 'नौकर' है। यह एक पक्ष में रूढ हो गया है। इस श्लोक में भृत्य से नौकर अर्थ की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यहां भृत्य से अभिप्राय उन सभी अधिकारियों-कर्मचारियों से है जो राजा के आश्रित मन्त्री से लेकर कर्मचारी तक हैं। भृत्य का अर्थ 'अमात्य' और 'मन्त्री' अर्थ भी है और संस्कृत-साहित्य में प्रचलित है। ७।३६-६२ श्लोकों के प्रसंग में भृत्य शब्द के अन्तर्गत मन्त्रियों, अमात्यों से लेकर निम्न कर्मचारी तक परिगणित हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी भृत्य और अमात्यों से लेकर कर्मचारी वर्ग एवं आचार्य और पुरोहित तक गृहीत हैं। [देखिए 'भृत्यभरणीय' नामक ९१ वां प्रकरण।]

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
राजधर्मात्मकः सप्तमोऽध्यायः ।।

अथ अष्टमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)

[८।१ से ९।९९ पर्यन्त]

व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों के निर्णय के लिए राजा का न्यायसभा में प्रवेश —

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥ (१)

(व्यवहारान्) व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों [८।४–७] को (दिदृक्षुः तु) देखने अर्थात् निर्णय करने का इच्छुक (पार्थिवः) राजा (ब्राह्मणैः) न्याय-ज्ञाता विद्वानों [८।११] (मन्त्रज्ञैः) सलाहकारों (च) और (मन्त्रिभिः) मन्त्रियों के (सह) साथ (विनीतः) विनीतभाव एवं वेश से [८।२] (सभां प्रविशेत्) राजसभा=न्यायालय [८।१२] में प्रवेश करे ॥ १ ॥

अनुशीलन: (१) **मन्त्रज्ञ और ब्राह्मण का विशेष अभिप्राय**—इस श्लोक में 'मन्त्रज्ञैः' से अभिप्राय मुकद्दमों में उस-उस विषय के सलाहकारों से है। 'मन्त्रिभिः' से अभिप्राय उस-उस विभाग के प्रमुख मन्त्रियों से या अमात्यों से है जो राजा द्वारा न्याय के लिए अधिकृत विद्वान् के रूप में नियुक्त किये जाते हैं [७।५४, ६०, ८।११]। 'ब्राह्मण' शब्द से यहां अभिप्राय वेदविद्याओं के न्यायाधीश श्रोत्रिय विद्वानों से है, जिनका वर्णन ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायाधीश विद्वानों की सभा के रूप में ८।११ में आया है। ब्राह्मण से यहां यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि वह ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति ही होना चाहिए। वेदों के प्रत्येक विद्वान् के लिए ब्राह्मण, विप्र आदि शब्दों का प्रयोग आता है [द्रष्टव्य ८।११ और १।८८ पर समीक्षा]। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहां विशेषाभिप्राय से है। वह अभिप्राय यह है कि न्यायाधीश ब्रह्म अर्थात् वेदों के विशेषवेत्ता और धार्मिक गुणप्रधान विद्वान् अवश्य होने चाहिएँ, इसीलिए ८।११ में 'वेदविदः' का प्रयोग किया है।

(२) **विनीत होने का उद्देश्य**—राजा को विनीत भाव एवं वेशभूषा से न्यायालय में जाने के कथन का उद्देश्य यह है कि साक्षी आदि उसके कठोर भावों को देखकर

भयभीत न हों और बिना घबराहट के स्वाभाविक रूप से अपनी बात कह सकें। अगले ही श्लोक में इसी उद्देश्य से 'विनीत वेषाभरणः' पद का भी प्रयोग किया गया है।

(३) वेदमन्त्र में भी इसी प्रकार का वर्णन है। मनु ने उसी के अनुरूप व्यवस्था दी है—

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः, देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्य्यमा प्रातर्यावाणोऽध्वरम् ॥
यजु० ३३। १५॥

भाषार्थ—(श्रुत्कर्ण) प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन्! (सयावभिः) साथ चलने वाले, (वह्निभिः) कार्य के निर्वाहक (देवैः) विद्वानों के साथ (अध्वरम्) हिंसारहित राज्यव्यवहार को [ऐसा मुकद्दमा जिसमें किसी के साथ अन्याय न हो] (श्रुधि) सुन। (प्रातर्यावाणः) प्रातः राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, (मित्रः) पक्षपात से रहित सबका मित्र और (अर्यमा) अर्य=वैश्य वा स्वामी जनों का मान करने वाला न्यायाधीश (बर्हिषि) आकाश के तुल्य विशाल सभा में (आसीदन्तु) विराजमान हों।

भावार्थ—सभापति राजा, सुपरीक्षित अमात्यजनों को स्वीकार करके, उनके साथ सभा में बैठकर, विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर, यथार्थ न्याय करे।
(महर्षि-दयानन्दभाष्य)

न्यायसभा में मुकद्दमों को देखें--

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥ (२)

(तत्र) वहां न्यायालय में (विनीत-वेष+आभरणः) विनीत वेशभूषा, आभूषणों से युक्त होकर (आसीनः अपि वा स्थितः) सुविधानुसार बैठकर अथवा खड़ा होकर (दक्षिणं पाणिम्+उद्यम्य) दाहिने हाथ को उठाकर (कार्यिणाम्) मुकद्दमे वालों के (कार्याणि) कार्यों=विवादों को (पश्येत्) देखे= निर्णय करे [७। १४६ में राजसभा में भी इसी प्रकार सुविधानुसार खड़े या बैठने की व्यवस्था का कथन है] ॥ २ ॥

अनुशीलन : मुहावरे पर विचार—इस श्लोक में 'दक्षिणं पाणिम् उद्यम्य' का एक मुहावरे के रूप में प्रयोग है। यह क्रिया 'अपनी बात कहना' या 'निर्णय देना' प्रारम्भ करने की 'प्रतीक' है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जब तक निर्णय दे तब तक दायां हाथ उठाये रखे, अपितु यह है कि विवाद करते हुए लोगों को सुनकर अपनी बात या निर्णय कहते समय दायां हाथ उठाकर संकेत करे। जो सामने वाले लोगों के लिए इस बात का प्रतीक या संकेत होता है कि राजा या न्यायाधीश अब

अपनी बात कहना चाहते हैं। यह परम्परा आज भी प्रचलित है। बड़ी-बड़ी सभाओं में, श्रेणियों में, भीड़भरे न्यायालयों में बोलते हुए लोगों को चुप करने और अपनी बात कहने के लिए वक्ता हाथ उठाकर संकेत करता है। लोग चुप होकर उसकी बात को सुनने के लिए ध्यान लगाते हैं।

अठारह प्रकार के मुकद्दमे—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥ (३)

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग (देशदृष्टैः च शास्त्रदृष्टैः च हेतुभिः) देशाचार और शास्त्रव्यवहार के हेतुओं से (अष्टादशसु मार्गेषु) निम्नलिखित अठारह [८।४–७] विवादास्पद मार्गों में❀ विवादयुक्त कर्मों का निर्णय (प्रति+अहम्) प्रतिदिन❀ किया करें।

और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम बांधे कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो ॥ ३ ॥ (स० प्र० १६६)

❀ (निबद्धानि) बांधे अर्थात् नियत किये गये…………

❀ (पृथक्-पृथक्) अलग-अलग……………

स० प्र० १७६ पर स्वामी जी ने पुनः श्लोक की प्रथम पंक्ति उद्धृत करके लिखा है—"जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्णविद्वानों की राज-सभा बांधा करे"।

अनुशीलन : 'पृथक्-पृथक्' पदों से यहां यह अभिप्राय है कि राजा—जो अठारह प्रकार के विवाद हैं उनमें पृथक्-पृथक् विवाद से सम्बन्धित विद्वानों, सलाहकारों और मन्त्रियों के साथ मिलकर, विचार करके निर्णय करे।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥ (४)
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥ (५)
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥ (६)
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥ (७)

अठारह मार्ग ये हैं—(तेषाम्) उनमें १—(ऋणादानम्) किसी से

ऋण लेने-देने का विवाद [८ । ४७-१७८], २—(निक्षेप) धरोहर अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना [८।१७९-१९६], ३—(अस्वामिविक्रयः) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे [८।१९७-२०५], ४—(संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना [=व्यापार में अन्याय करना] [८ । २०६-२११], ५—(दत्तस्य अनपकर्म च) दिये हुए पदार्थ को न देना [८ । २१२-२१३], ६—(वेतनस्य+एव च+ अदानम्) वेतन अर्थात् किसी की 'नौकरी' में से ले लेना या कम देना [८ । २१४-२१७], ७—(संविदः च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध बर्तना [८ । २१८-२२१], ८—(क्रय-विक्रय+अनुशयः) क्रय-विक्रयानुशय अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना [८ । २२२-२२८], ९—(स्वामि-पालयोः विवादः) पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा [८।२२९-२४४], १०—(सीमा-विवादधर्मः च) सीमा का विवाद [८ । २४५-२६५], ११-१२—(पारुष्ये दण्ड-वाचिके) किसी को कठोर दण्ड देना [८ । २७८-३००], कठोरवाणी का बोलना [८ । २६६-२७७], १३—(स्तेयम्) चोरी-डाका मारना [८ । ३०१-३४३], १४—(साहसम् एव) किसी काम को बलात्कार से करना [८ । ३४४-३५१], १५—(स्त्रीसंग्रहणम् एव च) किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना [८ । ३५२-३८७], १६—(स्त्री-पुम्+धर्मः] स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना [९ । १-१०२], १७—(विभागः) विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठाना [९। १०३-२१९], १८—(द्यूतम्+ आह्वयः+एव च) द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और [आह्वय]=समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जूआ खेलना [९ । २२०-२५०], (अष्टादश+ एतानि) ये अठारह प्रकार के (व्यवहारस्थितौ पदानि) परस्परविरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं ॥ ४—७ ॥ (स० प्र० १६६)

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥ (८)

(एषु स्थानेषु) इन [८ । ४—७] व्यवहारों में (भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्) बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के (कार्यविनिर्णयम्) न्याय को (शाश्वतं धर्मम् आश्रित्य) सनातन-धर्म का आश्रय करके (कुर्यात्) किया करे अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥ ८ ॥ (स० प्र० १६६)

राजा के अभाव में मुकद्दमों के निर्णय के लिए मुख्य न्यायाधीश विद्वान् की नियुक्ति—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥ (९)

(यदा) जब कभी [किसी विशेष कारण अथवा कार्य की अधिकता के कारण] (नृपतिः) राजा (स्वयं कार्यदर्शनम्) खुद मुकद्दमों का निरीक्षण एवं निर्णय (न कुर्यात्) न करे (तदा) तब (ब्राह्मणम् विद्वांसम्) धार्मिक वेदवेत्ता विद्वान् [८। ११] को (कार्यदर्शने) मुकद्दमों के निरीक्षण एवं निर्णय के लिए (नियुञ्ज्यात्) नियुक्त कर दे ॥ ९ ॥❀

"धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा-अधिकारी.........मान के सब प्रकार से उन्नति करें।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : ब्राह्मण का अर्थ 'धार्मिक वेदवेत्ता न्यायाधीश' है। देखिए अगले श्लोक पर अनुशीलन।

मुख्य न्यायाधीश तीन विद्वानों के साथ मिलकर न्याय करे—

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥ (१०)

(सः) वह (त्रिभिः सभ्यैः वृतः) तीन अन्य सभा के सदस्यों [८।११] के साथ (सभां प्रविश्य) न्यायालय में जाकर (आसीनः वा स्थितः एव) बैठकर अथवा खड़ा होकर (अस्य) राजा के (कार्याणि) कामों को (संपश्येत्) भली प्रकार देखे ॥ १० ॥

अनुशीलन : न्यायप्रसंग में ब्राह्मण और ब्रह्मसभा से अभिप्राय— अग्रिम ८। ११ श्लोक में ब्रह्मसभा की परिभाषा दी है। परिभाषा से पूर्व ९-१० श्लोकों में न्यायसभा के निर्माण का कथन है। इन श्लोकों में वर्णित विद्वानों से ८। ११ में वर्णित ब्रह्मसभा बनती है। ब्रह्मसभा का अर्थ—'वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा'। इसी प्रकार ९वें श्लोक में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं है, अपितु इस विशेष अभिप्राय से है कि राजा द्वारा अधिकृत जो विद्वान् न्यायाधीश नियुक्त किया जाये वह विशेष रूप से सब वेदों का विद्वान् और धार्मिकगुण-प्रधान होना चाहिए। वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा होने के कारण ही ८। ११ में न्यायसभा को 'ब्रह्मसभा' कहा गया है। वहां स्पष्टतः 'वेदविदः' विशेषण भी उक्त अर्थ को पुष्ट करता है। इस प्रसंग में ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं अपितु वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों के लिए है।

यहां यह शंका उठ सकती है कि ७। १४१ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग न करके 'अमात्यप्रमुख' को अपने बाद कार्य सौंपने का वर्णन है। इसका उत्तर यह है कि वहां

❀ [प्रचलित अर्थ—यदि राजा स्वयं विवादों (मुकद्दमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे॥ ९ ॥]

राजसभा संचालन के लिए सर्वप्रमुख मन्त्री को कार्य सौंपने का विधान है और वह भी केवल रुग्णावस्था में। यहां ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायसभा के लिए मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति का प्रसंग है। राजसभा के लिए प्रशासनिक गुणविशेषों वाला व्यक्ति उत्तराधिकारी होता है और न्याय के लिए न्यायगुणों की विशेष योग्यता वाला व्यक्ति। अतः उस श्लोक और इसका प्रसंग ही अलग है। दूसरी बात यह है कि यहां रुग्णावस्था में नियुक्ति का विधान नहीं है अपितु अकेला राजा प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता, समयाभाव आदि कारणों से अपने स्थान पर वह किसी भी अधिकृत विद्वान् को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करे—यहां यह अभिप्राय है। जितनी न्यायसभा होंगी उसके अनुसार वे अनेक भी हो सकते हैं। [इस विषय पर १। ८८, ८। १ की समीक्षा—२ भी द्रष्टव्य है]। मनुस्मृति में सभी वर्णों के वेदवेत्ता विद्वानों के लिए ब्राह्मण, द्विज, विप्र आदि शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है [द्रष्टव्य ४। २४५ पर समीक्षा]।

ब्रह्मसभा (न्यायसभा) की परिभाषा—

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥ ११॥ (११)

(यस्मिन्) जिस (देशे) स्थान में (वेदविदः) वेदों के ज्ञाता (त्रयः विप्राः) तीन विद्वान् (निषीदन्ति) बैठते हैं (च) और (राज्ञः अधिकृतः विद्वान्) एक राजा द्वारा नियुक्त उस विषय का वेदवेत्ता विद्वान् बैठता है (तां ब्रह्मणः सभां विदुः) उस सभा को 'ब्रह्मसभा' अर्थात् न्यायसभा कहते हैं॥ ११॥

मुकद्दमों के निर्णय में धर्म की रक्षा की प्रेरणा—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ १२॥ (१२)

(यत्र) जिस सभा में (अधर्मेण विद्धः धर्मः) अधर्म से घायल होकर धर्म (उपतिष्ठते) उपस्थित होता है (च अस्य शल्यं न कृन्तन्ति) जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना और अधर्म का छेदन नहीं करते अर्थात् धर्मी को मान, अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता (तत्र) उस सभा में (सभासदः विद्धाः) जितने सभासद् हैं वे सब घायल के समान समझे जाते हैं॥ १२॥ (स० प्र० १६६)

"अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पडे हैं।" (सं० वि० १८४)

न्यायसभा में सत्य ही बोले और न्याय ही करे—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी ॥ १३ ॥ (१३)

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि (सभां न प्रवेष्टव्यम्) सभा में कभी प्रवेश न करे (वा) और जो प्रवेश किया हो तो (समञ्जसम्) सत्य ही (वक्तव्यम्) बोले (नरः अब्रुवन्) जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे (अपि वा) अथवा (विब्रुवन्) सत्य, न्याय के विरुद्ध बोले वह (किल्विषी भवति) महापापी होता है ॥ १३ ॥ (स० प्र० १६७)

"मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है।"
(सं० वि० १८४)

अनुशीलन : 'किल्विषम्' शब्द पर विशेष विचार ८। ३१६ की समीक्षा में द्रष्टव्य है। पापी होने से यहां अभिप्राय दोषभागी एवं अपयशभागी होने से है।

अन्याय करने वाले सभासद् मृतकवत् हैं—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥ (१४)

(यत्र) जिस सभा में (प्रेक्षमाणानाम्) बैठे हुए सभासदों के सामने (अधर्मेण हि धर्मः) अधर्म से धर्म (च) और (अनृतेन सत्यं) झूठ से सत्य का (हन्यते) हनन होता है (तत्र) उस सभा में (सभासदः हताः) सब सभासद् मरे से ही हैं ॥ १४ ॥ (सं० वि० १८५)

"जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य, सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं; जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।" (स० प्र० १६७)

मारा हुआ धर्म मारने वाले को ही नष्ट कर देता है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ (१५)

(हतः धर्मः एव) मरा हुआ धर्म (हन्ति) मारने वाले का नाश, और (रक्षितः धर्मः) रक्षित किया हुआ धर्म (रक्षति) रक्षक की रक्षा करता है (तस्मात्) इसलिए (धर्मः न हन्तव्यः) धर्म का हनन कभी न करना, इस

डर से कि (हतः धर्मः) मारा हुआ धर्म (नः मा अवधीत्) कभी हमको न मार डाले ॥ १५ ॥ (स० प्र० १६७)

'जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है, इस लिए मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए।'' (सं० वि० १८५)

धर्महन्ता वृषल कहाता है—

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥ (१६)

(यः) जो (भगवान् वृषः हि धर्मः) सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों का वर्षा करने वाला धर्म है (तस्य हि+ अलम् कुरुते) उसका लोप करता है (तम्) उसी को (देवाः) विद्वान् लोग (वृषलं विदुः) वृषल अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं (तस्मात्) इसलिए, किसी मनुष्य को (धर्मं न लोपयेत्) धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥ १६ ॥ (स० प्र० १६७)

''जो सुख को वृद्धि करने हारा, सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उसका जो लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं।''
(सं० वि० १८५)

धर्म ही परजन्मों में साथ रहता है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥ (१७)

इस संसार में (एकः धर्मः एव सुहृद्) एक धर्म ही सुहृद् [=मित्र] है (यः) जो (निधने+अपि+अनुयाति) मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है (अन्यत् सर्वं हि) और सब पदार्थ वा संगी (शरीरेण समं नाशं गच्छति) शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं अर्थात् सब संग छूट जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता ॥ १७ ॥ (स० प्र० १६७)

अन्याय से सब सभासदों की निन्दा—

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥ (१८)

राजसभा में पक्षपात से किये गये अन्याय का अधर्म (पादः) चौथाई (अधर्मस्य कर्त्तारम्) अधर्म के कर्ता को (पादः) चौथाई (साक्षिणम्) साक्षी को (ऋच्छति) प्राप्त होता है, और (पादः) चौथाई अंश (सर्वान् सभासदः)

शेष सब न्यायसभा के सदस्यों को तथा (पादः) चौथाई (राजानम्) राजा को (ऋच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् उस बुराई की बदनामी सभी को प्राप्त होती है ।। १८ ।।

"जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।" (स० प्र० १६७)

अनुशीलन : अधर्म शब्द से अभिप्राय—अधर्म शब्द से यहां अभिप्राय अन्याय या दोषभागी होने से है। ये सब इसी प्रकार अपयश के भागी बनकर बुराई को प्राप्त होते हैं। प्रजाएं इन सबकी निन्दा करती हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन ८। ३१६ पर द्रष्टव्य है।

राजा यथायोग्य व्यवहार से पापी नहीं कहलाता—

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ।। १९ ।। (१९)

(यत्र) जिस सभा में (निन्दा+अर्हः निन्द्यते) निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां (राजा च सभासदः) राजा और सब सभासद् (अनेनाः+तु मुच्यन्ते) पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं (कर्त्तारम् एनः गच्छति) पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ।। १९ ।। (स० प्र० १६७)

निर्णय में हावभावों से मन की पहचान—

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ।। २५ ।। (२०)

न्यायकर्त्ता को (बाह्यैः) बाहर के (लिङ्गैः) चिह्नों से [वेशभूषा, चाल, शरीर की मुद्राएं, आदि के लक्षणों से] (स्वर-वर्ण-इङ्गित-आकारैः) स्वर—बोलते समय रुकना, घबराना, गद्गद् होना आदि से; वर्ण—चेहरे का फीका पड़ना, लज्जित होना आदि से; इङ्गित—मुकद्दमे के अभियुक्तों के परस्पर के संकेत, सामने न देख सकना, इधर उधर देखना आदि से; आकार—मुख, नेत्र आदि का आकार बनाना, कांपना, पसीना आना आदि (चक्षुषा) आंखों में उत्पन्न होने वाले भावों से (च) और (चेष्टितेन) चेष्टाओं—हाथ मसलना, अंगुलियां चटकाना, अंगूठे से जमीन कुरेदना, सिर खुजलाना आदि से (नृणाम्) मुकद्दमे में शामिल लोगों के (अन्तर्गतं भावम्) मन के असली भावों को (विभावयेत्) भांप लेना—जान लेना चाहिये ।। २५ ।।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥ (२१)

(आकारैः) आकारों से (इङ्गितैः) संकेतों से (गत्या) चाल से (चेष्टया) चेष्टा=हरकत से (च) और (भाषितेन) बोलने से (च) तथा (नेत्र-वक्त्र-विकारैः) नेत्र एवं मुख के विकारों=हावभावों से (अन्तर्गतं मनः) मनुष्यों के मन का भीतरी भाव (गृह्यते) मालूम हो जाता है ॥ २६ ॥

बालधन की रक्षा—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥ (२२)

(राजा) राजा (बाल-दाय+आदिकं रिक्थम्) बालक अर्थात् नाबालिग या अनाथ बालक की पैतृक सम्पत्ति और अन्य धन-दौलत की (तावत्) तब तक (अनुपालयेत्) रक्षा करे (यावत् सः) जबतक वह बालक (समावृत्तः स्यात्) समावर्तन संस्कार होकर अर्थात् गुरुकुल से स्नातक बनकर [३।१–२] आये (च) और (यावत्) जबतक वह (अतीतशैशवः) बालिग हो जाये ॥ २७ ॥

वन्ध्यादि के धन की रक्षा—

वन्ध्याऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥ (२३)

(वन्ध्या+अपुत्रासु) बांझ और पुत्रहीन (निष्कुलासु) कुलहीन अर्थात् जिसके कुल में कोई पुरुष न रहा हो (पतिव्रतासु) पतिव्रता स्त्री अर्थात् पति के परदेशगमन आदि के कारण से जो स्त्री अकेली हो (विधवासु) विधवा (च) और (आतुरासु) रोगिणी (स्त्रीषु) स्त्रियों की सम्पत्ति की (रक्षणम्) रक्षा भी (एवम्) इसी प्रकार अर्थात् उनके समर्थ हो जाने तक [८।२८] (स्यात्) करनी चाहिए, इनकी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥ (२४)

(तासां जीवन्तीनाम्) उन [८।२८ में उक्त] जीती हुई स्त्रियों के (तत्) धन को (ये स्वबान्धवाः) जो उनके रिश्तेदार या भाई-बन्धु (हरेयुः) हर लें, कब्जा लें (तु) तो (धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (तान्) उन व्यक्तियों को (चौरदण्डेन) चोर के समान दण्ड से (शिष्यात्) शिक्षा दे अर्थात् चोर के समान दण्ड देकर [८।३०१-३४३] उनको सही रास्ते पर लाये ॥ २९ ॥

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥ (२५)

(प्रणष्टस्वामिकं रिक्थम्) मालिक से रहित धन अर्थात् लावारिस धन को (राजा) राजा (त्रि+अब्दम्) तीन वर्ष तक (निधापयेत्) सुरक्षित रखे (त्रि+अब्दात् अर्वाक् स्वामी हरेत्) तीन वर्ष से पहले यदि स्वामी आ जाये तो वह उसको ले ले [८।३१] (परेण नृपतिः हरेत्) उसके बाद उसे राजा ले ले ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ॥३१॥ (२६)

(यः) जो कोई ('मम+इदम्' इति ब्रूयात्) उस लावारिस धन को 'यह मेरा है' ऐसा कहे तो (सः यथाविधि अनुयोज्यः) उससे उचित विधि से पूछताछ करे अर्थात् धन की संख्या, रंग, समय पहचान आदि पूछे (रूप-संख्या+आदीन्) धन का स्वरूप, मात्रा आदि बातों को (संवाद्य) सही-सही बताकर ही (स्वामी तत् द्रव्यम्+अर्हति) स्वामी उस धन को लेने का अधिकारी होता है अर्थात् सही-सही पहचान बताने पर राजा उस धन को लौटा दे ॥ ३१ ॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥ (२७)

जो व्यक्ति (नष्टस्य) नष्ट हुए या खोये हुए धन का (देशं कालं वर्णं रूपं च प्रमाणम्) स्थान, समय, रंग, स्वरूप और मात्रा की (तत्त्वतः अवेदयानः) सही-सही बतलाकर सिद्ध नहीं कर पाता अर्थात् जो झूठ ही उस धन को हड़पने की कोशिश करता है तो वह (तत् समं दण्डम्+अर्हति) उस धन के बराबर दण्ड भुगतने का हकदार है अर्थात् उसे उतना ही दण्ड देना चाहिए ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥ (२८)

किसी के (प्रणष्ट+अधिगतात्) नष्ट या खोये धन के प्राप्त होने पर उसमें से (नृपः) राजा (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) सज्जनों के धर्म का अनुसरण करता हुआ अर्थात् न्यायपूर्वक [धन के स्वामी की अवस्था को ध्यान में रखकर] (षड्भागं दशमम् अपि वा द्वादशम् आददीत) छठा, दशवां अथवा बारहवां भाग कर-रूप में ग्रहण करे ॥ ३३ ॥

'राजा द्वारा सुरक्षित धन' की चोरी करने पर दण्ड—

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ।। ३४।। (२९)

(प्रणष्ट+अधिगतं द्रव्यम्) चुरा लेने के बाद प्राप्त किये गये धन को राजा (युक्तैः) योग्य रक्षकों के (अधिष्ठितं रक्षेत्) पहरे=सुरक्षा में रखे (तत्र) अगर उस पहरे में से भी चोरी करते हुए (यान् चौरान् गृह्णीयात्) जो चोर पकड़े जायें [चाहे वे पेशेवर चोर हों अथवा रक्षक राजपुरुष] (तान् राजा+इभेन घातयेत्) उन्हें राजा हाथी से कुचलवाकर मरवा डाले ।। ३४ ।।

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ।। ३५ ।। (३०)

(निधिम्) चोरी से प्राप्त धन को (यः मानवः) जो मनुष्य ('अयं मम+इति' सत्येन ब्रूयात्) रंग, रूप, तोल, संख्या आदि की ठीक पहचान के द्वारा 'यह वास्तव में मेरा है' ऐसा सच-सच बतला दे तो (राजा) राजा (तस्य षड्भागं वा द्वादशम्+एव आददीत) उस धन में से छठा या बारहवां-भाग कर के रूप में लेले और शेष धन उसके स्वामी को लौटा दे ।। ३५ ।।

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ।। ३६।। (३१)

(अनृतं तु वदन्) अगर कोई झूठ बोले अर्थात् किसी धन पर झूठा दावा करे या झूठ ही अपना बतलावे तो ऐसे अपराधी को (स्ववित्तस्य+अष्टमम्+अंशं दण्ड्यः) अपना कहे जाने वाले उस धन का आठवां भाग जुर्माना करे (वा) अथवा (संख्याय) हिसाब लगाकर (तस्य+एव निधानस्य अल्पीयसीं कलां) उस दावे वाले धन का कुछ भाग जुर्माना करे।। ३६ ।।

कर्त्तव्यों में संलग्न व्यक्ति सबके प्रिय—

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ।।४२।। (३२)

(स्वानि कर्माणि कुर्वाणाः) अपने-अपने कर्त्तव्यों को करते हुए और (स्वे-स्वे कर्मणि+अवस्थिताः) अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्थित रहने वाले मानवाः) मनुष्य (दूरे सन्तः+अपि) दूर रहते हुए भी (लोकस्य प्रियाः भवन्ति) समाज के प्यारे अर्थात् लोकप्रिय होते हैं ।। ४२ ।।

राजा या राजपुरुष विवादों को न बढ़ायें—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।

न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥४३॥ (३३)

(राजा अपि+अस्य पुरुषः) राजा अथवा कोई भी राजपुरुष (स्वयं कार्यं न+उत्पादयेत्) स्वयं किसी विवाद को उत्पन्न न करें, और न बढ़ायें (च) और (अन्येन प्रापितम् अर्थम्) अन्य किसी भी व्यक्ति द्वारा बताये या प्राप्त कराये गये धन को (कथंचन) किसी भी स्थिति में (न ग्रसेत्) स्वयं हड़पने की इच्छा न करें [जबतक 'यह धन किसका है' यह सिद्ध न हो जाये और वह लावारिस (७।३०) सिद्ध न हो जाये तब तक राजा उसे अपने अधिकार में न ले और कोई राजपुरुष उसको बीच में ही हड़पने न पाये] ॥ ४३ ॥

अनुशीलन : श्लोक ८।२६ की ८।४४ से प्रसंग की सम्बद्धता है। यहां ८।७ तक १८ प्रकार के मुकद्दमों की गणना करके ८।४५ तक 'सत्य-सही निर्णय कैसे करें' मनु ने यह प्रसंग वर्णित किया है। संकेतित क्रमानुसार पहला मुकद्दमा भी ८।४७ से प्रारम्भ होता है। इस बीच बालधन, स्त्रीधन, लावारिस धन, नष्ट हुए धन आदि से सम्बन्धित बातें प्रसंगानुकूल नहीं हैं। इस प्रकार के शेष सभी विधान मुकद्दमों के निर्णय के अन्त में ६।१५१ के पश्चात् वर्णित किये हैं। इनमें नष्ट या चोरी गये धन की चर्चाएँ हैं और चोरी-विवाद वाले ही दण्ड वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि ये सभी श्लोक स्थानभ्रष्ट होकर यहां जुड़ गये हैं, ये चोरी-विवाद निर्णय (८।३०१-३४३) के अन्तर्गत होने चाहियें।

श्लोक ८।२६ की ८।४४ से प्रसंगगत सम्बद्धता भी है। इस आधार पर इन सबको प्रक्षिप्त कहने का आधार भी बन सकता है, पर क्योंकि इनमें कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है। ये सर्वसामान्य आवश्यक विधान हैं। मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है। शैली भी मनुसम्मत है। अतः हमने इन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना है।

अनुमान प्रमाण से निर्णय में सहायता—

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥ (३४)

(यथा) जैसे (मृगयुः) शिकारी (असृक्पातैः) खून के धब्बों से (मृगस्य पदं नयति) हिरण के स्थान को प्राप्त कर लेता है (तथा) वैसे ही (नृपतिः) राजा या न्यायकर्त्ता (अनुमानेन) अनुमान प्रमाण से (धर्मस्य पदम्) धर्म के तत्त्व अर्थात् वास्तविक न्याय का (नयेत्) निश्चय करे ॥४४॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ (३५)

(व्यवहारविधौ स्थितः) मुकद्दमों का फैसला करने के लिए तैयार हुआ राजा (सत्यम् च अर्थम्) मुकद्दमे की सत्यता, न्याय उद्देश्य (आत्मानम्) अपनी आत्मा के आन्तरिक निर्णय को (अथ साक्षिणः) और साक्षियों को (च) तथा (देशं रूपं च कालम्) देश, स्वरूप एवं समय को (संपश्येत्) अच्छी प्रकार देखे=विचार करे ॥ ४५ ॥

अनुशीलन : आत्मा के निर्णय का क्या अभिप्राय है, इसे समझने के लिए देखिए १ । १२५ (२ । ६) पर इस सम्बन्धी अनुशीलन ।

१, ऋण लेने-देने के विवाद का न्याय (८।३६-१०४ तक)

ऋण का न्याय—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ (३६)

(अधमर्ण+अर्थसिद्ध्यर्थम्) अधमर्ण=कर्जदार से अपना धन वसूल करने के लिए (उत्तमर्णेन चोदितः) उत्तमर्ण=कर्ज देने वाले अर्थात् धनी की ओर से प्रार्थना करने पर राजा (धनिकस्य विभावितम् अर्थम्) धनी का वह लेख आदि से सिद्ध निश्चित किया हुआ धन (अधमर्णात् दापयेत्) कर्जदार से दिलवाये ॥ ४७ ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥ (३७)

[४७ वें में उक्त धन का] (करणेन विभावितम्) यदि लेख, साक्षी आदि साधनों से उस कर्ज का लिया जाना निश्चित हो जाये (तु) और (अर्थे+अपव्ययमानम्) कर्जदार कर्ज में लिये गये धन से मुकर जाये तो [राजा] (धनिकस्य+अर्थं दापयेत्) धनी का वह धन भी वापिस दिलवाये (च) और (शक्तितः दण्डलेशम्) उसकी शक्ति, धन आदि के अनुसार कुछ न कुछ दण्ड भी अवश्य करे ॥ ५१ ॥

ऋणदाता से ऋण के लेख आदि प्रमाणों को मांगना—

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥ (३८)

(संसदि) न्यायालय में ('देहि+इति'+उक्तस्य) न्यायाधीश के द्वारा 'धनी का धन दे दो' ऐसा कहने पर (अधमर्णस्य अपह्नवे) यदि कर्जदार कर्ज लेने से मुकरने की बात कहे तो (अभियोक्ता) मुकद्दमा करने वाला धनी (देश्यम्) प्रत्यक्षदर्शी साक्षी=गवाह को (दिशेत्) प्रस्तुत करे (वा) और (अन्यत् करणम् उद्दिशेत्) अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत करे ॥ ५२ ॥

मुकद्दमों में अप्रामाणिक व्यक्ति—

आदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥ (३९)

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥ (४०)

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ (४१)

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥ (४२)

(यः) जो ऋणदाता १—(अदेश्यं दिशति) झूठे गवाह और गलत प्रमाणपत्र प्रस्तुत करे, (च) और २—(यः) जो (निर्दिश्य) किसी बात को प्रस्तुत करके या कहकर (अपह्नुते) उससे मुकरता है या टालमटोल करता है, ३—(यः) जो (विगीतान् अधर-उत्तरान्+अर्थान् न+अवबुध्यते) कही हुई अगली-पिछली बातों को नहीं ध्यान में रखता अर्थात् जिसकी अगली-पिछली बातों में मेल न हो, ४—(यः) जो (अपदेश्यम्+अपदिश्य पुनः अपधावति) अपने तर्कों को प्रस्तुत करके फिर उनको बदल दे—उनसे फिरजाये, ५—जो (सम्यक् प्रणिहितम् अर्थं पृष्टः सन्) पहले अच्छी प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कही हुई बात को न्यायाधीश द्वारा पुनः पूछने पर (न+अभिनन्दति) नहीं मानता, उसे पुष्ट नहीं करता, ६—(असंभाष्ये देशे साक्षिभिः मिथः संभाषते) जो एकान्त स्थान में जाकर साक्षियों के साथ घुलमिलकर चुप-चुप बात करे, ७—(निरुच्यमानं प्रश्नं न+इच्छेत्) जांच के लिए पूछे गये प्रश्नों को जो पसंद न करे, ८—(च यः+अपि निष्पतेत्) और जो इधर-इधर टलता फिरे (च) तथा ९—('ब्रूहि' इति+उक्तः न ब्रूयात्) 'कहो' ऐसा कहने पर कुछ न कह सके, १०—(च उक्तं न विभावयेत्) और जो कही हुई बात को सिद्ध न कर पाये, ११—(न पूर्वापरं विद्यात्) पूर्वापर बात को न समझे अर्थात् विचलित हो जाये, (सः तस्मात् अर्थात् हीयते)

वह उस प्रार्थना किये गये धन से हार जाता है अर्थात् न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति को हारा हुआ मानकर उसे धन न दिलावे ।। ५३—५६ ।।

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ।। ५७ ।। (४३)

('मे साक्षिणः सन्ति' इति+उक्त्वा) पहले 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहकर और फिर गवाही के समय न्यायाधीश के द्वारा ('दिश' इति+उक्तः) 'साक्षी लाओ' ऐसा कहने पर (यः न दिशेत्) जो साक्षियों को पेश न कर सके तो (धर्मस्थः) न्यायाधीश (एतैः कारणैः) इन कारणों के आधार पर भी (तम्+अपि हीनं निर्दिशेत्) मुकद्दमा दायर करने वाले को पराजित घोषित कर दे ।। ५७ ।।

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्वध्यो दण्डयश्च धर्मतः ।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ।। ५८ ।। (४४)

(अभियोक्ता न चेत् ब्रूयात्) जो अभियोक्ता=मुकद्दमा करने वाला पहले मुकद्दमा दायर करके फिर अपने मुकद्दमे के लिए कुछ न कहे तो वह (धर्मतः) धर्मानुसार (वध्यः) सजा के योग्य (च) और (दण्डय) जुर्माना [५६] करने योग्य है, इसी प्रकार यदि (त्रिपक्षात् न चेत् प्रब्रूयात्) तीन पखवाड़े अर्थात् डेढ़ मास तक अभियोगी अपनी सफाई में कुछ न कह सके तो (धर्मं प्रति पराजितः) धर्मानुसार=कानून के अनुसार वह हार जाता है ।। ५८ ।।

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं दमम् ।। ५६ ।। (४५)

(यः) जो कर्जदार (यावत् अर्थं निह्नुवीत) जितने धन को छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर जितना कम बतावे (वा) अथवा जो कर्ज देने वाला (यावति मिथ्या वदेत्) जितना झूठ बोले अर्थात् कम धन देकर जितना ज्यादा बतावे (नृपेण) राजा (तौ अधर्मज्ञौ) उन दोनों झूठ बोलने वालों को (तत् द्विगुणं दमम् दाप्यौ) जितना झूठा दावा किया है, उससे दुगुने धन के दण्ड से दण्डित करे ।। ५६ ।।

साक्षी कौन हों—

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ।। ६१ ।। (४६)

(धनिभिः) साहूकारों अर्थात् धन देने वालों को (व्यवहारेषु) मुकद्दमों

में (यादृशाः साक्षिणः कार्याः) जैसे साक्षी बनाने चाहियें (तादृशान्) उनको (च) और (तैः) उन साक्षियों को (यथा अमृतं वाच्यम्) जैसे सत्य बात कहनी चाहिए, उसे (सम्प्रवक्ष्यामि) अब आगे कहूँगा—॥ ६१ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥६३॥ (४७)

(सर्वेषु वर्णेषु) सब वर्णों में (आप्ताः) धार्मिक, विद्वान् निष्कपटी (सर्व-धर्मविदः) सब प्रकार धर्म को जानने वाले (अलुब्धाः) लोभरहित सत्यवादियों को (कार्येषु) न्यायव्यवस्था में (साक्षिणः कार्याः) साक्षी करे (विपरीतान् तु वर्जयेत्) इससे विपरीतों को कभी न करे ॥ ६३ ॥

(स० प्र० १६८)

अनुशीलन : साक्षी शब्द पर विचार—

साक्षी शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः साक्षी वही होता है जो उस बात या घटना का प्रत्यक्षद्रष्टा होता है। सहपूर्वक अक्षि से इनिः प्रत्यय अथवा साक्षात् अव्यय से **'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्'** [अष्टा० ५ । २ । ९१] से 'इनि' प्रत्यय होकर 'साक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है। **साक्षिन्-यः साक्षात् कर्ता=साक्षात्द्रष्टा' यः सः साक्षी ।** श्लोक में 'आप्ताः' विशेषण से भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

साक्षी कौन नहीं हो सकते—

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥(४८)

(अर्थसम्बन्धिनः) धनी से ऋण आदि के लेने-देने का सम्बन्ध रखने वाले (न कर्त्तव्याः) साक्षी नहीं हो सकते (न आप्ताः) न घनिष्ठ=मित्रादि (न सहायाः) न सहायक—नौकर आदि, (न वैरिणः) न अभियोगी के शत्रु आदि, (न दृष्टदोषाः) जिसकी साक्षी पहले झूठी सिद्ध हो चुकी है वे भी नहीं (न व्याधि+आर्ताः) न रोगग्रस्त, पीड़ित और (न दूषिताः) न अपराधी= सजा पाये और दूषित आचारण वाले अधर्मी व्यक्ति साक्षी हो सकते हैं ॥ ६४ ॥

विशेष प्रसंगों में साक्षी विशेष—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥(४९)

(स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः) स्त्रियों की साक्षी स्त्री, (द्विजानां द्विजाः) द्विजों के द्विज (शूद्राणां शूद्राः) शूद्रों के *शूद्र (अन्त्यानाम्+अन्त्ययोनयः

कुर्युः) अन्त्यजों के अन्त्यजसाक्षी हों ॥ ६८ ॥ (स० प्र० १६६)

✻(सदृशः) सदृशबलवाले............(सन्तः) साधुस्वभाव के.........

अनुशीलन : (१) साक्षीविशेषों के कथन का उद्देश्य—

पूर्वापर साक्षी-वर्णन सम्बन्धी श्लोकों से, और विशेषरूप से ८।६३, ६४, ६६, ७२ श्लोकों से यह स्पष्ट है कि साक्षी कोई भी हो सकता है। इस श्लोकों में जो विशेष साक्षियों का कथन है वह विशेष अभिप्राय से है। जैसे स्त्रियों के जो स्त्रीसम्बन्धी प्रसंग हैं, उनमें स्त्रियां ही ठीक साक्षी हो सकती हैं। इसी प्रकार द्विजों और शूद्रों के वर्णान्तर के जो निजी प्रसंग हैं, उनमें उसी वर्ण के साक्षी प्रामाणिक और सही सिद्ध हो सकते हैं। इस विशेष कथन का यही अभिप्राय है।

(२) **अन्त्यज कौन?**—चारों वर्णों में जो दीक्षित नहीं होकर वर्णबाह्य रह जाते हैं, वे लोग अन्त्यज अर्थात् अन्त्यस्थानीय हैं।

ऐकान्तिक अपराधों में सभी साक्षी मान्य हैं—

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥(५०)

(अन्त+वेश्मनि) घर के अन्दर एकान्त में हुई घटना में (वा) अथवा (अरण्ये) जंगल के एकान्त में हुई घटना में (अपि च) और (शरीरस्य अत्यये) रक्तपात आदि से शरीर के घायल हो जाने की अवस्था में (यः कश्चित् अनुभावी) जो कोई अनुभव करने वाला या देखने वाला हो वही (विवादिनाम्) विवाद करने वालों का (साक्ष्यं कुर्यात्) साक्षी हो सकता है, चाहे वह कोई भी हो ॥ ६९ ॥

बलात्कार आदि कार्यों में सभी साक्षी हो सकते हैं—

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥ (५१)

(सर्वेषु साहसेषु) जितने बलात्कार के काम, (स्तेयसंग्रहणेषु च) चोरी व्यभिचार (वाक्‌दण्डयोः च पारुष्ये) कठोरवचन, दंडनिपातनरूप अपराध हैं (साक्षिणः न परीक्षेत) उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी समझें, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥ ७२ ॥ (स० प्र० १६६)

अनुशीलन : साक्षी-परीक्षा निषेध का कारण—

अभिप्राय यह है कि इनमें कोई भी प्रत्यक्षदर्शी गवाह प्रामाणिक हो सकता है। क्योंकि ये बातें गुप्तरूप से या एकान्त में होती हैं, अतः उत्तम आचरण या स्तर वाले व्यक्ति ही वहां उपस्थित हों, यह संभव नहीं।

साक्ष्यों में निश्चय—

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥ (५२)

❀ (साक्षिद्वैधे बहुत्वम्) दोनों ओर की साक्षियों में से बहुपक्षानुसार (समेषु तु गुणोत्कृष्टान्) तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल (गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्) और दोनों के साक्षी उत्तमगुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥ ७३ ॥ (स० प्र० १६९)

❀ (नराधिपः) राजा या न्यायाधीश·········

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्धयति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥ (५३)

(साक्ष्यं सिद्धयति) दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है (समक्ष-दर्शनात्) एक—साक्षात् देखने (च) और (श्रवणात्) दूसरा - सुनने से (तत्र साक्षी सत्यं ब्रुवन्) जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें (धर्म + अर्थाभ्यां न हीयते) वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥ ७४ ॥ (स० प्र० १६९)

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥ (५४)

(आर्यसंसदि) जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में (साक्षी) साक्षी (दृष्ट-श्रुतात् + अन्यत् विब्रुवन्) देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (अवाङ्नरकम् + अभ्येति) अवाङ्नरक = अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्तमान समय में प्राप्त होवे (च) और (प्रेत्य स्वर्गात् हीयते) मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाये ॥ ७५ ॥ (स० प्र० १६९)

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन ।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥ (५५)

प्रत्यक्षदर्शी मनुष्य (अनिबद्धः + अपि) साक्षी के रूप में न बुलाये जाने पर भी [वादी वा प्रतिवादी के द्वारा] (यत्र किञ्चन ईक्षेत अपि वा शृणुयात्) जहां कुछ भी देखा या सुना हो (पृष्टः) न्यायाधीश के पूछने पर (तत्र + अपि) वहां (यथादृष्टं यथाश्रुतं तद् ब्रूयात्) जैसा देखा या सुना है, वैसा ही कह दे अर्थात् न्याय के लिए स्वयं साक्षीरूप में पहुंच जाये ॥ ७६ ॥

स्वाभाविक साक्ष्य ही ग्राह्य है—

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥ (५६)

(तद् ग्राह्यम्) साक्षी के उस वचन को मानना (यत्) जो (स्वभा-वेन+एव व्यावहारिकं ब्रूयुः) स्वभाव ही से व्यवहारसम्बन्धी बोलें (अतः+अन्यत्+यत्+विब्रूयुः) और सिखाये हुए, इससे भिन्न जो-जो वचन बोलें (तत्) उस-उसको ❀ (अपार्थकम्) न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥ ७८ ॥

(स० प्र० १६६)

❀ (धर्मार्थम्) सही न्याय के हेतु············

साक्ष्य लेने की विधि—

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥७९॥ (५७)

(अर्थि-प्रत्यर्थिसन्निधौ) जब अर्थी=वादी और प्रत्यर्थी=प्रतिवादी के सामने (सभान्तः प्राप्तान् साक्षिणः) सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को (सान्त्वयन्) शान्तिपूर्वक (प्राड्विवाकः) न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील या बैरिस्टर (तेन विधिना) इस प्रकार से (अनुयुञ्जीत) पूछें—॥ ७९ ॥ (स० प्र० १६६)

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥ (५८)

हे साक्षि लोगो ! (अस्मिन् कार्ये) इस कार्य में (अनयोः द्वयोः मिथ. चेष्टितम्) इन दोनों के परस्पर कर्मों में (यत् वेत्थ) जो तुम जानते हो (तत्) उस❀ को (सत्येन ब्रूत) सत्य के साथ बोलो (हि) क्योंकि (युष्मा-कम्) तुम्हारी (अत्र) इस कार्य में (साक्षिता) साक्षी है ॥ ८० ॥

(स० प्र० १६६)

❀ (सर्वम्) सब···············

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ (५९)

(साक्षी) जो साक्षी❀ (सत्यं ब्रुवन्) सत्य बोलता है (पुष्कलान् लोकान्+आप्नोति) वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म, और उत्तम लोकान्तरों

में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है (इह च+अनुत्तमां कीर्तिम्) इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है (एषा वाक् ब्रह्मपूजिता) क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥ ८१ ॥ (स० प्र० १६६)

※(साक्ष्ये) साक्ष्य-व्यवहार में.................

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥ (६०)

(सत्येन साक्षी पूयते) सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और (सत्येन धर्मः वर्धते) सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है (तस्मात्) इस से (सर्ववर्णेषु) सब वर्णों में (साक्षिभिः) साक्षियों को (सत्यं हि वक्तव्यम्) सत्य ही बोलना योग्य है ॥ ८३ ॥ (स० प्र० १६६)

साक्षी आत्मा के विरुद्ध साक्ष्य न दे—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥ (६१)

(आत्मनः साक्षी आत्मा+एव हि) आत्मा का साक्षी आत्मा (तथा+आत्मनः गतिः+आत्मा) और आत्मा की गति आत्मा है, इसको जानके हे पुरुष ! तू (नृणाम् उत्तमं साक्षिणम्) सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी (स्वम्+आत्मानम्) अपने आत्मा का (मा+अवमंस्थाः) अपमान मत कर अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य, और जो इससे विपरीत है वह मिथ्या भाषण है ॥ ८४ ॥ (स० प्र० १६६)

अनुशीलन : 'आत्मा स्वयं आत्मा का साक्षी किस प्रकार होता है' इस पर विशेष-विस्तृत विचार के लिए देखिए १। १२५ [२। ६] पर 'आत्मनस्तुष्टि' सम्बन्धी अनुशीलन।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥ (६२)

(कल्याण) हे कल्याण की इच्छा करने हारे पुरुष ! (यत् त्वम्) जो तू (अहम् एकः अस्मि' इति) 'मैं अकेला हूँ' ऐसा (आत्मानं मन्यसे) अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है, किन्तु (एषः ते हृदि) जो दूसरा तेरे हृदय में (नित्यं पुण्यपापेक्षिता मुनिः स्थितः) अन्तर्यामीरूप

से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ॥ ९१ ॥ (स० प्र० १६९)

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥ (९३)

(यस्य वदतः) जिस बोलते हुए पुरुष का (विद्वान् क्षेत्रज्ञः) विद्वान् अर्थात् शरीर का जानने हारा आत्मा (न+अभिशंकते) भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता❀ (तस्मात्+अन्यम्) उससे भिन्न (देवाः) विद्वान् लोग (श्रेयांसं पुरुषं न विदुः) किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥ ९६ ॥

(स० प्र० १६९)

❀ (लोके) जगत् में............

अनुशीलन : आत्मा में किन बातों और कार्यों से शंका, भय आदि उत्पन्न होते हैं और किनसे नहीं' इस विषय पर विस्तृत विवेचन १ । १२५ [२ । ६] पर 'आत्मनस्तुष्टिः' शीर्षक अनुशीलन के अन्तर्गत देखिए ।

झूठी गवाही वाले मुकद्दमे पर पुनर्विचार—

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥ (९४)

(यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु) जिस-जिस मुकद्दमे में (कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्) यह पता लगे कि झूठी या गलत साक्षी हुई है (तत्-तत् कार्यं निवर्तेत) उस-उस निर्णय को रद्द करके पुनः विचार करे, क्योंकि वह (कृतं च+अपि+अकृतं भवेत्) किया हुआ काम भी न किये के समान है ॥११७॥

असत्य साक्ष्य के आधार—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥ (९५)

(लोभात् मोहात् भयात् मैत्रात् कामात् क्रोधात् अज्ञानात् च बालभावात् साक्ष्यम्) जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे (वितथम्+उच्यते) वह सब मिथ्या समझी जावे ॥ ११८ ॥ (स० प्र० १७१)

असत्य साक्ष्य में दोषानुसार दण्डव्यवस्था—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥११९॥ (९६)

(एषाम्) इन [८। ११८] लोभ आदि कारणों में से (अन्यतमे स्थाने) किसी कारण के होने पर (यः अनृतं साक्ष्यं वदेत्) जो कोई झूठी साक्षी देता है (तस्य) उसके लिए (दण्डविशेषान्) दण्डविशेषों को (अनुपूर्वशः) क्रमशः (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा [८। १२०—१२२] ॥ ११९ ॥

"इनसे भिन्न स्थान में साक्षी झूठ बोले उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड दिया करे।" (स० प्र० १७१)

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥(६७)

(लोभात् सहस्रं दण्ड्यः) जो लोभ से झूठी गवाही दे तो 'एक हजार पण' का दण्ड देना चाहिए (मोहात् पूर्वं साहसम्) मोह से देने वाले को 'प्रथम साहस', (भयात् द्वौ मध्यमौ दण्डौ) भय से देने पर दो 'मध्यम साहस' का दण्ड दे (मैत्रात्) मित्रता से झूठी गवाही देने पर (पूर्वं चतुर्गुणम्) 'प्रथम साहस' का चार गुना दण्ड देना चाहिए ॥ १२० ॥

"जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५।।=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे। जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३।।।=)।। [तीन रुपये साढ़े चौदह आने] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे १५।।=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे, और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे १५।।=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे।" (स० प्र० षष्ठ समु० परोपकारिणी सभा प्रकाशन ३४ वां संस्करण)

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥ (६८)

(कामात् दशगुणं पूर्वम्) काम से झूठी गवाही देने पर दशगुना 'प्रथम साहस' (क्रोधात् तु त्रिगुणं परम्) क्रोध से देने पर तिगुना 'उत्तम साहस' (अज्ञानात् द्वे शते पूर्णे) अज्ञान से देने पर दो सौ 'पण' और (बालिश्यात् शतम्+एव तु) बालकपन में देने से सौ 'पण' दण्ड होना चाहिए ॥१२१॥

"जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे ३९—) [उनतालीस रुपये एक आना] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६।।।=) [छयालीस रुपये चौदह आने] दण्ड लेवे। जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) [तीन रुपये दो आने] दण्ड लेवे, और जो बालकपन से मिथ्यासाक्षी देवे तो उससे १।—) [एक रुपया नौ आने] दण्ड लेवे।' (स० प्र० उपर्युक्त संस्करण षष्ठ समु०)

अनुशीलन : (१) साहसदण्ड, उनका प्रमाण एवं अर्वाचीन मुद्राओं से तुलना-तालिका—

(क)— (श्लोक ८ । १३८ में वर्णित)

साहस नाम	पण	रुपये-आने में
१. प्रथम या पूर्वसाहस	२५०	३॥।=)॥ तीनरुपये साढ़ेचौदह आने
२. मध्यम साहस	५००	७॥।—) सात रुपये तेरह आने
३. उत्तम या परसाहस	१०००	१५॥=) पन्द्रह रुपये दश आने

(ख)— १ पण का—१ पैसा

४ पैसे का—१ आना

१६ आने का
या
६४ पण का } —१ रुपया

(२) झूठी साक्षियों में अर्थदण्ड एवं उनकी अर्वाचीन मुद्राओं से तुलना—तालिका—

(श्लोक ८ । १२०—१२१ में वर्णित)

	अपराध	वर्णित दण्डनाम	पण	रुपये-आने-पैसे
१	लोभ से झूठी साक्षी देने पर	हजार पण	१०००	१५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने]
२	मोह से झूठी साक्षी में	पूर्व साहस	२५०	३॥।=)॥ [तीन रुपये साढ़े चौदह आने]
३	भय से झूठी साक्षी में	दो मध्यम साहस	१०००	१५॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने]
४	मैत्री से झूठी साक्षी में	चार गुणा प्रथम साहस	१०००	१५॥= [पन्द्रह रुपये दश आने]
५	काम से झूठी साक्षी में	दश गुणा प्रथम साहस	२५००	३९—) [उनतालीस रुपये एक आना]
६	क्रोध से झूठी साक्षी में	तीन गुणा उत्तम साहस	३०००	४६॥।=) [छयालीस रुपये चौदह आने]
७	अज्ञान से झूठी साक्षी में	दो सौ पण	२००	३=) [तीन रुपये दो आने]
८	बालकपन से झूठी साक्षी में	सौ पण	१००	१॥—) [एक रुपया नौ आने]

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥ (६९)

(धर्मस्य+अव्यभिचारार्थम्) धर्म का लोप न होने देने के लिए (च) और (अधर्मनियमाय) अधर्म को रोकने के लिए (कौटसाक्ष्ये) झूठी या गलत गवाही देने पर (मनीषिभिः प्रोक्तान्) विद्वानों द्वारा विहित (एतान्-दण्डान्+आहुः) इन दण्डों को कहा है ॥ १२२ ॥

दण्ड देते समय विचारणीय बातें—

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥ (७०)

न्यायकर्त्ता (अनुबन्धम्) अपराधी का इरादा, षड्यन्त्र या बार-बार किये गये अपराध को (च) और (तत्त्वतः देशकालौ) सही रूप में देश और काल को (परिज्ञाय) जानकर (च) तथा (सार-अपराधौ) अपराधी की शारीरिक एवं आर्थिक शक्ति और अपराध का स्तर (आलोक्य) देख-विचार कर (दण्ड्येषु दण्डं पातयेत्) दण्डनीय लोगों को दण्ड दे ॥ १२६ ॥

"परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे—लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है; परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, और धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो उस का जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे।" (स० प्र० १७२)

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि यस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥ (७१)

(लोके अधर्मदण्डनम्) क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है वह (यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्) पूर्वप्रतिष्ठा और भविष्यत् में, और परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करने हारा है (च) और (परत्र+अपि-अस्वर्ग्यम्) परजन्म में भी दुःखदायक होता है (तस्मात्) इसलिये (तत् परिवर्जयेत्) अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ॥ १२७ ॥ (स० प्र० १७१)

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥(७२)

(राजा) जो राजा (दण्ड्यान् अदण्डयन्) दण्डनीयों को न दण्ड दे (अदण्ड्यान् दण्डयन्) अदंडनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिए उस को दण्ड देता है वह

(महत् अयशः आप्नोति) जीता हुआ बड़ी निन्दा को (च) और (नरकम् एव गच्छति) मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है; इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे।। १२८ ।।
(स० प्र० १७१)

"जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है।" (स० वि० १५३)

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ।। १२९ ।। (७३)

(प्रथमं वाक्+दण्डम्) प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा' (तत्+अनन्तरम्) दूसरा (धिक्+दण्डम्) 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया (तृतीयं धनदण्डम्) तीसरा— उससे धन लेना, और❀ (वधदण्डम्) 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा या बेंत से मारना वा शिर काट देना❀❀।। १२९ ।। (स० प्र० १७१)

❀ (अतः परम्) इस दण्ड से न सुधरे तो उसके पश्चात्.........

❀❀ (कुर्यात्) करे

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ।।१३०।। (७४)

राजा (एतान्) इन अपराधियों को (यदा) जब (वधेन+अपि) शारीरिक दण्ड से भी (निग्रहीतुं न शक्नुयात्) नियन्त्रित न कर सके (तदा+एषु) तो इन पर (सर्वम्+अपि+एतत् चतुष्टयं प्रयुञ्जीत) सभी उपर्युक्त [८। १२९] चारों दण्डों को एकसाथ और तीव्ररूप में लागू कर देवे ।। १३० ।।

लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले बाट और मुद्राएं—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।। १३१ ।। (७५)

अब मैं (ताम्र-रूप्य-सुवर्णानां या संज्ञाः) तांबा, चाँदी, सुवर्ण आदि की 'पण' आदि मुद्राएं और 'माष' आदि बाटों की संज्ञाएं (लोकव्यवहारार्थम्) मोल लेना-देना आदि लोकव्यवहार के लिए (भुवि प्रथिताः) जगत् में प्रसिद्ध हैं (ताः) इन सबको (अशेषतः प्रवक्ष्यामि) पूर्णरूप से कहता हूँ ।। १३१ ।।

तोल के पहले मापक त्रसरेणु की परिभाषा—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥१३२॥ (७६)

(भानौ जालान्तरगते) सूर्य की किरणों के मकान की खिड़कियों के अन्दर से प्रवेश करने पर [उस प्रकाश में] (यत् सूक्ष्मं रजः दृश्यते) जो बहुत छोटा रजकण (कण) दिखाई पड़ता है (तत्) वह (प्रमाणानां प्रथमम्) प्रमाणों=मापकों अर्थात् तोलने के बाटों में पहला प्रमाण है, और उसे ('त्रसरेणुं' प्रचक्षते) 'त्रसरेणु' कहते हैं ॥ १३२ ॥

[महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक को 'त्रसरेणु' के लक्षण-प्रसंग में 'पूना प्रवचन' में पृष्ठ ८० पर उद्धृत किया है]

लिक्षा-राजसर्षप-गौरसर्षप की परिभाषा—

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥ (७७)

[तोलने में] (परिमाणतः) माप के अनुसार (अष्टौ 'त्रसरेणवः') आठ 'त्रसरेणु' की (एका 'लिक्षा' विज्ञेया) एक 'लिक्षा' होती है और (ताः तिस्रः 'राजसर्षपः) उन तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप' (ते त्रयः गौरसर्षपः) उन तीन 'राजसर्षपों' का एक 'गौरसर्षप' होता है ॥ १३३ ॥

मध्ययव, कृष्णल, माष और सुवर्ण की परिभाषा—

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥१३४॥ (७८)

(षट् सर्षपाः मध्य-यवः) छः गौरसर्षपों का एक 'मध्ययव' परिमाण होता है (तु) और (त्रियवम् एक कृष्णलम्) तीन मध्ययवों का एक 'कृष्णल'=रत्ती (पञ्च-कृष्णलकः माषः) पाँच कृष्णलों=रत्तियों का एक 'माष' [सोने का] और (ते षोडश सुवर्णः) उन सोलह माषों का एक 'सुवर्ण' होता है ॥ १३४ ॥

पल, धरण, रौप्यमाषक की परिभाषा—

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ (७९)

(चत्वारः सुवर्णाः 'पलम्') चार सुवर्णों का एक 'पल' होता है (दश पलानि 'धरणम्') दश पलों का एक 'धरण' होता है (द्वे कृष्णले समधृते 'रौप्यमाषकः' विज्ञेयः) दो कृष्णल=रत्ती तराजू पर रखने पर उनके

बराबर तोल का माप एक 'रौप्यमाषक' जानना चाहिए ॥ १३५ ॥

रौप्यधरण, राजतपुराण, कार्षापण की परिभाषा —

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥ (८०)

(ते षोडश 'धरणं' स्यात्) उन सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यधरण' तोल का माप होता है (च) और एक ('राजतः पुराणः') चांदी का 'पुराण' नामक सिक्का होता है (ताम्रिकः कार्षिकः पणः) तांबे का कर्षभर अर्थात् १६ माषे वजन का 'पण' ('कार्षापणः' विज्ञेयः) 'कार्षापण' सिक्का समझना चाहिए ॥ १३६ ॥

रौप्यशतमान, निष्क की परिभाषा—

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥ (८१)

(दश धरणानि) दश रौप्यधरणों का ('राजतः शतमानः' ज्ञेयः) एक चांदी का शतमान' जानें, और (प्रमाणतः) प्रमाणानुसार (चतुः सौवर्णिकः 'निष्कः' विज्ञेयः) चार सुवर्ण का एक 'निष्क' [=अशर्फी] जानना चाहिए ॥ १३७ ॥

अनुशीलन : (१) तोलने के प्रमाणों का विवेचन और तालिका—

(क) श्लोक १३२ से १३६ तक लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले तोल के प्रमाणों अर्थात् बाटों का वर्णन है। उनमें त्रसरेणु से कृष्णल=रत्ती (गुंजा) तक के प्रमाण भूमि में उत्पन्न पदार्थों पर आधारित थे। माष से धरण तक के सोने के और कृष्णल से रौप्यशतमान तक के चांदी के बाट होते थे। तालिका के अनुसार उनका विवरण निम्न प्रकार है—

४ त्रसरेणु	=	१ लिक्षा	
३ लिक्षा	=	१ राजसर्षप (छोटी काली सरसों)	
३ राजसर्षप	=	१ गौरसर्षप (सफेद सरसों)	
६ गौरसर्षप	=	१ मध्ययव (न बड़ा न छोटा जौ)	
३ मध्ययव	=	१ कृष्णल = गुंजा या रत्ती	
५ कृष्णल (रत्ती)	=	१ माष (सोने का) बना लगभग आने भर वजन)	सोने से निर्मित बाट
१६ माष	=	१ सुवर्ण या कर्ष (लगभग रुपये भर वजन का	
४ सुवर्ण	=	१ पल (लगभग छटांक)	
१० पल	=	१ धरण	

२ कृष्णल रत्ती =	१ रौप्यमाषक		चांदी से
१६ रौप्यमाषक =	१ रौप्यधरण	}	निर्मित
१० रौप्यधरण =	१ रौप्यशतमान		बाट

(ख) **कौटिल्य द्वारा वर्णित तोल-प्रमाण**—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मनु के तोल-प्रमाणों को लगभग उसी रूप में उद्धृत किया है। उनसे मनुप्रोक्त प्रमाणों पर प्रकाश भी पड़ता है—

(अ) कौटिल्य के अनुसार सोने के तोलप्रमाणों में पांच रत्ती अथवा दस उड़द के दाने के बराबर एक सुवर्णमाषक होता है। सोलह सुवर्णमाष का एक सुवर्ण या एक कर्ष, और चार कर्ष का एक पल होता है।

(आ) चांदी के तोल प्रमाणों में अठ्ठासी सफेद सरसों के परिणाम का एक रूप्य-माषक होता है। मनु के अनुसार २ कृष्णल या छत्तीस गौर सर्षप का रूप्यमाषक है। सोलह रूप्यमाषक का एक धरण होता है।[1]

(२) **मुद्राएं और उनकी तालिका**—

(क) मनु ने तोल के आधार पर ही अर्थ-मुद्राओं का निर्माण [१३६-१३७] कहा है। मुद्राएं तांबा, चांदी और सोने की होती थीं। उनकी तालिका इस प्रकार है—

१६ रौप्यमाषक के बराबर वजन में = { १ राजतपुराण (चांदी की मुद्रा) / १ कार्षापण (तांबे की मुद्रा)

४ सुवर्ण के समभार में (लगभग एक छटांक) = १ निष्क (सोने की अशर्फी)

(ख) **कौटिल्य द्वारा वर्णित मुद्राएं**—

आचार्य कौटिल्य ने चांदी और तांबे की मुद्राओं का उल्लेख करते हुए उनकी रचनाविधि भी बतलायी है। मनु ने भी कार्षापण के विषय में **'ताम्रिकः कार्षिकः पणः'** शब्दों का उल्लेख कर उसके रचनातत्त्व की ओर संकेत किया है। उसकी पूर्णविधि कौटिल्य ने दी है, जो इस प्रकार है—

(अ) चांदी के सिक्के जिनको कौटिल्य ने 'पण' संज्ञा दी है, शायद वही मनु के अनुसार 'राजतपुराण' है। चांदी से बना होने के कारण संभवतः यही परकाल में रूप्यक और रुपैया का रूप धारण कर गया। कौटिल्य के अनुसार—लवणाध्यक्ष=टकसाल के अध्यक्ष को चाहिए कि वह पण, अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण नामक चार

---

१. **"धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः। पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुष्कलं पलम्।"**
"अष्टाशीतिगौरसर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडश धरणम्।"
[प्रक० ३५। अ० १९]

चांदी के सिक्कों को विधिपूर्वक ढलवाये। एक पण १६ माष का होता है। उसमें ११ माष चांदी; ४ माष तांबा; तथा रांगा, लोहा, सीसा या अंजन में से कोई धातु १ माष हो। इसी अनुपात से छोटे सिक्कों में ये धातुएं डालें।

(आ) तांबे के सिक्के को कौटिल्य ने 'माषक' संज्ञा दी है। लेकिन वह भी १६ माषे का है, जिसे मनु ने 'कार्षापण' कहा है। इसके भी चार प्रकार के सिक्के बनते हैं—माषक, अर्धमाषक, पादमाषक (काकणी), अष्टभागमाषक (अर्धकाकणी)। इनमें माषक में ११ माष ताम्बा, ४ माष चांदी, और १ माष लोहा, सीसा, रांगा या अंजन में से कोई एक धातु होती है। इससे छोटे सिक्कों में इसी अनुपात से कम हो जाती है।[1]

पूर्व-मध्यम-उत्तमसाहस की परिभाषा—

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥ (८२)

(द्वे शते सार्धे पणानां प्रथमः साहसः स्मृतः) ढाई सौ पण का एक प्रथम 'साहस' माना है (पञ्च 'मध्यमः' विज्ञेयः) पाँच सौ पण का 'मध्यम साहस' समझना चाहिए (सहस्रं तु+एव उत्तमः) एक हजार पण का 'उत्तम साहस' होता है ॥ १३८ ॥

अनुशीलन : पूर्व, मध्यम और उत्तम साहस की सीमा—कौटिल्य के मतानुसार साहसों की सीमा एक निर्धारित संख्या में नहीं, अपितु एक साहस से दूसरे साहस तक की सारी संख्या उस साहस में परिगणित मानी गई है। उनके मतानुसार—२५० पण तक पूर्वसाहस, २५१ से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०१ से १००० पण तक उत्तम साहस माना जायेगा। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनको कुछ भेद के साथ इसी प्रकार प्रस्तुत किया है—"४८ से २०० पण तक प्रथम साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस का दण्ड कहलाता है।" दोषानुसार इस अवधि का कोई भी दण्ड हो सकता है।[2]

---

१. लवणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमाषबीजयुक्तं कारयेत् पणम्, अर्धपणं पादमष्टभागमिति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणीमिति।" [प्रक० २८। अ० १२]

२. अष्टचत्वारिंशत्पणावरः षण्णवतिपरः पूर्वः साहसदण्डः।............ द्विशतावरः पञ्चशतपरः मध्यमः साहसदण्डः।........................ पंचशतावरः सहस्रपरः उत्तमः साहसदण्डः।" [प्रक० ७४। अ० १७]

ऋण पर ब्याज का विधान—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥१४०॥ (८३)

(वसिष्ठविहिताम्) [दिए हुए ऋण पर] अर्थशास्त्र के विद्वान् द्वारा विहित (वित्तविवर्धिनीम्) धन को बढ़ाने वाली (वृद्धिम्) वृद्धि अर्थात् ब्याज को (सृजेत्) ले, किन्तु (वार्धुषिकः) ब्याज लेने वाला मनुष्य (शते अशीति-भागम्) सौ पर अस्सीवां भाग अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा ब्याज (मासात्) मासिक (गृह्णीयात्) ग्रहण करे अर्थात् इससे अधिक ब्याज न ले [यह अधिक से अधिक की सीमा है] ॥ १४० ॥ *

"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे।" (सं० वि० १७६ में टिप्पणी)

अनुशीलन : इस श्लोक में 'वसिष्ठ' शब्द को देखकर यह भ्रम होता है कि यह कोई वसिष्ठ नाम का व्यक्ति हुआ है और उसने ब्याज लेने की व्यवस्था निर्धारित की है, मनु ने उसी को यहां प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है। अनेक टीकाकार इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं और उन्होंने इसको 'नाम' मानकर 'वसिष्ठ ऋषि' यह अर्थ कर दिया है। इस शब्द का यहाँ 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' अर्थ है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां हैं—(१) मनु ने प्रसंगानुसार अन्यत्र भी उस-उस विषय के ज्ञाता विद्वानों को मूल्य, शुल्क आदि के निर्धारण में प्रमाण माना है, और स्वयं उनका निर्धारण स्वल्परूप में करके शेष उन्हीं पर छोड़ दिया है, जैसे—किराया निर्धारण के लिए ८। १५७ में, शुल्कनिर्धारण के लिए ८। ३९८ में उस विषय के विशेषज्ञों पर ही यह निर्धारण का काम छोड़ा है। इसी प्रकार यहां भी है। इसीलिए इस शब्द का उक्त अर्थ मनु-अभिप्रेत है। ८। १५७ में इस शब्द के पर्यायवाची रूप में **'अर्थदर्शिनः'** शब्द का प्रयोग है। इसका भी भाव वही है। (२) वेदादि में वसिष्ठ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा—ऋ० १. ११२. ९ तथा ७. ३३. १३ में वसिष्ठ शब्द का अर्थ महर्षि दयानन्द ने यही किया है—**"यो वसति धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमविद्वांसम्।"** इस आधार पर यहाँ उक्त अर्थ ही समीचीन एवं ग्राह्य है।

अर्थशास्त्रियों द्वारा ब्याज की व्यवस्था के निर्धारण का उल्लेख करते हुए मनु ने ब्याज की यह अधिकतम सीमा निर्धारित की है। इससे अधिक ब्याज ग्रहण नहीं करना चाहिए, इस उल्लेख से मनु का यही अभिप्राय है।

लाभ वाली गिरवी पर ब्याज नहीं—

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।

---

* [प्रचलित अर्थ—वसिष्ठ मुनि द्वारा प्रतिपादित धनवर्धक सूद ले, वह ऋण-द्रव्य का १/८० भाग हो अर्थात् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिए ॥१४०॥]

न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥ (८४)

(सोपकारे) उपकार अर्थात् साथ के साथ लाभ पहुंचाने वाली (आधौ) बंधक रखी धरोहर=गिरवी [जैसे भूमि, घर, गौ आदि] पर (कौसीदीं वृद्धि न तु+एव आप्नुयात्) ब्याज रूप में प्राप्त धनवृद्धि बिल्कुल न ले (च) और (कालसंरोधात्) बहुत समय बीत जाने पर भी (आधेः) उस धरोहर को (न निसर्गः) रखने वाले के अधिकार से छुड़ाया नहीं जा सकता है अर्थात् रखने वाले की ही वह वस्तु रहेगी (न विक्रयः) न दूसरे को बेचा जा सकता है ॥ १४३ ॥

धरोहर-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ (उन पर ऋण-ब्याज आदि की व्यवस्था)—

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥१४४॥(८५)

(बलात्) गिरवी को रखने वाला व्यक्ति जबरदस्ती (आधिः न भोक्तव्यः) किसी की धरोहर=गिरवी को उपयोग में न लाये (भुञ्जानः) यदि वह उस वस्तु को उपभोग में लाता है तो (वृद्धिम्+उत्सृजेत्) ब्याज को छोड़ देवे,अथवा (एनं मूल्येन तोषयेत्) धरोहर रखने वाले व्यक्ति को उसका मूल्य देकर संतुष्ट करे (अन्यथा) ऐसा न करने पर (आधिः+स्तेनः भवेत्) 'धरोहर का चोर' कहलाएगा अर्थात् चोर के दण्ड का भागी होगा ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४५॥ (८६)

(आधिः) धरोहर=गिरवी (च) और (उपनिधिः) मुहरबन्द दी हुई अमानत (उभौ) ये दोनों (काल+अत्ययम्) समय की सीमा के (न अर्हतः) योग्य नही हैं अर्थात् इन पर कोई समय की सीमा लागू नहीं होती कि इतने दिनों के पश्चात् ये जब्त हो जायेंगी (तौ) ये (दीर्घकालम्+अवस्थितौ) लम्बे समय तक रहने के बाद भी (अवहार्यौ भवेताम्) लौटाने योग्य होती हैं ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥१४६॥ (८७)

(संप्रीत्या भुज्यमानानि) परस्पर प्रेमपूर्वक उपभोग में लायी जाती हुई वस्तुएं (धेनुः) गौ (वहन्) बोझ या सवारी आदि ढोने के लिए (उष्ट्रः) ऊंट (अश्वः) घोड़ा (च) और (यः) जो (दम्यः) हल आदि में जोता जाने

वाला बैल आदि (प्रयुज्यते) उपभोग में लाया जाता है, वह (कदाचन न नश्यन्ति) कभी भी अपने पूर्व स्वामी के स्वामित्व से नष्ट नहीं होते, प्रयोग करने वाले के नहीं होते ॥ १४६ ॥

दुगुने से अधिक मूलधन न लेने का आदेश—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ (८८)

(सकृत्+आहृता) एकबार लिए ऋण पर (कुसीदवृद्धिः) ब्याज की वृद्धि (द्वैगुण्यं न+अत्येति) मूलधन दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। (धान्ये) अन्नादि धान्य (सदे) वृक्षों के फल (लवे) ऊन (वाह्ये) भारवाहक पशु बैल आदि (पञ्चतां न+अतिक्रामति) मूल से पांच गुने से अधिक नहीं होने चाहिएँ ॥ १५१ ॥

"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे, जब दूना धन आ जाये उस से आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उस का धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे"। (सं० वि० १७६ में टिप्पणी)

कौन-कौन से ब्याज न ले—

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥ (८९)

(अतिसांवत्सरीं वृद्धिं न हरेत्) एक वर्ष से अधिक समय का ब्याज एक बार में न ले (च) और (अदृष्टां पुनः न हरेत्) किसी कारण से एक बार छोड़े हुए ब्याज को फिर न मांगे (चक्रवृद्धिः) ब्याज पर लगाया हुआ ब्याज (कालवृद्धिः) मासिक, त्रैमासिक या ब्याज की किश्त देने के लिए निश्चित किये गये काल पर ब्याज लेकर अगले ब्याज की दर को बढ़ा देना (कारिता) कर्जदार की विवशता, विपत्ति आदि के कारण दबाव देकर शास्त्र में निश्चित सीमा से अधिक लिखाया या बढ़ाया गया ब्याज (कायिका) ब्याज के रूप में शरीर से बेगार करवाना या शरीर से काम कराके ब्याज उगाहना, ये ब्याज भी न ले ॥ १५३ ॥

पुनः ऋणपत्रादि लेखन—

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥१५४॥(९०)

(यः) जो कर्जदार (ऋणं दातुम्+अशक्तः) निर्धारित समय पर ऋण न लौटा सकता हो और (पुनः क्रियां कर्तुम्+इच्छेत्) फिर आगे भी क्रिया=उस ऋण को जारी रखना चाहता हो तो (सः) वह (निर्जितां वृद्धि दत्त्वा) उस समय तक के ब्याज को देकर (करणं परिवर्तयेत्) 'लेन-देन का कागज' नया लिख दे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥ (६१)

(अदर्शयित्वा) यदि कर्जदार ब्याज न दे सके तो (तत्र+एव हिरण्यं परिवर्तयेत्) ब्याज को मूलधन में जोड़कर सारे को मूलधन मानकर नया कागज लिख दे (यावती वृद्धिः संभवेत्) उस पर फिर जितना ब्याज बनेगा (तावतीं दातुम्+अर्हति) उतना उसे देना होगा ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥ (६२)

(चक्रवृद्धिं समारूढः) उपर्युक्त [८।१५५] प्रकार से वार्षिक ब्याज को मूलधन में जोड़कर चक्रवृद्धि ब्याज लेने वाला व्यक्ति (देश-काल-व्यवस्थितः) देश और काल-व्यवस्था में बन्धकर ब्याज ले [देशव्यवस्था अर्थात् स्थान या देश की उपयुक्त व्यवस्था जैसे नकद राशि पर दुगुने से अधिक न ले; व्यापारिक अन्न, फल आदि पर पांच गुने से अधिक न ले; और सवा रुपये सैकड़े की अधिकतम सीमा तक जितना ब्याज जिस स्थान या देश में लिया जाता है उस व्यवस्था के अनुसार (८।१४०, १५१)। कालव्यवस्था—वर्ष के निर्धारित समय के बाद ही सूद को मूलधन में जोड़ना, पहले नहीं] (८।१५५) (देशकालौ अतिक्रामन्) देश, काल की व्यवस्था को भंग करने पर (तत् फलं न अवाप्नुयात्) ब्याज लेने वाला उस ब्याज को लेने का हकदार नहीं होता ॥ १५६ ॥

समुद्रयानों का किराया-भाड़ा निर्धारण—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥ (६३)

(समुद्रयानकुशलाः) समुद्रपार देशों तक व्यापार करने में चतुर और (देशकालार्थदर्शिनः) देश, काल के अनुसार अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (यां वृद्धिं स्थापयन्ति) जिस ब्याज या भाड़े का निश्चय करें (सा तत्र+अधिगमं प्रति) वही ब्याज या भाड़ा लाभप्राप्ति के लिए ठीक है [ऐसा समझना चाहिए] ॥ १५७ ॥

जमानती सम्बन्धी विधान—

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥ (६४)

(यः मानवः) जो व्यक्ति (यस्य) जिस कर्जदार का (इह दर्शनाय) महाजन के सामने या न्यायालय के सामने उपस्थित करने का (प्रतिभूः तिष्ठेत्) जमानती बने (अदर्शयन्) उस कर्जदार को उपस्थित न कर सकने पर (तस्य ऋणम्) उसका लिया हुआ कर्ज (स्वधनात् प्रयच्छेत्) जमानती अपने धन से दे ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५६॥ (६५)

(प्रातिभाव्यम्) जमानत के रूप में स्वीकार किया गया धन (वृथा-दानम्) व्यर्थ में देने के लिए कहा गया दान, या व्यर्थ अथवा कुपात्र को कहा गया दान (आक्षिकम्) जूआ-सम्बन्धी धन (च) और (यत् सौरिकम्) जो शराब-व्यय सम्बन्धी धन (च) तथा (दण्ड-शुल्क-अवशेषम्) राजा की ओर से दण्ड के रूप में किया गया जुर्माने का धन और कर, चुंगी आदि का धन (पुत्रः न दातुम्+अर्हति) पुत्र को नहीं देना चाहिए ॥ १५६ ॥

दर्शनप्रतिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥ (६६)

(दर्शन-प्रातिभाव्ये तु) कर्जदार का उपस्थित करने का जमानती होने में तो (पूर्वचोदितः विधिः स्यात्) पहले [८।१५६ में] कही हुई विधि लागू होगी किन्तु (दान-प्रतिभुवि प्रेते) ऋण आदि देने का जमानती होकर [कि अगर कर्जदार नहीं देगा तो मैं दूंगा] पुनः जमानती के मर जाने पर (दायादान्+अपि दापयेत्) राजा जमानत के धन को उसके वारिस पुत्र आदिकों से भी दिलवाये ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ (६७)

(अदातरि पुनः विज्ञातप्रकृतौ) अदाता जमानती की प्रतिज्ञा की ऋणदाता को जानकारी होने की स्थिति में अर्थात् यदि जमानती ने ऋण देने की जमानत नहीं ली है किन्तु केवल ऋणी को ऋणदाता के सामने नियत समय पर उपस्थित करने की जमानत ली है, और जमानती की इस प्रतिज्ञा को ऋणदाता जानता भी है ऐसे (प्रतिभुवि प्रेते पश्चात्) जमानती

के मर जाने के बाद (दाता केन हेतुना ऋणं परीप्सेत्) ऋणदाता किस कारण अर्थात् आधार पर [उसके पुत्रादि से] ऋण प्राप्त करने की इच्छा करेगा ? अर्थात् वह उसके पुत्र आदि से ऋण प्राप्त करने का हकदार नहीं है ॥ १६१ ॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंघनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥ (६८)

(चेत्) यदि (प्रतिभूः निरादिष्टधनः) ऋणी ने अपने जमानती को धन सौंप रखा हो (च) और (अलंघनः स्यात्) ऋणी ने जमानती से ऋण-दाता को वह धन लौटा देने की आज्ञा न दी हो तो ऐसी स्थिति में (निरा-दिष्टः) वह आज्ञा न दिया हुआ जमानती अथवा मरने पर जमानती का पुत्र (तत् स्वधनात्+एव दद्यात्) [ऋणदाता के मांगने पर] उसका धन अपने धन में से ही लौटा देवे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥१६२॥

आठ प्रकार के व्यक्तियों से लेन-देन अप्रामाणिक है—

मत्तोन्मत्तार्ताध्याधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धयति ॥१६३॥ (६६)

(मत्तः) नशे में ग्रस्त (उन्मत्तः) पागल (—आर्तः) शारीरिक रोगी (—आधि) मानसिक रूप से दुःखी या विपत्तिग्रस्त (—अधीनैः) अधीन रहनेवाले नौकर आदि से (बालेन) नाबालिग से (वा) अथवा (स्थविरेण) बहुत बूढ़े से (च) और (असंबद्धकृतः) सम्बद्ध व्यक्ति के पीछे से किसी अन्य व्यक्ति से किया गया (व्यवहार) लेन-देन (न सिद्धयति) प्रामाणिक अर्थात् मानने योग्य नहीं होता ॥ १६३ ॥

शास्त्र और नियमविरुद्ध लेन-देन अप्रामाणिक—

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१६४॥(१००)

(भाषा) कोई भी बात या पारस्परिक प्रतिज्ञा (चेत्) यदि (धर्मात्) धर्मशास्त्र अर्थात् कानून में (नियतात् व्यावहारिकात्) निश्चित व्यवहार से (बहिः भाष्यते) बाह्य अर्थात् विरुद्ध की हुई है (यद्यपि प्रतिष्ठिता स्यात्) चाहे वह लेख आदि द्वारा प्रमाणित भी हो तो भी (सत्या न भवति) सत्य =प्रामाणिक या मान्य नहीं होती ॥ १६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।

यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥ (१०१)

(योग+आधमन—विक्रीतम्) छल-कपट से रखी हुई धरोहर और बेची हुई वस्तु (योगदान—प्रतिग्रहम्) छल-कपट से दी गयी और ली गई वस्तु (वा) अथवा (यत्र अपि+उपधि पश्येत्) जिस-किसी भी व्यवहार में छल-कपट दिखायी पड़े (तत् सर्वं विनिवर्तयेत्) उस सब को रद्द या अमान्य घोषित कर दे ॥ १६५ ॥

कुटुम्बार्थ लिए गये धन को कुटुम्बी लौटायें—

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥(१०२)

(कुटुम्बार्थं व्ययः कृतः) यदि किसी व्यक्ति ने परिवार के लिए ऋण लेकर खर्च किया हो और (यदि ग्रहीता नष्टः स्यात्) यदि ऋण लेने वाले की मृत्यु हो गई हो तो (तत्) वह ऋण (बान्धवैः) उसके पारिवारिक सम्बन्धियों को (विभक्तैः+अपि) चाहे वे अलग-अलग भी क्यों न हो गये हों (स्वतः) अपने धन में से (दातव्यम् स्यात्) देना चाहिए ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि यं व्यवहारं समाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥(१०३)

(अधि+अधीनः+अपि) कोई अधीनस्थ व्यक्ति [पुत्र, पत्नी आदि] भी यदि (कुटुम्बार्थे) परिवार के भरण-पोषण के लिए (स्वदेशे वा विदेशे वा) स्वदेश वा विदेश में (यं व्यवहारम्+आचरेत्) जिस लेन-देन के व्यवहार को कर लेवे (ज्यायान्) घर का बड़ा=मुखिया आदमी (तं न विचालयेत्) उस व्यवहार को टालमटोल न करे अर्थात् उसे स्वीकार करके चुकता कर दे ॥ १६७ ॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥
(१०४)

(राजा) राजा (मिथः विवदतां नृणाम्) परस्पर झगड़ते हुए मनुष्यों के (साक्षि-प्रत्ययसिद्धानि कार्याणि) साक्षी और लेख आदि प्रमाणों से प्रमाणित मुकद्दमों को (अनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८।९ से ८।१७७] विधि से (समतां नयेत्) सबसे बराबर न्याय करता हुआ निर्णय करे ॥ १७८ ॥

(२) धरोहर रखने के विवाद का निर्णय (१०५—१२०)

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।

महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ।। १७६ ।। (१०५)

(बुधः) बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह (कुलजे) कुलीन (वृत्त-सम्पन्ने) अच्छे आचरण वाले (धर्मज्ञे) धर्मात्मा (सत्यवादिनि) सत्यवादी (महापक्षे) विस्तृत व्यापार या बहुत परिवार वाले (आर्ये धनिनि) श्रेष्ठ धनवान् व्यक्ति के यहां (निक्षेपं निक्षिपेत्) धरोहर रखे ।। १७६ ।।

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ।। १८० ।। (१०६)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (मानवः) मनुष्य (यम्+अर्थम्) जिस धन को (यस्य हस्ते) जिस किसी के हाथ में (यथा निक्षिपेत्) जैसे अर्थात् मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, साक्षियों के सामने या एकान्त में, जैसी धन की मात्रा अवस्था आदि के रूप में रखे (सः) वह धन (तथा+एव) वैसी स्थिति के अनुसार ही (ग्रहीतव्यः) वापिस लेना चाहिए क्योंकि (यथा दायः तथा ग्रहः) जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थं द्रष्टव्य ८।१६५] ।। १८० ।।

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ।। १८१ ।। (१०७)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (निक्षेप्तुः निक्षेपम्) धरोहर रखाने वाले के द्वारा अपनी धरोहर के (याच्यमानः) मांगने पर (न प्रयच्छति) नहीं लौटाता है तो [धरोहर रखाने वाले के द्वारा न्यायालय में प्रार्थना करने पर] (तत् निक्षेप्तुः+असन्निधौ) धरोहर रखाने वाले की अनुपस्थिति में या परोक्षरूप से (प्राड्विवाकेन सः याच्यः) न्यायाधीश उससे धरोहर मांगे [८।१८२] अर्थात् धरोहर लौटाने के लिये उससे पूछताछ आदि करे। ।। १८१ ।।

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ।। १८२ ।। (१०८)

(साक्षी+अभावे) दिये गये धरोहर-धन को सिद्ध करने के लिए यदि साक्षी न हों [तो उसकी जांच-पड़ताल का एक उपाय यह है कि राजा] (वयः-रूप-समन्वितैः) समयानुसार अवस्था और विविध रूप बनाने की कला में चतुर (प्रणिधिभिः) गुप्तचरों के द्वारा (अपदेशैः) विभिन्न बहानों एवं तरीकों से (तत्त्वतः) जो नकली प्रतीत न हों अर्थात् ऐसी स्वा-

भाविक पद्धति से (तस्य) उस अभियोगी के यहां (हिरण्यं संन्यस्य) स्वर्ण आदि धरोहर आदि का धन रखवाकर फिर मांगे ॥ १८२ ॥

अनुशीलन : हिरण्य से विशेष अभिप्राय—

'हिरण्य' का प्रसिद्ध अर्थ स्वर्ण है। किसी भी अतिमूल्यवान् वस्तु को भी 'हिरण्य' कहा जाता है। यहां 'हिरण्य' रखकर परीक्षा करने की विधि बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यतोहि लालची व्यक्ति महंगी वस्तु पर अधिक लालच प्रकट करेगा, जिससे उसकी भावना प्रकट हो जायेगी कि इसने इस प्रकार का अपराध किया है अथवा नहीं।

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ (१०९)

(सः) वह धरोहर लेने वाला अभियोगी व्यक्ति [अनेक बार, विभिन्न प्रकार के उपायों से परीक्षा करने के पश्चात्] (यदि यथान्यस्तं यथाकृतं प्रतिपद्येत्) यदि रखी हुई धरोहर को ईमानदारी से ज्यों का त्यों वापिस कर देता है तो (यत् परैः+अभियुज्यते) जो दूसरों के द्वारा उस पर अभियोग लगाया गया है (तत्र न किंचित् विद्यते) उसमें कुछ सच्चाई नहीं है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥ (११०)

(यदि तु) और अगर (तेषां तत् हिरण्यम्) उन गुप्तचरों द्वारा रखी गई स्वर्ण आदि धरोहर को (यथाविधि) ज्यों का त्यों (न दद्यात्) न लौटावे तो (उभौनिगृह्य) धरोहर रखने वाले तथा गुप्तचरों द्वारा रखी गयी उन दोनों धरोहरों को अपने वश में करके (दाप्यः स्यात्) धरोहर रखने वाले को दण्डित करे (इति धर्मस्य धारणा) ऐसा धर्मानुसार दण्ड विधान है। १८४॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ (१११)

(नित्यम्) कभी भी (निक्षेप+उपनिधी) बिना मुहरबन्द=गिरवी धरोहर और मुहरबन्द धरोहर (अनन्तरे प्रति) देने वाले से भिन्न निकटतम व्यक्ति को [चाहे वे पुत्र आदि ही क्यों न हों] (न देयौ) नहीं देनी चाहियें (तौ) ये (विनिपाते नश्यतः) देने वाले के मर जाने पर नष्ट हो जाती हैं अर्थात् लौटानी नहीं पड़तीं (तु) और (अनिपाते) जीवित रहते हुए (अनाशिनौ) कभी नष्ट नहीं होतीं ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥(११२)

(मृतस्य अनन्तरे प्रति) धरोहर देने वाले के मरजाने पर उसके वारिसों को (यः स्वयम्+एव दद्यात्) जो व्यक्ति स्वयं ही धरोहर लौटा दे तो (सः) उस व्यक्ति पर (न राज्ञा) न तो राजा को (न निक्षेप्तुः बन्धुभिः) और न धरोहर रखाने वाले के उत्तराधिकारी बान्धवों को (नियोक्तव्य): किसी प्रकार का दावा या संदेह करना चाहिए ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।
विचार्य तस्य या वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥ (११३)

(तम्+अर्थम्) यदि उस व्यक्ति के पास कुछ धन रह भी गया है तो उस धन को (अच्छलेन) छलरहित होकर (प्रीतिपूर्वकम्+एव) प्रेमपूर्वक ही (अनु+इच्छेत्) लेने की इच्छा करे (वा) और (तस्य वृत्तं विचार्य) उसके भलेपन को ध्यान में रखते हुए [कि उसने स्वयं ही कुछ धन लौटा दिया] (साम्ना+एव परिसाधयेत्) शान्तिपूर्वक या मेल-जोल से ही धन-प्राप्ति के काम को सिद्ध करले ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥(११४)

(एषु सर्वेषु निक्षेपेषु) उपर्युक्त सब प्रकार के बिना मुहरबन्द निक्षेपों में (परिसाधने) विवादों का निर्णय करने के लिए (विधिः स्यात्) यह विधि [८।१८२ आदि] कही गयी है और (समुद्रे) मोहरबन्द धरोहरों में (यदि तस्मात् न हरेत्) यदि उसमें से मुहर को तोड़कर रखने वाला कुछ नहीं लेता है तो (किञ्चित् न+आप्नुयात्) वह किसी दोष का भागी नहीं होता ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥ (११५)

(तस्मात्) रखे हुए धरोहर में से (यदि सः किञ्चन न संहरति) यदि धरोहर लेने वाला कुछ नहीं लेता है और धरोहर (चौरैः हृतम्) चोरों के द्वारा चुरा ली जाये (जलेन+ऊढम्) जल में बह जाये (वा) या (अग्निना एव दग्धम्) आग से ही जल जाये तो (न दद्यात्) धरोहर लेने वाला धरोहर को न लौटाये ॥ १८९ ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१६१॥(११६)

(यः) जो (निक्षेपं न+अर्पयति) धरोहर को वापिस नहीं लौटाता (च) और (यः) जो (अनिक्षिप्य याचते) बिना धरोहर रखे झूठ ही मांगता है (तौ+उभौ) वे दोनों प्रकार के व्यक्ति (चौरवत् शास्यौ) चोर के समान दण्ड के भागी हैं (वा) अथवा (तत् समं दमं दाप्यौ) बताये गये धन के बराबर अर्थदण्ड के द्वारा दण्डनीय हैं ॥ १६१ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १६३ ॥
(११७)

(यः कश्चित् नरः) जो कोई मनुष्य (उपधाभिः) छल-कपट या जालसाजी से (परद्रव्यं हरेत्) दूसरों का धन हरण करे (सः) राजा उसे (ससहायः) उसके सहायकों सहित (प्रकाशम्) जनता के सामने (विविधैः वधैः हन्तव्यः) विविध प्रकार के वधों [कोड़े या बेंत मारना, हाथ-पैर काटना आदि] से दण्डित करे ॥ १६३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥१६४॥ (११८)

(कुलसन्निधौ) साक्षियों के सामने (येन) जिसने (यः च यावान् निक्षेपः कृतः) जो वस्तु और जितना धरोहर के रूप में रखा है (सः) वह (तावान्+एव विज्ञेयः) उतना ही समझना चाहिए अर्थात् धरोहर घटती या बढ़ती नहीं है (विब्रुवन्) उसके विरुद्ध कहने वाला भी (दण्डम्+अर्हति) दण्ड का भागी होता है ॥ १६४ ॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१६५॥ (११९)

(येन मिथः दायः कृतः) जिस व्यक्ति ने बिना साक्षियों के परस्पर ही सहमति से धरोहर या धन दिया है (वा) अथवा (मिथः एव गृहीतः) उसी प्रकार एकान्त में ग्रहण किया है उन्हें (मिथः एव प्रदातव्यः) उसी प्रकार एकान्त में लौटा देना चाहिए (यथा दायः तथा ग्रहः) क्योंकि जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थ द्रष्टव्य ८ । १८०] ॥ १६५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१६६॥ (१२०)

(एवम्) इस प्रकार [८ । १७९ से ८ । १९५ तक] (निक्षिप्तस्य) धरोहर के रूप में रखे गये (च) और (प्रीत्या+उपनिहितस्य धनस्य) प्रेमपूर्वक उपनिधि आदि के रूप में रखे गये धन का (न्यासधारिणम् अक्षिण्वन्) जिससे धरोहर रखने वाले को किसी प्रकार की हानि न हो ऐसे (राजा विनिर्णयं कुर्यात्) राजा निर्णय करे ॥ १९६ ॥

(३) तृतीय विवाद 'अस्वामिविक्रय' का निर्णय—१२१ – १२७

दूसरे की वस्तु बेच देना—

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥(१२१)

(यः) जो मनुष्य (अस्वामी) किसी वस्तु का स्वामी नहीं होता हुआ भी (स्वामी+असंमतः) उस वस्तु के असली स्वामी की आज्ञा लिए बिना (परस्य स्वं विक्रीणीते) दूसरे की सम्पत्ति को बेच देता है (अस्तेनमानिनम्) चोर होते हुए भी स्वयं को चोर न समझने वाले (स्तेनं तम्) उस चोर व्यक्ति की (साक्ष्यं न नयेत) साक्षी या बातों को प्रामाणिक न माने ॥१९७॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥१९८॥(१२२)

(अवहार्यः सान्वयः एव भवेत्) यदि इस प्रकार [८ । १९७] सम्पत्ति को बेचने वाला वंश से स्वामी का उत्तराधिकारी हो तो (षट्शतं दमम्) राजा उस पर छह सौ पण दण्ड करे और यदि वह (निरन्वयः) स्वामी के वंश का न हो, तथा (अनपसरः) या कोई जबरदस्ती उस सम्पत्ति पर अधिकार करने वाला हो तो वह (चौरकिल्विषं प्राप्तः स्यात्) चोर के दण्ड को [८ । ३०१–३४३] प्राप्त करने योग्य होगा ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥१९९॥ (१२३)

(अस्वामिना) वास्तविक स्वामी के बिना (यः तु दायः वा विक्रयः कृतः) जो कुछ भी देना या बेचना किया जाये (व्यवहारे यथा स्थितिः) व्यवहार के नियम के अनुसार (सः तु अकृतः विज्ञेयः) उस कार्य को 'न किया हुआ' ही समझना चाहिए ॥ १९९ ॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥२००॥ (१२४)

(यत्र सम्भोगः दृश्यते) जहां किसी वस्तु का उपभोग किया जाना देखा जाये (आगमः क्वचित् न दृश्यते) किन्तु उसका आगम=आने का साधन या स्रोत न दिखाई पड़े (तत्र) वहां (आगमः कारणम्) आगम= वस्तु की प्राप्ति के स्रोत या साधन के होने का प्रमाण मानना चाहिए (संभोगः न) उपभोग करना उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं है (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है। अर्थात्—किसी वस्तु के उपभोग करने से कोई व्यक्ति उसका स्वामी नहीं बन जाता अपितु 'उचित प्राप्ति' को सिद्ध करने पर ही उसे उस वस्तु का स्वामी माना जा सकता है ॥ २०० ॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥ (१२५)

(यः) जो व्यक्ति (किञ्चित् विक्रयात्) किसी वस्तु को बेचकर (धनं गृह्णीयात्) धन प्राप्त करना चाहे तो वह (कुलसन्निधौ) साक्षियों या कुल के लोगों के बीच में (विशुद्धं क्रयेण हि) उस बेची जाने वाली वस्तु की खरीददारी को विशुद्ध प्रमाणित करके ही (न्यायतः धनं लभते) न्यायानुसार धन प्राप्त करने का अधिकारी होता है अर्थात् जिस वस्तु को वह बेच रहा है वह विशुद्ध रूप से उसकी है या उसने कानूनी तौर पर खरीद रखी है, यह बात सिद्ध करने पर ही वह उस बेची हुई वस्तु के धन को प्राप्त करने का अधिकारी है, अन्यथा नहीं। जो उसकी विशुद्ध खरीदारी को प्रमाणित नहीं कर सकता, वह न उस वस्तु को बेचने का हकदार है और न उसके विक्रय के धन को प्राप्त करने का ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥ (१२६)

(अथ मूलम्+अनाहार्यम्) अगर कोई वस्तु न लेने योग्य अर्थात् अवैध सिद्ध होती है अर्थात् मूलरूप से वह कहाँ से आयी है और किस की है यह पता न हो और खरीददार ने उस वस्तु की (प्रकाश-क्रय-शोधितः) लोगों के सामने शुद्ध रूप से खरीददारी की है, तो ऐसी स्थिति में उस अवैध वस्तु का खरीददार (राज्ञा अदण्ड्यः मुच्यते) राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं होता, राजा उसे छोड़ दे, और (नाष्टिकः धनं लभते) जिसका वह धन मूलरूप से है, उसे लौटा दे ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥२०३॥ (१२७)

(अन्येन अन्यत् संसृष्टरूपम्) एक वस्तु में उससे मिलते-जुलते रङ्ग-रूप वाली कम कीमत वाली या खराब वस्तु मिलाकर (न विक्रयम्+अर्हति) नहीं बेची जा सकती (च) और (न असारम्) न बेकार वस्तु (न न्यूनम्) न तोल में कम (न दूरेण तिरोहितम्) न दूर से अस्पष्ट दिखने वाली वस्तु को बेचना प्रामाणिक है ॥ २०३ ॥

अनुशीलन : इस प्रकार से वस्तुओं का बेचना भी दूसरे की वस्तु बेचने के समान दण्डनीय है। और इस प्रकार मिलावट या धोखा करने वाला व्यक्ति भी चोर के समान दण्डनीय होता है [१९७-१९८] या ९। २८६-२८७ के अनुसार दोष देखकर दण्ड दे।

(४) चतुर्थ विवाद 'सामूहिक व्यापार' का निर्णय [१२८ - १२९]

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥२१०॥ (१२८)

[अपने धनव्यय के अनुसार] (सर्वेषां मुख्याः अर्धिनः) सब साझीदारों में जो मुख्य हैं, वे कुल आय के आधे भाग को लें (अपरे अर्धिनः तत् अर्धेन) दूसरे नंबर के साझीदार उनसे आधा भाग ग्रहण करें (तृतीयिनः तृतीयांशाः) तीसरे नम्बर के साझीदार उन मुख्यों से एक तिहाई भाग लें (च) और (चतुर्थांशाः पादिनः) चौथे हिस्से के हिस्सेदार एक चौथाई हिस्सा लें। इस प्रकार साझे का व्यापार करें ॥ २१० ॥

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेन विधियोगेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना ॥२११॥ (१२९)

(इह) इस संसार में (संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिः मानवैः) मिल-जुलकर अपने काम करने वाले मनुष्यों को (अनेन विधियोगेन) इस विधि के अनुसार (अंशप्रकल्पना कर्त्तव्या) आपस के भाग का बंटवारा करना चाहिए अर्थात् जिसका जितना साझे का अंश है तदनुसार ही लाभांश प्राप्त करना चाहिए ॥ २११ ॥

(५) पञ्चम विवाद 'दिये पदार्थ को न लौटाना' का निर्णय—

(१३० –१३१)

दान की हुई वस्तु को लौटाना—

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम्।

पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥२१२॥ (१३०)

(येन) जिसने (कस्मैचित् याचते) किसी चंदा, दान आदि मांगने वाले को (धर्मार्थं धनं दत्तं स्यात्) धर्मकार्य के लिए धन दिया हो (च) और (पश्चात्) बाद में (तथा तत् न स्यात्) उस याचक ने जैसा कहा था वह काम नहीं किया हो तो (तस्य तत् न देयं भवेत्) उसको वह धन देने योग्य नहीं रहता अर्थात् वह धन उससे वापिस ले ले ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥२१३॥ (१३१)

(पुनः) वापिस मांगने पर भी (दर्पात् वा लोभेन) अभिमान या लालचवश (यदि तत् संसाधयेत्) फिर भी उस धन को वह याचक मनमाने काम में लगाये अर्थात् वापिस न करे तो (राज्ञा) राजा (तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः) उसके चोरीरूप अपराध की निवृत्ति के लिए (सुवर्णं दाप्यः स्यात्) एक 'सुवर्ण' [८।१३४] के दण्ड से दण्डित करे, और धन भी दिलवाये ॥ २१३ ॥

(६) षष्ठ विवाद 'वेतन-आदान' का निर्णय—(१३२–१३४)

वेतन देने, न देने का विवाद—

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥ (१३२)

(एषा) ये [८।२१२–२१३] (दत्तस्य) दिये हुए दान को (यथावत्+अनपक्रिया) ज्यों की त्यों न लौटाने की क्रिया (धर्म्या) धर्म के अनुसार (उदिता) कही।

(अतः+ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (वेतनस्य+अनपक्रियाम्) वेतन न देने के विषय का (प्रवक्ष्यामि) वर्णन करूंगा ॥ २१४ ॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥२१५॥ (१३३)

(यः) जो (भृतः) सेवक (अनार्तः) रोगरहित होते हुए भी (यथा+उदितं कर्म) यथा निश्चित काम को (दर्पात्) अहंकार के कारण (न कुर्यात्) न करे (सः अष्टौ कृष्णलानि दण्ड्यः) राजा उस पर आठ 'कृष्णल' [७।१३४] दण्ड करे (च) और (अस्य वेतनं न देयम्) उसे उस समय का वेतन न दे ॥ २१५ ॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥ (१३४)

यदि सेवक (स्वस्थः सन्) स्वस्थ रहता हुआ (यथाभाषितम्+आदितः कुर्यात्) जैसा पहले कहा था या निश्चय हुआ था उसके अनुसार ठीक-ठीक काम करता रहे तो (सः) वह (आर्तः तु) बीमार होने पर भी (तत् दीर्घस्य कालस्य+अपि वेतनं लभेत) उस लम्बे समय के वेतन को पाने का अधिकारी होता है ॥ २१६ ॥

(७) सप्तम विवाद 'प्रतिज्ञा विरुद्धता' का निर्णय—[१३५ – १३८]

कृत-प्रतिज्ञा से फिर जाना—

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥ (१३५)

(एषः) यह [८।२१५–२१६] (वेतन+अदानकर्मणः) वेतन न देने का (धर्मः) नियम (अखिलेन+उक्तः) पूर्णरूप से अर्थात् सभी के लिए कहा।

(अतः ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (समयभेदिनाम्) की हुई प्रतिज्ञा या व्यवस्था को तोड़ने वालों के लिए (धर्मम्) विधान (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥ (१३६)

(यः) जो (नरः) मनुष्य (ग्राम-देश-संघानाम्) गांव, देश या किसी समुदाय=कम्पनी आदि से (सत्येन संविदं कृत्वा) सत्यवचनपूर्वक प्रतिज्ञा, व्यवस्था, ठेका या इकरार करके (लोभात् विसंवदेत्) फिर लोभ के कारण उसे भंग कर देवे (तं राष्ट्रात् विप्रवासयेत्) राजा उसे राष्ट्र से बाहर निकाल दे ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुः सुवर्णान्षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥ (१३७)

(च) और (एनं समयव्यभिचारिणम्) इस प्रतिज्ञा या व्यवस्था को भंग करने वाले को [अपराध के स्तरानुसार] (निगृह्य) पकड़कर (चतुः सुवर्णान्) चार 'सुवर्ण' [८।१३४] (षट् निष्कान्) छह 'निष्क' [८।१३७] (राजतं शतमानम्) चाँदी का 'शतमान' [८।१३७] (दापयेत्) दण्ड दे।
॥ २२० ॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥ (१३८)

(धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (ग्राम-जाति-समूहेषु) गाँव, वर्ण और समुदाय-सम्बन्धी विषयों में (समय-व्यभिचारिणाम्) प्रतिज्ञा या व्यवस्था का भंग करने वालों पर (एतत्) यह उपर्युक्त [८।२१९–२२०] (दण्डविधिम्) दण्ड का विधान (कुर्यात्) लागू करे ॥ २२१ ॥

(८) अष्टम विवाद 'क्रय-विक्रय' का निर्णय—[१३९ – १४१]

खरीद-विक्री का विवाद—

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥२२२॥ (१३९)

(किंचित् क्रीत्वा) किसी वस्तु को खरीदकर (वा) अथवा (विक्रीय) बेचकर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+अनुशयः भवेत्) मन में पश्चात्ताप अनुभव हो (सः) वह (अन्तर्दशाहात्) दश दिन के भीतर (तत् द्रव्यम्) उस यथावत् वस्तु को (दद्यात्) लौटा दे (वा) अथवा (आददीत एव) लौटा ले ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥२२३॥ (१४०)

(तु) परन्तु (दश+अहस्य परेण) दश दिन के बाद (न दद्यात्) न तो वापिस दे (अपि न दापयेत्) और न वापिस ले इस अवधि के बीतने पर (आददानः) यदि कोई वापिस ले (च+एव) या (ददत्) वापिस दे तो (राज्ञा षट्शतानि दण्ड्यः) राजा उस पर छः सौ पण [८।१३६] का जुर्माना करे ॥ २२३ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥ (१४१)

(यस्मिन् यस्मिन् कार्ये कृते) जिस-जिस कार्य के करने पर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+अनुशयः भवेत्) दिल में पश्चात्ताप अनुभव हो (तम्) उस व्यक्ति को राजा (अनेन विधानेन) इस उक्त [८।२२२—२२७] विधान के अनुसार (धर्मे पथि निवेशयेत्) धर्मयुक्त मार्ग पर स्थापित करे ॥ २२८ ॥

(९) नवम विवाद पालक-स्वामी' का निर्णय—(१४२–१५५)

पशु-स्वामी और ग्वालों का विवाद—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ।। २२९ ।। (१४२)

अब मैं (पशुषु) पशुओं के विषय में (स्वामिनां च पालानां व्यतिक्रमे) पशु-मालिकों और चरवाहों में मतभेद हो जाने पर जो झगड़ा खड़ा हो जाता है (विवादम्) उस विवाद को (धर्मतत्त्वतः) धर्मतत्त्व के अनुसार (यथावत्) ठीक-ठीक (सम्प्रवक्ष्यामि) कहूँगा—।। २२९ ।।

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ।। २३० ।।(१४३)

(दिवा पाले वक्तव्यता) [स्वामी द्वारा पशु चरवाहे को सौंप दिये जाने पर] दिन में चरवाहे पर बुराई या दोष आयेगा [यदि पशु कोई नुकसान करता है या पशु का नुकसान होता है तो] (रात्रौ तद्गृहे स्वामिनि) रात को स्वामी के घर में पशुओं को सौंप देने पर स्वामी पर दोष आयेगा (अन्यथा) इसके अतिरिक्त (योगक्षेमे चेत् तु) यदि दिन-रात पूर्णतः पशु-सुरक्षा की जिम्मेदारी चरवाहे पर हो तो उस स्थिति में (पालः वक्तव्यताम्+इयात्) चरवाहा ही बुराई या दोष का भागी माना जायेगा ।। २३० ।।

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ।।२३१।।(१४४)

(यः तु गोपः क्षीरभृतः) जो चरवाहा स्वामी से वेतन न लेकर दूध लेता हो (सः भृत्यः दशतः वराम्) वह नौकर प्रथम दश गायों में जो श्रेष्ठ गाय हो उसका दूध (गोस्वामी+अनुमतेः दुह्यात्) गोस्वामी की अनुमति लेकर दुह लिया करे (अभृते पाले सा भृतिः स्यात्) भरण—पोषण का व्यय न लेने पर यह दूध ही चरवाहे का पारिश्रमिक है ।। २३१ ।।

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ।। २३२ ।। (१४५)

(नष्टम्) यदि कोई पशु खो जाये (कृमिभिः विनष्टम्) कीड़ों के पड़ने से मरजाये (श्वहतम्) कुत्ते खा जायें (विषये मृतम्) विपत्ति में फंसकर या ऊंचे-नीचे स्थानों में गिरने से मरजाये (पुरुषकारेण हीनम्) चरवाहे के द्वारा पुरुषार्थ न करने के कारण या उपेक्षा के कारण पशु नष्ट हो जाये तो (पालः एव प्रदद्यात्) चरवाहा ही उस पशु का देनदार है ।। २३२ ।।

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ।।२३३।। (१४६)

(विघुष्य तु चौरैः हृतम्) यदि पशु को जबरदस्ती चोर ले जायें (च) और (यदि देशे च काले स्वामिनः स्वस्य शंसति) यदि चरवाहा देश-काल के अनुसार शीघ्र ही अपनी ओर से स्वामी को इसकी सूचना दे देता है तो (पालः दातुं न अर्हति) चरवाहा उस पशु का देनदार नहीं होता ।। २३३ ।।

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ।।२३४।। (१४७)

(पशुषु मृतेषु) पशुओं के स्वयं मरजाने पर चरवाहा उस पशु के (कर्णौ) दोनों कान (चर्म) चमड़ा (बालान्) पूँछ आदि के बाल (बस्तिम्) मूत्रस्थान (स्नायुम्) नसें (रोचनाम्) चर्बी (अङ्कानि दर्शयेत्) इन चिह्नों को दिखा दे और (स्वामिनां दद्यात्) स्वामी को उसकी लाश सौंप दे ।। २३४ ।।

अनुशीलन : **चिह्नों के परिगणन से अभिप्राय**—श्लोक में परिगणित चिह्नों को दिखाने का यह अभिप्राय है कि उन्हें देखकर स्वामी परीक्षण से यह-समझले कि पशु स्वाभाविक मौत से मरा है। किसी लालच या बदले की भावना के कारण इसे विष आदि से मारा नहीं गया।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्विषं भवेत् ।।२३५।।(१४८)

(अजा+अविके) बकरी और भेड़ (वृकैः संरुद्धे) भेड़ियों के द्वारा घेर लिए जाने पर (पाले तु अनायति) यदि चरवाहा उन्हें बचाने के लिए यत्न करने न आये तो (यां प्रसह्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को आक्रमण करके जबरदस्ती भेड़िया मार जाये तब (पाले तत् किल्विषं भवेत्) चरवाहे पर उसका दोष होगा अर्थात् वही उसका देनदार होगा ।। २३५ ।।

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्विषी ।।२३६।। (१४९)

(तासां चेत्+अवरुद्धानाम्) चरवाहे ने यदि घेरकर बकरियों और भेड़ों को संभाल रखा है और उनके (वने मिथः चरन्तीनाम्) वन में झुण्ड बनाकर चरते समय (याम्+उत्प्लुत्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को एकाएक उछलकर भेड़िया मार जाये तो (तत्र पालः न किल्विषी) वहाँ चरवाहा दोषी नहीं होता अर्थात् देनदार नहीं होता ।। २३६ ।।

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥ (१५०)

पशुओं के बैठने व घूमने-फिरने के लिए (ग्रामस्य समन्तात्) गांव के चारों ओर (धनुःशतम्) १०० धनुष अर्थात् चार सौ हाथ तक (वा) अथवा (त्रयः शम्यापाताः) तीन बार छड़ी फेंकने से जितनी दूर जाये वहां तक (अपि तु) और (नगरस्य त्रिगुणः) नगर में इससे तोन गुना (परीहारः) भूखण्ड (स्यात्) होना चाहिए ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥ (१५१)

(तत्र) उस पशुस्थान के पास (यदि अपरिवृतं धान्यं पशवः विहिंस्युः) यदि बिना घेरा या बाड़ बांधे अन्नों को पशु नष्ट कर दें तो (नृपतिः) राजा (तत्र) उस विषय में (पशुरक्षिणां दण्डं न प्रणयेत्) चरवाहों को दण्ड न दे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं न वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥२३९॥ (१५२)

(तत्र) उस पशुस्थान में (याम्+उष्ट्रः न विलोकयेत्) जिससे ऊंट उसके ऊपर से धान्य को न खा सके इतनी ऊंची (वृतिं कुर्यात्) बाड़ या घेरा बनाये (च) और उसमें (श्व-सूकर-मुख+अनुगम्) कुत्ते तथा सूअरों का मुंह न जा सके ऐसे (सर्वं छिद्रं वारयेत्) सब तरह के छिद्रों को न छोड़े या बन्द कर दे ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥२४०॥ (१५३)

(परिवृते) बाड़ से युक्त (पथि) पशुओं के आवागमन के रास्ते में (क्षेत्रे) खेतों में (अथवा) या (ग्राम+अन्तीये) गांव या नगर के समीप वाले पशुस्थानों से पशुओं द्वारा नुकसान पंहुचाने पर (सपालः शतदण्ड+अर्हः) चरवाहा सौ पण दण्ड का [८ । १३६] भागी है (विपालान् पशून् वारयेत्) किन्तु यदि वे पशु यों ही घूमने वाले अर्थात् विना पालक के हों तो उन्हें केवल वहां से हटा दे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥ (१५४)

(अन्येषु क्षेत्रेषु तु पशुः) उपर्युक्त श्लोक [८ । २४०] में वर्णित खेत आदि भिन्न स्थानों में यदि पशु नुकसान करदें तो (सपादं पणम्+अर्हति) सवा पण दण्ड होना चाहिए [चरवाहा या मालिक जिसकी देखरेख में वह नुकसान हुआ है उसको] (सर्वत्र तु) जहां अधिक या पूरा खेत ही नष्ट कर दिया हो तो (क्षेत्रिकस्य सदः देयः) उस खेत वाले को पूरा हर्जाना देना होगा (इति धारणा) ऐसी नियम की व्यवस्था है ।। २४१ ।।

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ।।२४४।। (१५५)

(धार्मिकः पृथिवीपतिः) धार्मिक राजा (स्वामिनां पशूनां च पालानां व्यतिक्रमे) स्वामी, पशु और चरवाहा इनमें कोई मतभेद या झगड़ा उपस्थित हो जाने पर (एतत् विधानम्+आतिष्ठेत्) उपर्युक्त [८ । २२९-२४३] विधान के अनुसार निर्णय करे ।। २४४ ।।

(१०) सीमा-सम्बन्धी विवाद (१५६-१७१) और उसका निर्णय—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ।।२४५।। (१५६)

(द्वयोः ग्रामयोः) दो गांवों या दो समूहों का (सीमां प्रति विवादे समुत्पन्ने) सीमा-सम्बन्धी झगड़ा या मुकद्दमा खड़ा हो जाने पर (ज्येष्ठे मासि) ज्येष्ठ के महीने में (सेतुषु सुप्रकाशेषु) सीमा-चिह्नों के स्पष्ट दीखने के बाद (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे [यह समय उन विवादों के लिए है जिनका वर्षा आदि अन्य कालों में निर्णय न हो सके] ।। २४५ ।।

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ।।२४६।। (१५७)

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ।।२४७।। (१५८)

(च) और सीमा को निश्चित करने के लिए राजा (सीमावृक्षान् कुर्वीत) सीमा को बतलाने के चिह्नरूप वृक्षों को लगवाये—(न्यग्रोध) बड़ (+अश्वत्थ) पीपल (—किंशुकान्) ढाक (शाल्मलीन्) सेमल (साल-तालान्) साल और ताड़वृक्ष (च) और (क्षीरिणः पादपान्+एव) दूध वाले अन्य वृक्षों

को [जैसे—गूलर, पिलखन आदि] (गुल्मान्) झाड़वाले पौधों (विविधान् वेणून्) विविध प्रकार के बांसवृक्ष (शमी-वल्ली-स्थलानि) सेम की बेल तथा अन्य भूमि पर फैलने वाली लताएं (सरान्) सरकंडे या मूंज के झाड़ (च) और (कुब्जकगुल्मान्) मालती पौधे के झाड़ों को लगवाये (तथा सीमा न नश्यति) इस प्रकार करने से सीमा नष्ट नहीं होती—सुरक्षित रहती है ।। २४६—२४७ ।।

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च ।।२४८।। (१५६)

(तडागानि) तालाब (उदपानानि) कूएं (वाप्यः) बावड़ियां (प्रस्रवाणि) नाले (च) तथा (देवतायतनानि) देवस्थान=यज्ञशालाएं आदि (सीमासन्धिषु कार्याणि) सीमा के मिलने के स्थानों पर बनवाने चाहिएं ।। २४८ ।।

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ।।२४६।। (१६०)

अश्मनोऽस्थीनि गोबालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा बालुकास्तथा ।।२५०।।(१६१)

यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ।।२५१।।(१६२)

राजा (लोके) संसार में (सीमाज्ञाने) सीमा के विषय में (नृणाम्) मनुष्यों का (नित्यं विपर्ययं वीक्ष्य) सदैव मतभेद पाया जाता है, इस बात को ध्यान में रखता हुआ (अन्यानि उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि कारयेत्) दूसरे गुप्त सीमाचिह्नों को भी करवा दे; [जैसे—] (अश्मनः) पत्थर (अस्थीनि) हड्डियां (गोबालान्) गौ आदि पशुओं के बाल (तुषान्) तुष= चावलों के छिलके आदि (भस्म) राख (कपालिकाः) खोपड़ियां (करीषम्) सूखा गोबर (+इष्टक) ईंटें (+अंगारान्) कोयले (शर्करा) पत्थर की रोड़ियां=कंकड़ (तथा) तथा (बालुकाः) बालू रेत (च) और (यानि एवं प्रकाराणि) जितने भी इस प्रकार के पदार्थ हैं जिन्हें (कालात् भूमिः न भक्षयेत्) बहुत समय तक भूमि अपने रूप में न मिला सके (तानि) उनको (अप्रकाशानि) गुप्तरूप से अर्थात् जमीन में दबाकर (सीमायां कारयेत्) सीमास्थानों पर रखवादे ।। २४६–२५१ ।।

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥ (१६३)

(राजा) राजा (विवदमानयोः) सीमा के विषय में लड़ने वालों की (एतैः लिङ्गैः) इन [८। २४६--२५१] चिह्नों से (च) तथा (पूर्वभुक्त्या) पहले जो उसका उपभोग कर रहा हो, इस आधार पर (च) और (सततम्+उदकस्य+आगमेन) निरन्तर जल के प्रवाह के आगमन के आधार पर [कि पानी किस ओर से आता है आदि] (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥(१६४)

(यदि लिङ्गानाम्+अपि दर्शने) यदि सीमाचिह्नों के देखने पर भी (संशय एव स्यात्) संदेह रह जाये तो (साक्षीप्रत्यय एव) साक्षियों के प्रमाण से (सीमावाद-विनिर्णयः स्यात्) सीमाविषयक विवाद का निर्णय करे ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥ (१६५)

राजा (ग्रामीयककुलानां च तयोः विवादिनोः समक्षम्) गाँवों के कुलीन पुरुषों और उन वादी-प्रतिवादियों के सामने (सीम्नि) सीमा-स्थान पर (साक्षिणः) साक्षियों से [८। ६२-६३] (सीमालिङ्गानि प्रष्टव्याः) सीमा-चिह्नों को पूछे ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥२५५॥(१६६)

राजा के द्वारा (पृष्टाः) पूछने पर अर्थात् जांच-पड़ताल करने पर (सीम्नि निश्चयम्) सीमा-निश्चय के विषय में (ते समस्ताः यथा ब्रूयुः) वे सब—साक्षी और गाँव के उपस्थित कुलीन पुरुष जैसे एकमत होकर कहें—स्वीकार कर लें (तथा सीमां निबध्नीयात्) राजा उसी प्रकार सीमा को निर्धारित करदे (च) और (तान् सर्वान् एव नामतः) उन उपस्थित सभी साक्षियों एवं पुरुषों के नामों को भी लिखकर रख ले [जिससे पुनः विवाद उपस्थित होने पर यह ज्ञात हो सके कि किन-किन लोगों के समक्ष या गवाही से यह निर्णय हुआ था] ॥ २५५ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥२५८॥ (१६७)

(साक्षी+अभावे) यदि सीमा-विषय में साक्षियों का भी अभाव हो (तु) तो (सामन्तवासिनः चत्वारः ग्रामाः) समीपवर्ती चार गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति (राजसन्निधौ) राजा या न्यायाधीश के सामने (प्रयताः) पक्षपात-रहितभाव से (सीमाविनिर्णयं कुर्युः) सीमा का निर्णय करें अर्थात् सीमा निर्णय के विषय में अपना मत दें ॥ २५८ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥ (१६८)

(क्षेत्र-कूप-तडागानाम्+आरामस्य) खेत, कूआं तालाब, बगीचा (च) और (गृहस्य) घर की (सीमा-सेतु-विनिर्णयः) सीमा के चिह्न का निर्णय (सामन्त-प्रत्ययः ज्ञेयः) उस गांव के प्रतिष्ठित-धार्मिक निवासियों की साक्षियों के आधार पर करना चाहिए ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥ (१६९)

(नृणां सेतौ विवदताम्) दो ग्रामवासियों में परस्पर सीमासम्बन्धी विवाद उपस्थित होने पर (सामन्ताः चेत् मृषा ब्रूयुः) गांव के निवासी यदि झूठ या गलत कहें तो (राज्ञा) राजा (पृथक्-पृथक् सर्वे) उनमें से झूठ कहने वाले प्रत्येक को (मध्यमसाहसम् दण्ड्याः) 'मध्यमसाहस' [८ । १३८] का दण्ड दे ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः ॥२६४॥(१७०)

(भीषया) यदि कोई भय दिखाकर (गृहं तडागम्+आरामं वा क्षेत्रं हरन्) घर, तालाब, बगीचा अथवा खेत को लेले, तो राजा उस पर (शतानि पञ्च दण्ड्यः) पाँच सौ पणों का दण्ड करे (अज्ञानात् द्विशतः दमः स्यात्) यदि अनजाने में अधिकार करले तो दो सौ पणों का दण्ड दे और उस अधिकृत वस्तु को भी लौटाये ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥ (१७१)

(सीमायाम्+अविषह्यायाम्) चिह्नों एवं साक्षियों आदि उपर्युक्त [८ । २४५–२६३] उपायों से सीमा के निर्धारित न हो सकने पर (धर्मवित् राजा स्वयम् एव) न्याय का ज्ञाता राजा स्वयं ही (एतेषाम्+उपकारात्)

वादी-प्रतिवादियों के उपकार अर्थात् हितों को ध्यान में रखकर (भूमिं प्रदिशेत्) भूमि-सीमा को निश्चित करदे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रव्यवस्था है ॥ २६५ ॥

(११) दुष्ट या कटुवाक्य बोलने-सम्बन्धी विवाद [१७२–१७५] और उसका निर्णय—

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥(१७२)

(एषः) यह [८ । २४५–२६५] (सीमा-विनिर्णये) सीमा के निर्णय करने के विषय में (धर्मः) न्यायविधान (अखिलेन+अभिहितः) पूर्णरूप से कहा ।

(अतः+ऊर्ध्वम्) इसके बाद अब (वाक्-पारुष्य-विनिर्णयम्) कठोर और दुष्टवचन बोलने पर निर्णय (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा—॥ २६६ ॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥२७३॥ (१७३)

कोई मनुष्य किसी मनुष्य के (श्रुतम्) विद्या (देशम्) देश (जातिम्) वर्ण (च शारीरम् एव कर्म) और शरीर-सम्बन्धी कर्म के विषय में (दर्पात्) घमण्ड में आकर (वितथेन ब्रुवन्) झूठी निन्दा अथवा गलत बात से अपमानित करे, उसे (द्विशतं दमं दाप्यः) दो सौ पण दण्ड देना चाहिए ॥ २७३ ॥

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि यथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥२७४॥(१७४)

किसी (काणम्) काने को (अपि वा) अथवा (खञ्जम्) लंगड़े को (वा) अथवा (तथाविधम्+अपि) इसी प्रकार के अन्य विकलांगों को (तथ्येन+अपि ब्रुवन्) वास्तव में वैसा होते हुए भी किसी को काना, लंगड़ा आदि कहने पर (कार्षापणावरं दण्डं दाप्यः) कम से कम एक कार्षापण दण्ड करना चाहिए ॥ २७४ ॥

अनुशीलन : अन्यत्र विधान से पुष्टि —मनु ने ४ । १४१ में विकलांग व्यक्तियों को कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने का स्पष्टतः निषेध किया है। यहां उस विधान के विपरीत आचरण करने वालों के लिए दण्ड का विधान है।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ।।२७५।। (१७५)

(मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्) माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटा, गुरु इनको (आक्षारयन्) दोष लगाकर निन्दा करने पर (च) और (गुरोः) गुरु को (पन्थानम्+अदद्त्) रास्ता न देने पर (शतं दाप्यः) सौ पण दंड होना चाहिए ।। २७५ ।।

अनुशीलन : अन्यत्र विधान से पुष्टि—मनु ने ४ । १७९–१८० में इन व्यक्तियों से किसी प्रकार का विवाद, लड़ाई-झगड़ा न करने का विधान किया है। उस विधान को भंग करके कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने पर यह दण्ड-विधान है।

(१२) दण्ड से घायल करने या मारने सम्बन्धी विवाद [१७६–१७९] और उसका निर्णय—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ।।२७८।। (१७६)

(एषः) यह [८।२६७—२७७] (तत्त्वतः) ठीक-ठीक (वाक्पारुष्यस्य) कठोर वचन या दुष्ट वचन बोलने का (दण्डविधिः) दण्डविधान (प्रोक्तः) कहा (अतः+ऊर्ध्वम्) इसके पश्चात् अब (दण्डपारुष्यनिर्णयम्) कठोर दंड से घायल करना या मारना अथवा दंडे से कठोरतापूर्वक मारपीट करने पर निर्णय को (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा ।। २७८ ।।

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ।।२८६।। (१७७)

(मनुष्याणां च पशूनाम्) मनुष्यों और पशुओं पर (दुःखाय प्रहृते सति) दुःख देने के लिए दण्ड से प्रहार करने पर (यथा यथा महत् दुःखम्) जैसा-जैसा अधिक कष्ट हो (तथा तथा दण्डं कुर्यात्) उसी के अनुसार अधिक-कम दण्ड करे ।। २८६ ।।

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ।।२८७।। (१७८)

(अंग+अवपीडनायाम्) किसी अंग के टूटने, कटने आदि पर (तथा) और (व्रण+शोणितयोः) घाव करने तथा रक्त बहाने पर (समुत्थानव्ययं दाप्यः) जब तक रोगी पहले जैसी अवस्था के रूप में ठीक न हो जाये तब

तक सम्पूर्ण औषध आदि का व्यय मारने वाले से दिलवाये (अथापि वा) और साथ ही (सर्वदण्डम्) उसे पूर्ण दण्ड भी दे ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥ (१७९)

(यः) जो कोई (यस्य) जिस किसी के (ज्ञानतः अपि वा अज्ञानतः) जानकर अथवा अनजाने में (द्रव्याणि हिंस्यात्) वस्तुओं को नष्ट कर दे तो (सः) वह अपराधी (तस्य तुष्टिम्+उत्पादयेत्) उसके मालिक को वस्तु या धन आदि देकर संतुष्ट करे (च) तथा (तत् समम् राज्ञे दद्यात्) उसके बराबर दण्ड रूप में राजा को भी दे ॥ २८८ ॥

(१३) चोरी का विवाद (१८० –२०६) और उसका निर्णय

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ (१८०)

(एषः) यह [८। २७९–३००] (दण्डपारुष्यनिर्णयः) दण्डे से कठोर मारपीट का निर्णय (अखिलेन+अभिहितः) पूर्णरूप से कहा ।

(अतः) इसके पश्चात् अब (स्तेनस्य दण्डविनिर्णये) चोर के दण्ड का निर्णय करने की (विधिं प्रवक्ष्यामि) विधि कहूंगा— ॥ ३०१ ॥

चोरों के निग्रह से राष्ट्र की वृद्धि—

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥ (१८१)

(नृपः) राजा (स्तेनानां निग्रहे) चोरों को रोकने के लिए (परमं यत्नम्+आतिष्ठेत्) अधिक से अधिक यत्न करे, क्योंकि (स्तेनानां निग्रहात्) चोरों पर नियन्त्रण होने से (अस्य) इस राजा के (यशः च राष्ट्रं वर्धते) यश और राष्ट्र की वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

चोरों से प्रजा की रक्षा श्रेष्ठ कर्त्तव्य है—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ (१८२)

(यः नृपः अभयस्य हि दाता) जो राजा प्रजाओं को अभय प्रदान करने वाला होता है अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजाओं को चोर आदि से किसी प्रकार का भय नहीं होता (सः सततं पूज्यः) वह सदैव पूजित होता है —प्रजाओं की ओर से उसे सदा आदर मिलता है, और (तस्य) उसका (अभयदक्षिणं सत्रं हि) अभय की दक्षिणा देने वाला यज्ञ-रूपी राज्य (सदैव वर्धते) सदा बढ़ता जाता है ।। ३०३ ।।

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ।। ३०६ ।। (१८३)

(धर्मेण भूतानि रक्षन्) धर्मपूर्वक=न्याय पूर्वक प्रजाओं की रक्षा करता हुआ (च) और (वध्यान् घातयन्) दण्डनीय या वध के योग्य लोगों को दण्ड या वध करता हुआ (राजा) राजा (अहः+अहः सहस्र-शत-दक्षिणैः यज्ञैः यजते) यह समझो कि प्रतिदिन हजारों-सैंकड़ों दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों को करता है अर्थात् इतने बड़े यज्ञों जैसा पुण्यकार्य करता है ।। ३०६ ।।

प्रजा की रक्षा किये बिना कर लेनेवाला राजा पापी होता है—

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च सः सद्यो नरकं व्रजेत् ।। ३०७ ।। (१८४)

(यः पार्थिवः) जो राजा (अरक्षन्) प्रजाओं की बिना रक्षा किये उनमें (बलिम्) छठा भाग अन्नादि (करम्) टैक्स (शुल्कम्) महसूल (प्रतिभागम्) चुंगी (च) और (दण्डम्) जुर्माना (आदत्ते) ग्रहण करता है (सः सद्यः नरकं व्रजेत्) वह शीघ्र ही दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् प्रजाओं का ध्यान न रखने के कारण उनके असहयोग से किसी-न-किसी कष्ट से आक्रान्त हो जाता है ।। ३०७ ।।

अनुशीलन : अन्न के छठे भाग को 'बलि' कहते हैं, प्रतिमास, छठे मास या वार्षिक रूप में लिया जाने वाला टैक्स 'कर', व्यापारियों से लिया जाने वाला महसूल 'शुल्क', फल, शाक आदि पर लिया जाने वाला शुल्क 'प्रतिभाग' तथा अपराध में किया जाने वाला जुर्माना 'दण्ड' कहलाता है ।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ।। ३०८ ।। (१८५)

(अरक्षितारम्) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले और (बलिषड्भाग-हारिणम्) 'बलि' के रूप में छठा भाग ग्रहण करने वाले (तं राजानम्) ऐसे

राजा को (सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्+आहुः) सब प्रजाओं की सारी बुराइयों को ग्रहण करने वाला कहा है अर्थात् सभी प्रजाएँ ऐसे राजा की सभी प्रकार से बुराइयां करती हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ (१८६)

(अनपेक्षितमर्यादम्) शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार न चलने वाले (नास्तिकम्) वेद और ईश्वर में अविश्वास करने वाले (विप्रलुम्भकम्) लोभ आदि के वशीभूत (अरक्षितारम्) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले, और (अत्तारम्) कर आदि का धन प्रजाओं के हित में न लगाकर स्वयं खा जाने वाले (नृपम्) राजा को (अधोगतिं विद्यात्) नीच समझना चाहिए अथवा यह समझना चाहिए कि उसकी शीघ्र ही अवनति या पतन हो जायेगा ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥३१०॥ (१८७)

इसलिए राजा (निरोधनेन) निरोध=कैद में बंद करना (बन्धेन) बन्धन=हथकड़ी, बेड़ी आदि लगाना (च) और (विविधेन वधेन) विविध प्रकार के वध=ताड़ना, अंगच्छेदन, मारना आदि (त्रिभिः न्यायैः) इन तीन प्रकार के उपायों से (प्रयत्नतः) यत्नपूर्वक (अधार्मिकं निगृह्णीयात्) चोर आदि दुष्ट अपराधी को वश में करे ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥ (१८८)

(हि) क्योंकि (पापानां निग्रहेण) पापी=दुष्टों को वश में करने और दण्ड देने से (च) तथा (साधूनां संग्रहेण) श्रेष्ठ लोगों की सुरक्षा करने से (नृपाः) राजा लोग (द्विजातयः+इव+इज्याभिः सततं पूयन्ते) जैसे द्विजवर्ण वाले व्यक्ति यज्ञों से पवित्र होते हैं ऐसे ही पवित्र अर्थात् पुण्यवान् और निर्मल यशस्वी होते हैं ॥ ३११ ॥

चोर की स्वयं प्रायश्चित्त की विधि—

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥३१४॥ (१८९)

[यदि चोर चोरी करने के बाद स्वयं उस अपराध को अनुभव कर लेता है तो उसके प्रायश्चित्त और उससे मुक्ति के लिए] (स्तेनेन) चोर को

चाहिए कि वह (मुक्तकेशेन धावता) बाल खोलकर दौड़ता हुआ (तत् स्तेयम्+आचक्षाणेन) उसने जो चोरी की है उसको कहता हुआ 'कि मैंने अमुक चोरी की है, अमुक चोरी की है,' आदि (राजा गन्तव्यः) राजा के पास जाना चाहिए, और कहे कि (एवंकर्मा+अस्मि) 'मैंने ऐसा चोरी का काम किया है' 'मैं अपराधी हूं (मां शाधि) मुझे सजा दीजिए ।। ३१४ ।।

अनुशीलन : प्रतीत होता है कि यह उस समय की स्वयं प्रायश्चित्त करने की परम्परा थी। चोर चोरी करने के पश्चात् यदि स्वयं यह अनुभव करता है कि मैंने यह बुरा कार्य किया है और पकड़े जाने से पूर्व स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त करना चाहता है तो उसका यह तरीका है। सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर कहने पर और अपने आपको चोर के रूप में सबके तथा राजा के सामने प्रदर्शित करने पर बहुत बड़ा प्रायश्चित्त हो जाता है। स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति द्वारा पुनः अपराध करने की संभावना नहीं रहती। और लोग भी यह मान लेते हैं कि जब इसने स्वयं ही सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर घोषित करके अपने अपराध को स्वीकार कर लिया है और प्रायश्चित्त कर रहा तो इसे और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं। इस श्लोक से तथा ८। ३१६ से यह ध्वनित होता है कि स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति को राजा को क्षमा कर देना चाहिए। इस सबके बाद वह व्यक्ति दोषमुक्त मान लिया जाता है।

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम् ।
शक्ति चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ।। ३१५ ।। (१९०)

(स्कन्धेन मुसलम् अपि वा खादिरं लगुडम्) चोर को कन्धे पर मुसल अथवा खैर का दंड, (उभयतः तीक्ष्णां शक्तिम्) दोनों ओर से तेज धारवाली बरछी (वा) अथवा (आयसं दण्डम् एव) लोहे का दण्ड ही रखकर [राजा के पास जाना चाहिए और कहे कि 'मैं चोर हूं', मुझे दण्ड दीजिए'] ।। ३१५ ।।

अनुशीलन : इस श्लोक का पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध है। ऊपर के श्लोक में दी हुई व्यवस्था के साथ इस श्लोक में कहे हुए विकल्पों में से चुनकर किसी एक व्यवस्था के अनुसार चोर को प्रायश्चित्त करना है।

दोषी को दण्ड न देने से राजा पापभागी होता है—

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्विषम् ।।३१६।। (१९१)

(शासनात्) सजा पाकर (वा) या (विमोक्षात्) [स्वयं प्रायश्चित्त

करने के बाद] राजा के द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर (स्तेनः) चोर (स्तेयात् विमुच्यते) चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है (तम् अशासित्वा तु) चोर को दण्ड न देने पर (राजा स्तेनस्य किल्विषम् आप्नोति) राजा को चोर की निन्दा=बुराई मिलती है अर्थात् फिर प्रजाएं उस चोर के स्थान पर राजा को अधिक दोष देती हैं ॥ ३१६ ॥

अनुशीलन : (१) **रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक**—यह श्लोक तथा ८। ३१८ वां श्लोक, दोनों कुछ पाठान्तर से वाल्मीकि रामायण में उद्धृत मिलते हैं। बालि का वध करने पर बालि राम पर अधर्मपूर्वक वध करने का आक्षेप लगाता है। राम बालि के आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपने आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनु के निम्न श्लोकों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन श्लोकों के उद्धरण से मनुस्मृति का रचना-काल रामायण से पूर्व सिद्ध होता है। रामायण से पूर्व मनुस्मृति श्लोकबद्ध रूप में थी, यह रामायण में पठित 'श्लोकौ' शब्दों से ज्ञात होता है—"**श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ। गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥**" (किष्कि० १८। ३०)। उद्धृत श्लोक निम्न प्रकार हैं—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम् ॥ (किष्कि० १८।३१-३२)

(२) मनुस्मृति में 'किल्विषम्' 'दुष्कृतम्' 'एनः' 'पापम्' 'अधर्म' आदि शब्द स्थान-स्थान पर आते हैं। वहां इनसे ऐसे 'पाप' का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए जो किसी दूसरे के किये का दूसरे को लग जाये। जहां-जहां ८। १३, १३५, १९८, ८। ३१६–३१७ आदि श्लोकों में इस शैली में वाक्यप्रयोग है या इस शब्द का प्रयोग है, वहां इसका अर्थ 'निन्दा' 'दोष' 'अधर्म' या 'बुराई' है। निरुक्तकार ने इसी अर्थ को व्युत्पत्ति से पुष्ट किया है—"**किल्विषम्=किल्भिदम्, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति**। अर्थात् जो कीर्त्ति का नाश करे वह 'किल्विष'=बदनामी, बुराई या दोष है। '**किल श्वैत्ये**' धातु से '**किलेर्बुक् च**' (उणादि० १। ५०) सूत्र से 'टिषच्' प्रत्यय के योग से 'किल्विष' शब्द सिद्ध होता है। अन्य स्थानों पर इसके पर्यायवाची रूप में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो उपर्युक्त अर्थों को पुष्ट करते हैं, जैसे—'मलहारकम्' [८। ३०८], एनस्' [२।२; ८। १९], 'अधर्मः' [८। १८] आदि। ८। १९ में 'एनः' शब्द निन्दा अर्थ में प्रयुक्त है।

पापियों के संग से पाप—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ।

गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम् ॥३१७॥ (१९२)

(भ्रूणहा अन्नादे मार्ष्टि) भ्रूणहत्या करने वाला उसके यहां भोजन करने वाले को भी निन्दा का पात्र बना देता है अर्थात् जैसे भ्रूणहत्यारे को बुराई मिलती है वैसे ही उसके यहां अन्न खाने वाले को भी उसके कारण बुराई मिलती है (अपचारिणी भार्या पत्यौ) व्यभिचारी स्त्री की बुराई उसके पति को मिलती है (शिष्यः गुरौ) बुरे शिष्य की बुराई उसके गुरु को मिलती है (च) और (याज्यः) यजमान की बुराई उसके यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् गुरु को मिलती है (स्तेनः किल्विषं राजनि) इसी प्रकार दण्ड न देने पर चोर की बुराई=निन्दा राजा को मिलती है ॥ ३१७ ॥

राजाओं से दण्ड प्राप्त करके निर्दोषता—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥ (१९३)

(मानवाः पापानि कृत्वा) मनुष्य पाप=अपराध करके (राजभिः कृतदण्डाः तु) पुनः राजाओं से दण्डित होकर अर्थात् राजा द्वारा दिये गये दण्डरूप प्रायश्चित्त को करके (निर्मलाः) पवित्र=दोषमुक्त होकर (स्वर्गम्+आयान्ति) सुख को प्राप्त करते हैं (यथा सुकृतिनः सन्तः) जैसे अच्छे कर्म करने वाले श्रेष्ठ लोग सुखी रहते हैं अभिप्राय यह है कि प्रायश्चित्त करने पर उस पापरूप अपराध के संस्कार क्षीण हो जाते हैं और दोषी होने की भावना नहीं रहती, उससे तथा पुनः श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सन्तों की तरह मानसिक शान्ति-सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३१८ ॥

अनुशीलन : स्वर्ग शब्द का अर्थ 'सुख' है । द्रष्टव्य ६ ।७९ पर अनुशीलन ।

विभिन्न चोरियों की दण्डव्यवस्था—

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च या प्रपाम् ।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥३१९॥ (१९४)

(यः तु) जो व्यक्ति (कूपात्) कूए से (रज्जुं घटं हरेत्) रस्सी या घड़ा चुरा ले (च) और (यः) जो (प्रपां भिद्येत्) प्याऊ को तोड़े (सः) वह (माषं दण्डं प्राप्नुयात्) एक सोने का 'माषा' दण्ड का भागी होगा (च) तथा (तत् तस्मिन् समाहरेत्) वह सब सामान वहां लाकर दे ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।

शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥ (१६५)

(दशभ्यः कुम्भेभ्यः अधिकं धान्यं हरतः) दश कुम्भ=बड़े घड़ों से अधिक धान्य=अन्नादि चुराने पर (वधः) चोर को शारीरिक दण्ड मिलना चाहिए (शेषे तु) दश कुम्भ तक धान्य चुराने पर (एकादशगुण दाप्यः) ग्यारह गुना जुर्माना करना चाहिए (तस्य तत् धनं च) और उस व्यक्ति का वह धन वापिस दिलवा दे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥ (१६६)

(तथा) इसी प्रकार (धरिममेयानाम्) धरिम=काँटे से, मेय=तोले जाने वाले (सुवर्ण-रजत+आदीनाम्) सोना, चाँदी आदि पदार्थों के १०० पल से अधिक चुराने पर (च) और (उत्तमानां वाससाम्) उत्तम कोटि के कपड़े (शतात्+अभ्यधिके) सौ से अधिक चुराने पर (वधः) शारीरिक दण्ड से दण्डित करे ॥ ३२१ ॥

पंचाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥ (१६७)

(पंचाशतः तु+अभ्यधिके) [उपर्युक्त ८ । ३२१ वस्तुओं के] पचास से अधिक सौ तक चुराने पर (हस्तच्छेदनम्+इष्यते) हाथ काटने का दण्ड देना चाहिए (शेषे तु) पचास से कम चुराने पर राजा (मूल्यात् एकादशगुणं दण्डं प्रकल्पयेत्) मूल्य से ग्यारह गुना दण्ड करे और वह वस्तु वापिस दिलवाये ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥(१६८)

(कुलीनानां पुरुषाणाम्) कुलीन पुरुषों (च) और (विशेषतः नारीणाम्) विशेषरूप से स्त्रियों का (हरणे) अपहरण करने पर (च) तथा (मुख्यानाम् एव रत्नानाम्) मुख्य हीरे आदि रत्नों की चोरी करने पर (वधम्+अर्हति) शारीरिक दण्ड [ताड़ना से प्राणवध तक देना] चाहिए ॥ ३२३ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥३२४॥ (१६६)

(महापशूनाम्) हाथी, घोड़े आदि बड़े पशुओं के (शस्त्राणाम्) शस्त्रास्त्रों के (च) और (औषधस्य) ओषधियों के (हरणे) चुराने पर

(कालं च कार्यम् आसाद्य) समय (=परिस्थिति) और चोरी के कार्य की गम्भीरता को देखकर (राजा दण्डं प्रकल्पयेत्) राजा चोर को दण्ड दे॥३२४॥

साहस और चोरी का लक्षण—

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥ (२००)

(अन्वयवत्) वस्तु के स्वामी के सामने (प्रसभं यत् कर्म कृतम्) बलात्कारपूर्वक जो चोरी, डाका, बलात्कार आदि कर्म किया जाता है ('साहसम्' स्यात्) वह साहस=डाका डालना या बलात्कार कार्य कहलाता है (निरन्वयम्) स्वामी के पीछे से छुपाकर किसी वस्तु को लेना (च) और (यत् हृत्वा+अपव्ययते) जो किसी वस्तु को [सामने या परोक्ष में] लेकर मुकरना या चुराकर भाग जाना है (स्तेयं भवेत्) वह 'चोरी' कहलाती है ॥ ३३२ ॥

अनुशीलन : साहस और चोरी का लक्षण—कौटिल्य ने मनु के शब्दों को ग्रहण करके अपने अर्थशास्त्र में साहस और चोरी का लक्षण किया है—

"साहसम् अन्वयवत् प्रसभकर्म। निरन्वये स्तेयम् अपव्ययने च।"
[प्र० ७४। अ० १७]

डाकू, चोरों के अंगों का छेदन—

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥ (२०१)

(स्तेनः) चोर (यथा) जिस प्रकार (येन येन+अङ्गेन) जिस-जिस अङ्ग से (नृषु) मनुष्यों में (विचेष्टते) विरुद्ध चेष्टा करता है (अस्य तत्-तत्+एव) उस-उस अंग को (प्रत्यादेशाय) सब मनुष्यों को शिक्षा के लिए (पार्थिवः हरेत्) राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥ ३३४ ॥
(स० प्र० १७२)

माता-पिता, आचार्य आदि सभी राजा द्वारा दण्डनीय हैं—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥ (२०२)

(पिता आचार्यः सुहृत् माता भार्या पुत्रः पुरोहितः) चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो (यः स्वधर्मे न तिष्ठति) जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता (राज्ञः अदण्ड्यः नाम न) वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे

तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥ ३३५ ॥
(स० प्र० १७)

अपराध करने पर राजा को साधारण जन से सहस्रगुणा दण्ड हो—

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥ (२०३)

(यत्र) जिस अपराध में (अन्यः प्राकृतः जनः) साधारण मनुष्य पर (कार्षापणं दण्ड्यः भवेत्) एक पैसा दण्ड हो (तत्र) उसी अपराध में (राजा सहस्रं दण्ड्यः भवेत्) राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए❀ ।

मंत्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा, इसी प्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए । क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें; जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए ॥ ३३६ ॥ (स० प्र० १७२)

❀ (इति धारणा) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है ।

उच्चवर्ण के व्यक्तियों को अधिक दण्ड दे—

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ (२०४)

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥ (२०५)

वैसे ही (तत् दोषगुणवित् हि सः) जो कुछ विवेकी होकर (स्तेये) चोरी करे (शूद्रस्य तु अष्टापाद्यम्) उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा (वैश्यस्य तु षोडश+एव) वैश्य को सोलह गुणा (क्षत्रियस्य द्वात्रिंशत्) क्षत्रिय को बत्तीस गुणा (ब्राह्मणस्य चतुः षष्टिः) ब्राह्मण को चौंसठ गुणा (अपि वा शतम्) वा सौ गुणा (वा) अथवा (द्विगुणा चतुः षष्टिः) एक सौ अट्ठाईस गुणा (किल्विषं भवति) दण्ड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान

और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए ॥ ३३७-३३८ ॥ (स० प्र० १७३)

अनुशीलन : उच्चवर्णानुसार उच्चदण्ड—उच्चवर्णानुसार उच्चदण्ड की व्यवस्था कौटिल्य तक यथावत् प्रचलित रही है। कौटिल्य ने भी अन्य वर्णों की तुलना में अपराध करने पर ब्राह्मण को अधिक दण्ड देने का विधान किया है—

"ब्राह्मणतश्चैषां ज्यैष्ठ्यं नियम्येत।" [प्र० ६६। अ० १०]

=मारना आदि अपराधों में यदि कोई ब्राह्मण सम्मिलित हो तो उसे अन्य वर्णस्थ जनों की अपेक्षा अधिक दण्डित किया जाये।

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥(२०६)

(राजा) राजा (अनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८। ३०२-३४२] विधि से (स्तेननिग्रहं कुर्वाणः) चोरों को नियन्त्रित एवं दण्डित करता हुआ (अस्मिन् लोके यशः) इस जन्म में या लोक में यश को (च) और (प्रेत्य) परजन्म में (अनुत्तमं सुखम्) अच्छे सुख को (प्राप्नुयात्) प्राप्त करता है ॥ ३४३ ॥

(१४) साहस=डाका, हत्या आदि बलात्कारपूर्वक किये गये अपराधों का निर्णय—[२०७—२१२]

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥ (२०७)

(ऐन्द्रं स्थानम्) राज्य के अधिकारी धर्म (च) और ❀ (यशः) ऐश्वर्य की (अभिप्रेप्सुः) इच्छा करने वाला (राजा) राजा (साहसिकं नरम्) बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को (क्षणम्+अपि न+उपेक्षेत) दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे ॥ ३४४ ॥ (स० प्र० १७३)

❀ (अक्षयम्+अव्ययम्) न नष्ट होने वाले तथा न कम होने वाले.........

साहसी व्यक्ति चोर से अधिक पापी—

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥(२०८)

साहसिक पुरुष का लक्षण— (वाक्-दुष्टात्) जो दुष्ट वचन बोलने (तस्करात्) चोरी करने (दण्डेन एव हिंसनः) विना अपराध से दण्ड देने

वाले से भी (साहसस्य कर्त्ता नरः) साहस, बलात्कार काम करने वाला है (पापकृत्तमः विज्ञेयः) वह अतीव पापी, दुष्ट है ॥ ३४५ ॥ (स० प्र० १७३)

डाकू को दण्ड न देने वाला राजा विनाश को प्राप्त करता है—

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥ (२०९)

(यः पार्थिवः) जो राजा (साहसे वर्तमानं तु मर्षयति) साहस में वर्तमान पुरुष को न दण्ड देकर सहन करता है (सः आशु विनाशं व्रजति) वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है (च) और (विद्वेषम्+अधिगच्छति) राज्य में द्वेष उठता है ॥ ३४६ ॥ (स० प्र० १७३)

मित्र या धन के कारण साहसी को क्षमा न करे—

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥(२१०)

(न मित्रकारणात् वा विपुलात् धन+आगमात्) न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी (राजा) राजा (सर्वभूतभय+आवहान् साहसिकान्) सब प्राणियों को दुःख देने वाले साहसिक मनुष्य को (समुत्सृजेत्) बंधन-छेदन किये बिना कभी न छोड़े ॥ ३४७ ॥ (स० प्र० १७३)

आततायी को मारने में अपराध नहीं—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥ (२११)

(गुरुं वा बाल-वृद्धौ वा) चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र आदिक बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध (ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्) चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो (आततायिनम्+आयान्तम्) जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान, दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं (अविचारयन्+एव हन्यात्) उनको बिना विचारे मार डालना अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए ॥ ३५० ॥ (स० प्र० १७३)

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥३५१॥ (२१२)

(आततायिवधे) दुष्ट-पुरुषों के मारने में (हन्तुः कश्चन: दोषः न भवति) हन्ता को पाप नहीं होता (प्रकाशं वा+अप्रकाशम्) चाहे प्रसिद्ध [=सबके सामने] मारे चाहे अप्रसिद्ध [=एकान्त में] (मन्युः तं मन्युं

ऋच्छति) क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ॥ ३५१ ॥ (स० प्र० १७३)

[१५] स्त्री-संग्रहणसम्बन्धी विवाद [२१३–२२०] तथा उसका निर्णय—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नृन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥३५२॥ (२१३)

(परदारा+अभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नृन्) [बलात्कार अथवा सहमति-पूर्वक] परस्त्रियों से व्यभिचार करने में संलग्न पुरुषों को (महीपतिः) राजा (उद्वेजनकरैः दण्डैः छिन्नयित्वा) व्याकुलता पैदा करने वाले [नाक, कान, हाथ आदि काटना, दागना आदि] दण्डों से अङ्ग-भंग करके (प्रवासयेत्) देश से निकाल दे ॥ ३५२ ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥३५४॥ (२१४)

(पूर्वं दोषैः आक्षारितः पुरुषः) जो व्यक्ति पहले परस्त्री-गमन-सम्बन्धी दोषों में अपराधी सिद्ध हो चुका है (रहः परस्य पत्न्या संभाषां योजयन्) यदि वह एकान्त स्थान में पराई स्त्री के साथ कामुक बातचीत की योजना में लगा मिले तो (पूर्वसाहसं प्राप्नुयात्) उसको 'पूर्वसाहस' [८ । १३८] का दण्ड देना चाहिए ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥ (२१५)

(यः तु पूर्वम्+अनाक्षारितः) किन्तु जो पहले ऐसे किसी अपराध में अपराधी सिद्ध नहीं हुआ है, यदि वह (कारणात् अभिभाषेत) किसी उचित कारणवश बातचीत करे तो (किंचित् दोषं न प्राप्नुयात्) किसी दोष का भागी नहीं होता (हि) क्योंकि (तस्य न व्यतिक्रमः) वह कोई मर्यादा-भंग नहीं करता ॥ ३५५ ॥

स्त्रीसंग्रहण की परिभाषा—

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सहखट्वासनम् चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ (२१६)

विषयगमन के लिए (उपचारक्रिया) एक-दूसरे को आकर्षित करने के लिए माला, सुगन्ध आदि शृंगारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान करना

(केलिः) विलासक्रीड़ाएं=छेड़खानी आदि (भूषणवाससां स्पर्शः) आभूषण और कपड़ों आदि का स्पर्श [शरीर-स्पर्श तो इसमें स्वतः ही परिगणित हो जाता है] (च) और (सह खट्वा+आसनम्) साथ मिलकर अर्थात् सट-कर खाट आदि पर बैठना और साथ सोना, सहवास करना (सर्वं संग्रहणं स्मृतम्) ये सब बातें 'संग्रहण'=विषयगमन में मानी गयी हैं ।। ३५७ ।।

दम्भपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत्त होने पर स्त्री को दण्ड—

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ।। ३७१ ।। (२१७)

(या तु स्त्री) जो स्त्री (ज्ञाति-गुण-दर्पिता) अपनी जाति, गुण के घमण्ड से (भर्तारं लङ्घयेत्) पति को छोड़ व्यभिचार करे (ताम्) उसको (बहुसंस्थिते संस्थाने श्वभिः राजा खादयेत्) बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवाकर मरवाडाले ।। ३७१ ।। (स० प्र० १७४)

दम्भपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत्त होने वाले पुरुष को दण्ड—

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ।। ३७२ ।। (२१८)

(पापं पुमांसम्) उसी प्रकार अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री या वेश्यागमन करे उस पापी को (आयसे तप्त शयने) लोहे के पलंग को अग्नि से तपा लाल कर उस पर सुलाके * जीते को (तत्र पापकृत् दह्येत) बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म करदेवे ।। ३७२ ।। (स० प्र० १७४)

* (काष्ठानि अभ्यादध्युः) लोग उस पर लकड़ियां रख दें (च) और......

अनुशीलन : (१) ३७१–३७२ श्लोक 'प्रसंगविरोध' के आधार पर प्रक्षेपान्तर्गत इसलिए नहीं कहला सकते क्योंकि इनमें 'स्त्रीसंग्रहण' से सम्बन्धित विशेष स्थितियों की विशेष दण्ड-व्यवस्था है। अपने रूपसौन्दर्य एवं उच्चता के आधार पर अपने जीवनसंगी का तिरस्कार करते हुए दम्भपूर्वक जब कोई स्त्री या पुरुष पर-पुरुष-गमन या परस्त्रीगमन करे तो उनके लिये यह दण्डव्यवस्था है।

(२) यह दण्डव्यवस्था अत्यन्त कठोर है। वह इसलिये कि दंभी व्यक्ति अपने दंभ में आकर बलात् सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है और अपने हठ पर अडिग रहता है। ऐसे व्यक्ति व्यवस्थाओं को बड़ी लापरवाही से भङ्ग करते हैं और अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों का तिरस्कार करते हैं, अतः इनके लिए यह सार्वजनिक रूप से कठोर दण्ड-व्यवस्था विहित की है। महर्षि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में छठे समु० में प्रश्नोत्तर रूप में प्रकाश डाला है, जो विवेचन की दृष्टि से उद्धरणीय है—

"(प्रश्न) जो राजा वा रानी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे ?

(उत्तर) सभा, अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।

(प्रश्न) राजादि उन से दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

(उत्तर) राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान-राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबाके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें, अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है जो उसका लोप करता है उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?

(प्रश्न) यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनाने हारा वा जिलानेवाला नहीं है, ऐसा दण्ड नहीं देना चाहिए।

(उत्तर) जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सब के भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव भर तो पाव भर अधिक एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा, तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं ? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो ६। सवा छः मन मनुष्य-जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।"

पांच महा-अपराधियों को वश में करने वाला राजा इन्द्र के समान प्रभावी—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥३८६॥ (२१६)

(यस्य) जिस राजा के राज्य में (स्तेनः न+अस्ति) न चोर (न+अन्यस्त्रीगः) न परस्त्रीगामी (न दुष्टवाक्) न दुष्ट वचन का बोलने हारा (न साहसिकदण्डघ्नौ) न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग करने वाला है (सः राजा शक्रलोकभाक्) वह राजा अतीव श्रेष्ठ है॥ ३८६॥ (स० प्र० १७३)

अनुशीलन : महर्षि ने यहां **'शक्रलोकभाक्'** पद का अभिप्रायार्थ ग्रहण किया है। जिन टीकाकारों ने 'शक्रलोक भाक्' का 'इन्द्रलोक में जाने वाला' या 'स्वर्ग में जाने वाला' अर्थ किया है वह उचित नहीं है। इस पद का अर्थ है कि वह राजा 'इन्द्र पद का अधिकारी' अर्थात् इन्द्र के समान श्रेष्ठ और शक्तिशाली राजा माना जाता है, वह इन्द्र के समान प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली हो जाता है। अगले श्लोक से भी इस अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥ (२२०)

(स्वके विषये) अपने राज्य में (एतेषां पञ्चानां निग्रहः) इन पांचों प्रकार के व्यक्तियों पर काबू रखने वाला (राज्ञः) राजा (सजात्येषु साम्राज्यकृत्) सजातीय अन्य राजाओं में साम्राज्य करने वाला अर्थात् राजाओं में शिरोमणि बन जाता है (च एव) और (लोके यशस्करः) लोक में यश प्राप्त करता है ॥ ३८७ ॥

ऋत्विज और यजमान द्वारा एक-दूसरे को त्यागने पर दण्ड—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥(२२१)

(यः याज्यः) जो यजमान (कर्मणि शक्तं च अदुष्टम्) काम करने में समर्थ और श्रेष्ठ (ऋत्विजम्) पुरोहित को (त्यजेत्) छोड़ दे (च) और (याज्यं ऋत्विजः त्यजेत्) ऐसे ही यजमान को पुरोहित छोड़दे तो (तयोः) उन दोनों को (शतं-शतं दण्डः) सौ सौ पण दण्ड करना चाहिए ॥ ३८८ ॥

माता-पिता-स्त्री-पुत्र को छोड़ने पर दण्ड—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥३८९॥ (२२२)

(न माता न पिता न स्त्री न पुत्रः त्यागम्+अर्हति) न माता, न पिता, न स्त्री और न पुत्र त्यागने योग्य होते हैं (अपतितान् एतान् त्यजन्) अपतित अर्थात् निर्दोष होते हुए जो इनको छोड़े तो (राज्ञा षट् शतानि दण्ड्यः) राजा के द्वारा उस पर छः सौ पण दंड किया जाना चाहिए ॥३८९॥

अनुशीलन : ३८८ और ३८९ श्लोक विषयविरोध के अन्तर्गत आते हुए भी प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होते। इन्हें स्थानभ्रष्ट समझना चाहिए, क्योंकि (१) इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है और न ये किसी अन्य आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, (२) इस अध्याय में इनसे सम्बन्धित प्रसंग भी है। प्रतीत होता है कि ये श्लोक

चौथे विवाद 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' (८। २०६–२११) विषय से खण्डित होकर स्थानभ्रष्ट हुए हैं।

व्यापार में शुल्क एवं वस्तुओं के भावों का निर्धारण—

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३६८ ॥ (२२३)

(शुल्कस्थानेषु कुशलाः) शुल्क लेने के स्थानों के शुल्कव्यवहार में चतुर (सर्वपण्यविचक्षणाः) सब बेचने योग्य वस्तुओं के मूल्य-निर्धारित करने में चतुर व्यक्ति (यथापण्यं अर्घं कुर्युः) बाजार के अनुसार जो मूल्य निश्चित करें (ततः) उसके लाभ में से (नृपः विंशं हरेत्) राजा बीसवां भाग कर-रूप में प्राप्त करे ॥ ३६८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३६६ ॥ (२२४)

(राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि) राजा के प्रसिद्ध बरतन (च) और (यानि प्रतिषिद्धानि) जिन वस्तुओं का देशान्तर में ले जाना निषिद्ध घोषित कर दिया है (लोभात् तानि निर्हरतः) लोभवश उन्हें देशान्तर में ले जाने वाले का (नृपः) राजा (सर्वहारं हरेत्) सर्वस्व हरण करले ॥ ३६६ ॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥ (२२५)

(शुल्कस्थानं परिहरन्) चुंगी के स्थान को छोड़कर दूसरे रास्ते से सामान ले जाने वाला (अकाले) असमय में अर्थात् रातादि में गुप्तरूप से (क्रयविक्रयी) सामान खरीदने और बेचने वाला (च) और (संख्याने मिथ्यावादी) माप-तोल में झूठ बतलाने वाला, इनको (अष्टगुणम्+अत्ययं दाप्यः) मूल्य के आठ गुने दण्ड से दण्डित करे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ (२२६)

(आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयौ+उभौ) वस्तुओं के आने, जाने, रखने का स्थान, लाभवृद्धि तथा हानि (सर्वपण्यानां विचार्य) खरीद-बेचने की वस्तुओं से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करके (क्रयविक्रयौ कारयेत्) राजा मूल्य निश्चित करके वस्तुओं का क्रयविक्रय कराये ॥ ४०१ ॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥ (२२७)

(पञ्चरात्रे-पञ्चरात्रे) पांच-पांच दिन (अथवा) या (पक्षे पक्षे गते) पन्द्रह-पन्द्रह दिन के पश्चात् (नृपः) राजा (एषां प्रत्यक्षम्) व्यापारियों के सामने (अर्घसंस्थापनं कुर्वीत) मूल्य का निर्धारण करे ॥ ४०२ ॥

तुला एवं मापकों की छह महीने में परीक्षा—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ (२२८)

(तुलामानम्) तराजू (च) और (प्रतीमानम्) प्रतिमान=बाट (सर्वं सुलक्षितं स्यात्) सब ठीक-ठीक रखने चाहिएँ और (षट्सु-षट्सु च मासेषु) छः-छः महीने में (पुनः+एव परीक्षयेत्) इनकी परीक्षा राजा करावे ॥ ४०३ ॥ (द० ल० सं० २०)

"मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके रत्ती, छटांक, पाव, सेर और पंसेरी आदि तोल के साधनों का ग्रहण किया है क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतीमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः छः महीने में एक बार किया करें कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।" (ऋ० भा० भू० ३०३–३०४)

"पक्ष-पक्ष में वा मास-मास में अथवा छटवें छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करे............तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा जिससे कि अधिक, न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हीं का नाम प्रतिमा है।"

(द० शा० सं० ५० एवं ऋ० प० वि० ११)

नौका-व्यवहार में किराया आदि की व्यवस्थाएं—

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥ (२२९)

(यानं तरे पणम्) नाव से पार उतारने में खाली गाड़ी का एक पण किराया ले (पौरुषः तरे) एक पुरुष द्वारा ढोये जाने वाले भार पर (अर्ध-पणं दाप्यः) आधा पण किराया ले (च) और (पशुः पादम्) पशु आदि को पार करने में चौथाई पण (च) तथा (योषित् रिक्तकः पुमान् पाद+

अर्धम्) स्त्री और खाली मनुष्य से एक पण का आठवाँ भाग किराया लेवे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥४०५॥ (२३०)

(भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं सारतः दाप्यानि) वस्तुओं से भरी हुई गाड़ियों को पार उतारने का किराया उनके भारी और हल्केपन के अनुसार देवे (रिक्तभाण्डानि) खाली बर्तन (च अपरिच्छदाः पुमाँसः) और निर्धन व्यक्ति (यत् किंचित्) इनका थोड़ा सा किराया ले लेवे ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥ (२३१)

(दीर्घ+अध्वनि) नदी का लम्बा रास्ता पार करने के लिए (यथा देशम्) स्थान के अनुसार [तेज बहाव, मन्द प्रवाह, दुर्गम स्थल आदि] (यथाकालम्) समय के अनुसार [सर्दी, गर्मी, रात्रि आदि] (तरः भवेत्) किराया निश्चित होना चाहिए (तत् नदीतीरेषु विद्यात्) यह नियम नदी-तट के लिए समझना चाहिए (समुद्रे नास्ति लक्षणम्) समुद्र में यह नियम नहीं है अर्थात् समुद्र में वहाँ की स्थिति के अनुसार किराया निश्चित करना चाहिए ॥ ४०६ ॥

"जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियां वा नदी तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो उतना कर स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों वैसी व्यवस्था करे।" (स० प्र० १७५)

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥ (२३२)

(दाशानाम् अपराधतः) मल्लाहों की गलती से (नावि यत् किंचित् विशीर्येत) नाव में जो कुछ यात्रियों को हानि हो जाये (तत्+दाशैः+एव) उसे मल्लाहों ने (समागम्य स्वतोंशतः दातव्यम्) मिलकर अपने-अपने हिस्से में से पूरा करना चाहिए ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥(२३३)

(एषः) यह [८।४०४–४०८] (नौयायिनां व्यवहारस्य निर्णयः उक्तः) नाविकों के व्यवहार का निर्णय कहा है (दाशापराधतः तोये) मल्लाहों के अपराध से जल में नष्ट हुए सामान के मल्लाह देनदार हैं (दैविके निग्रहः नास्ति) दैवी विपत्ति के कारण [आंधी, तूफान आदि से] हुई हानि के मल्लाह देनदार नहीं हैं ॥ ४०९ ॥

अनुशीलन : श्लोक ३८८ से ४०९ श्लोकों में से ३९०–३९५ विभिन्न आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं। शेष श्लोकों ३८८, ३८९, ३९६, ३९८, ४०६, ४०८, ४०९ में कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है और ये सर्वसामान्य विधान हैं। इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है, शैली भी मनुसम्मत है। अतः प्रसंगानुकूल न होने पर भी हमने इन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया। प्रतीत होता है कि ये स्थानभ्रष्ट हो गये हैं। इन सभी श्लोकों में जो विषय है वह 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' [८।२०६–२११] विषय से सम्बन्धित है, अतः ये उसी प्रसंग से खण्डित हुए ज्ञात होते हैं।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दीभाषा-भाष्यसमन्वितायाम्
'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
राजधर्मात्मकोऽष्टमोऽध्यायः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

(हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन'समीक्षाभ्यां सहितः)

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहारनिर्णय)

[९ । १ से ९ । ९९ तक]

(१६) स्त्री-पुरुष-धर्मसम्बन्धी विवाद और उसका निर्णय

(९ । १ से ३९ तक)

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥ (१)

[अब मैं] (धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः) धर्ममार्ग पर चलने वाले (स्त्रियाः च पुरुषस्य एव) स्त्री-पुरुष के (संयोगे च विप्रयोगे) संयोगकालीन=साथ रहने तथा वियोगकालीन=अलग रहने के (शाश्वतान् धर्मान् वक्ष्यामि) सदैव पालन करने योग्य धर्मों=कर्त्तव्यों को कहूंगा—॥ १ ॥

(स्त्री-पुरुष के संयोगकालीन दैनिक कर्त्तव्य)

स्त्री के प्रति कर्त्तव्यपालन न करने वाले पिता, पति, पुत्र निन्दा के पात्र—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥ (२)

(काले) विवाह की अवस्था में (अदाता) कन्या को न देने वाला अर्थात् विवाह न करने वाला (पिता वाच्यः) पिता निन्दनीय होता है (च) और (अनुपयन् पतिः) [विवाह-पश्चात् ऋतुकाल के अनन्तर] संगम न करने वाला पति निन्दनीय होता है (भर्तरि मृते) पति की मृत्यु होने के बाद (मातुः+अरक्षिता पुत्रः वाच्यः) माता की [भरण-पोषण आदि से] रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥ ४ ॥

थोड़े से कुसंग से भी स्त्रियों की रक्षा अवश्य करें—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ (३)

(सूक्ष्मेभ्यः प्रसंगेभ्यः अपि) थोड़े कुसंग के अवसरों से भी (स्त्रियः विशेषतः रक्ष्याः) स्त्रियों की विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए (हि) क्योंकि (अरक्षिताः) अरक्षित स्त्रियां (द्वयोः कुलयोः शोकम्+आवहेयुः) दोनों कुलों=पति तथा पिता के कुलों को शोकसंतप्त कर देती हैं ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥ (४)

(सर्ववर्णानाम् इमम् उत्तमं धर्मं पश्यन्तः) सब वर्णों के इस पूर्वोक्त श्रेष्ठ धर्म को देखते हुए (दुर्बलाः भर्तारः अपि) दुर्बल पति भी (भार्यां रक्षितुं यतन्ते) कुसंगों से अपनी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं ॥ ६ ॥

स्त्री पर ही परिवार की प्रतिष्ठा निर्भर—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥ (५)

(प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि) प्रयत्नपूर्वक अपनी स्त्री की कुसंगत से रक्षा करता हुआ अर्थात् संरक्षण में रखता हुआ व्यक्ति ही (स्वां प्रसूतिम्) अपनी सन्तान (चरित्रम्) आचरण (कुलं च आत्मानम्+एव) कुल और अपनी (च) तथा (स्वं धर्मम्) अपने धर्म की (रक्षति) रक्षा करता है अर्थात् स्त्री के कुसंग में पड़ जाने से सब ही कुछ बिगड़ जाता है, क्योंकि स्त्री ही सुख और धर्म का आधार है [९।२८] ॥ ७ ॥

जाया का लक्षण—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥ (६)

(पतिः भार्यां संप्रविश्य) पति वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके (गर्भः भूत्वा+इह जायते) गर्भ बनकर सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है (जायायाः तत्+हि जायात्वम्) स्त्री का यही जायापन=स्त्रीपन है (यत्) जो (अस्यां पुनः जायते) इस स्त्री में सन्तानरूप से पति पुनः उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

अनुशीलन : जाया शब्द की सिद्धि और इसमें ब्राह्मण आदि के प्रमाण—'जाया' शब्द जनी प्रादुर्भावे (दिवा०) धातु से 'जनेर्यक्' (उणादि ४।१११) सूत्र से 'यक्' प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होने से सिद्ध होता है। 'जायते यस्यां सा जाया' अथवा 'जायन्ते यस्याम् अपत्यानि सा जाया=पत्नी'—जिसमें सन्तान

उत्पन्न होती हैं वह 'जाया' कहलाती है। इस श्लोक में जाया की परिभाषा दी हुई है। यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है। यथावत् भाव ऐतरेय ब्राह्मण ७। १३ की परिभाषा में द्रष्टव्य है—

(क) "पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।"

(ख) "ग्राभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते।" (गो० ब्रा० पू० १। २)

(ग) निरुक्त में भी पुत्र को पति का आत्मारूप बताया है—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ [निरु० ३।१।४]

जैसा पति वैसी सन्तान—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः॥ ९॥ (७)

(स्त्री यादृशं हि भजते) स्त्री जैसे पति का सेवन करती है (तथाविधं सुतं सूते) उसी प्रकार की सन्तान को उत्पन्न करती है (तस्मात्) इसलिए (प्रजाविशुद्ध्यर्थम्) सन्तान की शुद्धि के लिए (प्रयत्नतः स्त्रियं रक्षेत्) प्रयत्नपूर्वक स्त्री की कुसंग से रक्षा करे॥ ९॥

स्त्रियों की रक्षा बलपूर्वक नहीं हो सकती—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥ १०॥ (८)

(कश्चित्) कोई भी व्यक्ति (प्रसह्य) जबरदस्ती या दबाव के साथ (योषितः परिरक्षितुं न शक्तः) स्त्रियों की कुसंगों से रक्षा नहीं कर सकता (तु) किन्तु (एतैः+उपाययोगैः) इन आगे कहे उपायों में लगाने से (ताः परिरक्षितुं शक्याः) उनकी रक्षा की जा सकती है—॥ १०॥

स्त्रियों को गृह एवं धर्मकार्मों में व्यस्त रखें—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥ ११॥(९)

(एनाम्) अपनी स्त्री को (अर्थस्य संग्रहे च व्यये) धन की संभाल और उसके व्यय की जिम्मेदारी में, (शौचे) घर एवं घर के पदार्थों की शुद्धि में, (धर्मे) धर्मसम्बन्धी [६। ९३] अनुष्ठान=अग्निहोत्र, संध्या, स्वाध्याय आदि में, (अन्नपक्त्याम्) भोजन पकाने में, (च) और (परि-

णाह्यस्य वेक्षणे) घर की सभी वस्तुओं की देखभाल में (नियोजयेत्) लगायें ॥ ११ ॥

स्त्रियां आत्मनियन्त्रण से ही बुराइयों से बच सकती हैं—

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥ (१०)

क्योंकि (आप्तकारिभिः पुरुषैः) विश्वसनीय पिता, माता पति आदि पुरुषों द्वारा (गृहे रुद्धाः) घर में रोककर रखी हुई अर्थात् निगरानी में रखी जाती हुई स्त्रियां भी (असुरक्षिताः) असुरक्षित हैं=बुराइयों से बच नहीं पातीं (याः तु) जो तो (आत्मानम् आत्मना रक्षेयुः) अपनी रक्षा स्वयं करती हैं (ताः सुरक्षिताः) वस्तुतः वही [बुराई से] सुरक्षित रहती हैं ॥ १२ ॥

स्त्रियों के दूषण में छः कारण—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥ (११)

(पानम्) मद्य, भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, (दुर्जनसंसर्गः) दुष्टपुरुषों का संग, (पत्या च विरहः) पति-वियोग, (अटनम्) अकेली जहां-तहां व्यर्थ पाखंडो आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना, (च) और (स्वप्नः+अन्यगेहवासः) पराये घर में जाके शयन करना वा वास (षट् नारीसन्दूषणानि) ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं ॥ १३ ॥
(स० प्र० ११२)

सन्तानोत्पत्ति-सबन्धी धर्म—

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ (१२)

(एषा) यह [९ । १-२४] (स्त्रीपुसयोः नित्यं शुभा) स्त्री-पुरुषों के लिये सदा शुभ=कल्याणकारी (लोकयात्रा उदिता) लोकव्यवहार कहा, अब (प्रेत्य च इह सुखोदर्कान्) परजन्म और इस जन्म में परिणाम में सुखदायक (प्रजाधर्मान् निबोधत) सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी धर्मों को सुनो ॥ २५ ॥

स्त्रियां घर की लक्ष्मी हैं—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥ (१३)

हे पुरुषो ! (प्रजनार्थं महाभागाः) सन्तानोत्पत्ति के लिए महाभाग्योदय करने हारी (पूजार्हाः) पूजा के योग्य (गृहदीप्तयः) गृहाश्रम को प्रकाशित करती, सन्तानोत्पत्ति करने-कराने हारी (गेहेषु स्त्रियः) घरों में स्त्रियाँ हैं वे (श्रियः) श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं (विशेषः कश्चन न अस्ति) क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ॥ २६ ॥
(सं० वि० १४६)

अनुशीलन : **स्त्रियाँ लक्ष्मी रूप हैं**—मनु ने जो स्थान तथा महत्त्व स्त्रियों को दिया है वही समस्त प्राचीन साहित्य में है। इन भावों की तुलना की दृष्टि से निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) "**श्रियं वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः**" (शत० १३।२।६।७)

(ख) "**गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा**" (शत० ३।३।१।१०)

स्त्रियां लोकयात्रा का आधार हैं—

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ (१४)

हे पुरुषो ! (अपत्यस्य उत्पादनम्) अपत्यों की उत्पत्ति (जातस्य परिपालनम्) उत्पन्न का पालन करने आदि (लोकयात्रायाः प्रत्यहम्) लोकव्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है (स्त्री निबन्धनं प्रत्यक्षम्) उसका निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है ॥ २७ ॥ (सं वि० १४६)

घर का सुख स्त्री पर निर्भर है—

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥ (१५)

(अपत्यम्) सन्तानोत्पत्ति (धर्मकार्याणि) धर्म-कार्य (उत्तमा शुश्रूषा रतिः) उत्तम सेवा और रति (तथा आत्मनः च पितृणां ह स्वर्गः) तथा अपना और पितरों का जितना सुख है वह सब (दाराधीनः) स्त्री ही के आधीन होता है ॥ २८ ॥ (सं० वि० १४६)

अनुशीलन : 'पितृणाम्' का यहां 'पिता—पितामह—प्रपितामह आदि वयोवृद्ध आदि व्यक्ति' यह अर्थ है। इस विषय पर विस्तृत समीक्षा २।१५१[२।१७६] और ३।८२ पर देखिए।

पुत्र पर अधिकार के सम्बन्ध में आख्यान—

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ (१६)

(सद्भिः च पूर्वजैः महर्षिभिः) श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा प्राचीन महर्षियों ने (पुत्रं प्रति) पुत्र के विषय में जो (विश्वजन्यं पुण्यम् उदितम्) सर्वजनहितकारी और पुण्यदायक विचार कहा (इमम् उपन्यासं निबोधत) इस 'शिक्षाप्रद विचार' को सुनो—॥ ३१ ॥

पुत्र पर अधिकार-सम्बन्धी मतान्तर—

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥ (१७)

('भर्तुः पुत्रम्' विजानन्ति) 'स्त्री के पति का ही पुत्र होता है' ऐसा माना जाता है (भर्तरि तु श्रुतिद्वैधम्) किन्तु पति के विषय में दो विचार हैं—(केचित् उत्पादकम् आहुः) कुछ लोग पुत्र उत्पन्न करने वाले को ही पुत्र का हकदार कहते हैं (अपरे क्षेत्रिणं विदुः) दूसरे कुछ लोग क्षेत्र अर्थात् स्त्री के स्वामी को पुत्र का हकदार मानते हैं [चाहे उत्पादक कोई भी हो] ॥ ३२ ॥

स्त्री-पुरुष की क्षेत्र और बीज रूप में तुलना—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥ (१८)

(नारी क्षेत्रभूता स्मृता) स्त्री को खेत के तुल्य माना है और (पुमान् बीजभूतः स्मृतः) पुरुष को बीज के तुल्य माना है (क्षेत्र-बीज-समायोगात्) खेत और बीज अर्थात् स्त्री और पुरुष के मिलने से (सर्वदेहिनां सम्भवः) सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

परस्त्री में पुत्रोत्पत्ति करने पर पुत्र पर स्त्री का या स्त्री-स्वामी का अधिकार—

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥ (१९)

[९।३३ की व्यवस्था में] (ये+अक्षेत्रिणः बीजवन्तः) जो क्षेत्र-रहित हैं और बीज वाले हैं (परक्षेत्रप्रवापिणः) तथा दूसरे के क्षेत्र में अर्थात् परस्त्री में बीज को बोते हैं=सन्तान उत्पन्न करते हैं (ते वै) निश्चय से (क्वचित्) कहीं भी (जातस्य सस्यस्य फलं न लभन्ते) उत्पन्न हुये अन्न, सन्तान आदि के फल को नहीं प्राप्त करते अर्थात् उस सन्तान पर स्त्री के पति का अधिकार होता है, बीज बोने वाले का नहीं ॥ ४९ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ।। ५२ ।। (२०)

क्योंकि (क्षेत्रिणां तथा बीजिनाम्) खेतवालों अर्थात् परपुरुष से सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों में और बीजवालों अर्थात् परक्षेत्र अर्थात् परस्त्री में संतान उत्पन्न करने वालों में (फलं तु अनभिसंधाय) फल के लेने के विषय में बिना निश्चय हुए 'कि इस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला अन्न, सन्तान आदि फल किसका होगा' बीज-वपन करने पर (प्रत्यक्षं क्षेत्रिणाम्+अर्थः) वह स्पष्टरूप से क्षेत्रस्वामी का फल या उपलब्धि होती है; अर्थात् वह सन्तान स्त्री की ही होती है, क्योंकि (बीजात् योनिः गरीयसी) ऐसी स्थिति में बीज से योनि बलवती होती है ।। ५२ ।।

समझौतापूर्वक पुत्रोत्पत्ति में पुत्र पर स्त्री-पुरुष दोनों का समानाधिकार—

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ।। ५३ ।। (२१)

(यत्) परन्तु यदि (क्रिया+अभ्युपगमात्) परस्पर मिलकर यह निश्चय करके कि इससे प्राप्त फल 'अमुक का' या दोनों का होगा [जैसे कि विवाह या नियोग में किया जाता है], इस समझौते के साथ (एतत् बीजार्थं प्रदीयते) जो खेत बीज बोने के लिये दिया जाता है अर्थात् स्त्री यदि समझौते के साथ किसी के लिए सन्तान उत्पन्न करती है तो उस अवस्था में (इह तस्य) इस लोक में उसके (बीजी च क्षेत्रिकः+एव भागिनौ दृष्टौ) बीजवाला और खेतवाला दोनों ही फल के अधिकारी देखे गये हैं ।। ५३ ।।

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ।।५६।। (२२)

(एतत्) [यह ९।३१-५५] (बीजयोन्योः सारफल्गुत्वम्) बीज और योनि की प्रधानता और अप्रधानता (वः प्रकीर्तितम्) तुमसे मैंने कही ।

(अतः परम्) इसके बाद अब मैं (आपदि योषितां धर्मम्) आपत्काल में [सन्तानाभाव में] स्त्रियों के धर्म को प्रवक्ष्यामि कहूँगा—।। ५६ ।।

बड़ी भाभी को गुरु-पत्नी के समान, छोटी को पुत्रवधू के समान माने—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ।।५७।। (२३)

(ज्येष्ठस्य भ्रातुः या भार्या) बड़े भाई की जो पत्नी होती है (सा

अनुजस्य गुरुपत्नी) वह छोटे भाई के लिए गुरुपत्नी के समान होती है (तु या यवीयसः भार्या) और जो छोटे भाई की पत्नी है (सा ज्येष्ठस्य स्नुषा) वह बड़े भाई के लिए पुत्रवधू के समान (स्मृता) कही गयी है, अर्थात् भाइयों को भाई की पत्नी में उक्त प्रकार की पवित्र भावना रखनी चाहिए ॥ ५७ ॥

उनके साथ गमन में पाप—

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥ (२४)

(ज्येष्ठः यवीयसः भार्याम्) बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और (यवीयान्+अग्रज-स्त्रियम्) छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ (अनापदि) आपत्तिकाल [=सन्तानाभाव] के बिना (नियुक्तौ+अपि गत्वा) नियोग-विधिपूर्वक भी यदि संभोग करें तो वे (पतितौ भवतः) पतित माने जाते हैं ॥ ५८ ॥

सन्तानाभाव में नियोग से सन्तानप्राप्ति—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥ (२५)

(सन्तानस्य परिक्षये) पति से सन्तान न होने पर अथवा किसी भी प्रकार से सन्तान का अभाव होने पर (सम्यक् नियुक्तया स्त्रिया) ठीक-ढंग से [परिवार और समाज में विवाहवत् प्रसिद्धिपूर्वक] नियोग के लिए नियुक्त स्त्री को (देवरात् वा सपिंडात् वा) देवर—स्वजातीय या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष से अथवा पति की छः पीढ़ियों में पति के छोटे या बड़े भाई से (ईप्सिता प्रजा अधिगन्तव्या) इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए अर्थात् जितनी सन्तान अभीष्ट हो उतनी प्राप्त करले ॥ ५९ ॥

"सपिंड अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री-पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"मनुजी ने लिखा है कि (सपिण्ड) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ

पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे। जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों की होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी पुनः वे नियुक्त आपस में समागम करें तो पतित हो जायें। अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है, इसके पश्चात् समागम न करें।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

अनुशीलन : (१) **नियोग की विधि**—नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है, उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है। ऋषि दयानन्द ने इसी बात को प्रश्नोत्तररूप में स्पष्ट किया है—

"(प्रश्न) नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए ?

(उत्तर) जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्रपुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने 'हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी और जाति वा राज्य के दण्डनीय हों। महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यन्त पृथक् रहेंगे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

(२) **देवर शब्द का अर्थ**—

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित—'पति का छोटा भाई' अर्थ न होकर विस्तृत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है—

"देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ॥" (३। १५)

अर्थात्—"देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। जिससे नियोग करे उसी का नाम देवर है।" (म० दयानन्द, स० प्र० ११६)

आजकल यह केवल पति के छोटे भाई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित

रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(३) वेदों में नियोग का विधान—

(क) उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥

ऋ० । मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

अर्थ—"(नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो, और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुम विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम्बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।"

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

(ख) (**प्रश्न**) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?

(**उत्तर**) जीते भी होता है—

अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ० मं० १० । सू० १०॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे **सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की** (इच्छस्व) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए।

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया और जैसा व्यास जी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण है।" (स० प्र० चतुर्थ० समु०)

नियोग से पुत्र-प्राप्ति के बाद शरीर-सम्बन्ध नहीं—

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥(२६)

(यथाविधि) विधि अनुसार (विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु) विधवा में नियोग के उद्देश्यपूर्ण हो जाने पर फिर (गुरुवत् च स्नुषावत् च

परस्परं वर्तेयाताम्) बड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्री से क्रमशः गुरुपत्नी तथा पुत्रवधू के समान [९ । ५७] परस्पर बर्ताव करें ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥(२७)

(नियुक्तौ यौ) नियोग के लिए नियुक्त बड़ा या छोटा भाई यदि (विधिं हित्वा) नियोग की विधि=व्यवस्था [समाज या परिवार में किये गये पूर्व निश्चयों] को छोड़कर (कामतः वर्तेयाताम्) काम के वशीभूत होकर संभोगादि करें (तु) तो (तौ+उभौ) वे दोनों (स्नुषाग-गुरुतल्पगौ पतितौ स्याताम्) पुत्रवधूगमन और गुरुपत्नीगमन के अपराधी माने जायेंगे [९ । ५८] ॥ ६३ ॥

सगाई के बाद पति की मृत्यु होने पर अन्य विवाह का विधान—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ (२८)

(वाचा सत्ये कृते) वाग्दान=सगाई करने के बाद [और विवाह से पूर्व] (यस्याः कन्यायाः पतिः म्रियेत) जिस कन्या का पति मर जाये (ताम्) उस कन्या को (निजः देवरः) पति का छोटा भाई (अनेन विधानेन विन्देत) विवाह-विधान से प्राप्त कर ले ॥ ६९ ॥

"जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाये तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।" (श्लोक की दूसरी पंक्ति उद्धृत करके यह उल्लेख है (स० प्र० ११७)

अनुशीलन : श्लोक की मौलिकता का आधार—यह श्लोक संकेतित [९।५६, १०३] विषय से सम्बद्ध है। विषयानुसार इसमें आपत्कालीन स्थिति में स्त्री का कर्त्तव्य विहित किया है।

स्त्री को जीविका देकर पुरुष प्रवास में जाये—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥ (२९)

(कार्यवान् नरः) किसी आवश्यक कार्य के लिए परदेश में जाने वाला मनुष्य (भार्यायाः वृत्तिं विधाय प्रवसेत्) अपनी पत्नी की भरण-पोषण की जीविका देकर परदेश में जाये (हि) क्योंकि (अवृत्तिकर्षिता स्थितिमती+अपि स्त्री) जीविका के अभाव से पीड़ित हो शुद्ध आचरण वाली स्त्री भी (प्रदुष्येत) दूषित हो सकती है ॥ ७४ ॥

अथवा अनिन्दित कलाओं से स्त्री जीविका कमाये—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ (३०)

(वृत्तिं विधाय प्रोषिते) जीविका का प्रबन्ध करके पति के परदेश जाने पर (नियमम्+आस्थिता जीवेत्) स्त्री अपने पातिव्रत्य नियमों का पालन करती हुई जीवनयात्रा चलाये (अविधाय+एव तु प्रोषिते) यदि पति बिना जीविका का प्रबन्ध किये परदेश चला जाये तो (अगर्हितैः शिल्पैः जीवेत्) अनिन्दित शिल्पकार्यों [सिलाई करना, बुनना, कातना आदि] को करके अपनी जीवनयात्रा चलाये ॥ ७५ ॥

पति की प्रतीक्षा की अवधि और उसके पश्चात् नियोग—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७६॥(३१)

विवाहित स्त्री (नरः धर्मकायार्थं प्रोषितः) जो विवाहित पति धर्म के लिए परदेश गया हो तो (अष्टौ समाः) आठ वर्ष (विद्यार्थं वा यशः+अर्थं षट्) विद्या और कीर्ति के लिए गया हो तो छः (कामार्थं त्रीन् तु वत्सरान्) धनादि कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक (प्रतीक्ष्यः) बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूटजावे ॥ ७६ ॥ (स० प्र० ११९)

अनुशीलन : नियोगव्यवस्था प्राचीनपरम्परागत एवं कौटिल्य द्वारा इसका समर्थन—आचार्य कौटिल्य तक नियोग व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है। उन्होंने प्र० ६०। अ० ४ में कारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है [विस्तृत विवेचन भूमिका में 'नियोग-मान्यता' पर द्रष्टव्य है]।

पुरुष दूसरी स्त्री से सन्तानप्राप्ति कब करे—

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥ (३२)

(वन्ध्या+अष्टमे) वंध्या हो तो आठवें [विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री का गर्भ न रहे] (मृतप्रजाः तु दशमे) सन्तान होकर मरजायें तो दशवें (स्त्रीजननी एकादशे अब्दे) जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवें, पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक (तु) और (अप्रियवादिनी) जो अप्रिय बोलने वाली हो तो (सद्यः) सद्यः उस स्त्री को छोड़कर (अधिवेद्या) दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करलेवे ॥ ८१ ॥ (स० प्र० चतुर्थ समु०)

उत्तम वर मिलने पर कन्या का विवाह शीघ्र करदें—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥ ८८॥ (३३)

यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो (उत्कृष्टाय+अभिरूपाय सदृशाय वराय) अति उत्कृष्ट, शुभगुण, कर्म, स्वभाव वाले कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि गुणयुक्त वर ही को चाहें (ताम् अप्राप्तां कन्याम्+अपि) वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि (तस्मै दद्यात्) उसी को कन्या देना, अन्य को न देना कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें॥ ८८॥ (सं० वि० १०२)

गुणहीन पुरुष से विवाह न करें—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥ (३४)

(कामम्) चाहे (आमरणात्) मरणपर्यन्त (कन्या) कन्या (गृहे) पिता के घर में (तिष्ठेत्) बिना विवाह के बैठी भी रहे (तु) परन्तु (गुणहीनाय) गुणहीन असदृश दुष्टपुरुष के साथ (एनां कर्हिचित् न प्रयच्छेत्) कन्या का विवाह कभी न करे॥ ८९॥ (सं० वि० १०२)

पूना-प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो।" (पृ० २१)

"चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध-गुण-कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।" (स० प्र० ८३)

कन्या स्वयंवर विवाह करे—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥ (३५)

(कुमारी) कन्या (ऋतुमती सती) रजस्वला हो जाने पर (एतस्मात् कालात्+ऊर्ध्वम्) इस समय के बाद (त्रीणि वर्षाणि+उदीक्षेत) तीन वर्ष तक विवाह की प्रतीक्षा करे, तदनन्तर (सदृशं पतिं विन्देत) अपने योग्य पति का वरण करे॥९०।

'जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन

से तीन वर्ष छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे।" (सं० वि० १०२,स० प्र० ८३)

स्वयंवर विवाह में पाप नहीं—

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्‌ यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥९१॥ (३६)

(अदीयमाना) पिता आदि अभिभावक के द्वारा विवाह न करने पर (यदि स्वयं भर्तारम्+अधिगच्छेत्) जो कन्या यदि स्वयं पति का वरण करले तो (किंचित् एनः न अवाप्नोति) वह कन्या किसी पाप की भागी नहीं होती (च) और (न सा यम् अधिगच्छति) न उसे कोई पाप होता है जिस पति को यह वरण करती है॥ ९१॥

स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी-

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥९६॥ (३७)

(प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः) गर्भधारण करके सन्तानों की उत्पत्ति करने के लिए स्त्रियों की रचना हुई है (च) और (सन्तानार्थं मानवाः) सन्तानार्थ गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की रचना हुई है [दोनों एक दूसरे के पूरक होने के कारण] (तस्मात्) इसलिए (श्रुतौ) वेदों में (साधारणः धर्मः) साधारण से साधारण धर्मकार्य का अनुष्ठान भी (पत्न्या सह+उदितः) पत्नी के साथ करने का विधान किया है॥ ९६॥

अनुशीलन : प्रत्येक धर्मकार्य पत्नी को सहभागिनी बनाकर करें—मनु ने इस श्लोक में पत्नी को पुरुष की पूरक और अर्धांगिनी का रूप माना है, और प्रत्येक धर्मकार्य उसके साथ हुए बिना पूर्ण नहीं माना गया है। समस्त प्राचीन साहित्य में पत्नी की यही मान्य स्थिति रही है। जब पत्नी को पुरुष का अर्धभाग रूप ही मान लिया तो दोनों की स्थिति समान है। उसमें कोई पक्षपात की भावना नहीं है—

(क) **"अर्धो वा ह वा एष आत्मनो यज्जाया, तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते, तर्हि हि सर्वो भवति।"** (शत० ५।२।१।१०)

(ख) **"अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी"** (तैत्ति० ३।३।५)

पति-पत्नी आमरण साथ रहें—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ १०१॥ (३८)

(आमरणान्तिकः) मरणपर्यन्त (अन्योन्यस्य+अव्यभिचारः भवेत्)

पति-पत्नी में परस्पर किसी भी प्रकार के धर्म का उल्लंघन और विच्छेद न हो पाये (समासेन) संक्षेप में (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष का (एषः परः धर्मः ज्ञेयः) यही साररूप मुख्य धर्म है ।। १०१ ।।

बिछुड़ने के अवसर न आने दें—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ।। १०२ ।। (३९)

(कृतक्रियौ स्त्रीपुंसौ) विवाहित स्त्री-पुरुष (नित्यं तथा यतेयाताम्) सदा ऐसा यत्न करें कि (यथा तौ) जिस किसी भी प्रकार से (तौ) वे (इतरेतरम्) एक-दूसरे से (वियुक्तौ न+अभिचरेताम्) अलग न होवें= सम्बन्धविच्छेद न हो पाये ।। १०२ ।।

[१७] दायभाग विवाद-वर्णन [९ । ४० -- ८४]

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ।। १०३ ।। (४०)

(एषः) यह [९।१ से १०२ पर्यन्त] (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष के (रति-संहितः धर्मः) रति=स्नेह या संयोग सहित [वियोगकाल के भी] धर्म (च) और (आपदि+अपत्यप्राप्तिः) आपत्काल में नियोगविधि से सन्तान-प्राप्ति [९।५९-६३] की बात (वः उक्तः) तुमसे कही ।
(दायभागं निबोधत) दायभाग का विधान सुनो—।। १०३ ।।

अलग होते समय दायभाग का बराबर विभाजन—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ।। १०४ ।। (४१)

(पितुः च मातुः ऊर्ध्वम्) पिता और माता के मरने के पश्चात् (भ्रातरः समेत्य) सब भाई एकत्रित होकर (पैतृकं रिक्थं समं भजेरन्) पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें (जीवतोः ते हि अनीशाः) माता-पिता के जीवित रहते हुए वे उस धन के अधिकारी नहीं हो सकते हैं । ।। १०४ ।।

सम्मिलित रहने पर विभाजन का दूसरा विकल्प—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ।। १०५ ।। (४२)

[अथवा सम्मिलित रूप में रहना हो तो] (पित्र्यं धनम्+अशेषतः

ज्येष्ठः एव तु गृह्णीयात्) पिता के सारे धन को बड़ा पुत्र ही ग्रहण करले (शेषाः) और बाकी सब भाई (यथा+एव पितरम्) जैसे पिता के साथ रहते थे (तथा तम्+उपजीवेयुः) उसी प्रकार बड़े भाई के साथ रहकर जीवन चलावें ॥ १०५ ॥

अनुशीलन : यहां पहले पिता के धन का विभाजन वर्णित किया है। मातृधन का विधान १६२ से है।

बड़े भाई का छोटों के प्रति कर्त्तव्य—

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥ (४३)

[सम्मिलित रहते हुए] (ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातॄन्) अपने छोटे भाइयों को (पिता+इव पुत्रान्) जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन पोषण करता है ऐसे (पालयेत्) पाले (च) और (ज्येष्ठे भ्रातरि) छोटे भाई बड़े भाई में (धर्मतः) धर्म से (पुत्रवत्+अपि वर्तेरन्) पुत्र के समान वर्ताव करें अर्थात् उसे पिता के समान मानें ॥ १०८ ॥

छोटों का बड़े भाई के प्रति कर्त्तव्य—

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्सः संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥(४४)

किन्तु (यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (ज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान बर्ताव करने वाला हो तो (सः पिता+इव, सः माता+इव संपूज्यः) वह पिता और माता के समान माननीय है (यः तु) और जो (अज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान बर्ताव करने वाला न हो तो (सः तु बन्धुवत्) वह केवल भाई या मित्र की तरह ही मानने योग्य होता है ॥ ११० ॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥ (४५)

(एवम्) इस प्रकार (सह वसेयुः) सब भाई साथ मिलकर [९।१०५-११०] रहें (वा) अथवा (धर्मकाम्यया) धर्म की कामना से (पृथक्) अलग-अलग [९।१०४] रहें। (पृथक् धर्मः विवर्धते) पृथक्-पृथक् रहने से धर्म का [सबके द्वारा अलग-अलग पञ्चमहायज्ञ आदि करने के कारण] विस्तार होता है (तस्मात्) इस कारण (पृथक् क्रिया धर्म्या) पृथक् रहना भी धर्मानुकूल है ॥ १११ ॥

इकट्ठे रहकर अलग होने पर 'उद्धार' अंश का विभाजन—

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ।। ११२ ।। (४६)

[सम्मिलित रहते हुए अगर बड़े भाई छोटों का पालन-पोषण करें तो उसके बाद अलग होते हुए] (ज्येष्ठस्य विंशः उद्धारः) पिता के धन में से बड़े भाई का बीसवां भाग 'उद्धार' [=अतिरिक्त भागविशेष] होता है (च) और (सर्वद्रव्यात् यत् वरम्) सब पदार्थों में से जो सबसे श्रेष्ठ पदार्थ हो वह भी (ततः+अर्धम्) बड़े के 'उद्धार' से आधा उद्धार (मध्यमस्य) मझले भाई का अर्थात् चालीसवां भाग (तुरीयं तु यवीयसः स्यात्) चौथाई भाग अर्थात् अस्सीवां भाग सबसे छोटे भाई का 'उद्धार' होना चाहिए ।। ११२ ।।

अनुशीलन : (१) **उद्धार-भाग का विभाजन**—'उद्धार' पैतृक सम्पत्ति में से पृथक् किये गये उस भाग को कहते हैं जिसका लाभ बड़े भाई को मिलता है, १०५—१११ श्लोकों की अनुवृत्ति के अनुसार यह 'उद्धार' तभी मिल सकता है जब बड़ा छोटों को पितृवत् पालन-पोषण करके बड़ा करे।

समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये है। उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (९६०÷२०=४८) ४८ रु० 'उद्धार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (९६०÷४०=२४) २४ रु० होगा, छोटे भाई का अस्सीवां भाग (९६०÷८०=१२) १२ रु० 'उद्धार' होगा। 'उद्धार' का 'धन' बंटने के बाद शेष धन को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा—४८+२४+१२=८४, ९६०—८४=८७६, ८७६÷३=२९२, इस प्रकार २९२-२९२ रु० प्रत्येक के हिस्से में आये। इस विधि से बड़े भाई को २९२+४८=३४० रु०, उसमें मझले भाई को २९२+२४=३१६ रु० छोटे भाई को २९२+१२=३०४ रु० प्राप्त हुए।

(२) **उद्धार-भाग का विधान क्यों ?**—९।१०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है। इस श्लोक में उद्धार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है। यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं। यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है। यह तभी प्राप्त होता है जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें। सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें। इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं।

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामिमं स्यादंशकल्पना ।। ११६ ।। (४७)

(एवम् समुद्धृत+उद्धारे) इस प्रकार [९। १२-११३] 'उद्धार' [=अतिरिक्त धनविशेष] के निकालने के बाद (समान्-अंशान् प्रकल्पयेत्) शेष धन को समान भागों में बांट लें (तु उद्धारे+अनुद्धृते) यदि 'उद्धार' पृथक् से नहीं निकालें तो (एषाम् अंशकल्पना इमं स्यात्) उन भाइयों के भाग का बंटवारा इस प्रकार करे ।। ११६ ।।

सम्मिलित रहकर अलग होते हुए विभाजन की अन्य विधि—

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ।।११७।। (४८)

(ज्येष्ठः एक-अधिकं हरेत्) बड़ा भाई 'एक अधिक' अर्थात् दो भाग धन ग्रहण करे (तत्+अनुजः पुत्रः अध्यर्धम्) उससे छोटा भाई डेढ़ भाग ले (यवीयांसः अंशम्+अंशम्) छोटे भाई एक-एक भाग सम्पत्ति का ग्रहण करें (इति धर्मः व्यवस्थितः) यही धर्म की व्यवस्था है ।। ११७ ।।

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ।।११८।।(४९)

(भ्रातरः) सब भाई (कन्याभ्यः) अविवाहित बहनों के लिए पृथक् (चतुर्भागम्) पृथक्-पृथक् चतुर्थांश भाग (स्वेभ्यः प्रदद्युः) अपने भागों से देवें (स्वात् स्वात्+अंशात् अदित्सवः) अपने-अपने भाग से चतुर्थांश भाग न देने वाले भाई (पतिताः स्युः) पतित=दोषी और निन्दनीय माने जायेंगे ।। ११८ ।।

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ।। ११९ ।। (५०)

(अजा+अविकम् स+एकशफं विषमम्) बकरी, भेड़, एक खुरवाली घोड़ो आदि के विषम होने पर (न जातु भजेत्) उन्हें [बेचकर धनराशि के रूप में] विभाजित न करें (विषमम् अजाविकं तु) विषम रूप में बचे बकरी-भेड़ आदि पशु (ज्येष्ठस्य+एव विधीयते) बड़े भाई को ही प्राप्त होते हैं ।। ११९ ।।

पुत्रिका करने का उद्देश्य—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ।। १२७ ।। (५१)

(अपुत्रः) पुत्रहीन पिता ('अस्यां यत्+अपत्यं भवेत् तत् मम स्वधाकरं स्यात्') इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मुझे वृद्धावस्था

में अन्न-भोजन आदि से पालन-पोषण करने वाला होगा और इस प्रकार सुख देने वाला होगा' (अनेन विधिना सुतां पुत्रिकां कुर्वीत) ऐसा दामाद से कहकर कन्या को 'पुत्रिका' करे ।। १२७ ।।

अनुशीलन : (१) **'स्वधा' का मनुसम्मत अर्थ**—इस श्लोक में टीकाकार 'स्वधा' शब्द का श्राद्ध प्रसंग में पिण्डदान आदि अर्थ करते हैं, यह अर्थ मनुसम्मत नहीं है । इस भाष्य में दिया गया अर्थ मनुसम्मत एवं प्रामाणिक है । उसमें निम्न प्रमाण एवं युक्तियां हैं—(क) मनु मृतकश्राद्ध नहीं मानते, अतः उस प्रसंग का अर्थ करना ही मनुविरुद्ध है [इसके लिए देखिए विस्तृत व्याख्यान ३ । ८१, ८२ और २८४ पर] । (ख) निरुक्तकार ने स्वधा शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—"**स्वधा अन्ननाम**" [२ । ७] "**स्वधा उदकनाम**" [१ । १२], इनसे सिद्ध होता है कि 'स्वधाकार' का अर्थ हुआ 'अन्न-जलादि से पालन पोषण करने वाला इस अर्थ की पुष्टि ३ । ८२ से भी हो जाती है । (ग) 'स्व' स्वजनों को भी कहते हैं, **स्वान्=पितॄन् दधाति यया क्रियया सा स्वधा'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर वृद्धावस्था में अन्न, जल, सेवा-सुश्रूषा आदि से सुख देना ही 'स्वधा' क्रिया कहलायेगी । (घ) पुत्रोत्पत्ति का भी व्यक्ति का यही उद्देश्य होता है कि वह कष्टों से बचाये, सुख दे, वृद्धावस्था में संभाले [द्रष्टव्य ९ । १३८ श्लोक एवं उस पर समीक्षा] । (ङ) व्यक्ति को सबसे पहले यही इच्छा होती है कि उसकी सन्तान उसके लिए सुखदायी बने । इसीलिए पुत्रहीन व्यक्ति 'पुत्रिका' को विधि अपनाता है । इस प्रकार 'स्वधाकर' का उपर्युक्त अर्थ ही उपयुक्त है ।

(२) **पुत्रिका धर्म**—पुत्रिका करने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति का कोई पुत्र न हो किन्तु पुत्री हो, तो वह पुत्री का विवाह करते समय दामाद पक्ष वालों से यह निश्चय कर लेता है कि इससे जो प्रथम पुत्र होगा उसे मैं गोद लूंगा । अर्थात् वह नाना की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा । ऐसे निश्चय को 'पुत्रिकाधर्म' कहते हैं ।

पुत्र के अभाव में सारे धन की पुत्री अधिकारिणी—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ।। १३० ।। (५२)

(यथा+एव आत्मा तथा पुत्रः) जैसी अपनी आत्मा है वैसा ही पुत्र होता है, और (पुत्रेण दुहिता समा) पुत्र जैसी ही पुत्री होती है (तस्याम्+आत्मनि तिष्ठन्त्याम्) उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुये (अन्यः धनं कथं हरेत) कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है ? अर्थात् पुत्र के अभाव में पुत्री ही धन की अधिकारिणी होती है ।। १३० ।।

अनुशीलन : **पुत्र-पुत्री आत्मारूप**—निरुक्तकार ने दायभाग का विश्लेषण करते हुए मनु की मान्यता के अनुरूप पुत्र और पुत्री दोनों को दायभाग का अधिकारी माना है । किसी प्राचीन ग्रन्थ के श्लोकों को उद्धृत करके यास्क ने मनु की इस मान्यता को निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया है —

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधि जायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ [निरु० ३।१।४]

अर्थात्—हे पुत्र ! तू मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हुआ है और मेरी आत्मा से प्रकट हुआ है अतः तू पुत्र मेरी आत्मा का ही रूप है । तू सैकड़ों वर्षों तक जीये ॥ धर्मानुसार पुत्र और पुत्री दोनों का समानभाव से दायभाग में अधिकार होता है—यह मान्यता सृष्टि के आदि में स्वायम्भुव मनु ने व्यक्त की है ।

माता का धन पुत्रियों का ही होता है—

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥(५३)

(मातुः तु यत् यौतकं स्यात्) माता का जो [विवाह आदि के अवसर पर निजी धन के रूप में पिता-भाई से प्राप्त] धन होता है (सः कुमारी-भागः एव) वह कन्या का ही भाग होता है (च) तथा (अपुत्रस्य अखिलं धनं दौहित्रः एव हरेत्) पुत्रहीन नाना के सम्पूर्ण धन को धेवता ही प्राप्त कर लेवे ॥ १३१ ॥

पुत्रिका करने पर पुत्र होने की अवस्था में दायव्यवस्था -

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४।(५४)

(पुत्रिकायां कृतायां तु) 'पुत्रिका' कर लेने के बाद (यदि पुत्रः+अनुजायते) यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में उन दोनों को [धेवता और निजपुत्र को] धन का समान भाग मिलेगा (हि) क्योंकि (स्त्रियाः ज्येष्ठता न+अस्ति) स्त्री को ज्येष्ठत्व=बड़े पुत्र की भांति 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होता । अतः धेवते को भी वह 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होगा ॥ १३४ ॥

पुत्र का लक्षण—

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥ (५५)

(यः) जो (सुतः) पुत्र (पितरम्) माता-पिता को (पुम्नाम्नः नरकात्) 'पुम्=वृद्धावस्था आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों से (त्रायते) रक्षा करता है' (तस्मात्) इस कारण से (स्वयंभुवा स्वयमेव 'पुत्रः' इति प्रोक्तः) स्वयंभू ईश्वर ने वेदों में बेटे को 'पुत्र' संज्ञा से अभिहित किया है [द्रष्टव्य

है—'सर्वेषां तु स नामानि..............वेदशब्देभ्य एवादौ...............निर्ममे" १ । २१] ॥ १३८ ॥*

अनुशीलन : पुत्र का अर्थ और उद्देश्य—इस श्लोक में मनु ने पुत्र शब्द की परिभाषा दी है। उस पर यहां विस्तार से विचार किया जाता है। इस परिभाषा से यह सिद्ध हो जाता है कि सांसारिक व्यक्तियों का पुत्रप्राप्ति का उद्देश्य यह होता है कि पुत्र, जीवन में, वृद्धावस्था में कष्ट से रक्षा करें और धन-अन्न-जल आदि से पालन-पोषण करें। इस परिभाषा से इस अध्याय में वर्णित उन सभी मान्यताओं का खण्डन हो जाता है जिनमें पिण्डदान श्राद्ध आदि के लिए पुत्रप्राप्ति मानी है। यहां प्रमाणों के साथ पुत्र शब्द का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

'पूञ् पवने' (क्र्यादि) धातु से **'पुवो ह्रस्वश्च'** (उणादि ४।१६५) सूत्र से क्त प्रत्यय के योग से पुत्र शब्द सिद्ध होता है। इसकी निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं—"**पुरु त्रायते' पिपरणाद्वा, पुम्=नरकं ततस्त्रायत इति वा**" (२।११) अर्थात् सभी प्रकार से सुरक्षा करता है, पालन-पोषण करता है अथवा पुम् नरक=कष्ट को कहते हैं, उस वृद्धावस्था आदि के कष्ट से रक्षा करता है, इसलिए बेटे का 'पुत्र' नाम है। नरक किसे कहते हैं, इसका भी निरुक्तकार ने स्पष्टीकरण किया है कहीं किसी को नरक नामक लोकविशेष की भ्रान्ति न हो जाये—"**नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्, नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा**" (१।१०) अर्थात् नरक कष्टपूर्ण गति, अधःपतन को कहते हैं, इस कष्ट गति में थोड़ा-सा भी सुख-आराम का स्थान नहीं है। इस प्रकार कष्टपूर्ण स्थिति को नरक कहते हैं। पुत्र अपने पिता-माता आदि को उससे बचाता है ४।८८-९० (**प्रक्षिप्तसिद्ध**) **श्लोकों में इक्कीस नरकों की गणना है। वहां 'पुम्' नामक कोई नरक परिगणित नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि 'पुम्' का नरक विशेष अर्थ न होकर 'कष्टपूर्ण' अर्थ ही मनुसम्मत है।** तुलनार्थ गोपथब्राह्मण की परिभाषा भी उल्लेखनीय है—

"**पुत्रः पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रः, तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्**"

नरक कोई पृथक् लोक नहीं होता। इस विषयक विस्तृत अनुशीलन ४।६१ पर द्रष्टव्य है। [महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को यजु० ८।५ के मन्त्रार्थ के पुत्रार्थप्रसंग में उद्धृत किया है।]

दत्तकपुत्र के दायभाग का विधान—

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ (५६)

(यस्य तु दत्त्रिमः पुत्रः) जिसका 'दत्तक'=गोद लिया हुआ पुत्र (सर्वैः गुणैः उपपन्नः) सभी श्रेष्ठ या वर्णोचित पुत्रगुणों से [९ । १३८]

---

* [**प्रचलित अर्थ**—जिस कारण पुत्र 'पुम्' नामक नरक से पितरों की रक्षा करता है। उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे पुत्र कहा है ॥ १३८ ॥]

सम्पन्न हो, (अन्यगोत्रतः सम्प्राप्तः+अपि) चाहे वह दूसरे वंश का ही क्यों न हो (सः तत् रिक्थं हरेत+एव) वह उस गोद लेने वाले पिता के धन को निश्चित रूप से प्राप्त करता है ॥ १४१ ॥

नियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र के दायभाग का विधान—

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥ (५७)

(तत्र नियुक्तायाम्) नियोग के लिए नियुक्त स्त्री में (यथा+औरसः जातः पुत्रः) 'औरस'=वैध पुत्र के समान उत्पन्न हुआ क्षेत्रज पुत्र (हरेत्) पितृधन का भागी होता है; क्योंकि (यत् क्षेत्रिकस्य बीजम्) वह क्षेत्रिक =क्षेत्र स्वामी का ही बीज माना जाता है, यतोहि (सः धर्मतः प्रसवः) वह धर्मानुसार नियोग से [९ । ५९] उत्पन्न होता है ॥ १४५ ॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥ (५८)

(मृतस्य भ्रातुः) मरे हुए भाई के (धनं च स्त्रियम्+एव यः बिभृयात्) धन और स्त्री की जो भाई रक्षा करे (सः+अपत्यम्+उत्पाद्य) वह भाई की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करके (भ्रातुः तत् धनं तस्यैव दद्यात्) भाई का वह प्राप्त सब धन उस पुत्र को ही दे देवे ॥ १४६ ॥

नियोगविधि के बिना उत्पन्न पुत्र दायभाग का अनधिकारी—

याऽनियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् ।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥ (५९)

(या अनियुक्ता) जो स्त्री नियोगविधि [९ । ५९] के बिना (अन्यतः वा देवरात् अपि) अन्य सजातीय पुरुष से या देवर से भी (पुत्रम् अवाप्नुयात्) पुत्र प्राप्त करे (तम्) उस पुत्र को (कामजं वृथोत्पन्नम् अरिक्थीयम्) 'कामज'=कामवासना के वशीभूत होकर [९ । ५८, ६३] उत्पन्न किया गया, 'वृथोत्पन्न'=व्यर्थ में उत्पन्न और पितृधन का अनधिकारी (प्रचक्षते) कहते हैं ॥ १४७ ॥

अनुशीलन : १४७ श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता पर विचार—१४७ वें श्लोक में नियोगविधि को त्यागकर प्राप्त किये गये पुत्र को 'वृथा-उत्पन्न' पुत्र की संज्ञा दी है। यह विधान विवाहित वा विधवा स्त्री के लिए है, अक्षतयोनि के लिए नहीं। अक्षतयोनि स्त्री के लिए इसमें अपवाद है। वह पुनर्विवाह कर सकती है और उससे उत्पन्न होने वाला पुत्र 'वैध' तथा पैत्रिक धन का अधिकारी माना जायेगा। इस भाव के अनुसार इस श्लोक का प्रसंग ९।१७६ से जुड़ता है।

अक्षतयोनि के पुनर्विवाह का विधान—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥ (६०)

(सा चेत्+अक्षतयोनिः स्यात्) वह स्त्री यदि 'अक्षतयोनि=जिसका संभोगसम्बन्ध न हुआ हो, ऐसी हो (वा) चाहे वह (गत-प्रत्यागता+अपि) पति के घर गई-आई हुई भी हो, (सा) वह (पौनर्भवेन भर्त्रा) दूसरे पति के साथ (पुनः संस्कारम्+अर्हति) पुनः विवाह कर सकती है ॥ १७६ ॥

"जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए ।" (स० प्र० ११२)

अनुशीलन : १७६ श्लोक की मौलिकता एवं प्रसंगसम्बद्धता में युक्तियां—(१) १७६ श्लोक मौलिक है और इसका प्रसंग ९।१४७ से जुड़ता है। १४७ में अनियोगज पुत्र को 'वृथोत्पन्न' कहकर उसे दायभाग का अनधिकारी घोषित किया है किन्तु अक्षतयोनि स्त्री के लिए वह नियम नहीं है, यह दर्शाने के लिए १७६ वां श्लोक अपवादरूप में विहित है। अक्षतयोनि स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है और उससे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह 'वैध' एवं दायभाग की अधिकारिणी होगी। यही इस श्लोक का अभिप्राय है। (२) यह श्लोक मौलिक है, प्रक्षिप्त इसलिए नहीं कहला सकता—(क) क्योंकि इसका पूर्वापर प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पूर्वापर प्रसंग से भिन्न अपवादात्मक विधान है जिसका १४७ से सम्बन्ध है (ख) पूर्वापर प्रसंग विविध प्रकार के पुत्रों की परिभाषा का है। १७५ वें में 'पौनर्भव' पुत्र की परिभाषा और १७७ में 'स्वयंदत्त' की है। इस श्लोक में पुत्र-परिभाषा-प्रसंग न होकर अपवादात्मक विधान है (ग) इसका १७५ के 'पौनर्भव' शब्द के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें 'पौनर्भव' पुत्र के लिए कहा गया है और इसमें द्वितीय पति के लिए। इस प्रकार यह मौलिक विधान है।

[मातृधन का विभाग]

मातृधन को भाई-बहन बराबर बांट लें—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥ (६१)

(जनन्यां संस्थितायां तु) माता के मर जाने पर (सर्वे सहोदराः च सनाभयः भगिन्यः) सब सगे भाई और सब सगी बहनें (मातृकं रिक्थं समं भजेरन्) माता के धन को बराबर-बराबर बांट लें ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥ (६२)

(तासां याः दुहितरः स्युः) उन सगी बहनों की जो पुत्रियां हों (तासां+अपि यथार्हतः) उनको भी यथायोग्य (प्रीतिपूर्वकं माता-मह्याः धनात् किंचित् प्रदेयम्) प्रेमपूर्वक नानी के धन में से कुछ देना चाहिए ॥ १९३ ॥

स्त्रीधन छः प्रकार का—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१९४॥(६३)

(स्त्रीधनं षड्विधं स्मृतम्) स्त्रीधन छः प्रकार का माना गया है—१ (अधि+अग्नि) विवाहसंस्कार के समय दिया गया धन, २. (अधि+आवा-हनिकम्) पति के घर लायी जाती हुई कन्या को प्राप्त हुआ पिता के घर का धन, ३. (प्रीति कर्मणि च दत्तम्) प्रसन्नता के किसी अवसर पर पति आदि के द्वारा दिया गया धन, ४. (भ्रातृ-मातृ-पितृ-प्राप्तम्) भाई से प्राप्त धन, ५. माता से प्राप्त धन, ६. पिता से प्राप्त धन ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौजीविति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥(६४)

(यत् अन्वाधेयम्) जो अन्वाधेय अर्थात् विवाह के पश्चात् पिता या पति द्वारा दिया गया है, वह धन (च) और (यत् प्रीतेन पत्या दत्तम्) जो प्रीतिपूर्वक पति के द्वारा दिया गया धन है (वृत्तायाः) स्त्री के मरने पर (पत्यौ जीवति) और पति के जीवित रहते भी (तत्धनं प्रजायाः भवेत्) वह धन सन्तानों का ही होता है ॥ १९५ ॥

ब्राह्मादि विवाहों में स्त्रीधन का अधिकारी पति—

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥ (६५)

(ब्राह्म-दैव-आर्ष-गान्धर्व-प्राजापत्येषु यत् वसु) ब्राह्म, आर्ष, गान्धर्व, प्राजापत्य विवाहों में जो स्त्री को धन प्राप्त हुआ है (अप्रजायाम्+अती-तायाम्) स्त्री के सन्तानहीन मर जाने पर (तत् भर्तुः+एव इष्यते) उस धन पर पति का ही अधिकार माना गया है ॥ १९६ ॥

आसुरादि विवाहों में स्त्रीधन के उत्तराधिकारी—

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥ (६६)

(यत् तु अस्याः) और जो इस (आसुरादिषु विवाहेषु दत्तं धनं स्यात्) 'आसुर' आदि विवाहों में दिया गया धन हो (अप्रजायाम्+अतीतायाम्)

स्त्री के निःसन्तान मर जाने पर (तत् मातापित्रोः इष्यते) वह धन स्त्री के माता-पिता का हो जाता है ॥ १९७ ॥

स्त्रियाँ कुटुम्ब से छिपाकर धन न जोड़ें—

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥(६७)

(स्त्रियः) स्त्रियाँ (कुटुम्बात् बहुमध्यगात्) बहुत सदस्यों के कुटुम्ब से चुपके से धन ले-लेकर (निर्हारं न कुर्युः) अपने लिए धनसंग्रह और व्यय न करें (च) और (स्वकात् वित्तात् अपि हि) अपने धन में से भी (स्वस्य भर्तुः+अनाज्ञया) अपने पति की आज्ञा के बिना व्यय न करें ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥(६८)

(पत्यौ जीवति) पति के जीते हुए (स्त्रीभिः यः अलंकारः धृतः भवेत्) स्त्रियों ने जो आभूषण धारण किये हैं, [पति के मर जाने पर] (दायदाः तं न भजेरन्) माता-पिता के धन के अधिकारी पुत्र आदि [माता के जीवित रहते] उसको न बांटें (भजमानाः ते पतन्ति) यदि वे उन्हें लेते हैं तो 'पतित' कहलाते हैं ॥ २०० ॥

धन के अनधिकारी विकलांग—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ (६९)

(क्लीब-पतितौ) नपुंसक, (जाति+अन्ध-बधिरौ) जन्म से अन्धे और बहरे (उन्मत्त-जड़-मूकाः च) पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे (च) और (ये केचित् निरिन्द्रियाः) जो कोई किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग हैं और असमर्थ हैं (अनंशौ) ये लूले लंगड़े आदि सब धन के हिस्सेदार नहीं होते क्योंकि ये धन की सुरक्षा और उपयोग के अयोग्य होते हैं ॥ २०१ ॥

इन्हें भोजन छादन देते रहें—

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥२०२॥(७०)

किन्तु (मनीषिणा) बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि (सर्वेषाम्+अपि शक्त्या) इन सबको यथाशक्ति (ग्रास+आच्छादनम्) भोजन, वस्त्र आदि (अत्यन्तम्) अनिवार्य रूप से (दातुम्) देना ही (न्याय्यम्) न्यायो-

चित है. (अददत् हि पतितः भवेत्) इस प्रकार न देने वाला 'पतित' माना जायेगा ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥२०३॥ (७१)

(यदि क्लीबादीनां कथंचन दारैः अर्थिता स्यात्) यदि नपुंसक आदि इन पूर्वोक्तों को भी विवाह करने की इच्छा हो तो (तेषाम्+उत्पन्नतन्तूनाम्) इनके उत्पन्न 'क्षेत्रज'=नियोगज पुत्र आदि (अपत्यम्) सन्तान (दायम्+अर्हति) इनके धन की भागी होती है ॥ २०३ ॥

सम्मिलित रहते बड़े भाई के कमाये धन की व्यवस्था—

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥ (७२)

(विद्याधनम् मैत्र्यम् च औद्वाहिकं च माधुपर्किकम्+एव) विद्या के कारण प्राप्त, मित्र से प्राप्त, विवाह में प्राप्त और पूज्यता के कारण आदर सत्कार में प्राप्त (यत् यस्य धनम्) जो जिसका धन है (तत् तस्य+एव भवेत्) वह उसी का ही होता है ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥२०७॥(७३)

(भ्रातॄणां यः तु स्वकर्मणा शक्तः) भाइयों में जो भाई अपने उद्योग से समृद्ध हो और (धनं न ईहेत) पितृधन का भाग न लेना चाहे तो (सः) उसको भी (स्वकात्+अंशात् किंचित् उपजीवनं दत्त्वा) अपने-अपने पितृधन के हिस्सों से कुछ धन देकर (निर्भाज्यः) अलग करना चाहिए, बिल्कुल बिना दिये नहीं ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥ (७४)

(पितृधनम् अनुपघ्नन्) पितृ-धन को बिल्कुल भी उपयोग में न लाता हुआ यदि कोई पुत्र (श्रमेण यत्+उपार्जितम्) केवल अपने परिश्रम से धन उपार्जित करे तो (स्वयम्+ईहित-लब्धं तम्) अपने परिश्रम से संचित उस धन में से (दातुम् अकामः) किसी भाई को कुछ न देना चाहे तो (न अर्हति) न देवे अर्थात् देने के लिए वह बाध्य नहीं है ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥ (७५)

(पिता तु) यदि कोई पिता (अन्+अवाप्तं पैतृकं द्रव्यम्) दायरूप में अप्राप्त पैतृक धन अर्थात् ऐसा धन जो है तो परम्परा से पैतृक, किन्तु किसी कारण से वह उसके पिता के अधिकार में नहीं रहा, इस कारण उसे पैतृक दायभाग के रूप में भी नहीं मिला, उसको (तत्+आप्नुयात्) यदि वह स्वयं अपने परिश्रम या उपाय से प्राप्त करले तो (तत् स्वयम्+अर्जितम् धनम्) उस स्वयं के परिश्रम से प्राप्त किये धन को [जैसे गिरवी रखा हुआ धन] (अकामः) यदि वह न चाहे तो (पुत्रैः सार्धम् न भजेत्) अपने पुत्रों में न बांटे अर्थात् ऐसा धन पिता के द्वारा स्वयं किये हुए धन जैसा है। उसका देना, न देना या विभाजन करना पिता की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा चाहे कर सकता है ।। २०९ ।।

पुनः एकत्र होकर पृथक् होने पर उद्धार भाग नहीं—

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ।।२१०।।(७६)

सब भाई (विभक्ताः) एक बार विभाग का बंटवारा करके (सहजीवन्तः) फिर सम्मिलित होकर (यदि पुनः विभजेरन्) यदि फिर अलग होना चाहें तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थति में सबको समान भाग प्राप्त होगा (तत्र ज्यैष्ठ्यं न विद्यते) तब उसमें ज्येष्ठ भाई का 'उद्धार' भाग [९। ११२-११५] नहीं होता ।। २१० ।।

भाई के मरने पर उसके धन का विभाग—

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ।।२११।।(७७)

(येषां ज्येष्ठः वा कनिष्ठः) जिन भाइयों में से बड़ा या छोटा भाई अंशप्रदानतः हीयेत) अपने भाग से वंचित रह जाये, (म्रियेत वा अन्यतरः अपि) मर जाये अथवा अन्य किसी गृहत्याग आदि कारण से भाग न लेवे तो (तस्य भागः न लुप्यते) उसका भाग नष्ट नहीं होता अर्थात् उसके पुत्र पत्नी आदि को प्राप्त होता है ।। २११ ।।

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ।।२१२।। (७८)

[यदि पुत्र, स्त्री आदि न हों तो] (सहिताः सोदर्याः) सभी सगे भाई (च) और (ये संसृष्टाः भ्रातरः) जो सम्मिलित भाई (च) तथा (सनाभयः भगिन्यः) सब सगी बहनें हैं, वे (समेत्य) एकत्रित होकर (तं समं विभजेरन्) उस धन को समान-समान बांट लेवें ।। २१२ ।।

कर्त्तव्यपालन न करने पर बड़े भाई को उद्धार भाग नहीं—

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातृन् यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३॥ (७९)

(यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातॄन् लोभात् विनिकुर्वीत) छोटे भाइयों को लोभ में आकर ठगे, पूरा भाग न दे तो (सः+अज्येष्ठः) उसे बड़े के रूप में नहीं मानना चाहिए (च) और (अभागः स्यात्) उसे बड़े भाई के नाम का 'उद्धार भाग' [९ । ११२–११५] भी नहीं देना चाहिए (च) और (राजभिः नियन्तव्यः) वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है ॥ २१३ ॥

दायधन से वंचित लोग—

सर्वं एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥ (८०)

(विकर्मस्थाः सर्वे+एव भ्रातरः) [जुआ खेलना, चोरी करना, डाका डालना आदि] बुरे कामों में संलग्न रहने वाले सभी भाई (धनं न+अर्हन्ति) धनभाग को प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होते (च) और (कनिष्ठेभ्यः अदत्त्वा) छोटे भाइयों को बिना दिये=विना बांटे (ज्येष्ठः यौतकं न कुर्वीत) बड़ा भाई अपने लिए पितृधन में से अलग से धन न ले ॥ २१४ ॥

पितृ-धन का विषम विभाजन न करे—

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥ २१५ ॥ (८१)

(अविभक्तानां भ्रातॄणां यदि सह उत्थानं भवेत्) सम्मिलित रूप में रहते हुए सब भाइयों ने यदि साथ मिलकर धन इकट्ठा किया हो तो (पिता) पिता (कथञ्चन पुत्रभागं विषमं न दद्यात्) किसी भी प्रकार पुत्रों के भाग को विषम अर्थात् किसी को अधिक किसी को कम रूप में न बांटे, सभी को बराबर दे ॥ २१५ ॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥ (८२)

(विभागात् ऊर्ध्वं जातः तु) धन का बंटवारा करके [पिता की जीवित अवस्था में ही] पुत्रों के अलग हो जाने पर यदि कोई पुत्र उत्पन्न

हो जाये तो (पित्र्यम्+एव धनं हरेत्) वह पिता के धन को ले (वा) अथवा (ये तेन संसृष्टाः स्युः) जो कोई पुत्र पिता के साथ सम्मिलित रूप में रह रहे हों तो (सः तैः सह विभजेत) वह उन सबके समान भाग प्राप्त करे ॥ २१६ ॥

इकलौते सन्तानहीन पुत्र के धन का उत्तराधिकार—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ (८३)

(अनपत्यस्य पुत्रस्य दायम्) सन्तानहीन और पत्नीहीन पुत्र के धन को (माता+अवाप्नुयात्) माता प्राप्त करे (च) और (मातरि+अपि वृत्तायाम्) माता मर गई हो तो (पितुः माता धनं हरेत्) पिता की माता अर्थात् दादी उसके धन को ले ले ॥ २१७ ॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥(८४)

(सर्वस्मिन् ऋणे च धने) पिता के सारे ऋण और धन का (यथा-विधि प्रविभक्ते) विधिपूर्वक बंटवारा हो जाने पर (यत् किंचित् पश्चात् दृश्येत) यदि बाद में कुछ ऋण और धन के शेष रहने का पता लगे तो (तत् सर्वं समतां नयेत्) उस सबको भी समान रूप में बांट लें ॥ २१८ ॥

[१८] द्यूत-सम्बन्धी विवाद का निर्णय [८५ — ९९]

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥ (८५)

(अयम्) यह [९ । १०३ - २१९] (वः) तुमको (विभागः) दायभाग का विधान (च) और (क्षेत्रज+आदीनां पुत्राणां क्रियाविधिः) 'क्षेत्रज' आदि पुत्रों को [९ । १४५ - १४७] धन का भाग देने की विधि (क्रमशः उक्तः) क्रमशः कही ।

अब (द्यूतधर्मं निबोधत) जूआ-सम्बन्धी विधान सुनो—॥ २२० ॥

राष्ट्रघातक जूआ आदि का पूर्ण निवारण—

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ (८६)

(राजा) राजा (द्यूतम्) जड़ वस्तुओं से बाजी लगाकर खेले जाने

वाले 'जूआ' को (च) और (समाह्वयम्+एव) चेतन प्राणियों को दाव पर लगाकर खेले जाने वाले 'समाह्वय' नामक 'जूआ' को [२२३] (राष्ट्रात् निवारयेत्) अपने देश से समाप्त कर दे, क्योंकि (एतौ द्वौ दोषौ) ये दोनों बुराइयां (पृथिवीक्षितां राजान्तकरणौ) राजाओं के राज्य को नष्ट कर देने वाली हैं ॥ २२१ ॥

अनुशीलन : (१) **द्यूत से हानि**—इस श्लोक के भाव को समझने के लिए परवर्ती उदाहरण महाभारत के समय का दिया जा सकता है। द्यूत और समाह्वय के व्यसन के कारण पाण्डवों को अपनी इज्जत और राज्य सब कुछ लुटाना पड़ा था। परिणाम-स्वरूप कौरवों-पाण्डवों में भयंकर महाभारत-युद्ध हुआ, जिसमें कौरवों का विनाश हुआ और पाण्डवों को विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

(२) **वेदों में जूए का निषेध**—वेदों में जूए की तीव्र शब्दों में निन्दा की है और निषेध किया है। ऋक् १०। ३४ सूक्त में जुआरी की दुर्दशा का दयनीय वर्णन है। इस सूक्त के १३ वें मन्त्र में आदेश है—

अक्षैर्मा दीव्यः=जूआ मत खेलो।

जूआ एक तस्करी है—

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥ (८७)

(यत् देवन-समाह्वयौ) ये जो 'जूआ' और 'समाह्वय' हैं (एतत् प्रकाशं तास्कर्यम्) ये प्रत्यक्ष में होने वाली तस्करी=चोरी हैं (नृपतिः) राजा (तयोः प्रतीघाते) इनको समाप्त करने के लिये (नित्यं यत्नवान् भवेत्) सदा प्रयत्नशील रहे ॥ २२२ ॥

द्यूत और समाह्वय में भेद—

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥ (८८)

(अप्राणिभिः यत् क्रियते) बिना प्राणियों अर्थात् जड़ [ताश, पासा, कौड़ी, गोटी आदि] वस्तुओं के द्वारा बाजी लगाकर जो खेल खेला जाता है (लोके तत् 'द्यूतम्' उच्यते) लोक में उसे 'द्यूत'=जूआ कहा जाता है और (यः तु) जो (प्राणिभिः क्रियते) चेतन प्राणियों [मनुष्य, मुर्गा, तीतर, बटेर, घोड़ा आदि] के द्वारा बाजी लगाकर खेला जाता है (सः 'समाह्वयः' विज्ञेयः) उसे 'समाह्वय' कहा जाता है ॥ २२३ ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ।। २२४ ।। (८६)

(यः) जो मनुष्य (द्यूतं च समाह्वयम्+एव) 'जूआ' और 'समाह्वय' (कुर्यात् वा कारयेत) स्वयं खेले या दूसरों से खिलायें (राजा) राजा (तान् सर्वान्) उन सबको (च) और (द्विजलिङ्गिनः शूद्रान्) कपटपूर्वक द्विजों के वेश धारण करने वाले शूद्रों को (घातयेत्) शारीरिक दण्ड [ताड़ना, अंगच्छेदन] आदि दे ।। २२४ ।।

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान् पाखण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ।।२२५।।(६०)

और (कितवान्) जुआरियों, (कुशीलवान्) असभ्य नाच-गानों से जीविका करने वाले, (क्रूरान्) क्रूर=अत्याचारी आचरण वाले, (पाखण्डस्थान्) ढोंग आदि रचकर रहने वाले, (विकर्मस्थान्) शास्त्रविरुद्ध बुरे कर्म करने वाले, (शौण्डिकान्) शराब बनाने-बेचने वाले (मानवान्) इन मनुष्यों को (पुरात् क्षिप्रं निर्वासयेत्) राजा अपने राज्य से जल्दी से जल्दी बाहर निकाल दे ।। २२५ ।।

अनुशीलन : **'कुशीलव' का अर्थ**—'कुशीलव' का विग्रह है **'कुत्सितं शीलम् 'कुशीलम्' कुशीलम् अस्य अस्ति सः कुशीलवः''** [मत्वर्थीय 'व' प्रत्यय] अर्थात् जिनका निन्दनीय स्वभाव और चेष्टाएं हैं, असभ्य या भौंडे ढंग के नाच गानों से जीविका करने वाले या राज्य में इस बहाने से कोई अहितकर बात फैलाने वाले व्यक्तियों को 'कुशीलव' कहा जाता है ।

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ।। २२६ ।। (६१)

(एते प्रच्छन्न तस्कराः) ये [६।२२५] छुपे हुए तस्कर=चोर (राष्ट्रे वर्तमानाः) राज्य में रहकर (विकर्मक्रियया) गलत और बुरे कामों को कर-करके (नित्यम्) सदा (राज्ञः) राजाओं और (भद्रिकाः प्रजाः) सज्जन प्रजाओं को (बाधन्ते) हानि और दुःख पहुंचाते रहते हैं ।। २२६ ।।

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ।। २२७ ।। (६२)

(एतत् द्यूतम्) यह 'जूआ' (पुराकल्पे महत् वैरकरं दृष्टम्) अब से पहले समय में भी महान् कष्ट एवं शत्रुता पैदा करने वाला देखा गया है (तस्मात्) इसलिए (बुद्धिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (हास्यार्थम्+अपि द्यूतं न

सेवेत) हंसी-मजाक में भी 'जूआ' न खेले ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥ (६३)

(प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा) छुपकर वा सबके सामने (यः नरः तत् निषेवेत) जो मनुष्य 'जूआ' खेले (तस्य दण्डविकल्पः) उसका दण्ड-विधान निश्चित नहीं है (नृपतेः यथेष्टं स्यात्) राजा की इच्छानुसार उसका दण्ड होता है अर्थात् जूआ असह्य दुष्कर्म है [२ १, २२४] उससे होने वाली हानि को देखकर राजा जो भी चाहे अधिक दण्ड दे दे ॥ २२८ ॥

मुकद्दमों के अन्त में उपसंहार

रिश्वत लेकर अन्याय करने वालों को दण्ड—

ये नियुक्तास्तु कार्येण हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥ (६४)

(कार्येषु नियुक्ताः तु ये) मुकद्दमों के कार्यों में राजा द्वारा लगाये गये जो अधिकारी-कर्मचारी (धन+उष्मणा पच्यमानाः) धन की गर्मी अर्थात् रिश्वत आदि के लालच में आसक्त होकर (कार्यिणां कार्याणि हन्युः) वादी-प्रतिवादियों के मुकद्दमों को बिगाड़ें (नृपः) राजा (तान् निःस्वान् कारयेत्) उनकी सारी संपत्ति छीन ले ॥ २३१ ॥

अनुशीलन : **मुहावरे का प्रयोग और उसका अर्थ—'धनोष्मणा पच्यमानाः'** यह एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'धन के लालच में पड़ने वाले लोग' या 'रिश्वत हड़पने वाले'। ऐसे रिश्वतखोर व्यक्तियों की राजा सम्पत्ति छीन ले।

निर्णयों में कपट करने वालों को दण्ड—

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥ (६५)

(च) और (कूटशासनकर्तॄन्) राजा के निर्णयों को कपटपूर्वक लिखने वाले, (प्रकृतीनां दूषकान्) प्रकृति=प्रजा, मन्त्री, सेनापति आदि को [६ । २६४] रिश्वत आदि बुरे कार्यों में फंसाकर बिगाड़ने वाले, (स्त्री-बाल-ब्राह्मणघ्नान् च) स्त्रियों, बच्चों और विद्वानों की हत्या करने वाले, (तथा) तथा (द्विट्-सेविनः) शत्रु से मिलकर उसका भला करने वाले, इनको (हन्यात्) वध से दण्डित करे अर्थात् इनको कठोर से कठोर और कष्टप्रद दण्ड देना चाहिए ॥ २३२ ॥

ठीक निर्णय को किसी दबाव या लालच में आकर न बदले—

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ।। २३३ ।। (९६)

(यत्र क्वचन) जहां किसी मुकद्दमे में (तीरितम्) ठीक निर्णय किया जा चुका हो (च) और (अनुशिष्टं भवेत्) किसी दण्ड का आदेश भी दिया जा चुका हो (धर्मतः तत् कृतं विद्यात्) धर्मपूर्वक किये उस निर्णय को पूरा हुआ जानना चाहिए (तत् भूयः न निवर्तयेत्) उस मुकद्दमे का पुनः निर्णय न करे [यह लोभ या ममत्व आदि के कारण अथवा अकारण निर्णय न बदलने का कथन है, कारण विशेष होने पर तो पुनः निर्णय का कथन किया गया है (८।११७; ९।२३४)] ।। २३३ ।।

अमात्यों और न्यायाधीशों को अन्याय करने पर दण्ड—

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ।। २३४ ।। (९७)

(अमात्याः वा प्राड्विवाकः) मन्त्री अथवा न्यायाधीश (यत् कार्यम्+अन्यथा कुर्युः) जिस मुकद्दमे के निर्णय को गलत या अन्यायपूर्वक कर दें तो (तत्) उस मुकद्दमे के निर्णय को (नृपतिः) राजा (स्वयं कुर्यात्) स्वयं करे (च) और (तान्) अन्यायपूर्वक निर्णय करने वाले उन अधिकारियों को (सहस्रं दण्डयेत्) एक हजार पण [८।१३६] दण्ड से दण्डित करे ।। २३४ ।।

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ।। २४९ ।। (९८)

(अवध्यस्य वधे) अदण्डनीय को दण्ड देने पर (नृपतेः) राजा को (यावान्+अधर्मः दृष्टः) जितना अधर्म होना शास्त्र में माना गया है (तावान् वध्यस्य मोक्षणे) उतना ही दण्डनीय को छोड़ने में अधर्म होता है (विनियच्छतः तु धर्मः) न्यायानुसार दण्ड देना ही धर्म है ।। २४९ ।।

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ।। २५० ।। (९९)

(अयम्) यह [८।१ से ९।२४९ तक] (मिथः विवदमानयोः) परस्पर विवाद=झगड़ा करने वाले वादी-प्रतिवादियों के (अष्टादशसु मार्गेषु) अठारह प्रकार के (व्यवहारस्य निर्णयः) मुकद्दमों का निर्णय (विस्तरशः उदितः) विस्तारपूर्वक कहा ।। २५० ।।

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥ (१००)

(एवम्) इस पूर्वोक्त कही विधि के अनुसार (धर्म्याणि कार्याणि कुर्वन्) धर्मयुक्त कार्यों को करता हुआ (महीपतिः) राजा (अलब्धान् देशान् लिप्सेत) अप्राप्त देशों को प्राप्त करने की इच्छा करे (च) और (लब्धान् परिपालयेत्) प्राप्त किये देशों का भलीभांति पालन करे ॥२५१॥

राजा द्वारा लोककण्टकों का निवारण—(६ । १०१ से १५७ तक)

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥ (१०१)

राजा (सम्यक् निविष्टदेशः) अच्छे सस्यादिसम्पन्न देश का आश्रय करके (च) और वहां (शास्त्रतः कृतदुर्गः) शास्त्रानुसार विधि [७ । ६९] से किला बनाकर (कण्टकोद्धरणे) अपने राज्य से कंटकों=प्रजा या शासन को पीड़ित करने वाले लोगों' को [२५६–२६०] दूर करने में (नित्यम् उत्तमं यत्नम्+आतिष्ठेत्) सदा अधिकाधिक यत्न करे ॥ २५२ ॥

अनुशीलन : **लोककण्टक से अभिप्राय**—समाज की व्यवस्था, सुख, शान्ति में अपराध और नियमविरुद्ध कार्य करके पीड़ा=बाधा पहुंचाने वाले लोग 'लोककण्टक' कहलाते हैं। लोककण्टक शब्द का अर्थ भी यही है—'लोगों को कांटे की तरह चुभकर पीड़ा देने वाले'। इनकी गणना ९।२५६–२६० में की है।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥ (१०२)

(आर्यवृत्तानां रक्षणात्) श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियों की रक्षा करने से (च) और (कण्टकानां शोधनात्) कण्टकों=कष्टदायक दुष्ट व्यक्तियों को दूर करने से (प्रजापालनतत्पराः नरेन्द्राः) प्रजाओं के पालन करने में तत्पर रहने वाले राजा (त्रिदिवं यान्ति) विस्तृत राज्य के उत्तम सुख को भोगते हैं ॥ २५३ ॥

अनुशीलन : 'त्रिदिवं यान्ति' मुहावरा—'त्रिदिवं यान्ति' यह भी एक मुहावरा है जिसका अर्थ है 'त्रिदिवं प्राप्नुवन्ति'=तीनों लोकों के राज्य को प्राप्त करते हैं अर्थात् उनका राज्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। यह मुहावरा आजकल भी हिन्दी में इसी अर्थ में प्रचलित है।

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥ (१०३)

(यः तु पार्थिवः) जो राजा (तस्करान् अशासन्) चोर [९।२५७]

आदि को नियन्त्रित-दण्डित न करता हुआ (बलिं गृह्णाति) प्रजाओं से कर आदि ग्रहण करता है (तस्य राष्ट्रं प्रक्षुभ्यते) उसके राष्ट्र में निवास करने वाली प्रजाएं क्षुब्ध होकर विद्रोह कर देती हैं (च) और वह (स्वर्गात् परिहीयते) राज्यसुख से क्षीण हो जाता है ।। २५४ ।।

अनुशीलन : तस्कर का अर्थ और व्युत्पत्ति—'तस्कर' विशेष रूप से उस चोर को कहतें हैं जो प्रकट और गुप्त प्रत्येक प्रकार की चोरी प्रत्यक्ष ठगी, जालसाजी अथवा लूट के रूप में करता है। जो धन को लूटने के लिए हर गलत उपाय को प्रयोग में लाने में विश्वास रखता है। निघंटु ३।२४ में कहा है—"तस्कर: स्तेननाम"= चोर का नाम तस्कर है, कैसा चोर होता है वह? **"तस्करः तत्करो भवति। करोति यत् पापकमिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात् सन्तकर्मा भवति अहोरात्रकर्मा वा"** [निरु० ३। १४] अर्थात् जो पापकर्मों में लगा रहता है वह तस्कर कहलाता है। चोरी के कार्य का विस्तार करता है अथवा दिन में भी रात में भी समय और परिस्थिति के अनुरूप हर समय किसी न किसी चोरी करने के काम में लगा रहता है।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ।।२५५।। (१०४)

(यस्य बाहुबलाश्रितम्) जिस राजा के बाहुबल=दण्डशक्ति के सहारे (राष्ट्रं निर्भयं तु भवेत्) राष्ट्र अर्थात् प्रजाएं [चोर आदि से] निर्भय रहती हैं (तस्य तत्) उसका वह राज्य (सिच्यमानः द्रुमः इव) सींचे गये वृक्ष की भाँति (नित्यं वर्धते) सदा बढ़ता रहता है ।। २५५ ।।

दो प्रकार के तस्कर—

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ।।२५६।। (१०५)

(चारचक्षुः महीपतिः) गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके अर्थात् गुप्तचरों के द्वारा सब प्रजा का काम देखने वाला राजा (प्रकाशान् च+अप्रकाशान् परद्रव्य+अपहारकान्) प्रकट और गुप्त रूप से दूसरों के द्रव्यों को चुराने वाले (द्विविधान् तस्करान् विद्यात्) दोनों प्रकार के चोरों की जानकारी रखे ।। २५६ ।।

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ।।२५७।। (१०६)

(तेषाम्) उन दोनों प्रकार के चोरों में (नानापण्य-उपजीविनः

प्रकाशवञ्चकाः) नाना प्रकार के व्यापारी जो देखते-देखते माप, तोल या मूल्य में हेराफेरी करके ठगते हैं वे 'प्रकट-चोर' हैं (ये) और जो (स्तेन-आटविकादयः) जंगल आदि में छिपे रहकर चोरी करने वाले हैं (ते) वे (प्रच्छन्नवञ्चकाः) 'गुप्तचोर' हैं ॥ २५७ ॥

लोककण्टकों की गणना—

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥ (१०७)
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥ (१०८)
एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥ (१०९)

(उत्कोचकाः) रिश्वतखोर, (औपधिकाः) भय दिखाकर धन लेने वाले (वञ्चकाः) ठग, (कितवाः) 'जूआ' से धन लेने वाले, (मंगलादेश-वृत्ताः) 'तुम्हें पुत्र या धन प्राप्ति होगी' इत्यादि मांगलिक बातों को कहकर धन लूटने वाले, (भद्राः) साधु-संन्यासी आदि भद्ररूप धारण करके धन ठगने वाले, (ईक्षणिकैः सह) हाथ आदि देखकर भविष्य बताकर धन ठगने वाले, (असम्यक् कारिणः महामात्राः) धन, वस्तु आदि लेकर गलत तरीकों से काम करने वाले उच्च राजकर्मचारी [मन्त्री आदि], (चिकित्सकाः) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले या अयोग्य चिकित्सक (शिल्पोपचारयुक्ताः) अनुचित मात्रा में धन लेनें वाले शिल्पी [चित्रकार आदि], (निपुणाः पण्ययोषितः) धन ठगने में चतुर वेश्याएं (एवम्+आदीन्) इत्यादियों को (च) और (अन्यान्) दूसरे जो (आर्यलिङ्गिनः निगूढचारिणः अनार्यान्) श्रेष्ठों का वेश या चिह्न धारण करके गुप्तरूप से विचरण करने वाले दुष्ट या बुरे व्यक्ति हैं, उनको (प्रकाशान् लोककण्टकान् विजानीयात्) प्रकट लोककण्टक=प्रजाओं को पीड़ित करने वाले चोर समझे ॥ २५८–२६० ॥

अनुशीलन : औपधिक का अर्थ—'औपधिक' का अर्थ 'किसी प्रयोजन से कोई जालसाजी रचकर भय दिखाकर धन लूटने वाला व्यक्ति' होता है। आजकल की भाषा में इन्हें ब्लैकमेल (भयादोहन) करने वाले कहते हैं।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥ (११०)

(तत् कर्मकारिभिः) जिस विषय में जानकारी प्राप्त करनी है वैसा

ही कर्म करने में चतुर, (गूढैः) गुप्त रहने वाले (सुचरितैः) अच्छे आचरण वाले (अनेक संस्थानैः) अनेक स्थानों में नियुक्त (चारैः) गुप्तचरों के द्वारा (तान् विदित्वा) उन ठगों या लोककण्टकों को मालूम करके (च) और फिर (प्रोत्साद्य) उन्हें पकड़कर (वशम्+आनयेत्) अपने वश में करे, कारागृह में रखे अर्थात् उन पर ऐसा नियन्त्रण रखे कि वे ये काम न कर पायें ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥ (१११)

(राजा) राजा (स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः तेषां दोषान्+अभिख्याप्य) जो-जो उन्होंने बुरा काम किया है भलीभांति उनके दोषों की घोषणा करके (सार+अपराधतः) उनके बल और अपराध के अनुसार (सम्यक् शासनं कुर्वीत) न्यायोचित दण्ड से दण्डित करे ॥ २६२ ॥

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥ (११२)

(स्तेनानाम्) प्रकट चोरों, (क्षितौ निभृतं चरताम्) पृथ्वी पर गुप्त-रूप से विचरण करने वाले चोरों या अन्य अपराधियों तथा (पापबुद्धीनाम्) पाप कर्म में बुद्धि रखने वालों के (पापविनिग्रहः) पापों पर रोक (दण्डात् +ऋते नहि कर्तुं शक्यः) दण्ड के बिना नहीं हो सकती, अतः दण्ड देने में कभी प्रमाद या शिथिलता न करे ॥ २६३ ॥

गुप्तचरों द्वारा किन स्थानों से अपराधियों का पता लगाये—

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥ (११३)
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥ (११४)
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥ (११५)

(सभा-प्रपा+अपूपशाला) सभाओं के आयोजन स्थल, प्याऊ, माल-पूआ आदि बेचने का स्थान [भोजनालय, हलवाइयों की दुकान आदि], वेश-मद्य-अन्न-विक्रयाः) बहुरूपी वेशभूषा, मद्य तथा अनाज बेचने का स्थान [मण्डी आदि], (चतुष्पथाः) चौराहे, (चैत्यवृक्षाः) प्रसिद्धवृक्ष जहां लोग इकट्ठे होकर बैठते हैं, (समाजाः) सार्वजनिक स्थान, (प्रेक्षणानि) मनोरंजन के स्थान, (जीर्ण+उद्यान+अरण्यानि) पुराने बगीचे और जंगल, (कारुक

+आवेशनानि) शिल्पगृह=सग्रहालय आदि (शून्यानि अगाराणि) सूने पड़े हुए घर, (वनानि च उपवनानि) वन और उपवन, (राजा) राजा (एवं-विधान् देशान्) ऐसे स्थानों में (तस्करप्रतिषेधार्थम्) चोरों के निवारण के लिए (स्थावर-जङ्गमैः गुल्मैः) एक स्थान पर (पुलिस चौकी बनाकर) रहने वाले और गश्त लगाने वाले सिपाहियों के दलों को (च) और (चारैः) गुप्तचरों को (अनुचारयेत्) विचरण कराये या नियुक्त करे ॥ २६४-२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ (११६)

(तत् सहायैः+अनुगतैः) उन चोर आदि के सहायकों और अनुगामियों से (नानाकर्मप्रवेदिभिः निपुणैः पूर्वतस्करैः) अनेक प्रकार के कर्मों को जानने वाले चतुर भूतपूर्व चोरों से भी (विद्यात्) चोरों का पता लगावे (च) और पता लगने पर उन्हें (उत्सादयेत्) दण्डित करे ॥ २६७ ॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥ (११७)

वे सहयोगी या गुप्तचर लोग (भक्ष्य-भोज्य-अपदेशैः) खाने के पदार्थों का लालच देकर (च) और (ब्राह्मणानां दर्शनैः) ब्रह्मवेत्ता विद्वानों के दर्शनों के बहाने (च) तथा (शौर्यकर्म-अपदेशैः) कोई शौर्यकर्म दिखाने के बहाने से (तेषां समागमं कुर्युः) उन चोर आदि को सिपाहियों से मिला दें, गिरफ्तार करादें ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥ (११८)

(ये) जो चोर और उनके सहयोगी (तत्र न+उपसर्पेयुः) उपर्युक्त स्थानों [२६८] पर न आवें (च) और (ये) जो चोर (मूलप्रणिहिताः) पकड़े जाने की शंका से सावधान होकर बचते रहें अर्थात् पकड़ में न आवें तो (नृपः) राजा (समित्र-ज्ञाति-बान्धवान् तान्) मित्र, रिश्तेदार और बान्धवों सहित उन चोरों को (प्रसह्य) बलपूर्वक पकड़कर (हन्यात्) दण्डित करे ॥ २६९ ॥

प्रमाण मिलने पर ही दण्ड दे—

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥ (११९)

(धार्मिकः नृपः) धार्मिक राजा (होढेन विना) चोरी का माल आदि प्रमाणों के बिना (चौरं न घातयेत्) चोर को न मारे, किन्तु (सहोढं स+उपकरणम्) चोरी का माल, और सेंध मारने आदि के औजार आदि प्रमाण उपलब्ध होने पर (अविचारयन् घातयेत्) अवश्य दण्डित करे ॥ २७० ॥

चोरों के सहयोगियों को भी दण्ड दे—

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥ (१२०)

(च) और (ग्रामेषु+अपि ये केचित्) गांवों में भी जो कोई (चौराणां भक्तदायकाः भाण्ड-अवकाशदाः) चोरों को भोजन देने वाले, बर्तन और स्थान-शरण देने वाले हों (तान् सर्वान् अपि घातयेत्) राजा उन सबको भी दण्डित करे ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥ (१२१)

राजा (राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्) राज्य में रक्षा के लिए नियुक्त (च) और (सामन्तान् चोदितान्) सीमाओं पर नियुक्त राजपुरुषों को (अभ्याघातेषु मध्यस्थान्) यदि चोरी आदि के मामले में मिला हुआ पायें तो उनको भी (चौरान्+इव द्रुतं शिष्यात्) चोर के समान ही शीघ्रतापूर्वक दण्ड दे, शीघ्रतापूर्वक इसलिए जिससे प्रजाओं के मन में राजपुरुष होने के कारण छूट जाने का संदेह न पनपे ॥ २७२ ॥

सामूहिक हानि होने पर सहयोग न करने वाले को दण्ड—

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥ (१२२)

(ग्रामघाते) चोर आदि के द्वारा गांव को लूटने के मौके पर (हिताभङ्गे) नदियों के तोड़ने पर (पथि मोष-अभिदर्शने) रास्ते में चोर आदि से मुकाबला होने पर (शक्तितः न+अभिधावन्तः) यथाशक्ति दौड़कर रक्षा न करने वालों को (सपरिच्छदाः निर्वास्याः) गृहसामग्री सहित उस देश से निकाल देवे ॥ २७४ ॥

अनुशीलन : हिता का अर्थ और व्युत्पत्ति—'हिता' का अर्थ नदी है। 'हि-गतौ वृद्धौ च' धातु से क्त प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् से 'हिता' शब्द की सिद्धि होती है। 'हिन्वन्ति गच्छन्ति याः ताः नद्यः' इस विग्रह से बहने वाली-गति करने वाली

हिता अर्थात् नदी होती है। नदियां सामूहिक उपकार करने के लिए होती हैं। इसलिए उनको तोड़ने वालों का सामूहिक रूप से ही विरोध करना चाहिए।

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान्॥ २७५॥ (१२३)

(राज्ञः कोषहर्तॄन्) राजा के खजाने को चुराने वाले (च) और (प्रतिकूलेषु स्थितान्) राज्य के विरोधी कार्यों में संलग्न (च) तथा (अरीणाम् उपजापकान्) शत्रुओं को भेद देने वाले, इन्हें राजा और (विविधैः दण्डैः घातयेत्) विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करे॥ २७५॥

विभिन्न अपराधियों को दण्ड—

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्॥ २७६॥ (१२४)

(ये तस्कराः) जो चोर (रात्रौ सन्धिं छित्त्वा) रात को सेंध मारकर (चौर्यं कुर्वन्ति) चोरी करते हैं (नृपः) राजा (तेषां हस्तौ छित्त्वा) उनके हाथ काटकर (तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्) तेज शूली पर चढ़ादे॥ २७६॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥ २७७॥ (१२५)

राजा (ग्रन्थिभेदस्य) जेबकतरे चोर की (प्रथम ग्रहे) पहली बार पकड़े जाने पर (अङ्गुलीः छेदयेत्) अंगुलियां कटवादे (द्वितीये हस्तचरणौ) दूसरी बार पकड़े जाने पर हाथ-पैर कटवादे (तृतीये वधम्+अर्हति) तीसरी बार पकड़े जाने पर वध करने योग्य है॥ २७७॥

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः॥ २७८॥ (१२६)

(ईश्वरः) राजा (मोषस्य अग्निदान् भक्तदान् शस्त्र-अवकाशदान् च संनिधातॄन्) चोरों को अग्नि, भोजन, शस्त्र, स्थान देने वाले और चोरी के माल को रखने वाले लोगों को भी (चौरम्+इव हन्यात्) चोर की तरह ही [९। २७७ जैसे] दण्डित करे॥ २७८॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम्॥ २७९॥ (१२७)

राजा (तडागभेदकं हन्यात्) प्रजा के लिए बने तालाब आदि को तोड़ने वालों का वध करे (वा) अथवा (अप्सु शुद्धवधेन) जल में डुबोकर या साधारण तरीके से मारे (यद् वा+अपि) यदि (प्रतिसंस्कुर्यात्) तोड़े हुए

को पुनः ठीक करवा दे तो (उत्तमसाहसं दाप्यः) 'उत्तमसाहस' का दण्ड [८ । १३८] करे ॥ २७९ ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाऽप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ (१२८)

(यः तु) जो व्यक्ति (पूर्वनिविष्टस्य तडागस्य) किसी के द्वारा पहले बनाये गये तालाब का (उदकं हरेत्) पानी चुराले (वा) अथवा (अपाम्+आगमं भिद्यात्) जल आने का रास्ता तोड़दे (सः पूर्वसाहसं दाप्यः) उसे 'पूर्वसाहस' [८ । १३८] का दण्ड दे ॥ २८१ ॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥ (१२९)

(यः तु) जो व्यक्ति (अनापदि) आपत्काल के बिना अर्थात् स्वस्थ अवस्था में (राजमार्गे) सड़क पर मुख्य रास्ते या गली पर (अमेध्यं समुत्सृजेत्) मल, मूत्र आदि डाले तो (सः द्वौ कार्षापणौ दद्यात्) उस पर दो 'कार्षापण' [८ । १३६] दण्ड करे (च) और (आशु अमेध्यं शोधयेत्) तुरन्त उस गन्दगी को साफ करवाये ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥ (१३०)

(आपद्गतः) कोई रोगी या आपत्तिग्रस्त व्यक्ति (वृद्धा गर्भिणी वा बालः) वृद्ध, गर्भवती या बालक राजमार्ग को गन्दा करें तो (परिभाषणम्+अर्हन्ति) उनको उसके न करने के लिए कहें या फटकार दे (च) और (तत् शोध्यम्) उसकी सफाई कराले (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥ (१३१)

(सर्वेषां चिकित्सकानाम्) सभी चिकित्सकों में (अमानुषेषु मिथ्या प्रचरताम्) पशुओं की गलत चिकित्सा करने वालों को (प्रथमः दमः) 'प्रथम-साहस' [८ । १३८] का दण्ड करे और (मानुषेषु मध्यमः) मनुष्यों की गलत चिकित्सा करने पर 'मध्यम साहस' का दण्ड करे ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः ।

प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ (१३२)

(संक्रम-ध्वज-यष्टीनाम्) संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है (च) और (प्रतिमानां भेदकः) प्रतिमा=छटांक आदिक बटखरे, जो इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून करदेवे (तत् सर्वं प्रतिकुर्यात्) उनको उससे राजा बनवा लेवे (च) और (पञ्चशतानि दद्यात्) जिसका जैसा ऐश्वर्य है, उसके योग्य दण्ड करे—जो दरिद्र होवे तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे; और जो कुछ धनाढ्य होवे तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे; और जो बहुत धनाढ्य होवे उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे ॥ २८५ ॥ (द० शा० ५१, प० वि० १२)

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥ (१३३)

(अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे) अच्छी वस्तुओं में खराब वस्तुओं की मिलावट करके उन्हें दूषित करने पर (तथा) तथा (भेदने) अच्छी वस्तुओं को बिगाड़ने पर (च) और (मणीनाम्+अपवेधे) मणि आदि रत्नों को तोड़ने-फोड़ने के अपराध में (प्रथमसाहसः दण्डः) 'प्रथमसाहस' [८। १३८] का दण्ड दे ॥ २८६ ॥

समैर्हि च विषमं यस्तु चरेद्वा मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ (१३४)

(यः तु) जो (नरः) मनुष्य (समैः) समानमूल्य वाली वस्तुओं के बदले (अपि वा मूल्यतः) अथवा सही मूल्य से (विषमं चरेत्) कम वस्तु देने का व्यवहार करे, (पूर्वं वा मध्यमम्+एव दमं समाप्नुयात्) 'पूर्वसाहस' या 'मध्यमसाहस' [८। १३८] दण्ड का भागी होता है ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥ (१३५)

(राजा) राजा (सर्वाणि बन्धनानि) कारागार आदि (बन्धनगृह) (मार्गे निवेशयेत्) प्रधान मार्गों पर बनवावे (यत्र) जहां (दुःखिता विकृताः पापकारिणः दृश्येरन्) हथकड़ी, बेड़ी आदि से दुःखी हुए, बिगड़ी हुई हालत वाले अपराधी लोग दिखाई देते रहें [जिससे कि जनता के मन में अपराधों के प्रति भय की प्रेरणा उत्पन्न होती रहे] ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।

द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥ (१३६)

राजा (प्राकारस्य भेत्तारम्) नगर के परकोटे को तोड़ने वाले (च) और (परिखाणां पूरकम्) नगर के चारों ओर की खाई को भरने वाले (च) तथा (द्वाराणां भक्तारम्) नगर-द्वारों को तोड़ने वाले व्यक्ति को (क्षिप्रम्+एव प्रवासयेत्) तुरन्त देशनिकाला दे दे ॥ २८९ ॥

सात राजप्रकृतियाँ—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥ (१३७)

(स्वामी-अमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्) १-स्वामी, २-मन्त्री, ३-किला, ४-राष्ट्र, ५-कोश, ६-दण्ड और ७-मित्र (एताः सप्त प्रकृतयः) ये सात राजप्रकृतियां हैं (सप्ताङ्गं राज्यम्+उच्यते) इनसे युक्त होने से राज्य 'सप्ताङ्ग'=सात अङ्गों वाला कहलाता है ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥ (१३८)

(राज्यस्य+आसां सप्तानां प्रकृतीनां तु) राज्य की इन सात प्रकृतियों में (यथाक्रमं पूर्वं पूर्वं व्यसनं महत् गुरुतरं जानीयात्) क्रमशः पहली-पहली प्रकृति-सम्बन्धी आपत्ति को बड़ी समझे [जैसे—राजा से कम मन्त्री पर आपत्ति, मन्त्री से कम किले पर आपत्ति आदि] ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥ (१३९)

(इह) इसमें (त्रिदण्डवत्) तीन पायों पर स्थित तिपाई के समान (सप्ताङ्गस्य विष्टब्धस्य राज्यस्य) सात प्रकृतिरूपी अंगों पर स्थित इस राज्य में (अन्योन्यगुणवैशेष्यात्) सभी अंगों के अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त और परस्पर आश्रित होने के कारण (किंचित् न अतिरिच्यते) कोई अंग किसी से विशिष्ट या कम नहीं है अर्थात् अपने-अपने प्रसंग में सभी का विशेष महत्व है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥ (१४०)

यतो हि (तेषु तेषु तु कृत्येषु) उन प्रकृतियों के अपने अपने कार्यों में (तत्-तत्+अङ्गं विशिष्यते) वह-वह प्रकृति-अंग विशेष है (यत् कार्यं येन

साध्यते) जो कार्य जिस प्रकृति से सिद्ध होता है (तस्मिन् तत् श्रेष्ठम्+उच्यते) उसमें वही प्रकृति श्रेष्ठ मानी गई है। अर्थात् समयानुसार सभी प्रकृतियों की श्रेष्ठता है, अतः किसी को कम महत्त्वपूर्ण समझकर त्याज्य न समझें ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन च क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥ (१४१)

(चारेण) गुप्तचरों से (उत्साहयोगेन) सेना के उत्साह सम्बन्ध से (च) और (कर्मणां क्रियया) राज्यशक्ति-वर्धक नये-नये कार्यों के करने से (महीपतिः) राजा (स्वशक्तिं च परशक्तिं नित्यं विद्यात्) अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति की सदा जानकारी रखे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥ (१४२)

(सर्वाणि पीडनानि) अपने तथा शत्रु के राज्य में आई सभी व्याधि, आपत्ति आदि पीड़ाओं को (तथैव व्यसनानि) तथा व्यसनों [७।४५-५३] के प्रसार को (च) और (गुरु-लाघवं संचिन्त्य) बड़े-छोटे अर्थात् अपने और शत्रु राजा में कौन कम-अधिक शक्तिशाली है (संचिन्त्य) इन बातों पर विचार करके (ततः कार्यम्+आरभेत) उसके पश्चात् राजा सन्धि-विग्रह आदि [७।१६०-२१०] कार्य को आरम्भ करे ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥ (१४३)

(श्रान्तः श्रान्तः) बार-बार हारा-थका हुआ भी राजा (कर्माणि पुनः-पुनः आरभेत एव) कार्यों को [७।१६०-२००] फिर-फिर अवश्य आरम्भ करे (हि) क्योंकि (कर्माणि+आरभमाणं हि पुरुषम्) कर्मों को आरम्भ करने वाले पुरुष को ही (श्रीः निषेवते) विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥

राजा के शासन में ही चार युग—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ (१४४)

(कृतं त्रेतायुगं द्वापरं च कलिः) सतयुग, त्रेतायुग द्वापरयुग और कलियुग (सर्वाणि राज्ञः वृत्तानि) ये सब राजा के ही आचार - व्यवहार

विशेष हैं अर्थात् राजा जैसा राज्य को बनाता है उस राज्य में वैसा ही युग बन जाता है (राजा हि युगम्+उच्यते) वस्तुतः राजा ही 'युग' कहलाता है अर्थात् राजा ही युगनिर्माता है ॥ ३०१ ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥ (१४५)

(प्रसुप्तः कलिः भवति) जब राजा सोता है अर्थात् राज्यकार्य में उपेक्षा बरतता है तो वह 'कलियुग' होता है, (सः जाग्रत् द्वापरं युगम्) जब वह जागता है अर्थात् राज्य कार्य को साधारणतः करता रहता है तो वह 'द्वापरयुग' है, और (कर्मसु+अभ्युद्यतः त्रेता) राज्य और प्रजा-हितकारी कार्यों में जब राजा सदा उद्यत रहता है वह 'त्रेतायुग' है, (विचरन् तु कृतं युगम्) जब राजा सभी कर्त्तव्यों को तत्परतापूर्वक करे और अपनी प्रजा के दुःखों को जानने के लिए राज्य में तत्पर होते हुए उन्हें जानकर न्यायानुसार सुख प्रदान करने के लिए उद्यत रहे, राजा का यह सत्ययुग है ॥ ३०२ ॥

राजा के आठ रूप—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥ (१४६)

(नृपः) राजा (इन्द्रस्य+अर्कस्य वायोः यमस्य वरुणस्य चन्द्रस्य+अग्नेः पृथिव्याः तेजः वृत्तम् चरेत्) इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, पृथिवी इनके तेजस्वी स्वभाव के अनुसार ही आचरण-व्यवहार करे [द्रष्टव्य ७ । ४—७] ॥ ३०३ ॥

अनुशीलन : अन्यत्र वर्णित भावों की पुष्टि—मनु ने सप्तमाध्याय में 'राजा में कौन-कौन से विशिष्ट गुण होने चाहिएँ' इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए भी इन गुणों का वर्णन किया है । मनु ने यह भाव वेदमन्त्रों से ग्रहण किया है । द्रष्टव्य हैं ७ । ४–७ श्लोक और उनकी समीक्षा में वेदमन्त्र ।

राजा का इन्द्ररूप आचरण—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥ (१४७)

(यथा+इन्द्रः वार्षिकान् चतुरः मासान्) जैसे इन्द्र [=वृष्टिकारक शक्ति] प्रत्येक वर्ष के श्रावण आदि चार मासों में (अभिप्रवर्षति) जल बरसाता है (तथा इन्द्रव्रतं चरन्) उसी प्रकार इन्द्र के व्रत को आचरण में लाता हुआ राजा (स्वं राष्ट्रं कामैः अभिवर्षेत्) अपने राष्ट्र की प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करे, यही राजा का इन्द्रवत् आचरण है ॥ ३०४ ॥

राजा का सूर्यरूप आचरण—

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥ ३०५॥ (१४८)

(यथा+आदित्यः) जैसे सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (अष्टौ मासान् तोयं हरति) आठ मास तक जलग्रहण करता है (तथा) उसी प्रकार राजा (राष्ट्रात् नित्यं करं हरेत्) राष्ट्र से कर ग्रहण करे (अर्कव्रतं हि तत्) यही राजा का 'अर्कव्रत' है॥ ३०५॥

राजा का वायुरूप आचरण—

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥ ३०६॥ (१४९)

(यथा मारुतः) जैसे वायु (सर्वभूतानि प्रविश्य) सब प्राणियों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरण करता है (तथा) उसी प्रकार (चारैः प्रवेष्टव्यम्) राजा को गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश रखना चाहिए (एतत् हि मारुतं व्रतम्) यही राजा का 'मारुतव्रत' है॥ ३०६॥

राजा का यमरूप आचरण—

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥ ३०७॥ (१५०)

(यथा यमः) जिस प्रकार यम(=ईश्वर की नियामक शक्ति=मृत्यु) (काले प्राप्ते) कर्मफल का समय आने पर (प्रियद्वेष्यौ नियच्छति) प्रिय और शत्रु सबको अपने वश में करके दण्डित करता है या मारता है (राज्ञा तथा प्रजाः नियन्तव्याः) राजा को उसी प्रकार अपराध करने पर प्रिय-शत्रु सभी प्रजाओं को न्यायपूर्वक पक्षपातरहित दण्ड देना चाहिए (तत् हि यमव्रतम्) यही राजा का 'यमव्रत' है॥ ३०७॥

राजा का वरुणरूप आचरण—

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्॥ ३०८॥ (१५१)

(यथा) जिस प्रकार अपराधी मनुष्य (वरुणेन पाशैः बद्धः एव+अभि[illegible]) [illegible] के द्वारा पाशों से अर्थात् जलीय या समुद्र की तरंगों, भंवरोंरूपी बंधनों में फंसकर जैसे मनुष्य बंधा-जकड़ा हुआ दीखता है अर्थात् अवश्य बंध जाता है (तथा) उसी प्रकार राजा भी (पापान् (निगृह्णीयात्) पापियों=अपराधियों को सुधरने तक साम-दाम-दण्ड-भेद आदि से वश में करके या बन्धन में=कारागार में डाले रखे (एतत् हि वारुणं व्रतम्) यही

राजा का 'वरुणव्रत' है ।। ३०८ ।।

अनुशीलन : **वरुणपाश का अर्थ**—'वरुणपाश' के यद्यपि प्रसंगानुसार अनेक अर्थ होते हैं। यहां महाभूतादि दिव्यशक्तियों के गुणों से राजा के गुणों की तुलना की है, अतः यहां वरुण का जल अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। और जैसे जल की उत्ताल तरंगें या भंवर किसी वस्तु या व्यक्ति को वश में करके फंसा लेती हैं, उसी प्रकार विविध बन्धनों से राजा दुष्टों को वश में करे। यह वरुणपाश का आलंकारिक अभिप्राय है।

राजा का चन्द्ररूप आचरण—

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥ (१५२)

(यथा) जिस प्रकार (परिपूर्णं चन्द्रं दृष्ट्वा मानवाः हृष्यन्ति) पूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्मिन् प्रकृतयः) जिस राजा को पाकर-देखकर उस द्वारा प्रदत्त सुखों से प्रजाएं स्वयं को हर्षित अनुभव करें (सः नृपः चान्द्रव्रतिकः) वह राजा का 'चन्द्रव्रत' है ।। ३०९ ।।

राजा का अग्निरूप आचरण—

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥ (१५३)

राजा (पापकर्मसु) पापियों में—पाप करने वालों को (नित्यम्) सदैव (प्रतापयुक्तः तेजस्वी स्यात्) संतापित करने वाला और तेज से प्रभावित करने वाला होवे (च) और (दुष्टसामन्तहिंस्रः) दुष्ट मन्त्री आदि का मारने वाला होवे (तत्+आग्नेयं व्रतं स्मृतम्) यही राजा का 'आग्नेयव्रत' कहा है ।। ३१० ।।

राजा का धरारूप आचरण—

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ (१५४)

(यथा) जिस प्रकार (धरा) धरती (सर्वाणि भूतानि समं धारयते) सब प्राणियों को समानभाव से धारण करती है (तथा) उसी प्रकार (सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः) समान भाव से सभी प्राणियों को धारण-पोषण करने वाले राजा का (पार्थिवं व्रतम्) यह 'पार्थिव व्रत' होता है ।। ३११ ।।

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।

स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥ (१५५)

(राजा) राजा (एतैः+उपायैः च अन्यैः युक्तः) इन पूर्वोक्त उपायों तथा इनसे भिन्न जो और उत्तम उपाय हों उनसे युक्त होकर (नित्यम्+अतन्द्रितः) सदा आलस्यहीन रहता हुआ (स्वराष्ट्रे च परे+एव) अपने राष्ट्र में रहने वाले और दूसरे राष्ट्र से आकर चोरी करने वाले (स्तेनान् निगृह्णीयात्) चोरों को वश में करे ॥ ३१२ ॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥ (१५६)

(पार्थिवः) राजा (एवं चरन्) पूर्वोक्त [७।१ से ९।३१२] प्रकार से आचरण करता हुआ (सदा राजधर्मेषु युक्तः) सदा राजधर्मों में स्वयं संलग्न रहकर (सर्वान् भृत्यान् एव) सभी राजकर्मचारियों को भी (लोकस्य हितेषु नियोजयेत्) प्रजाओं के हित-सम्पादन में लगाये ॥ ३२४ ॥

वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्य—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ (१५७)

(एषः) यह [७ । १ से ९ । ३२४ तक] (राज्ञः सनातनः अखिलः कर्मविधिः उक्तः) राजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही ।

अब (वैश्य-शूद्रयोः) वैश्यों और शूद्रों की (कर्मविधिं इमं विद्यात्) कर्त्तव्यों की विधि को इस आगे कहे अनुसार जानें—[उनका वर्णन अग्रिम अध्याय में है] ॥ ३२५ ॥

अनुशीलन : नवम अध्याय के विभाजन पर विचार—वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ श्लोक उपलब्ध होते हैं । सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय के ३२५ श्लोक तक राजनीति का विषय है । मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन में विभाजनकर्त्ता द्वारा भूलें हुई हैं, प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है [इस पर विस्तृत विवेचन सप्रमाण 'मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन' शीर्षक में 'मनुस्मृति-अनुशीलन' में किया गया है] । इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है । राजधर्म विषय के साथ ९ । ३२६ से ९ । ३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, मिला दिये हैं । इनके साथ ही चातुर्वर्ण्य धर्म [२ । १४४ (२ । २५) से ९ । ३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं और फिर दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार है । क्योंकि वैश्य-शूद्र धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता

अतः हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है। ९।३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है।

[नवम अध्याय के ३२६ से ३३६ श्लोक दशम अध्याय के अन्तर्गत देखिए]

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाषाभाष्यसमन्वितायाम्
अनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
राजधर्मात्मको नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्र के धर्म १०।१-८

एवं चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार)

वैश्यों के कर्त्तव्य—

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ९।३२६ ॥ (१)

(कृतसंस्कारः) यज्ञोपवीत संस्कार विधिपूर्वक शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् [समावर्तन के अनन्तर] (वैश्यः) वैश्य (दारपरिग्रहं कृत्वा) विवाह करके (वार्तायां च पशूनां रक्षणे नित्ययुक्तः स्यात्) व्यापार में और पशुपालन में सदा लगा रहे ॥ ३२६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ९।३२९ ॥ (२)

वैश्य (मणि-मुक्ता-प्रवालानाम्) मणि, मोती, प्रवाल आदि के (लोहानाम्) लोहे आदि धातुओं के (च) और (तान्तवस्य) कपड़ों के (गन्धानां च रसानाम्) सुगन्धित कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों के और रस-रसायनों [पारा, नमक आदि] के (अघ-बल-अबलं विद्यात्) मूल्यों के कम-अधिक भावों को जानें ॥ ३२९ ॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ९ । ३३० ॥ (३)

वैश्य (बीजानाम्+उप्तिवित् स्यात्) सब प्रकार के बीजों को बोने की विधि को जानें (च) और (क्षेत्र-दोष-गुणस्य) खेतों के दोष-गुणों को जानें (च) तथा (मानयोगम्) तोलने के बाटों (च) और (तुलायोगान्) तराजुओं से सम्बद्ध (सर्वशः जानीयात्) सभी बातों की जानकारी रखें ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥९।३३१॥ (४)

(भाण्डानां सार-असारम्) वस्तुओं के अच्छे-बुरेपन को (देशानां गुण-अवगुणान्) देशों के गुणों और दोषों को (च) और (पण्यानां लाभ-अलाभम्) बेची जाने वाली वस्तुओं की लाभ-हानि को, तथा (पशूनां परिवर्धनम्) पशुओं के संवर्धन के उपायों को वैश्य लोग जानें ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥९।३३२॥ (५)

(भृत्यानां भृतिम्, नौकरों के वेतन, (नृणां विविधाः भाषाः) विविध देशों में रहने वाले लोगों की विभिन्न भाषाएँ (द्रव्याणां स्थान-योगान्) वस्तुओं के प्राप्तिस्थान तथा मिश्रण आदि की विधियाँ (च) और (क्रय-विक्रय+एव) खरीद विक्री की विधि, इसको (विद्यात्) जानें ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ९।३३३ ॥ (६)

वैश्य इस प्रकार [९।३२९-३३३] (धर्मेण) धर्मपूर्वक (द्रव्यवृद्धौ उत्तमं यत्नम्+आतिष्ठेत) पदार्थों की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक यत्न करे (च) और (सर्वभूतानां प्रयत्नतः अन्नम्+एव दद्यात्) सब प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक अन्न उपजाकर देता रहे ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ९।३३४ ॥ (७)

(वेदविदुषां विप्राणाम्) वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों (यशस्विनां गृहस्थानाम्) यशस्वी गृहस्थियों की (शुश्रूषा+एव तु) सेवा करना ही (शूद्रस्य नैश्रेयसः परः धर्मः) शूद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है ॥ ३३४ ॥

शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ९ । ३३५ ॥ (८)

(शुचिः) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], (उत्कृष्टशुश्रूषुः) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक्) मधुरभाषी (अनहंकृतः) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण+आदि-आश्रयः) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी (उत्कृष्टां जातिम्+अश्नुते) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है ॥ ३३५ ॥

अनुशीलन : (१) **शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति**— इन श्लोकों के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। यह मान्यता १०।६५ में भी वर्णित है। न पढ़ने के कारण ही व्यक्ति शूद्र

कहाता है, जन्मना नहीं। यही मनु की मान्यता है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन १।३१, ९१ पर तथा १।१०७ की अन्तर्विरोध समीक्षा में देखिए। १।९१ में शूद्र के के कर्म का वर्णन है।

(२) **वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान**—ऋक्० १०।५३।४-५ में "पञ्चजनाः ममहोत्रं जुषध्वम्" कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त ३।२।७ में 'पञ्चजनाः' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिष-भोजी निषाद की गणना की है [विस्तृत विवेचन भूमिका में शूद्र विषय में द्रष्टव्य है]।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ।। १०।४ (९)

[आर्यों के समाज में] (ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (त्रयः वर्णाः द्विजातयः) ये तीन वर्ण विद्याध्ययन रूपी दूसरा जन्म प्राप्त करने वाले [२।१४६-१४८, इस संस्करण में २।१२१-१२३] हैं, अतः द्विज कहलाते हैं (चतुर्थः एकजातिः शूद्रः) चौथा विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म (द्विजजन्म) न होने के कारण एकजाति=एक जन्म वाला ब्रह्मजन्म से रहित शूद्र वर्ण है (नास्ति तु पञ्चमः) पांचवां कोई वर्ण नहीं है ।। ४ ।।

अनुशीलन : (१) वर्ण चार हैं—(क) मनु ने यहां चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में अन्यत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१०।४५] अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण नहीं। इस श्लोक की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है—१।३१, ८७-९१।३।२०।। ५।५७।। ७।६८।। १०।४५, ६५, १३१।। १२।९७ आदि।

२. **चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण**—अन्यत्र शास्त्रग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—

(क) **"ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम् ।"**

(ऋक् १०।५३।४)

"पञ्चजनाः—चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चम इति औपमन्यवः ।"

(निरु० ३।२।७)

चार वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं।

(ख) **"चत्वारो वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः"**

(श० ब्रा० ५।५।४।९)

"चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः ।।"

(मैत्रा० सं० ४।४।६)

चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों की संज्ञा—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१०।४५॥ (१०)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु+उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहिः) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित (या जातयः) जो जातियां हैं (म्लेच्छ-वाचः च आर्यवाचः) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब (दस्यवः स्मृताः) 'दस्यु' कहलाती हैं ॥ ४५ ॥

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति उद्धृत करके लिखा है—"जो आर्यावर्त देश से भिन्न हैं, वे दस्यु देश और म्लेच्छदेश कहाते हैं ॥"
(स० प्र० २२५)

अनुशीलन : (१) श्लोक के प्रसंग पर विचार—१०।४ के पश्चात् वर्णनक्रम में १०।४५ की सम्बद्धता सिद्ध होती है, क्योंकि चौथे श्लोक में मनु द्वारा विहित समाज में चार वर्णों का अस्तित्व भूमिका रूप में बतलाया है और कहा है कि पांचवां कोई वर्ण नहीं है। अब वर्णों में अदीक्षित या बहिष्कृत जो व्यक्ति रह गये हैं, उन्हें किसके अन्तर्गत माना जाये ? यह बतलाना प्रासंगिक था। उसे ४५ वें श्लोक में वर्णित किया है कि शेष व्यक्ति 'दस्यु' हैं।

(२) **दस्यु से अभिप्राय**—वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है। यहां मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है। वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं—'आर्य'=श्रेष्ठ और 'दस्यु'=अश्रेष्ठ। मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से बाह्य अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों में अदीक्षित [१०।५७] धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अवशिष्ट सभी लोग दस्यु हैं। दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं— 'दसु-उपक्षये' धातु से **'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्'** (उणादि ३।२०) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति है—**"दस्यु दस्यतेः क्षयार्थात्...उपदासयति कर्माणि"**=दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है।

दस्यु अर्थात् अनार्य की पहचान उसके कार्य देखकर करें—

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥१०।५७॥ (११)

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (आर्यरूपम्+इव+अनार्यम्) श्रेष्ठ रहन सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (कलुषयोनिजम्)

[कलुषयोनौ=दुष्टयोनौ जायते इति कलुषयोनिजः तम्] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वैः कर्मभिः विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है [जैसा कि अगले श्लोक में वर्णित है] ॥ ५७ ॥✤

अनुशीलन : अनार्य और उसके लक्षण—(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आचरण का पालन करने का कथन किया है। कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्माचरण में रुचि नहीं बनती। वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते ['**वर्णपेतम्**'], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है। ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं। दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों=कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उसकी पहचान करा देते हैं। ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है। वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं—

> इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
> जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥
> ......भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्—॥"

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है। यहां स्पष्टतः सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं। चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे।

अनार्यों-दस्युओं के लक्षण—

> **अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।**
> **पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ १० । ५८ ॥** (१२)

(अनार्यता) अश्रेष्ठ व्यवहार (निष्ठुरता) स्वभाव की कठोरता (क्रूरता) निर्दयता (निष्क्रियात्मता) धार्मिक क्रियाओं [यज्ञ आदि] के प्रति उपेक्षाभाव=न करने की भावना, ये लक्षण (लोके) लोक में (पुरुषं कलुषयोनिजं व्यञ्जयन्ति) पुरुष के दुष्टप्रवृत्ति या अनार्य होने को सूचित करते हैं कि यह आर्यवर्णों के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि ये आर्यों के लिए

✤ **प्रचलित अर्थ**—वर्णभ्रष्ट (हीन वर्ण वाले), अप्रसिद्ध, नीच जाति से उत्पन्न, देखने में सज्जन (उच्च जाति वाले किन्तु वास्तव में) नीच जाति वाले मनुष्य को उसके कर्मों (बर्तावों) से जानना चाहिये ॥५७॥

निषिद्ध हैं ॥ ५८ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) १०।५६ में यह बतलाने पर कि वर्णों से बहिष्कृत या अदीक्षित व्यक्ति दस्यु हैं, चाहे वे आर्यभाषा बोलने वाले हों अथवा म्लेच्छभाषा-भाषी। अब उनकी पहचान का वर्णन करना प्रासंगिक था, वह १० । ५७–५८ में किया है। इस प्रकार४ ५ वें के पश्चात् वर्णनक्रम की सम्बद्धता की दृष्टि से १० । ५७-५८ श्लोक उपयुक्त जंचते हैं।

(२) इन श्लोकों से मनु की यह मान्यता स्पष्ट एवं सिद्ध हो जाती है कि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं।

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ १० । ५९ ॥ (१३)

(दुर्योनिः) बुरे जीवन वाला या बुरे माता पिता से उत्पन्न व्यक्ति (पित्र्यं या मातुः शीलम्) पिता अथवा माता के स्वभाव को (वा उभयम्+एव) अथवा दोनों के ही स्वभाव को (भजते) अवश्य धारण किये होता है, और वे (स्वां प्रकृतिं कथंचन न नियच्छति) अपने स्वभाव को किसी प्रकार नियन्त्रित नहीं कर सकते अर्थात् उनका वह बुरा स्वभाव किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाता है। [अतः उससे बुरे व्यक्ति का ज्ञान कर लेना चाहिए] ॥ ५९ ॥

कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १० । ६५ ॥ (१४)

[श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार ही—]

(शूद्रः ब्राह्मणताम्+एति) शूद्र ब्राह्मण (च) और (ब्राह्मणः शूद्रताम्+एति) ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला

❀ **प्रचलित अर्थ**—इस लोक में अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यज्ञ-सन्ध्यावन्दनादि कार्य—)हीनता, ये सब नीच जाति में उत्पन्न पुरुष को मालूम करा देती हैं अर्थात् इन गुणों से युक्त मनुष्य को नीच जाति वाला जानना चाहिये ॥ ५८ ॥

हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है (क्षत्रियात् जातम्+एवं तु तथैव वैश्यात् विद्यात्) वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना ॥ ६५ ॥

(ऋ० भा० भू० ३१३)

"उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, और वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय ब्राह्मण, वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ॥" (सं० वि० १०६)

"जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।"

(स० प्र० ८७)

ऋषि ने पूना प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करके कहा है—

"शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है," इस मनु के वाक्य का भी विचार करना चाहिए।" (पृ० २०)

अनुशीलन : (१) १०। ५७–५८ में कर्मानुसार म्लेच्छ व्यक्तियों की पहचान बतलाकर १०। ६५ में कर्मानुसार वर्ण का परिवर्तन हो जाना कहा है अर्थात् कर्मानुसार अनार्य व्यक्ति की पहचान तो होती ही है, कर्म के आधार पर उच्च-निम्न वर्ण वाले के वर्ण का परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार १०। ५७–५८ के पश्चात् सम्बद्धता की दृष्टि से १०। ६५ वां प्रासंगिक है।

(२) **कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान**—मनु ने इस श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है। इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २। ३१; ८७–९१; १०७, ११। ११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिये।

(३) **श्लोक की पुष्टि में प्रमाण**—प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। इसके अनेक प्रमाण औरउदाहरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १। ५। १०–११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है—

"धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥

अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे ॥ १ ॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥"

(स० प्र० चतुर्थ समु०)

(४) **वर्ण-परिवर्तन का उदाहरण**—ऐतरेय ब्राह्मण २।१९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्च-वर्णस्थ कहलाया—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति।...स बहिर्धन्वोदूळ्ह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्—'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ॥"

अर्थात्—'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने के लिए आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वञ्चित कर दिया। यह सोचकर कि यह दासीका पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया है! (यज्ञसे बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहां उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुनः अपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित कर लिया।

यह सूक्त ऋक्० १०।३० वां है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है। इस ऋषि-द्वारा दृष्ट अन्य १०।३१–३४ सूक्त भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि उन-उन सूक्तों के अर्थद्रष्टा हैं।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१०।१३१॥ (१५)

(एषः) [१।१ से १०।१३० तक] (चातुर्वर्ण्यस्य) चारों वर्णों के व्यक्तियों का (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (धर्मविधिः कीर्तितः) धर्म-विधान कहा है। (अतः परम्) इसके बाद अब (शुभं प्रायश्चित्तविधिं प्रवक्ष्यामि) शुभ प्रायश्चित्त की विधि को कहूँगा—॥ १३१ ॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत-हिन्दीभाषा-भाष्यसमन्वितायाम् 'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्रधर्मात्मको दशमोऽध्यायः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

[प्रायश्चित्त-विषय]

(११।१ से ३१ तक)

[प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विधान]

प्रायश्चित्त कब किया जाता है—

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥ (१)

(विहितं कर्म अकुर्वन्) शास्त्र में विहित कर्मों [यज्ञोपवीत संस्कार वेदाभ्यास (११।१९१-१९२), संध्योपासन, यज्ञ आदि] को न करने पर, (च) तथा (निन्दितं समाचरन्) शास्त्र में निन्दित माने गये कार्यों [बुरे कर्मों से धनसंग्रह (११।१९३) मद्यपान, हिंसा आदि] को करने पर (च) और (इन्द्रिय-अर्थेषु प्रसक्तः) इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त आसक्त होने काम, क्रोध, मोह में आसक्त होने] पर (नरः प्रायश्चित्तीयते) मनुष्य प्रायश्चित्त [४७] के योग्य होता है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (२)

(बुधाः) कुछ विद्वान् (अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुः) अज्ञानवश किये गये पाप में प्रायश्चित्त करने को कहते हैं (एके) और कुछ विद्वान् (श्रुतिनिदर्शनात्) वेदों में उल्लेख होने के कारण (कामकारकृते+अपि आहुः) जानकर किये गये पाप में भी प्रायश्चित्त करने को कहते हैं ॥ ४५ ॥

अनुशीलन : यजु० ३९।१२ में प्रायश्चित्त का उल्लेख हुआ है—

"निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्त्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ।"

अर्थात्—"(निष्कृत्यै) निवारण के लिए (स्वाहा) सत्यक्रिया, (प्रायश्चित्त्यै)

पापनिवारण के लिए (स्वाहा) सत्यक्रिया और (भेषजाय) सुख के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया का सदा प्रयोग करें।" (महर्षि दया० भाष्य)

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति।
कामतस्तुकृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥ ४६॥ (३)

(अकामतः कृतं पापम्) अनिच्छापूर्वक किया गया पाप (वेदाभ्यासेन शुध्यति) वेदाभ्यास तदनुसार बार-बार चिन्तन-मनन आचरण से शुद्ध होता है—पाप की भावना नष्ट होकर आत्मा पवित्र होती है (मोहात् कामतः तु कृतम्) आसक्ति में इच्छापूर्वक किया गया पाप [पापफल नहीं] (पृथक्- विधैः प्रायश्चित्तैः) अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों के [११।२११-२२६] करने से शुद्ध होता है॥ ४६॥

प्रायश्चित्त का अर्थ—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ ४७॥ (४)

('प्रायः' नाम तपः प्रोक्तम्) 'प्रायः' तप को कहते हैं और ('चित्तं' निश्चयः उच्यते) 'चित्त' निश्चय को कहते हैं (तपः-निश्चयसंयुक्तं 'प्राय-श्चित्तम्' इति स्मृतम्) तप और निश्चय का संयुक्त होना ही 'प्रायश्चित्त' कहलाता है॥ ४७॥

अनुशीलन : प्रायश्चित्त का अर्थ और उद्देश्य—'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय-चिति पदों से समास में **'पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (अष्टा० ६।१।१५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुआ है। **तपादि साधनपूर्वकं किल्बिषनिवारणार्थं चित्तम् निश्चयम् प्रायश्चित्तम्'**। 'जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्य को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप :=कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुनः मैं यह पाप नहीं करूंगा।' यह प्रायश्चित्त कहलाता है। ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता। जैसे कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दुःख अनुभव हो तो वह खेद प्रकट करता है। इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पाप-भावना क्षीण होती है [द्रष्टव्य ११। २२७ पर समीक्षा]। पुनः वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है [११।२२९-२३०]। प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता जाता है।

प्रायश्चित्त क्यों करना चाहिए—

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥ (५)

[४६–४७ में वर्णित लाभ होने से] (अतः) इसलिए (विशुद्धये) संस्कारों की शुद्धि के लिए (नित्यं प्रायश्चित्तं चरितव्यम्) सदा [बुरा काम होने पर] प्रायश्चित्त करना चाहिए, (हि) क्योंकि (अनिष्कृत-एनसः) पाप-शुद्धि किये बिना मनुष्य (निन्द्यैः लक्षणैः युक्ताः जायन्ते) निन्दनीय लक्षणों से युक्त हो जाते हैं या मरकर पुनर्जन्म में होते हैं ॥ ५३ ॥

व्रात्यों का प्रायश्चित्त—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१६१॥ (६)

(येषां द्विजानां सावित्री) जिन द्विजों को यज्ञोपवीत संस्कार (यथा-विधि) उचित समय [इस संस्करण में २ । ११–१३] पर (न+अनूच्येत) नहीं हुआ हो, (तान्) उनको (त्रीन् कृच्छ्रान् चारयित्वा) तीन कृच्छ्र व्रत [११ । २१२] कराके (यथाविधि+उपनाययेत्) विधिपूर्वक उनका उपनयन संस्कार कर देना चाहिए ॥ १६१ ॥

निन्दित कर्म करने वालों का प्रायश्चित्त—

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १६२ ॥ (७)

(विकर्मस्थाः तु ये द्विजाः) अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का त्याग कर देने और निन्दित कर्म करने पर जो उपनयनयुक्त द्विज (प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति) प्रायश्चित्त करके अपने को शुद्ध करना चाहते हैं (च) और (ब्रह्मणा परित्यक्ताः) वेदादि के त्यागने पर जो प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना चाहते हैं (तेषाम्+अपि+एतत्+आदिशेत्) उन्हें भी पूर्वोक्त व्रत [११ । १६१] करने को कहें ॥ १६२ ॥

वेदोक्त कर्मों के त्याग का प्रायश्चित्त—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥ (८)

(वेदोक्तानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे) वेदोक्त नैत्यिक [अग्नि-होत्र, संध्योपासन आदि] कर्मों के न करने पर (च) और (स्नातकव्रत-लोपे) ब्रह्मचर्यावस्था में व्रतों [भिक्षाचरण आदि] के न करने पर (अभोजनं प्रायश्चित्तम्) एक दिन उपवास रखना ही प्रायश्चित्त है ॥ २०३ ॥

अनुशीलन : तुलनार्थ द्रष्टव्य है २ । १६५ [२ । २२०] श्लोक ।

अविहित कर्मों के लिए प्रायश्चित्त-निर्णय—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥ (९)

(अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानाम्) जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा है ऐसे अपराधों के (अपनुत्तये) दोष को दूर करने के लिए (शक्तिं च पापम् अवेक्ष्य) प्रायश्चित्तकर्ता की शक्ति और अपराध को देखकर (प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्) प्रायश्चित्त का निर्णय कर लेना चाहिए ॥ २०९ ॥

प्रायश्चित्तों का परिचय-वर्णन—

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥ (१०)

(मानवः) मनुष्य (यैः+अभ्युपायैः) जिन उपायों से (एनांसि व्यपकर्षति) पापों=अपराधों को [पापफलों को नहीं] दूर करता है, अब मैं (देव-ऋषि-पितृ-सेवितान्) विद्वानों, ऋषियों=तत्त्वज्ञानियों और पिता आदि वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा सेवित (तान् अभ्युपायान् वः वक्ष्यामि) उन उपायों को तुमसे कहूँगा—॥ २१० ॥

अनुशीलन : (१) मनु ने यहां देव=विद्वानों, ऋषियों, पितरों द्वारा सेवित-विहित प्रायश्चित्तों का विधान किया है [११ । २११—२२५] मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर देव-ऋषि-पितरों की मान्यताओं का उल्लेख आता है [२ । १२६—१३१ (२ । १५१—१५६) आदि]। परम्परागतरूप में ये प्रचलित रहे हैं। देव-ऋषि-पितर शब्दों के अर्थ को समझने के लिए विशेष विवेचन ३ । ८१—८२ पर देखिए।

(२) 'एनः' के अर्थ पर २ । २ [२ । २७] के अनुशीलन में प्रकाश डाला गया है। वहां द्रष्टव्य है।

(३) यह व्रतों के प्रसंग को प्रारम्भ करने का कथन करने के लिए प्रसंग-संकेतक श्लोक है।

(४) व्रतों से पाप-फल की निवृत्ति नहीं अपितु पापकर्म अर्थात् पापभावना नष्ट होती है। देखिए सप्रमाण अनुशीलन—११ । २२७ पर।

प्राजापत्य व्रत की विधि—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥२११॥ (११)

(प्राजापत्यं चरन् द्विजः) 'प्राजापत्य' नामक व्रत का पालन करने वाला द्विज (त्रि+अहं प्रातः) पहले तीन दिन प्रातःकाल ही, (त्रि+अहं

सायम्) फिर तीन दिन केवल सांयकाल, (त्रि+अहम् अयाचितम् अद्यात्) उसके पश्चात् तीन दिन बिना मांगे जो मिले उसका ही भोजन करे (च) और (परं त्रि+अहं न अश्नीयात्) उसके बाद फिर तीन दिन उपवास रखे। [यह प्राजापत्य व्रत है] ॥ २११ ॥

अनुशीलन : योगदर्शन में 'कृच्छ्र' आदि व्रतों का उद्देश्य—मनुस्मृति में चित्त की अशुद्धि को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसकी पुष्टि योगदर्शन और उसके व्यासभाष्य में की गई है—"**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**" अर्थात् तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि दूर होकर शरीर रोगरहित और चित्त आदि इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं [२।४३]।

२।३२ सूत्र के भाष्य में तप की व्याख्या में कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों को भी परिगणित किया है—"**व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्र-चान्द्रायण-सान्तपनादीनि।**" अर्थात् तप के अन्तर्गत कृच्छ्रव्रत, चान्द्रायणव्रत, सान्तपनव्रत आदि व्रत भी आते हैं। इनका शरीर की अनुकूलता के अनुसार पालन करना चाहिए।' इस प्रकार व्रतों से मानसिक पाप की अशुद्धि क्षीण होती है।

कृच्छ्र सान्तपन व्रत की विधि—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥ (१२)

क्रमशः एक-एक दिन (गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिः सर्पिः कुश+उदकम्) गोमूत्र, गोबर का रस, गोदूध, गौ के दूध का दही, गोघृत और कुशा =दर्भ से उबला जल, इनका भोजन करे (च) और (एकरात्र+उपवासः) फिर एक दिन-रात का उपवास रखे, यह (कृच्छ्रं-सांतपनं स्मृतम्) 'कृच्छ्र सांतपन' नामक व्रत है ॥ २१२ ॥

अतिकृच्छ्र व्रत की विधि—

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥ (१३)

(अतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः) 'अतिकृच्छ्र' नामक व्रत को करने वाला द्विज (पूर्ववत्) पूर्व विधि [११।२११] के अनुसार (त्रि+अहाणि त्रीणि) तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल, तीन दिन बिना मांगे प्राप्त हुआ (एक-एकं ग्रासम्+अश्नीयात्) एक-एक ग्रास भोजन करे (अन्त्यं त्रि+अहं च उपवसेत्) और अन्तिम तीन दिन उपवास रखे। [यह 'अतिकृच्छ्र' व्रत है] ॥ २१३ ॥

तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि—

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥ २१४॥ (१४)

(तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रः) 'तप्तकृच्छ्र' व्रत को करने वाला द्विज (उष्णान् जल-क्षीर-घृत-अनिलान् प्रतित्र्यहं पिबेत्) गर्म पानी, गर्म दूध, गर्म घी और वायु प्रत्येक को तीन-तीन दिन पीकर रहे, और (सकृत्स्नायी) एक बार स्नान करे, तथा (समाहितः) एकाग्रचित्त रहे॥ २१४॥

अनुशीलन : इस श्लोक में 'वायु पीना' एक मुहावरा है जिसको आजकल 'हवा के सहारे जीना' रूप में भी प्रयोग करते हैं इसका अर्थ—'बिना कुछ खाये पीये रहना' है अर्थात् अन्तिम तीन दिन बिना कुछ खाये-पीये रहे।

चान्द्रायण व्रत की विधि—

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥२१६॥ (१५)

[पूर्णिमा के दिन पूरे दिन में १५ ग्रास भोजन करके फिर] (कृष्णे एक-एकं पिण्डं ह्रासयेत्) कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन प्रतिदिन कम करता जाये, [इस प्रकार करते हुए अमावस्या को पूर्ण उपवास रहेगा, फिर शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को पूरे दिन में एक ग्रास भोजन करके] (शुक्ले वर्धयेत्) शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन पूरे दिन में बढ़ाता जाये, इस प्रकार करते हुए (त्रिषवणम्+उपस्पृशन्) तीन समय स्नान करे, (एतत् चान्द्रायणं स्मृतम्) यह 'चान्द्रायण' व्रत कहाता है॥ २१६॥

यवमध्यम चान्द्रायणव्रत की विधि—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम्॥ २१७॥ (१६)

(यवमध्यमे) यवमध्यम विधि में अर्थात् जैसे जौ मध्य में मोटा होता है, आगे-पीछे पतला; इस विधि के अनुसार (चान्द्रायणं चरन्) 'यवमध्यम चान्द्रायण व्रत' करते हुए, व्यक्ति (शुक्ल-पक्ष-आदि-नियतः) शुक्लपक्ष को पहले करके (एतम्+एव कृत्स्नं विधिम्) इसी पूर्वोक्त [११। २१६] सम्पूर्ण विधि को (आचरेत्) करे अर्थात् शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके प्रथम दिन से एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाता जाये, पूर्णिमा को पूर्ण भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष के प्रथम दिन से एक-एक ग्रास घटाता जाये और अमावस्या के दिन निराहार रहे॥ २१७॥

व्रत-पालन के समय यज्ञ करें—

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥ (१७)

प्रायश्चित्तकाल में (अन्वहम्) प्रतिदिन (स्वयम्) प्रायश्चित्तकर्त्ता को स्वयं (महाव्याहृतिभिः होमः कर्त्तव्यः) महाव्याहृतियों [भूः, भुवः, स्वः आदियुक्त मन्त्रों से] हवन करना चाहिए (च) और (अहिंसा-सत्यम्-अक्रोध-आर्जवं समाचरेत्) अहिंसा, सत्य, क्रोधरहित रहना, कुटिलता न करना, इन बातों का पालन करे ॥ २२२ ॥

अनुशीलन : महाव्याहृतियुक्त होममन्त्र—महाव्याहृतियों से युक्त कुछ प्रसिद्ध मन्त्र निम्न हैं, जो यज्ञ में आज भी आहुतिदान के लिए प्रयुक्त होते हैं—

(क) अग्निप्रज्वलित करने का मन्त्र—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ यजु० ३।५ ॥

(ख) घृताहुति मन्त्र—

ओं भूरग्नये स्वाहा । इदमग्नये–इदं न मम ॥१॥ ओं भुवर्वायवे स्वाहा । इदं वायवे–इदं न मम ॥२॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा । इदमादित्याय–इदं न मम ॥३॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः इदं न मम ॥४॥

(सं० वि० सामान्यप्रकरण) ।

(ग) अन्य हैं ऋक्० ९।६६।१९–२१॥१०।१२१।१०॥ और 'गायत्री मन्त्र' [श्लोक २।५३ (२।७८) की समीक्षा में उद्धृत] आदि ।

व्रत-पालन के समय गायत्री आदि का जप करें—

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥२२५॥ (१८)

प्रायश्चित्तकर्त्ता प्रायश्चित्तकाल में (नित्यम्) प्रतिदिन (शक्तितः) शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक (सावित्रीं च पवित्राणि जपेत्) सावित्री=गायत्री मन्त्र और 'पवित्र करने की प्रार्थना' वाले मन्त्रों का जप करे, (एवम्) ऐसा करना (सर्वेषु+एव व्रतेषु) सभी व्रतों में (प्रायश्चित्तार्थम्+आदृतः) प्रायश्चित्त के लिए उत्तम माना गया है ॥ २२५ ॥

अनुशीलन : (१) **पवित्रताकारक मन्त्र**—मन को दुर्गुणों से हटाकर पवित्र करने की भावना वाले कुछ मन्त्र निम्न हैं—

(क) **ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।**
यद् भद्रन्तन्न आ सुव ॥ यजु० ३० । ३ ॥

अर्थ—"हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिए (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं (तत्) वह सब हमको (आ, सुव) प्राप्त कीजिए।" (सं० वि० ईश्वरस्तुति० प्रकरण)।

(ख) शिवसंकल्पसूक्त के मन्त्र "**ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति०**" आदि
यजु० ३४ । १-६ ॥

(ग) गायत्री मन्त्र अर्थसहित [देखिए २ । ५३ (२ । ७८) पर उद्धृत]

इत्यादि 'दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों को धारण करने की भावना वाले' मन्त्रों का जप प्रायश्चित्त में करे।

मानस पापों के प्रायश्चित्त की विधि—

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ (१९)

(आविष्कृत-एनसः द्विजातयः) जिनका पाप क्रियारूप में प्रकट हो गया है, ऐसे द्विजातियों को (एतैः व्रतैः शोध्याः) इन पूर्वोक्त [११।२११-२२५] व्रतों से शुद्ध करें, और (अनाविष्कृतपापान् तु) जिनका पाप क्रिया रूप में प्रकट नहीं हुआ है अर्थात् अन्तःकरण में ही पाप-भावना उत्पन्न हुई है, ऐसों को (मन्त्रैः च होमैः शोधयेत्) मन्त्र-जपों [११।२२५] और यज्ञों से शुद्ध करें अर्थात् मानसिक पापों की शुद्धि [पाप-फलों की नहीं] जपों एवं यज्ञों=संध्योपासन-अग्निहोत्र आदि से होती है ॥ २२६ ॥

अनुशीलन : तुलनार्थ निम्न ५ । १०७ श्लोक भी द्रष्टव्य है—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥

पांच कर्मों से प्रायश्चित्त में पापभावना से मुक्ति—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥ (२०)

(ख्यापनेन) अपनी त्रुटि और उसके लिए दुःख अनुभव करते हुए सर्वसाधारण के सामने किये हुए अपने दोष को कहने से [११।२२८] (अनुतापेन) पश्चात्ताप करने से [११।२२९-२३२] (तपसा) व्रतों [११। २११-२२५, २३३] की साधना से, (अध्ययनेन) वेदाभ्यास से [११।२४५-

२४६] (पापकृत् पापात् मुच्यते) पाप करने वाला [पाप-फल से नहीं अपितु] पाप-भावना से रहित हो जाता है (तथा) और (आपदि) आपद्-ग्रस्त व्याधि, जरा आदि से पीड़ित अवस्था में अपराध होने पर (दानेन) प्रायश्चित्त-हेतु सत्संग और परोपकारार्थ दान देने से भी पापभावना समाप्त होकर निष्पापता आती है ।। २२७ ।।&

अनुशीलन : (१) **प्रायश्चित्त से पाप-फल से नहीं पापभावना से मुक्ति**—(क) प्रायश्चित के इस प्रसंग में यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रायश्चित्त से किये हुए पाप का फल क्षीण नहीं होता अपितु पाप-भावना नष्ट होती है और आगे वह पाप नहीं किया जाता। प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है, उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है। यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११। २३० और ११।२३२ श्लोक से सिद्ध होती है। और, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते—

"न त्वेव कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ।" ४।१७३ ।।

(ख) इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जो प्रत्येक श्लोक पर 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं।

इस भाष्य में जहाँ-जहाँ भी 'पाप से छूटना' आदि अर्थ किये हैं उनका अभिप्राय 'पापफल से छूटना नहीं' अपितु 'पापभावना से छूटना' है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए ११।२३० के अनुशीलन में देखिए महर्षि दयानन्द की मान्यता।

(२) **इस मान्यता की तुलना**—तुलनार्थ द्रष्टव्य है ५।१०७ श्लोक का पद—'**दानेनाकार्यकारिणः (शुद्ध्यन्ति)**"।

(३) **आपत्काल में दान द्वारा पापभावना से मुक्ति पर विचार**—श्लोक में आपत्काल में पापभावना से मुक्ति के लिए दान देने का विधान किया है। यह सत्संग, विद्या आदि शुभगुणों का और परोपकारार्थ धन के दान का विधान है। मनु ने स्वयं कहा है—"**सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते**"=संसार में जितने दान हैं, उनमें वेद और ईश्वर-विद्या का दान और श्रेष्ठ गुणों का दान सर्वोत्तम है [४।२३३]। धन को श्रेष्ठ पात्र के लिए परोपकारभावना से देना, धन का दान कहलाता है। अन्य भावना से दिया गया धन 'दान' नहीं होता [४।१८७–१९६]। मनु ने ४।२२७ में दान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य सुपात्र को सात्त्विक भाव से समाज के

& [**प्रचलित अर्थ**—अपने आपको सर्वसाधारण में कहने, पश्चात्ताप करने से, कठिन तपश्चरण से, अध्ययन (वेदादि पाठ, जप आदि) से, और (इन सब कर्मों की शक्ति नहीं रहने पर) दान करने से पापी मनुष्य पाप से छूट जाता है ।। २२७ ।।]

परोपकार के लिए दान दे। इसके साथ-साथ संध्या-यज्ञ-जप आदि भी करे। अब प्रश्न उठता है कि आपत्काल क्या है ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि इस प्रसंग में विहित व्रतों को जब व्यक्ति करने में वास्तव में असमर्थ हो जाता है, जैसे अतिव्याधि, अतिजरा आदि की अवस्था में, तब वह व्यक्ति दान की विधि को अपनाये। यह भी एक तप का भेद है। इस दानव्रत के साथ अन्य मन्त्रजप, होम आदि की विधि अन्य व्रतों के समान ही करे।

सबके सामने अपना अपराध कहने से पापभावना से मुक्ति—

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥ (२१)

(अधर्मं कृत्वा) अधर्मयुक्त आचरण करके (नरः) मनुष्य (यथा-यथा स्वयम् अनुभाषते) जैसे-जैसे अपने पाप को लोगों से कहता है (तथा तथा अहिः त्वचा+इव) वैसे-वैसे सांप की केंचुली के समान (तेन+अधर्मेण मुच्यते) उस अधर्म से—अपराध-जन्य संस्कार से मुक्त होता जाता है और लोगों में उसके प्रति अपराधी होने की भावना समाप्त होती जाती है ॥ २२८ ॥

अनुताप करने से पाप-भावना से मुक्ति—

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥ (२२)

और, (तस्य मनः यथा यथा) उसका मन=आत्मा जैसे-जैसे (दुष्कृतं कर्म गर्हति) किये हुए पाप-अपराध को धिक्कारता है [कि मैंने यह बुरा कार्य किया है............आदि] (तथा तथा तत् शरीरम्) वैसे-वैसे उसका शरीर (तेन अधर्मेण मुच्यते) उस अधर्म-अपराध से मुक्त-निवृत्त होता जाता है अर्थात् बुरे कर्म को बुरा मानकर उसके प्रति ग्लानि होने से शरीर और मन बुरे कार्य करने से निवृत्त होते जाते हैं ॥ २२९ ॥

तपपूर्वक पुनः पाप न करने के निश्चय से पापभावना से मुक्ति—

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥ (२३)

मनुष्य (पापं हि कृत्वा) पाप=अपराध करके (संतप्य) और उसके लिए पश्चात्ताप करके (तस्मात् पापात् प्रमुच्यते) उस पाप-कर्म से छूट जाता है [पाप-फल से नहीं] अर्थात् उस पाप को करने में पुनः प्रवृत्ति नहीं करता, और (पुनः एवं न कुर्यात्) फिर कभी इस प्रकार का कोई पाप

नहीं करूंगा (इति निवृत्या) इस प्रकार निश्चय करने के बाद पापों से निवृत्ति होने से (सः तु पूयते) वह व्यक्ति पवित्राचरण वाला बन जाता है ।। २३० ।।*

अनुशीलन : इस श्लोक को पूना-प्रवचन में (पृ० ६३-६४) ऋषि-दयानन्द ने उद्धृत किया है—"अब कोई ऐसी शंका निकाल ले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी उपयोग नहीं है क्या ? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है।"

कर्मफलों पर चिन्तन करने से पाप-भावना से मुक्ति—

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ।। २३१ ।। (२४)

(प्रेत्य कर्मफल-उदयम्) 'मरकर कर्मों का फल अवश्य मिलेगा' (मनसा एवं संचिन्त्य) मन में इस विचार को, रखते हुए मनुष्य (मनः-वाक्-मूर्त्तिभिः) मन, वाणी और शरीर से (नित्यं शुभकर्म समाचरेत्) सदा शुभ कार्य करे ।। २३१ ।।

पाप-भावना से मुक्ति चाहने वाला पुनः पाप न करे—

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ।। २३२ ।। (२५)

(अज्ञानात् यदि वा ज्ञानात्) अज्ञान से अथवा जानबूझकर (विगर्हितं कर्म कृत्वा) निन्दित कर्म करके (तस्मात् विमुक्तिम्+अन्विच्छन्) मनुष्य उस पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिए (द्वितीयं न समाचरेत्) दुबारा पाप न करे [तभी पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं ।] ।। २३२ ।।

तप तब तक करें जब तक मन में प्रसन्नता आ जाये—

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ।। २३३ ।। (२६)

(यस्मिन् कर्मणि कृते) जिस कर्म के करने पर (अस्य मनसः अलाघवं स्यात्) मनुष्य के मन में जितना दुःख पश्चात्ताप अर्थात् असन्तोष एवं अप्रसन्नता होवे (तस्मिन्) उस कर्म में (यावत् तुष्टिकरं भवेत्)

---

* **प्रचलित अर्थ**—पापी मनुष्य पापकर्म करके उसके लिए अनुताप (पछतावा) कर पाप से छूट जाता है तथा 'फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करूंगा' इस प्रकार संकल्प रूप से उसका त्याग कर वह पवित्र हो जाता है ।। २३० ।।

जितना तप करने से मन में सुप्रसन्नता एवं संतुष्टि हो जावे (तावत् तपः कुर्यात्) उतना ही तप करे, अर्थात् किसी पाप के करने पर मनुष्य के मन में जब तक ग्लानिरहित पूर्ण संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो जाए तब तक स्वेच्छा से तप करता रहे ॥ २३३ ॥

वेदाभ्यासादि से पाप-भावनाओं का क्षय—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥ (२७)

(अन्वहं शक्त्या वेदाभ्यासः) प्रतिदिन वेद का अधिक-से-अधिक अध्ययन-मनन (महायज्ञक्रियाः) पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, (क्षमा) तप-सहिष्णुता, ये क्रियायें (महापातकजानि+अपि पापानि) बड़े पापों से उत्पन्न पापभावनाओं या दुःसंस्कारों को भी (नाशयन्ति) नष्ट कर देती हैं ॥ २४५ ॥

वेदज्ञानाग्नि में पाप-भावना विनष्ट होती है—

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥ (२८)

(यथा वह्निः तेजसा) जैसे अग्नि अपने तेज से (प्राप्तम् एधः क्षणात् निर्दहति) समीप आये काष्ठ आदि इंधन को तत्काल जला देती है (तथा) वैसे ही (वेदवित्) वेद का ज्ञाता (ज्ञान-अग्निना सर्वं पापं दहति) वेद-ज्ञान रूपी अग्नि से सब आने वाली [पाप-फलों को नहीं] पाप-भावनाओं को जला देता है—पापसंस्कारों को भस्म कर देता है ॥ २४६ ॥

अनुशीलन :—इन्ही भावों की तुलना के लिए १२ । १०१ श्लोक भी द्रष्टव्य है । मनु ने वहाँ भी इसी मान्यता को प्रकट किया है ।

(१) **ज्ञान से मुक्ति में सांख्यदर्शन का प्रमाण**—मनु ने ११।२६३–२६५ श्लोकों में भी इस मान्यता की पुष्टि की है कि 'वेदों का वेत्ता विद्वान् वेदज्ञान से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।' १२।८३, ८५, १०४ में भी वेदाभ्यास और परमात्मज्ञान को मुक्ति का साधन माना है । सांख्यदर्शन में भी इस मान्यता का उल्लेख है—

ज्ञानात् मुक्तिः ३ । २३ ॥

अर्थात् वेदज्ञान और परमात्मज्ञान से जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

वेदज्ञान-रूपी तालाब में पापभावना का डूबना—

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६३॥ (२९)

(यथा) जैसे (क्षिप्तं लोष्टम्) फेंका हुआ ढेला (महाह्रदं प्राप्य वि-

नश्यति) बड़े तालाब में गिरकर पिघलकर नष्ट हो जाता है (तथा) उसी प्रकार (त्रिवृति वेदे) तीन विद्याओं वाले वेदों के ज्ञान में (सर्वं दुश्चरितं मज्जति) सब बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं।। २६३ ।।

वेदवित् का लक्षण—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥२६४॥ (३०)

(ऋचः) ऋचाएँ (यजूंषि) यजुष् मन्त्र (च) और (अन्यानि विविधानि सामानि) इनसे भिन्न सामवेद के अनेक मन्त्र (एषः त्रिवृत् वेदः ज्ञेयः) यह तीनों 'त्रिवृत्‌वेद' जानना चाहिए, (यः एनं वेद सः वेदवित्) जो इस त्रिवृत्‌वेद=त्रयीविद्या अर्थात् सभी वेदों को जानता है, वही वस्तुतः 'वेदवेत्ता' है ।। २६४ ।।

अनुशीलन : त्रयीविद्या का अभिप्राय एवं अन्यत्र वर्णन—मनु ने तीन वेदरूप त्रयीविद्या का वर्णन १ । २३ और १२ । १११-११२ में भी किया है ।

मीमांसा दर्शन में—जहां अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पादव्यवस्था भी है अर्थात् जो मन्त्र अर्थानुसार छन्दोबद्ध हैं वे ऋक्‌मन्त्र कहे गए हैं। जो इन विशेषताओं के साथ गाये भी जा सकते हैं वे साममन्त्र और शेष गद्यरूप यजुष्‌मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेद त्रयीविद्यारूप हैं। सूत्र हैं—तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुः शब्दः ॥ २ । १ । ३५-३७ ॥ कहीं-कहीं ज्ञान-कर्म-उपासनापरक मन्त्रों के आधार पर भी चारों वेदों को त्रयीविद्यारूप माना गया है।

ईश्वर भी एक ज्ञेय वेद है—

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ।। २६५ ॥ (३१)

और, (यत् त्रि+अक्षरम् आद्यं ब्रह्म) जो तीन अक्षरों वाले प्रमुख नाम 'ओम्' से उच्चरित होने वाला सबका आदिमूल परमेश्वर है, (यस्मिन् त्रयी प्रतिष्ठिता) जिसमें तीनों वेदविद्याएँ प्रतिष्ठित हैं, (सः अन्यः गुह्यः त्रिवृत्‌वेदः) वह भी एक गुप्त अर्थात् अदृश्य-सूक्ष्म 'त्रिवृत्‌वेद' है; (यः तं वेद सः वेदवित्) जो उसको जानता है, वह 'वेदवेत्ता' कहलाता है ।। २६५ ।।

अनुशीलन : अन्यत्र वर्णन—मनु ने 'ओम्' का वर्णन २ । ५१ (२ । ७६) में किया है। इसके अतिरिक्त १ । ३ ॥ १ । २३ और १२ । ९४, १११-११२ श्लोकों में भी वेद को ईश्वररचित घोषित किया है ।

इस श्लोक में 'ओम्' नाम वाच्य परमेश्वर को स्वयं एक वेद का रूप माना है क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञाता है । वही वेदों का रचयिता है । इसका उल्लेख मनु १ । २३ में कर चुके हैं। इस सम्बन्धी वेदों के प्रमाणों के लिए देखिए उस श्लोक पर अनुशीलन ।

उस सूक्ष्म-निराकार परमात्मा को वेदवेत्ता ही जान सकते हैं और जो उस परमेश्वर का साक्षात् कर लेता है वही वास्तविक 'वेदवेत्ता' है।

प्रायश्चित्त विषय का उपसंहार—

एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ॥ २६६ ॥ (३२)

(एषः) यह [११। ४४-२६५ तक] (वः) तुम्हें (प्रायश्चित्तस्य कृत्स्नः निर्णयः अभिहितः) प्रायश्चित्त का सम्पूर्ण [अपराध, उनका प्रायश्चित्त एवं प्रायश्चित्तविधि] निर्णय कहा।

अब (विप्रस्य इमं निश्रेयसं धर्मविधिम्) ब्राह्मण के इस [१२। १-१२५] मोक्ष के धर्मविधान अर्थात् कर्मविधान को (निबोधत) सुनो—॥२६६॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दी-भाषाभाष्य-समन्वितायाम्
'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
प्रायश्चित्त- विषयात्मक एकादशोऽध्यायः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

[हिन्दी-भाष्य 'अनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

(कर्मफल-विधान एवं निःश्रेयस कर्मों का वर्णन)

[१२।१ से ,६६ तक]

त्रिविध कर्मों का और त्रिविध गतियों का कथन—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥ (१)

(मनः-वाक्-देहसंभवं कर्म) मन, वचन और शरीर से किये जाने वाले कर्म (शुभ-अशुभ-फलम्) शुभ-अशुभ फल को देने वाले होते हैं, (कर्मजा नृणाम्) और उन कर्मों के अनुसार मनुष्यों की (उत्तम-अधम-मध्यमाः गतयः) उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन गतियाँ=जन्मावस्थाएँ होती हैं ॥ ३ ॥

मन कर्मों का प्रवर्तक—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥ (२)

(इह) इस विषय में (देहिनः मनः) मनुष्य के मन को (तस्य त्रिविधस्य+अपि त्रि+अधिष्ठानस्य दशलक्षणयुक्तस्य) उस उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार के; मन, वचन, क्रिया भेद से तीन आश्रय वाले और दशलक्षणों [१२।५-७] से युक्त कर्म का (प्रवर्तकं विद्यात्) प्रवृत्त करनेवाला जानो ॥ ४ ॥

त्रिविध मानसिक बुरे कर्म—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥ (३)

(त्रिविधं मानसं कर्म) मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं (परद्रव्येषु+अभिध्यानम्) परद्रव्यहरण अथवा चोरी [का विचार] (मनसा+अनिष्टचिंतनम्) लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष

करना, ईर्ष्या करना, (वितथ+अभिनिवेशः) वितथाभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना ॥ ५ ॥ (उपदेश मञ्जरी ३४)

चतुर्विध वाचिक बुरे कर्म—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥ (४)

(वाङ्मयं चतुर्विधं स्यात्) वाचिक अधर्म चार हैं—(पारुष्यम्) पारुष्य अर्थात् कठोरभाषण। सब समय, सब ठौर मृदुभाषण करना, यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'ओ अंधे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। (अनृतं च+एव) अनृत-भाषण अर्थात् झूठ बोलना, (पैशुन्यं च+अपि) पैशुन्य अर्थात् चुगली करना, (असम्बद्ध प्रलापः) असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जानबूझकर [लांछन या बुराई बनाकर] बात को उड़ाना ॥ ६ ॥
(उपदेश मञ्जरी० ३४)

त्रिविध शारीरिक बुरे कर्म—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ (५)

(शारीरं त्रिविधं स्मृतम्) शारीरिक अधर्म तीन हैं—(अदत्तानाम् +उपादानम्) चोरी (हिंसा च+एव) हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, ❀ (परदारोपसेवा) रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना ॥ ७ ॥
(उपदेशमञ्जरी० ३४)

❀ (अविधानतः) शास्त्रविरुद्ध रूप में करना [शास्त्र में कुछ हिंसाएँ विहित हैं, जैसे—आपत्काल में आततायी की हिंसा (८। ३४८-३५१), हिंस्रपशु की हिंसा, [युद्ध में शत्रुओं की हिंसा आदि]।............

जैसा कर्म उसी प्रकार उसका योग—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥ (६)

(अयम्) यह जीव (मानसं शुभ+अशुभं कर्म मनसा+एव) मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, (वाचाकृतं वाचा) वाणी से किये को वाणी, (च कायिकं कायेन+एव) और शरीर से किये को शरीर से (उपभुङ्क्ते) सुख-दुःख को भोगता है ॥ ८ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ६ ॥ (७)

(नरः) जो नर (शरीरजैः कर्मदोषैः स्थावरतां याति) शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्ष आदि स्थावर का जन्म, (वाचिकैः पक्षिमृगताम्) वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृग आदि तथा (मानसैः अन्त्यजातिताम्) मन से किये दुष्टकर्मों से चंडाल आदि का शरीर मिलता है ॥ ६ ॥

(स० प्र० नवम समुल्लास)

प्रकृति के आत्मा को प्रभावित करने वाले तीन गुण—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥ (८)

(सत्त्वं रजः च तमः एव त्रीन् आत्मनः गुणान् विद्यात्) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों को आत्मा को प्रभावित करनेवाले, प्रकृति के गुण समझें, (महान्) महत्तत्त्व=प्रकृति का प्रथम विकार [१ । १४] (यैः) जिन इन तीन गुणों से (अशेषतः) बिना किसी पदार्थ को छोड़े (इमान् सर्वान् भावान् व्याप्य स्थितः) इन समस्त प्रकृति के कार्यरूप पदार्थों को व्याप्त करके स्थित है ॥ २४ ॥

अनुशीलन : 'आत्मा' शब्द का अर्थ प्रकृति भी होता है। यहाँ यही अर्थ प्रासंगिक है। इस अर्थ से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन १ । १५ पर द्रष्टव्य है।

जिस गुण की प्रधानता, वैसी ही आत्मा—

यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥ (९)

(यः गुणः एषां देहे) जो गुण इन जीवों के देह में (साकल्येन+अतिरिच्यते) अधिकता से वर्तता है (सः तदा तं शरीरिणम्) वह गुण उस जीव को (तद्गुणप्रायं करोति) अपने सदृश कर लेता है ॥ २५ ॥

(स० प्र० नवम समु०)

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥ (१०)

(सत्त्वं ज्ञानम्) जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, (अज्ञानं तमः) जब अज्ञान रहे तब तम, (रागद्वेषौ रजः स्मृतम्) और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए (एतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः एतत् व्याप्ति-

मत्) ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥ २६ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

आत्मा में सतोगुण प्रधानता की पहचान—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥ (११)

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि (तत्र आत्मनि यत् किंचित् प्रीतिसंयुक्तम्) जब आत्मा में प्रसन्नता (प्रशान्तम्+इव शुद्धाभं लक्षयेत्) मन प्रसन्न प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते (तत्+उपधारयेत् सत्त्वम्) तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥ २७ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

आत्मा में रजोगुण प्रधानता की पहचान—

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥ (१२)

❀ (यत् तु आत्मनः) जब आत्मा और मन (दुःखसमायुक्तम्+अप्रीतिकरम्) दुःखसंयुक्त प्रसन्नतारहित विषय में (सततं हारि) इधर-उधर गमन आगमन में लगे (तत् विद्यात् रजः) तब समझना कि ❀ रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुण और तमोगुण अप्रधान है ॥ २८ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

❀ (देहिनाम्) प्राणियों के·········

❀ (प्रतिपम्) सतोगुण का विरोधी············

आत्मा में तमोगुण की प्रधानता की पहचान—

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ (१३)

(यत् तु मोहसंयुक्तं स्यात्) जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, (अव्यक्तम्) जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, (विषयात्मकम्) विषयों में आसक्त, (अप्रतर्क्यम्) तर्क-वितर्क रहित, (अविज्ञेयम्) जानने के योग्य न हो, (तत्+उपधारयेत् तमः) तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान, और सत्त्व गुण तथा रजोगुण अप्रधान है ॥ २९ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥ (१४)

अब (यः) जो (चैतेषां त्रयाणाम्+अपि अग्र्यः मध्यः च जघन्यः फलोदयः) इन तीनों गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है (तम् अशेषतः प्रवक्ष्यामि) उसको पूर्ण भाव से कहते हैं ।। ३० ।।
(स० प्र० नवम समु०)

सतोगुण को प्रत्यक्ष कराने वाले लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ।। ३१ ।। (१५)

जो (वेदाभ्यासः तपः ज्ञानम्) वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि (शौचम्+इन्द्रियनिग्रहः) पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह (धर्मक्रिया च आत्मचिन्ता) धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है (सात्त्विकं गुणलक्षणम्) यही सत्त्वगुण का लक्षण है ।। ३१ ।।
(स० प्र० नवम समु०)

रजोगुण के लक्षण—

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ।। ३२ ।। (१६)

जब रजोगुण का उदय, सत्त्वगुण और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब (आरम्भ-रुचिता) आरम्भ में रुचिता, (अधैर्यम्) धैर्यत्याग (असत्कार्यपरिग्रहः) असत् कर्मों का ग्रहण, (अजस्रं विषय-उपसेवा) निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है (राजसं गुणलक्षणम्) तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त रहा है ।। ३२ ।। (स० प्र० नवम समु०)

तमोगुण के लक्षण—

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ।।३३।। (१७)

जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है तब (लोभः) अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, (स्वप्नः) अत्यन्त आलस्य और निद्रा, (अधृतिः) धैर्य का नाश, (क्रौर्यम्) क्रूरता का होना (नास्तिक्यम्) नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, (भिन्नवृत्तिता) भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति (च) और (प्रमादः) एकाग्रता का अभाव, (याचिष्णुता) और किन्हीं व्यसनों में फंसना होवे, तब (तामसं गुणलक्षणम) तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ।। ३३ ।। (स०.प्र० नवम समु०)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥ (१८)

(त्रिषु तिष्ठताम्) तीनों कालों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान] में विद्यमान रहने वाले (एतेषां त्रयाणाम्+अपि गुणानाम्) इन तीनों गुणों के (गुणलक्षणं क्रमशः) 'गुणलक्षण' को कमशः (सामासिकम् इदं ज्ञेयम्) संक्षेप में इस प्रकार [१२ । ३५–३८] समझें ॥ ३४ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

तमोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ (१९)

(यत् कर्म कृत्वा) जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, (कुर्वन्) करता हुआ (च) और (करिष्यन्+एव लज्जति) करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे (तत् ज्ञेयं सर्वं तामसं गुणलक्षणम्) तब जानो कि मुझ में प्रवृद्ध तमोगुण है ॥ ३५ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

रजोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥३६॥ (२०)

(येन कर्मणा) जिस कर्म से (अस्मिन् लोके) इस लोक में जीवात्मा (पुष्कलां ख्यातिम्+इच्छति) पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, (असंपत्तौ न शोचति) दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को [अपनी प्रसिद्धि के लिए] दान देना नहीं छोड़ता, (तत् विज्ञेयं तु राजसम्) तब समझना कि मुझ में रजोगुण प्रबल है ॥ ३६ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

सतोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ (२१)

और जब मनुष्य का आत्मा (सर्वेण ज्ञातुम्+इच्छति) सब से जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाये, (यत् च आचरन् न लज्जति) अच्छे कामों में लज्जा न करे (च) और (येन अस्य आत्मा तुष्यति) जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे (तत् सत्त्व-गुणलक्षणम्) तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है ॥ ३७ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

तीनों गुणों के प्रधान उद्देश्य व पारस्परिक श्रेष्ठता—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥ (२२)

(तमसः लक्षणं कामः) तमोगुण का लक्षण काम, (रजसः तु+अर्थः) रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा, (सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः) सत्त्वगुण का लक्षण धर्मसेवा करना है, (एषां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्) परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥ (स०प्र० नवम समु०)

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥ (२३)

(एषाम्) इन तीन गुणों में (येन गुणेन) जिस गुण से (यः तु) जो मनुष्य (संसारान् प्रतिपद्यते) जिस सांसारिक गति को प्राप्त करता है (तान्) उन सबको (अस्य सर्वस्य यथाक्रमं समासेन वक्ष्यामि) समस्त संसार के क्रम से, संक्षेप से कहूँगा ॥ ३९ ॥

"अब जिस-जिस गुणों से, जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उस को आगे लिखते हैं ।" (स० प्र० नवम समु०)

तीन गुणों के आधार पर तीन गतियाँ—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥ (२४)

(सात्त्विकाः देवत्वम्) जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, (राजसाः मनुष्यत्वम्) जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, (च) और (तामसाः तिर्यक्त्वम्) जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीचगति को (यान्ति) प्राप्त करते हैं, (इति+एषा त्रिविधा गतिः) इस प्रकार यह त्रिविध गति है ॥ ४० ॥ (स० प्र० नवम समु०)

अनुशीलन : देव शब्द के अर्थज्ञान एवं देवकोटि के व्यक्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए २।१५१ पर 'देव' विषयक अनुशीलन द्रष्टव्य है ।

तीन गतियों के कर्म, विद्या के आधार पर तीन गौण गतियाँ—

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥ (२५)

(एषा त्रिविधा) ये तीन प्रकार की [सत्त्व, रज, तम] गतियाँ

(कर्मविद्या विशेषत:) कर्म और विद्या की विशेषताओं के आधार पर प्रत्येक की पुनः (अधमा, मध्यमा च अग्र्या) अधम, मध्यम और उत्तम भेद से (त्रिविधा गौणिकी गतिः विज्ञेया) तीन-तीन प्रकार की गौण गतियां होती हैं [१०।४२–५०] ॥ ४१ ॥

तीन गतियों के तीन-तीन भेद और तदनुसार जन्मावस्थाओं के फल

तामस गतियों के तीन भेद—

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च सकच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥(२६)

(जघन्या तामसी) जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे (स्थावराः) स्थावर वृक्षादि [१।४६–४६] (कृमिकीटाः मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः पशवश्च मृगाः) कृमि, कोट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ (२७)

(मध्यमा तामसी गतिः) जो मध्यस तमोगुणी हैं वे (हस्तिनः तुरंगाः) हाथी, घोड़ा, (शूद्राः म्लेच्छाः निन्दिताः) शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करने हारे, (सिंहाः व्याघ्राः वराहाः) सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥ (२८)

(तामसीषु उत्तमा गतिः) जो उत्तम तमोगुणी हैं वे (चारणाः सुपर्णाः दाम्भिकाः पुरुषाः) चारण=जो कि कवित्त, दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं, सुन्दर पक्षी, दाम्भिक पुरुष अर्थात् अपने सुख के लिए अपनी प्रशंसा करने हारे, (रक्षांसि पिशाचाः) राक्षस जो हिंसक, पिशाच =अनाचारी अर्थात् मद्य आदि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥ ४४ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

अनुशीलन : राक्षस और पिशाच शब्दों पर विस्तृत विवेचन ३।३३-३४ की समीक्षा में देखिये ।

राजस गतियों के तीन भेद—

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।

द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ (२९)

(जघन्या राजसी गतिः) जो अधम रजोगुणी हैं वे (झल्लाः) झल्ला अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार आदि से खोदने हारे, (मल्लाः) मल्ला अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले, (नटाः) नट, जो बांस आदि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, (शस्त्रवृत्तयः पुरुषाः) शस्त्र-धारी भृत्य, (च) और (मद्यपानप्रसक्ताः) मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है ॥ ४५ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥ (३०)

(मध्यमा राजसी गतिः) जो मध्यम रजोगुणी होते हैं वे (राजानः क्षत्रियाः) राजा, क्षत्रियवर्णस्थ, (राज्ञां पुरोहिताः) राजाओं के पुरोहित, (वादयुद्धप्रधानाः) वाद-विवाद करने वाले-दूत प्राड्विवाक=वकील, बैरिस्टर, युद्धविभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥ ४६ ॥

(स० प्र० नवमसमु०)

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ (३१)

(राजसीषु उत्तमा गतिः) जो उत्तम रजोगुणी हैं वे (गंधर्वाः) गंधर्व=गाने वाले, (गुह्यकाः) गुह्यक=वादित्र बजाने वाले, (यक्षाः) यक्ष=धनाढ्य, (विबुधा अनुचराः) विद्वानों के सेवक, (तथा+एव सर्वाः अप्सरसः) और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूप वाली स्त्री का जन्म पाते हैं ॥ ४७ ॥

(स० प्र० नवमसम०)

अनुशीलन : गन्धर्व शब्द पर विस्तृत प्रामाणिक विवेचन ३।३२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है ।

सात्त्विक गतियों के तीन भेद—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥ (३२)

(तापसाः) जो तपस्वी, (यतयः) यति, संन्यासी, (विप्राः) वेदपाठी, (वैमानिका गणाः) विमान के चलाने वाले, (नक्षत्राणि) ज्योतिषी, (च) और (दैत्याः) दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उनको (प्रथमा

सात्त्विकी गतिः) प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो ॥ ४८ ॥*

(स० प्र० नवम समु०)

अनुशीलन : ४८ वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—टीकाकारों ने इस श्लोक में आये 'नक्षत्र' शब्द का जड़ नक्षत्र विशेष अर्थ किया है, जो मनु की मान्यता के विरुद्ध है। १२। २३, २५, ३५, ३७, ४०, ५१ श्लोकों के अनुसार इन श्लोकों में जीव की गतियों का निरूपण किया गया है, जड़ वस्तुओं का नहीं। नक्षत्र कोई योनिविशेष नहीं हैं। वे तो जड़ पदार्थ हैं अतः यह अर्थ सही नहीं है। इस भाष्य में किया गया लाक्षणिक अर्थ 'ज्योतिषी' अर्थात् 'नक्षत्र-विज्ञान का वेत्ता' अर्थ मनु-सम्मत है। यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति से ही अर्थ की निष्पत्ति होगी।

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ (३३)

(द्वितीया सात्त्विकी गतिः) जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं वे जीव (यज्वानः) यज्ञकर्त्ता, (ऋषयः देवाः) वेदार्थवित् विद्वान्, (वेदाः ज्योतींषि वत्सराः) वेद, विद्युत् आदि और काल-विद्या के ज्ञाता, (पितरः) रक्षक, ज्ञानी (च) और (साध्याः) साध्य=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥ ४९ ॥

(स० प्र० नवम समु०)*

अनुशीलन : ४९ वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—

(१) टीकाकारों ने 'ज्योतींषि' का 'ध्रुव तारे' आदि अर्थ किया है, यह १२।२३, २५, ३५, ३७, ४०, ५१ श्लोकों के संकेत के विरुद्ध है। जड़ वस्तु की कोई योनिविशेष नहीं होती। यह प्रसंग जीवों की योनियों का है। इसका लाक्षणिक अर्थ 'विद्युत् आदि के ज्ञाता' ही संगत है।

(२) देव, साध्य और पितरों की पृथक् योनिविशेष की कल्पना कपोलकल्पित है। मनु के मत में देव और पितर मनुष्यों के ही स्तरविशेष हैं [इस विषयक विस्तृत विवेचन २।१५१ (२।१७६) की समीक्षा में द्रष्टव्य है,] साध्यविषयक समीक्षा १।२२ पर द्रष्टव्य है]।

---

* [प्रचलित अर्थ—तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी-भिक्षु), ब्राह्मण, वैमानिक गण, नक्षत्र और दैत्य, जघन्य सात्त्विकी गतियाँ हैं ॥ ४८ ॥]

* [प्रचलित अर्थ—यज्वा (विधिपूर्वक अनुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, वेद (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानी देवविशेष), ज्योति (ध्रुव आदि), वर्ष (इतिहास प्रसिद्ध शरीरधारी संवत्सर), पितर (सोमप आदि), और साध्य (देव-योनि-विशेष); ये मध्यम सात्त्विकी गतियाँ हैं ॥ ४९ ॥]

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥ (३४)

(उत्तमां सात्त्विकीं गतिम्) जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तम कर्म करते हैं वे (ब्रह्मा) ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, (विश्वसृजः) विश्वसृज=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे, (धर्मः) धार्मिक, (महान् च अव्यक्तम्+एव) सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

(स० प्र० नवमसमु०)❋

अनुशीलन : (१) **५० वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि**—(१) इस श्लोक में टीकाकारों द्वारा 'ब्रह्मा' और 'विश्वसृजः' से मरीचि आदि केवल ब्रह्मा से कुछ व्यक्तियों का ग्रहण करना मनुसम्मत नहीं है। चतुर्मुख ब्रह्मा की कल्पना निराधार है। इसी प्रकार मरीचि आदि भी 'विश्वसृजः' नहीं हैं। सृष्टि-स्रष्टा तो केवल ईश्वर को बताया है [१।६, १४-१५, १६, २२, ३३॥]। ये तीनों पूर्व श्लोक में ऋषि-कोटि के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। मनुस्मृति में इनसे सम्बद्ध प्रसंग अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है [१।११-१३,३२-४१, ५०, ५१ की समीक्षा]। इनका अर्थ 'ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता' और विश्वसृजः=सब सृष्टि को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे' यही संगत है। (२) इसी प्रकार 'धर्म' 'महान्' और 'अव्यक्त' ये अमूर्त्त और जड़ पदार्थ हैं, इनकी कोई योनिविशेष नहीं होती। यहाँ केवल जीवों की योनियों के वर्णन का प्रसंग है, अतः इनके लाक्षणिक अर्थ ही प्रसंग-सम्मत हैं।

(२) **प्रकृतिवशित्व सिद्धि का विवेचन**—अव्यक्त 'मूल प्रकृति' को कहते हैं। अव्यक्त से यहाँ अभिप्राय उन योगी जनों से है जो 'प्रकृतिवशित्व' की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे योगी उत्तम सात्त्विक गति को प्राप्त होते हैं।

प्रकृति वशित्वसिद्धि का वर्णन योगदर्शन में आया है—

"ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।" [विभूति० ४८]

अर्थात्—इन्द्रियजय सिद्धि होने पर पुनः इन्द्रियों की विषयग्रहणवृत्ति में संयम करने से, मन के समान इन्द्रियों में गतिशीलता=स्फूर्ति और शक्ति आना, शरीर की अपेक्षा के विना सूक्ष्म और दूरस्थ विषयों के ज्ञान की प्राप्ति और प्रधानजय=प्रकृति के विकारों को वश में करना; ये तीन सिद्धियाँ योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

❋ [**प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मा (चतुर्मुख), विश्वस्रष्टा (मरीचि आदि), (शरीरधारी) धर्म, महान्, अव्यक्त (सांख्यप्रसिद्ध दो तत्त्वविशेष); इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियाँ कहते हैं ॥ ५० ॥]

प्रधानजय ही प्रकृतिवशित्व सिद्धि है। इसकी सिद्धि पर योगी प्राकृतिक विकारों से अबाधित रहकर कार्य कर सकता है। योगदर्शन में इस सिद्धि को 'मधु-प्रतीका' कहा है, जिसका अर्थ है 'मोक्षानन्द की प्रतीकरूप' सिद्धि। इसके बाद योगी मोक्षप्राप्ति की स्थिति में पहुंच जाता है।

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ (३५)

(त्रिप्रकारस्य कर्मणः) मन, वचन, शरीर के भेद से तीन प्रकार के कर्मों का (त्रिविधः) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन प्रकार का फल, तथा (त्रिविधः) फिर उनकी उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन गतियों वाले (सार्वभौतिकः कृत्स्नः संसारः) सर्वभूतयुक्त सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का (एषः सर्वः समुद्दिष्टः) यह पूर्ण वर्णन किया ॥ ५१ ॥
(स० प्र० नवम समु०)

विषयों में आसक्ति से और अधर्मसेवन से दुःखरूप जन्मों की प्राप्ति—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥ (३६)

(इन्द्रियाणां प्रसंगेन) जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी (धर्मस्य+असेवनेन) धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे (अविद्वांसः) अविद्वान् हैं (नराधमाः पापान् संसारान् संयान्ति) वे मनुष्यों में नीच जन्म, बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ॥ ५२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

विषयों के सेवन से पाप-योनियों की प्राप्ति—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥ (३७)

(विषयात्मकाः) विषयी स्वभाव के मनुष्य (यथा-यथा विषयान् निषेवन्ते) जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते हैं (तथा तथा) वैसे-वैसे (तेषु तेषां कुशलता+उपजायते) उन विषयों में उनकी आसक्ति अधिक बढ़ती जाती है ॥ ७३ ॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥ (३८)

फिर (ते अल्पबुद्धयः) वे मन्दबुद्धि मनुष्य (तेषां पापानां कर्मणाम्+अभ्यासात्) उन विषयों से उत्पन्न पापकर्मों को बारम्बार करते हैं, और उनके कारण पुनः (तासु-तासु योनिषु) पापकर्मों से प्राप्त होने वाली उन-उन योनियों में अर्थात् जिस पाप से योनि प्राप्त होती है [१२ । ३९-५१]

उसे प्राप्त करके (इह) इसी संसार में (दुःखानि प्राप्नुवन्ति) दुःखों को भोगते हैं ॥ ७४ ॥

आसक्ति-निरासक्ति के अनुसार फलप्राप्ति—

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥ (३९)

मनुष्य (यादृशेन तु भावेन) जैसी अच्छी या बुरी भावना से और उनमें वैसी दृढ आसक्ति या निरासक्ति है उसके अनुसार (यतयत् कर्म निषेवते) जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, (तादृशेन शरीरेण) वैसे-वैसे ही शरीर पाकर (तत्तत् फलम्+उपाश्नुते) उन कर्मों के फलों को भोगता है ॥ ८१ ॥

अनुशीलन : श्लोकार्थ पर विचार— इस श्लोक के अर्थ को समझने के लिए ६ । ८० श्लोक सहायक है—"**यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।**"='जब व्यक्ति सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह हो जाता है तो वह लौकिक और मोक्षसुख को प्राप्त करता है । इसी आधार पर यहाँ वर्णन है। जो व्यक्ति जितनी दृढ़ स्पृहा=आसक्ति या निःस्पृहा=अनासक्ति से कर्म-सेवन करेगा, उसे उसी के अनुसार कम-अधिक अच्छा-बुरा फल मिलेगा ।

निःश्रेयसकर कर्मों का वर्णन—

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥ (४०)

(एषः) यह [१२ । ३–८१] (कर्मणां फलोदयः) कर्मों के फल का उद्भव (सर्वः) सम्पूर्ण रूप में (वः समुद्दिष्टः) तुमसे कहा ।

अब (विप्रस्य) विद्वानों या ब्राह्मण आदि द्विजों के (निःश्रेयसकरं कर्म निबोधत—) मोक्षदायक कर्मों को सुनो ॥ ८२ ॥

छह निःश्रेयसकर कर्म—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ (४१)

(वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां संयमः, धर्मक्रिया, च आत्म-चिन्ता) वेदों का अभ्यास [१२ । ९४–१०३], तप=व्रतसाधना [१२ । १०४], ज्ञान=सत्यविद्याओं की प्राप्ति [१२ । १०४], इन्द्रियसंयम [१२ । ९२], धर्मक्रिया=धर्मपालन एवं यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान

और आत्मचिन्ता=परमात्मा का ज्ञान एवं ध्यान, ये छः (निःश्रेयसकरं परम्) मोक्ष प्रदान करने वाले सर्वोत्तम कर्म हैं ॥ ८३ ॥✽

अनुशीलन : श्लोक में पाठभेद—उपलब्ध संस्करणों में इस श्लोक के तृतीय पाद में "अहिंसा गुरुसेवा च" पाठ मिलता है। यह पाठभेद किया गया है जो मनुस्मृति के अनुरूप नहीं है। यहां "**धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च**" पाठ ही उपयुक्त है। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण हैं—

(१) ८३ वें श्लोक में निःश्रेयस कर्मों की परिगणना है, परिगणना के बाद छह कर्मों से सम्बन्धित व्याख्यान ८५–११५ श्लोकों में है। इस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु 'आत्मज्ञान' और 'धर्मक्रिया' का है। श्लोकार्थ में तत्तत् वर्णन वाले श्लोकों की संख्या दे दी है।

(२) मनु ने सात्त्विक कर्मों को ही निःश्रेयस कर्म माना है। इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वही हैं, केवल दो में पाठभेद कर दिया है। सात्त्विक कर्मों का वर्णन १२।३१ में है। वही पाठ यहाँ ग्रहण करना मनुसम्मत है क्योंकि वही कर्म मनु-मत से सर्वश्रेष्ठ हैं और वही मुक्तिदायक हो सकते हैं। अतः प्रस्तुत पाठ सही है।

आत्म-ज्ञान का वर्णन

आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ धर्म है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥८५॥ (४२)

(एषां सर्वेषाम्+अपि) इन सब [१२।८३] कर्मों में (आत्मज्ञानं परं स्मृतम्) 'परमात्मज्ञान' सर्वश्रेष्ठ कर्म माना है, (तत्+हि सर्वविद्यानाम् अग्र्यम्) यह सब विद्याओं में सर्वप्रमुख कर्म है (ततः अमृतं प्राप्यते) इससे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥ (४३)

(सर्वभूतेषु आत्मानम्) सब चराचर पदार्थों एवं प्राणियों में परमात्मा की व्यापकता को (च) और (आत्मनि) परमात्मा में (सर्वभूतानि)

✽ **प्रचलित अर्थ**—इस श्लोक के तृतीय पाद में 'धर्मक्रिया आत्मचिन्ता च' के स्थान पर प्रचलित संस्करणों में "**अहिंसा गुरुसेवा च**" पाठ मिलता है। तदनुसार प्रचलित अर्थ इस प्रकार है—(उपनिषद् के सहित) वेद का अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्मविषयक) ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा; ये ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं ॥ ८३ ॥]

सब पदार्थों एवं प्राणियों के आश्रय को (समं पश्यन्) समानभाव से देखता हुआ अर्थात् यथार्थ ज्ञानपूर्वक सर्वत्र परमात्मा की स्थिति का अनुभव कर सर्वदा उसी का ध्यान करता हुआ (आत्मयाजी) परमात्मा का उपासक मनुष्य (स्वाराज्यम्+अधिगच्छति) परमात्मसुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ९१ ॥

अनुशीलन : (१) 'स्वाराज्यम्' का अर्थ—'**स्वप्रकाशेन शक्त्या वा चराचरं जगत् राजयति प्रकाशयति सः स्वराट्=ब्रह्म**=जो अपने प्रकाश या बल से समस्त चराचर जगत् को प्रकाशित=उत्पन्न करता है, वह परमात्मा। अथवा '**स्वप्रकाशेन राजते प्रकाशते इति स्वराट्=ब्रह्म, तस्य भावः स्वाराज्यम्=ब्रह्मत्वम्**'=जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता है वह ब्रह्म=परमात्मा है। स्वराट् का भाव 'स्वाराज्य=ब्रह्मत्व प्राप्ति' है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हो जाना।

(२) **श्लोक की वेदमन्त्र से तुलना**—श्लोकोक्त मान्यता का आधार वेद है। इस पर निम्न मन्त्र से प्रकाश पड़ता है, तुलनार्थ द्रष्टव्य है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र कः मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥ यजु० ४०।७ ॥

अर्थ—" (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान-विज्ञान अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यक् ज्ञाता जन के लिए (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं; (तत्र) उस परमात्मा में विराजमान (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है।।" [यजु० भाष्य ऋ० दया०]

भाव यह है कि वह विद्वान् शोक-मोह आदि से ऊपर उठकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इस भाव की तुलना के लिए १२। ११९, १२५ श्लोक एवं उन पर अनुशीलन भी द्रष्टव्य है।

(३) **आत्मयाजी की व्युत्पत्ति एवं अर्थ**—'**आत्मनि यजते इति आत्मयाजी**' अर्थात् जो परमात्मा में यजन करता है, उसकी संगति एवं उसका ध्यान करता है। परमात्मा के उस उपासक को 'आत्मयाजी' कहते हैं।

(२) इन्द्रियसंयम का वर्णन

आत्मज्ञान, इन्द्रियसंयम का कथन और इनसे जन्मसाफल्य—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥९२॥ (४४)

(द्विजोत्तमः) श्रेष्ठ द्विज (यथोक्तानि+अपि कर्माणि परिहाय) उसके लिए विहित यज्ञ आदि कर्मों को [संन्यासी अवस्था में] छोड़कर [३ । ३४, ४३] भी (आत्मज्ञाने शमे च वेदाभ्यासे यत्नवान् स्यात्) परमात्मज्ञान, इन्द्रिसंयम [२ । ६८-७५] और वेदाभ्यास=वेद के चिन्तन-मनन में प्रयत्नशील अवश्य रहे अर्थात् इनको किसी भी अवस्था में न छोड़े ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥ (४५)

(एतत् हि) ये [१२ । ९२] तीनों कर्म द्विजों के, (विशेषतः ब्राह्मणस्य जन्मसाफल्यम्) विशेष रूप से ब्राह्मण के जन्म को सफल बनाने वाले हैं । (द्विजः) द्विज व्यक्ति (एतत् प्राप्य हि कृतकृत्यः भवति) इनका पालन करके ही कर्त्तव्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, (अन्यथा न) इनके बिना नहीं ॥ ९३ ॥

अनुशीलन : ब्राह्मण को विशेष रूप से इसलिए कहा गया है क्योंकि ब्राह्मण के जीवन का प्रमुख उद्देश्य ही परमात्मा-प्राप्ति होता है ।

(३) वेदाभ्यास का वर्णन

वेद सबका चक्षु है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥ (४६)

(पितृ-देव-मनुष्याणाम्) पितृ-संज्ञक रक्षक और पालक पिता आदि, विद्वान् और अन्य मनुष्यों का (वेदः सनातनं चक्षुः) वेद सनातन नेत्र= मार्गप्रदर्शक है, (च) और वह (अशक्यम्) अशक्य अर्थात् जिसे कोई पुरुष नहीं बना सकता, इस लिए अपौरुषेय है, (च) तथा (अप्रमेयम्) अनन्त सत्यविद्याओं से युक्त है, (इति स्थितिः) ऐसी निश्चित मान्यता है ॥९४॥

अनुशीलन : १ । ३, २३ में भी वेद को अपौरुषेय, अप्रमेय कहा गया है ।

वेदविरुद्ध-शास्त्र अप्रामाणिक—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥ (४७)

(याः स्मृतयः वेदबाह्याः) जो ग्रन्थ वेदबाह्य, (याः च काः च कुदृष्टयः) कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दुःखसागर में डुबोने वाले हैं, (ताः सर्वाः निष्फलाः) वे सब निष्फल (प्रेत्य तमोनिष्ठाः हि स्मृताः)

असत्य, अन्धकाररूप इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥ ९५ ॥
(स० प्र० एकादश समु०)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥ (४८)

(यानि+अतः अन्यानि कानिचित् उत्पद्यन्ते) जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं (तानि+अर्वाक् कालिकतया च्यवन्ते) वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, (निष्फलानि च अनृतानि) उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥ ९६ ॥ (स० प्र० एकादश समु०)

अनुशीलन : अर्वाक् काल से अभिप्राय—यहां वेदविरुद्ध ग्रन्थों के आधुनिक होने से अभिप्राय यह है कि वेदों की मान्यताएँ प्राचीनतम एवं सनातन हैं, किन्तु वेदविरुद्ध ग्रन्थों की मान्यताएँ परवर्ती हैं। और वे सत्य न होने से; बनती हैं फिर नष्ट हो जाती हैं। वेदों की मान्यताओं की तरह सनातन नहीं। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेदों की मान्यताएँ सनातन हैं।

वेद से वर्ण, आश्रम, लोक, काल आदि का ज्ञान—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥ (४९)

(चातुर्वर्ण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण और इनकी व्यवस्था, (त्रयः लोकाः) पृथ्वी, आकाश एवं द्युलोक अर्थात् समस्त भूमण्डल के लोक, ग्रह आदि, (चत्वारः आश्रमाः पृथक्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों के पृथक्-पृथक् विधान, (च भूतं भव्यं भविष्यम्) और भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी कालों की विद्या, (सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति) ये सब वेदों से ही प्रसिद्ध, प्रकट और ज्ञात होती हैं अर्थात् इन सब व्यवस्थाओं और विद्याओं का ज्ञान वेदों के द्वारा ही होता है ॥ ९७ ॥

"चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं।" (ऋ० भा० भू० वेदविषय)

अनुशीलन : मनु ने यही मान्यता १।२१ में वर्णित की है। तुलनार्थ प्रस्तुत है—"**सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥**

पञ्चभूत आदि सूक्ष्म शक्तियों का ज्ञान वेदों से—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥ (५०)

(शब्द: स्पर्श: रूपं रस: पञ्चम: गन्ध:) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पञ्चम गन्ध, ये (प्रसूति-गुण-कर्मत:) उत्पत्ति, गुण और कार्य के ज्ञानरूप से (वेदात्+एव प्रसूयन्ते) वेदों से ही प्रसिद्ध=विज्ञात होते हैं अर्थात् इन तत्त्वशक्तियों का उत्पत्तिज्ञान, इनके गुणों का ज्ञान, इनकी उपयोगिता का ज्ञान और उत्पन्न समस्त जड़-चेतन संसार का ज्ञान-विज्ञान, वेदों से प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

वेद सुखों का साधन है—

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥ (५१)

(सनातनं वेदशास्त्रम्) यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो (सर्वभूतानि बिभर्ति) सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता है, (तस्मात् एतत् परं मन्ये) इस कारण से [मनु आदि] हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं, और इसी प्रकार मानना भी चाहिए (यत्) क्योंकि (जन्तो: अस्य साधनम्) सब जीवों के सब सुखों का साधन यही है ॥ ९९ ॥ (ऋ० भा० भू० वेदविषय-विचार)

वेदवेत्ता ही सफल राजा, सेनापति व न्यायाधीश हो सकता है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥ (५२)

(सैनापत्यम्) सब सेना (च) और (राज्यम्) सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, (दण्डनेतृत्वम्+एव) दंड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, (च) और (सर्वलोक-आधिपत्यम्) सब के ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में (वेदशास्त्रवित्+अर्हति) सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, और प्रधान राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ ॥ १०० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"जो वेदशास्त्रविद्, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अनुशीलन : यहा 'वेदशास्त्रवित् अर्हति' का अर्थ 'वेदशास्त्र का ज्ञाता ही उसके योग्य हो सकता है' यह है। ऋषि दयानन्द ने इसे प्रेरणार्थक रूप में निरूपित किया है। राज्य-संचालन वाली मान्यता की तुलना के लिए ७। २ द्रष्टव्य है तथा 'दण्डनेतृत्व' की तुलनार्थ—७। ३१। वहाँ वेद शास्त्रवेत्ता को ही इसके योग्य माना है।

वेदज्ञानाग्नि से कर्म दोषों का नाश—

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः॥ १०१॥ (५३)

(यथा) जैसे (जातबलः वह्निः) धधकती हुई आग (आर्द्रान् द्रुमान् अपि दहति) गीले वृक्षों को भी जला देती है (तथा) उसी प्रकार (वेदज्ञः) वेदों का ज्ञाता विद्वान् (आत्मनः कर्मजं दोषं दहति) अपने कर्मों से उत्पन्न होने वाले संस्कार-दोषों को जला देता है अर्थात् वेदज्ञान रूपी अग्नि से दुष्ट संस्कारों को मिटाकर आत्मा को पवित्र रखता है॥ १०१॥

अनुशीलन : तुलनार्थ द्रष्टव्य हैं ११। २४५, २४६, २६३। वहाँ भी यही मान्यता है। अनुशीलन द्रष्टव्य—११।२२७॥

वेदज्ञान से परमगति की ओर प्रगति—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १०२॥ (५४)

(वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः) वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् (यत्र-तत्र+आश्रमे वसन्) किसी भी आश्रम में रहता हुआ, (इह+एव लोके तिष्ठन्) इसी वर्तमान जन्म मे ही (ब्रह्मभूयाय कल्पते) ब्रह्मप्राप्ति के लिए अधिकाधिक समर्थ हो जाता है॥ १०२॥

अनुशीलन : इसी मान्यता की पुष्टि के लिए तुलनार्थ द्रष्टव्य है ४। १४९ श्लोक।

(४-५) तप और विद्या का वर्णन

तप से पापभावना का नाश और विद्या से अमृतप्राप्ति—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ १०४॥ (५५)

(विप्रस्य) विप्र के लिए (तपः च विद्या) तप=श्रेष्ठव्रतों का धारण और साधना, और विद्या=सत्यविद्याओं का ज्ञान, ये दोनों (परं निःश्रेयस-करम्) उत्तम मोक्षसाधक हैं. वह विप्र (तपसा किल्बिषं हन्ति) तप पापभावना को नष्ट करता है, और (विद्यया+अमृतम्+अश्नुते) वेदादि सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से अमरता=मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

अनुशीलन : (१) पापभावना का विनाश—श्रेष्ठव्रतों के धारण से और प्राणायाम आदि तपों के पालन से आत्मा की पापभावना या अशुद्धि का क्षय होता है। इसकी पुष्टि में अन्यत्र वर्णित मान्यताएँ निम्न श्लोकों में द्रष्टव्य हैं। ६ । ७०-७२ ॥ ११ । २२७ ।

(२) अमृत का अर्थ—'मृङ् प्राणत्यागे' तुदादि धातु से 'क्तः' प्रत्यय के योग से और नञ् समास में 'अमृतम्' शब्द सिद्ध होता है, जिसका जन्म-मृत्यु से रहित अर्थात् मोक्षसुख अर्थ होता है। मनुष्य वेद आदि सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्षसुख को इसलिए अमृत कहा जाता है कि जब तक मुक्ति-सुख का समय रहता है, तब तक यह सुख नष्ट नहीं होता, बीच में दुःख आकर इसे नष्ट नहीं करता। यजु० ४० । १४ में यह वाक्य यथावत् आता है—**"विद्ययाऽमृतमश्नुते ।"**

(६) धर्म का वर्णन

धर्मज्ञान के लिए त्रिविध प्रमाणों का ज्ञान—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥ (५६)

(धर्मशुद्धिम्+अभीप्सता) धर्म के वास्तविक तत्त्व को जानने के अभिलाषी मनुष्य को (प्रत्यक्षम् अनुमानं च विविधागमं शास्त्रम्) प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और वेद एवं विविध वेदमूलक शास्त्र-प्रमाण, (त्रयं सुविदितं कार्यम्) इन तीनों का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ १०५ ॥

अनुशीलन : तीन प्रमाण और उनके लक्षण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र या शब्द-प्रमाणों को समझने के लिए यहाँ उन पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है। स० प्र० प्रथम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने न्यायदर्शन के सूत्रों को उद्धृत करके इनकी विस्तृत और गम्भीर व्याख्या की है। यहाँ वही उद्धृत की जाती है—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥"

न्याय० ॥ अध्याय १ । आह्निक १ । सूत्र ४ ॥

"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह-वह ज्ञान न हो। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'तू जल ले आ' वह लाके उसके पास धरके बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहाँ 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगवाने वाला नहीं देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द-प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है' 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त' जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य,अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।"

(२) अनुमान प्रमाण—

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च ॥"

न्याय० ॥ अ० १ । आ० १ । सू० ५ ॥

"जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देशके प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देखके पिता, पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक 'पूर्ववत्' जैसे बादलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहां-जहां कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो वह 'पूर्ववत्'। दूसरा 'शेषवत्' अर्थात् जहां कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके अनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का और पाप-पुण्य के आचरण देखके सुख-दुःख का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा 'सामान्यतोदृष्ट', जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात्

'प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।"

(३) **शास्त्र अर्थात् शब्द-प्रमाण—**

"आप्तोपदेशः शब्दः।" (न्याय १।१।७)

"जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार-प्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथ्वी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द-प्रमाण जानो।"

शब्द-प्रमाण अर्थात् वेद और वेदमूलक शास्त्रों का वर्णन मनु ने धर्ममूलों में भी किया है। इस विषयक विवेचन १।१२५ [२।६] की समीक्षा में 'वेद' और 'स्मृति' शीर्षकों के अन्तर्गत देखिये।

इन प्रमाणों और वेदादि शास्त्रों से धर्म के वास्तविक रूप का निश्चय होता है, अन्यथा नहीं। अगले श्लोक में इसी मान्यता का कथन है।

वेदानुकूल तर्क से धर्मज्ञान—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः ॥१०६॥ (५७)

(यः) जो मनुष्य (आर्षं च धर्मोपदेशम्) वेद और ऋषिविहित धर्मोपदेश [१।१२५ (२।६)] अर्थात् धर्मशास्त्र का (वेदशास्त्र-अविरोधिना तर्केण अनुसंधत्ते) वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है (सः धर्मं वेद न+इतरः) वही धर्म के तत्त्व को समझ पाता है, अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

अनुशीलन : तर्क से अभिप्राय—यहाँ तर्क से अभिप्राय है प्रमाणों और वेदों के अनुकूल सत्यनिश्चय करना। इनसे विरुद्ध बातें तर्क नहीं हैं। विरुद्ध बातें कुतर्क हैं। मनु के मतानुसार तर्क के आधार पर वेद निर्भ्रान्त हैं, अतः वेदोक्त-धर्म भी खरे हैं। फलस्वरूप उन पर तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। जो कोई तर्क का नाम लेकर वेदों का खण्डन करता है वह तर्क नहीं, अपितु कुतर्क करता है, और ऐसा व्यक्ति नास्तिक है। [द्रष्टव्य १।१३० (२।११) की समीक्षा भी]।

अविहित धर्मों का विधान शिष्टविद्वान् करें—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥ (५८)

(अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यात्? इति चेत् भवेत्) जो धर्मयुक्त

व्यवहार, मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका होवे तो तुम (यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः) जिसको शिष्ट, [१०९] आप्त विद्वान् कहें (सः अशंकितः धर्मः स्यात्) उसी को शंकारहित कर्त्तव्य-धर्म मानो ॥ १०८ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

शिष्ट विद्वानों की परिभाषा—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥ (५९)

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु (यैः तु धर्मेण सपरिबृंहणः वेदः अधिगतः) जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, और जो (श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः) श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों ही से विधि का निषेध करने में समर्थ, धार्मिक, परोपकारी हों (ते शिष्टाः ब्राह्मणाः ज्ञेयाः) वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ १०९ ॥

(सं०वि० गृहा० प्र०)

तीन या दश विद्वानों की धर्मनिर्णायक परिषद्—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥ (६०)

(दशावरा वृत्तस्था वा त्रि+अवरा परिषद्) न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा (यं धर्म परिकल्पयेत्) जैसी व्यवस्था करे, (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥ ११० ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"गृहस्थ लोग छोटों, बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्क-कर्त्ता, नैरुक्त=निरुक्तशास्त्रज्ञ, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करें तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"वैसे शिष्ट न्यून से न्यून दश पुरुषों की सभा होवे अथवा बड़े विद्वान् तीनों की ही सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उनका भी आचरण सब लोग करें।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

धर्मपरिषद् के दश सदस्य —

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ (६१)

(दशावरा) उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें— (त्रैविद्यः) तीन वेदों के विद्वान् (हैतुकः) चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, (तर्की) पांचवां— तर्की=न्यायशास्त्रवित्, (नैरुक्तः) छठा— निरुक्त का जानने हारा, (धर्मपाठकः) सातवां—धर्मशास्त्र-वित् (त्रयः च पूर्वे आश्रमिणः) आठवां—ब्रह्मचारी, नववां-गृहस्थ, और दशवां—वानप्रस्थ, इन महात्माओं की (परिषत् स्यात्) सभा होवे ॥ १११ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अनुशीलन : त्रयी विद्या—ऋक्, यजुः साम और अथर्व—ये चारों वेद त्रयीविद्या रूप कहलाते हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन ११ । २६५ के अनुशीलन में द्रष्टव्य है।

"इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों, तब वह सभा कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहिएं।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

धर्मपरिषद् के तीन सदस्य—

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥ (६२)

(च) तथा (ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् च सामवेदवित्+एव) ऋग्वेद-वित्, यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् (त्रि+अवरा धर्मसंशयनिर्णये परिषत् ज्ञेया) इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए ॥ ११२ ॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

"और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के जानने वाले तीन सभासद हो के व्यवस्था करें उस सभा की कीहुई व्यवस्था का भी कोई उल्लंघन न करे॥" (स० प्र० षष्ठ समु०)

वेद का एक विद्वान् भी असंख्य मूर्खों से धर्मनिर्णय में प्रमाण है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ (६३)

(एकः अपि वेदवित्) यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा

द्विजों में उत्तम संन्यासी (यं धर्मं व्यवस्येत्) जिस धर्म की व्यवस्था करे (सः परः धर्मः विज्ञेयः) वही श्रेष्ठ धर्म है, (अज्ञानाम् अयुतैः उदितः न) अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उनको कभी न मानना चाहिए ॥ ११३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी, अकेला भी जिस धर्मव्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परम धर्म समझना किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों और करोड़ों पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिए।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

धर्मपरिषद् का सदस्य कौन नहीं हो सकता—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥ (६४)

(अव्रतानाम्) जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत (अमन्त्राणाम्) वेदविद्या वा विचार से रहित, (जातिमात्र-उपजीविनाम्) जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं, (सहस्रशः समेतानाम्) उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी (परिषत्त्वं न विद्यते) सभा नहीं कहाती ॥ ११४ ॥

(स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : **जाति का अर्थ जन्म**—मनुस्मृति में जाति शब्द 'जन्म' अर्थ में प्रयुक्त हे, अतः यहाँ जाति का अर्थ जन्म ही है। यहाँ ऐसे व्यक्तियों का धर्म-परिषद् में निषेध किया है जो जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझते हों, उत्तम वर्ण होने का अभिमान करते हों किन्तु गम्भीरता और विधिपूर्वक जिन्होंने विद्याग्रहण न की हो। इसकी पुष्टि के लिए १। १२३ [२। १४८] का अनुशीलन द्रष्टव्य है।

मूर्खों द्वारा निर्णीत धर्म से पापवृद्धि का भय—

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥ (६५)

(तमोभूताः मूर्खाः) तमोगुण अर्थात् अविद्या से युक्त, मूर्ख (अतद्विदः) वेदोक्त धर्मज्ञान से शून्य जन (यं धर्मं वदन्ति) जिस धर्म का उपदेश करते हैं, (तत् पापम्) वह धर्मरूप में कहा अधर्मरूप पाप (शतधा भूत्वा) सौ गुणा होकर अथवा सैकड़ों रूपों में फैलकर (तत्+वक्तॄन्+अनुगच्छति) उन वक्ताओं को लगता है अर्थात् उससे सैकड़ों पाप फैलते हैं और फिर उनकी बुराई वक्ताओं को मिलती है। ॥११५॥

"जो अविद्यायुक्त, मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म

को कहें, उसको कभी न मानना चाहिये, क्योंकि सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं ।।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन : मूर्खों द्वारा विहित धर्म से हानि— वेदादि शास्त्र और प्रमाणादि में अपारंगत मूर्ख व्यक्तियों द्वारा कथित धर्म वस्तुतः धर्म नहीं होता । क्योंकि वे धर्म के स्वरूप के ज्ञाता नहीं होते । अधर्म को धर्म के रूप में विहित करने से सैकड़ों प्रकार की अविद्याएँ, भ्रान्तियाँ, पनपती हैं, फिर उनसे पाप की वृद्धि होती है। इस प्रकार समाज रसातल को चला जाता है । उस समाज की स्थिति संस्कृतप्रसिद्ध उक्ति वाली होती है—'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः' अन्धे के सहारे उसके पीछे चलने वाले जैसे उसके साथ ही गर्त्त में गिरते हैं, वैसे मूर्खों के पीछे चलने वाले मूर्खता, अज्ञानान्धकार आदि से ग्रस्त होकर अवनति को प्राप्त होते हैं।

निःश्रेयस कर्मों का उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ।। ११६ ।। (६६)

(एतत्) यह [१२ । ८३–११५] (परं निःश्रेयसकरं सर्वं वः अभिहितम्) मोक्ष देने वाले सर्वोत्तम कर्मों का पूर्ण विधान तुम से कहा, (विप्रः) विद्वान् द्विज (अस्मात्+अप्रच्युतः) इसको बिना छोड़े पालन करता हुआ (परमां गतिं प्राप्नोति) उत्तम गति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।। ११६ ।।

ईश्वरद्रष्टा अधर्म में मन नहीं लगाता—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ।।११८।। (६७)

(समाहितः) जो सावधान पुरुष (असत् च सत् च सर्वम्) असत्कारण और सत्कार्यरूप जगत् को (आत्मनि संपश्येत) आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, (अधर्मे मनः न कुरुते) वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, (हि) क्योंकि (सर्वम् आत्मनि संपश्यन्) वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ।। ११८ ।। (द० ल० भ्रा० नि० १९६)

अनुशीलन : सर्वत्र परमात्मा के अनुभव-ज्ञान से अधर्मनिवृत्ति— यह सम्पूर्ण संसार प्रकट और अप्रकटरूप है। कार्यरूप में यह प्रकट है और कारणरूप में अप्रकट है । परमात्मा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त रहता है । जो व्यक्ति सदा इस बात का अनुभव करता है, वह किसी भी स्थान पर और किसी भी समय में अधर्म नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि मुझे प्रत्येक स्थान और समय में सर्वव्यापक परमात्मा देख रहा है । इस प्रकार की अनुभूति एवं ज्ञान से मनुष्य अधर्म से दूर रहता है ।

परमेश्वर ही सबका निर्माता, फलदाता और उपास्य है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥ (६८)

(आत्मा+एव सर्वाः देवताः) आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रखनेवाला, (सर्वम्+आत्मनि+अवस्थितम्) और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा (एषां शरीरिणां कर्मयोगं जनयति) सब जीवों को पाप-पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ ११९ ॥ (द० ल० भ्रा० नि १९६)

महर्षि द्वारा आंशिक या केवल प्रमाण रूप में यह श्लोक निम्न अन्य स्थानों पर उद्धृत है—

(१) द० ल० भ्रा० नि० १७२, (२) द० ल० वे० ख० २४, (३) द० शा० ५३, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) ल० वे० अंक १२५ ।

अनुशीलन : (१) परमात्मा ही सब देवताओं का देवता—ईश्वर सबसे प्रमुख देव है। अन्य सभी देवताओं का वही रचयिता है। उन देवताओं के वर्णन से भी परमात्मा का ग्रहण होता है। इस विषय पर निरुक्त में प्रकाश डाला गया है—

"महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।...आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।" [७ । ४]

अर्थात्—महान् ऐश्वर्यशाली होने के कारण उसी परमात्मा की ही विभिन्न रूपों में स्तुति की जाती है। शेष सभी देव उस परमात्मा के ही द्वारा प्रकाशित या दिव्य-गुणयुक्त हैं। वही सबका रचयिता है। वही परमात्मा ही सब देवों का देवता है।

(२) परमात्मा के आश्रय में ही समस्त जगत् स्थित है—इस विषय में अनेक वेदमन्त्रों में प्रकाश डाला गया है। द्रष्टव्य है १ । ६; १२ । १२४; १२५ श्लोक पर अनुशीलन।

(३) अन्यत्र वर्णन—परमात्मा ही जीवों को कर्मों से संयुक्त करके उन्हें फल प्रदान करता हैं। इस विषय में मनु ने १ । २६–३० श्लोकों में भी प्रकाश डाला है।

परम सूक्ष्म परमात्मा को जानें—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥ (६९)

(सर्वेषां प्रशासितारम्) जो सबको शिक्षा देने हारा, (अणोः+अपि अणीयांसम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म, (रुक्माभम्) स्वप्रकाशस्वरूप, (स्वप्नधीगम्यम्) समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, (तं परं पुरुषं विद्यात्) उसको

परम पुरुष जानना चाहिए ॥ १२२ ॥ (स० प्र० प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा अपने ग्रन्थों में यह श्लोक निम्न स्थानों पर प्रमाण या पदांश के रूप में उद्धृत किया गया है—

(१) द० शा० ५३, (२) उपदेश-मञ्जरी ५२, (३) द० ल० वेदांक १२६, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) द० ल० भ्रा० नि० १६६, (६) ऋ० भा० भू० १११ ।

अनुशीलन : (१) **परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों का वर्णन**—मनु ने इस श्लोक में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप कहा है। वही परमात्मा सबका ज्ञानदाता या शिक्षक है। इसी भाव को मनु ने १ । २१ में दूसरे प्रकार से वर्णित किया है।

यह सूक्ष्म परमात्मा ही जानने या मानने योग्य है, अन्य नहीं। यह समाधि के द्वारा अर्थात् योगाभ्यास से जाना जा सकता है।

(२) **श्लोक की वेदमन्त्रों से तुलना**—इस श्लोक में वर्णित ईश्वर के स्वरूप, गुण एवं प्राप्तव्य विधि तथा प्रेरणा का आधार वेद के मन्त्र ही हैं। निम्न मन्त्रों को देखकर प्रतीत होता है कि यह श्लोक उनका साररूप है—

(क) **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।**
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४० । ८ ॥

अर्थ—"हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, (अव्रणम्) छिद्ररहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है, (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है, वह (परि+अगात्) सर्वत्र व्यापक है, जो (कविः) सर्वज्ञ, (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट-पापियों का तिरस्कार करने वाला, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि और क्षय नहीं होते हैं; वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन, अनादिस्वरूप वाली, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्यः) प्रजा के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है। (सः) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है।" [ऋ० दयानन्दयजुःभाष्य]।

(ख) **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।**
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१।१८

अर्थ—"हे जिज्ञासु ! मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त (महान्तम्) महान् गुणों से युक्त (आदित्यवर्णम्) सूर्य के प्रकाश के तुल्य जिसका स्वरूप है, उस स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा को (तमसः) अज्ञान वा अन्धकार से (परस्तात्) परे वर्तमान स्वस्वरूप से पूर्ण (वेद) जानता हूं। (तमेव) उसी को (विदित्वा) जानकर आप (मृत्युम्) दुःखदायक मृत्यु को (अति+एति) लांघते हो; (अन्यः) इससे भिन्न (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए (न विद्यते) नहीं है।"

[यजु० भाष्य ऋ० दयानन्द]

परमात्मा के अनेक नाम—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥ (७०)

(एतम् एके) इस परमात्मा [१२ । १२२] को (एके) कोई (अग्निम्) 'अग्नि', (अन्ये प्रजापतिं मनुम्) कोई प्रजापति परमात्मा को 'मनु' (एके इन्द्रम्) कोई 'इन्द्र', (परे प्राणम्) कोई 'प्राण', (अपरे शाश्वतं ब्रह्म) दूसरे कोई शाश्वत 'ब्रह्म', (वदन्ति) कहते हैं ॥ १२३ ॥

"स्वप्रकाश होने से 'अग्नि', विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से 'इन्द्र', सबका जीवनमूल होने से 'प्राण', और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।"

(स० प्र० प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा प्रमाण रूप में अन्यत्र उद्धृत—(१) प० वि० १३, (२) द० ल० भ्रा० नि० १६६, (३) उपदेशमञ्जरी ५२, (४) ऋ० शा० ५३; (५) द० ल० वेदांक १२६ ।

अनुशीलन : (१) परमात्मा के गौण नाम और उनके अर्थ—मनु ने परमेश्वर का सबसे मुख्य नाम 'ओ३म्' माना है [२ । ४६—५३]। यहाँ उसी 'ओ३म्' पदवाच्य परमात्मा के कुछ अन्य गौण नामों का उल्लेख किया है। इन नामों से भी उसी सूक्ष्म, सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रकाशक परमात्मा [१२ । १२२] का बोध होता है। नीचे इनकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जा रही है, जिससे इन शब्दों के परमात्मपरक अर्थ का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ इनसे परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है—

१. अग्नि—'अञ्चु गतिपूजनयोः' या 'अग-अगि गतौ' धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। पूजन का अर्थ सत्कार है। 'योऽञ्चति, अच्यते, अगत्यङ्गतेति सोऽयमग्निः' अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और पूजा के योग्य है, उसको

'अग्नि' कहते हैं। वह परमात्मा का नाम है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—"आत्मा एव अग्निः" [शत० ६।७।१।२०], "अग्निरेव ब्रह्म" [शत० १०।४।१।५]।

२. मनु—'मन् ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धातुओं से मनु शब्द सिद्ध होता है। 'यो मन्यते, ज्ञायते, अवबुध्यते स मनुः,=जो विज्ञानरूप और ज्ञान करने योग्य है, इस कारण ईश्वर का नाम 'मनु' है।

३. प्रजापति—प्रजा और पति दो पदों में समास होकर 'प्रजापति' शब्द बनता है। 'प्रजायाः पतिः=पालकः, रक्षकः प्रजापतिः'—प्रजाओं का पालक और रक्षक होने से परमात्मा का नाम 'प्रजापति' है। निरुक्त में भी यही व्युत्पत्ति है—'प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा' =प्रजापति रक्षक और पालक होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—"ब्रह्म वै प्रजापतिः" [शत० १३।६।२।८], "प्रजापतिर्हि आत्मा" [शत० ६।२।२।१२]।

४. इन्द्र—'इदि परमैश्वर्ये' धातु से ऋज्रेन्द्रा०··· (उणादि० २।२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः'—जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इस कारण परमात्मा का नाम इन्द्र है। 'इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः" [निरु० १०।८]। "यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वावेन्द्रः" (तै० १।२।२५]।

५. प्राण—प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से 'प्राण' शब्द सिद्ध होता है। प्रीण-नात् प्राणः—सबका जीवनमूल होने से जीवनरक्षक होने से ईश्वर का नाम प्राण है। "प्राणापानौ वेदः=ब्रह्मः" [गो० १।२।११]।

६. ब्रह्म—'बृहि वृद्धौ' धातु से 'बृंहेर्नोऽच्च' (उणादि० ४।१४६) सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है। 'योऽखिलं जगत् निर्माणेन बृंहयति वर्द्धयति स ब्रह्मः,—जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर बढ़ाता है, इस कारण ईश्वर का नाम ब्रह्म है। निरुक्त के अनुसार—"ब्रह्म परिवृढं सर्वतः" [निरु० १।८]—सर्वोच्च, सबसे बड़ा, सर्वव्यापक, सबसे शक्तिशाली होने से ईश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।

(२) वेद मन्त्रों में ईश्वर के गौण नामों का वर्णन—वेदमन्त्रों में ईश्वर के अनेक गौण नामों का उल्लेख आता है। श्लोक का भाव इन मन्त्रों पर आधारित प्रतीत होता है—

(क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋक् १।१६४।४६।

अर्थात्—परमात्मा एक है। एक होते हुए भी विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न गुणों के कारण उसे भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं, जैसे—इन्द्र=ऐश्वर्यशाली, मित्र=सबके द्वारा प्रीति करने योग्य, वरुण=वरणीय, अग्नि=ज्ञानस्वरूप एवं पूजा के

योग्य, दिव्य,=तेजः-स्वरूप एवं अद्भुतगुणयुक्त, सुपर्ण=उत्तम पालन और पूर्णकर्म-युक्त, गरुत्मान्=महान् स्वरूप एवं बलवाला, यम=न्यायकारी, मातरिश्वा=वायु के समान अनन्त बल वाला। ये सभी परमात्मा के नाम हैं।

(ख) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः सः प्रजापतिः॥ यजु० ३२। १॥

अर्थात्—वह सूक्ष्म, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा ज्ञानस्वरूप और पूज्य होने से 'अग्नि' कहलाता है, प्रलयकाल में सबको ग्रहण करने वाला होने से वही 'आदित्य' है, अनन्त बलवान् होने से 'वायु', आनन्दस्वरूप एवं आह्लादक होने से 'चन्द्रमा', शुद्ध-स्वभाव होने से 'शुक्र', सबसे महान् होने से 'ब्रह्म', सर्वत्र व्यापक होने से 'आपः' और सब प्रजाओं का स्वामी एवं पालक होने से वही परमात्मा 'प्रजापति' कहलाता है।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही संसार को चक्रवत् चलाता है—

एषः सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ १२४॥(७१)

(एषः) यह परमात्मा (पञ्चभिः मूर्तिभिः सर्वाणि भूतानि व्याप्य) पञ्च महाभूतों से सब प्राणियों को युक्त करके अर्थात् उनकी उत्पत्ति करके और उनमें व्याप्त रहकर (जन्मवृद्धि-क्षयैः नित्यं चक्रवत् संसारयति) उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश करते हुए सदा चक्र की तरह संसार को चलाता रहता है॥ १२४॥

अनुशीलन : अन्यत्र वर्णन—निराकार, सूक्ष्म परमात्मा इस संसार का उत्पत्ति-वृद्धि और विनाशकर्त्ता है। यह मान्यता १। ५७, ८० श्लोकों में वर्णित है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है।

(२) उपर्युक्त स्वरूप वाला परमात्मा जगत् का उत्पत्ति-प्रलयकर्त्ता और इसमें वेदों, उपनिषदों के प्रमाण—वेदों और उपनिषदों में वर्णित मान्यता को ग्रहण करके मनु ने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस जगत् के उत्पत्ति-वृद्धि-प्रलयकर्त्ता परमात्मा का स्वरूप १२। १२२–१२३ श्लोकों में प्रदर्शित किया है। वही इस संसार का निर्माण-संहार करने वाला है, कोई अन्य नहीं। इस विषय में वेदों और उपनिषद् के प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(क) इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥
ऋ०। मं० १०। सू० १२९। मं० ७॥

हे (अङ्ग) मनुष्य! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है जो धारण और प्रलयकर्त्ता है जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति,

प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान॥

(ख) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋ०। मं० १०। सू० १२१। मं० १॥

हे मनुष्यो! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा, उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से भक्ति किया करें॥

(ग) पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
यजुः। अ० ३१। मं० २॥

हे मनुष्यो! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है; वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है॥

(घ) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥
तैत्तिरीयोपनि० ३।१॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिससे जीते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं; वह ब्रह्म है। उसके जानने की इच्छा करो॥

(ङ) जन्माद्यस्य यतः॥ वेदान्त अ० १। सूत्र० २॥

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है; वही ब्रह्म जानने योग्य है। (स० प्र० अष्टम समु०)

अत्र मन्त्र १।६ के अनुशीलन में भी द्रष्टव्य है।

समाधि से ईश्वर एवं मोक्ष-प्राप्ति—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ १२५॥ (७२)

(एवम्) इसी प्रकार समाधियोग से (यः) जो मनुष्य (सर्वभूतेषु आत्मानं पश्यति) सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है (सः आत्मना सर्वसमताम्+एत्य) वह सबको अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता

है (परं पदं ब्रह्म अभ्येति) वही परमपद जो ब्रह्म-परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥

(द० ल० आ० नि० १९६)

अनुशीलन : सब प्राणियों में आत्मवत् भाव एवं परमात्मदर्शन से मुक्ति—मनु ने यह मान्यता एवं भाव वेदों से यथावत् रूप में ग्रहण किया है। तुलनार्थ एवं अर्थस्पष्टीकरण के लिए निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ यजु० ४० । ६ ॥

अर्थ—(यः) जो मनुष्य (आत्मन्नेव) आत्मा अर्थात् परमात्मा में तथा अपने आत्मा के सदृश (सर्वाणि भूतानि) समस्त जीव और जगत् के जड़ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से, अथवा धर्माचरण और योगाभ्यास आदि से देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) समस्त प्राणियों और प्रकृतिस्थ पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को देखता है (ततः) ऐसे सम्यक्दर्शन के बाद (न विचिकित्सति) वह संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् संशयरहित होकर निर्भ्रम ज्ञान से परमात्म-पद=मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे संसार और परमात्म-ज्ञान के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता।

इति हरयाणाप्रान्तीयगुरुकुलझज्जरेऽधीतविद्येन, तत्र भवतामाचार्यभगवान्-
देवानामन्तेवासिना, हरयाणाप्रान्तान्तर्गतरोहतकमण्डले 'मकड़ौली'
नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना, श्रीगहर्रसिंहशान्तिदेवीतनयेन,
सुरेन्द्रकुमारेण कृतं विशुद्धमनुस्मृतेः हिन्दी-भाष्यम्,
प्रक्षिप्त-श्लोकानुसन्धानयुताऽथ च विविधविषय
विमर्शसम्पन्ना 'अनुशीलन' नामिका
समीक्षा च पूर्तिमगात् ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

विशुद्धमनुस्मृतेः श्लोकानामुभयपंक्ति-अनुक्रमणिका

आवश्यक निर्देश —

१. इस अनुक्रमणिका में श्लोक-पदों के सामने बिना कोष्ठक के दी गयी संख्या 'प्रचलित संख्या' है, जो ग्रन्थ में सबसे पहले बिना कोष्ठक के और प्रथम, द्वितीय, दशम अध्यायों में बृहत् कोष्ठक में दी हुई है। लघु कोष्ठक में दी गयी संख्याएं, में मौलिक श्लोकों की हैं। उन्हें सामने उल्लिखित अध्यायों के अनुसार ग्रन्थ में लघुकोष्ठक में ही देखें।

२. इस ग्रन्थ में द्वितीय अध्याय के पहले २५ श्लोक प्रथम अध्याय में जोड़े हुए हैं और नवम अध्याय के आखिरी ११ श्लोक दशम में जोड़े हुए हैं। उन्हें उन्हीं अध्यायों में बृहत् कोष्ठक में दी गयी संख्या के अनुसार देखें।

३. इस अनुक्रमणिका में श्लोकों की प्रथमपंक्ति (प्रथमार्ध) बड़े टाइप में दी गयी है और द्वितीय पंक्ति (द्वितीयार्ध) छोटे टाइप में है।

भ

म

य

ह

इति विशुद्ध मनुस्मृतिश्लोकानामाद्यपंक्ति-अनुक्रमणिका